THE HISTORY OF RAJPUTANA

VOLUME I.

राजपूताने का इतिहास

पहली जिल्द

THE

HISTORY OF RAJPUTANA

VOL. I.

BY

RAI BAHADUR

GAURISHANKAR HIRACHAND OJHA.

Printed at the Vedic Yantralaya,

AJMER.

1927.

राजपूताने का इतिहास

पहली जिल्द

ग्रंथकर्त्ता

रायबहादुर गौरीशंकर हीराचंद ओझा

वैदिक यन्त्रालय अजमेर में

मुद्रित

वि० सं० १९८३

राजपूताने का इतिहास—

कर्नल जेम्स टॉड

इतिहास के परमानुरागी

पुरातत्त्वानुसंधान के अपूर्व प्रेमी

राजपूत जाति के सच्चे मित्र

राजपूतों के इतिहास के पिता

और

उनकी कीर्ति के रक्षक

महानुभाव

कर्नल जेम्स टॉड

की

पवित्र स्मृति को

सादर

समर्पित

ग्रंथकर्त्ता द्वारा रचित तथा संपादित ग्रंथ आदि

स्वतंत्र रचनाएं—

		मूल्य
(१)	भारतीय प्राचीन लिपिमाला (परिशोधित और परिवर्धित द्वितीय संस्करण).	रु०२५)
(२)	सोलंकियों का प्राचीन इतिहास—प्रथम भाग.	रु० ७)
(३)	सिरोही राज्य का इतिहास.	अप्राप्य
(४)	बापा रावल का सोने का सिक्का. ...	॥)
(५)	राजपूताने का इतिहास—पहला खंड.	अप्राप्य
(६)	राजपूताने का इतिहास—दूसरा खंड. ...	अप्राप्य
(७)	† भारतवर्ष के प्राचीन इतिहास की सामग्री. ...	॥)
(८)	* कर्नल जेम्स टॉड का जीवनचरित्र. ...	।)
(९)	* राजस्थान-ऐतिहासिक-दन्तकथा—प्रथम भाग ('एक राजस्थान निवासी' नाम से प्रकाशित). ...	अप्राप्य
(१०)	‡ नागरी अंक और अक्षर.	

संपादित—

(११)	† अशोक की धर्मलिपियाँ—पहला खंड [प्रधान शिलाभिलेख]. ...	रु० ३)
(१२)	† सुलैमान सौदागर. ...	,, १।)
(१३)	† प्राचीन मुद्रा. ...	,, ३)
(१४)	† नागरीप्रचारिणी पत्रिका (त्रैमासिक)—नवीन संस्करण (अब तक इसके सात भाग प्रकाशित हो चुके हैं).	
(१५-१६)	* हिन्दी टॉड-राजस्थान—पहला और दूसरा खंड (इनमें विस्तृत संपादकीय टिप्पणियों द्वारा टॉड-कृत 'राजस्थान' की अनेक ऐतिहासिक त्रुटियां शुद्ध की गई हैं).	
(१७)	जयानक-प्रणीत 'पृथ्वीराजविजय महाकाव्य'—सटीक (प्रेस में).	
(१८)	जयसोम-रचित 'कर्मचंद्रवंशोत्कीर्तनकं काव्यम्'—हिन्दी अनुवाद सहित (प्रेस में).	

---

* खड्गविलास प्रेस, बांकीपुर से प्राप्त.

† काशी-नागरीप्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित एवं प्राप्त.

‡ हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन द्वारा प्रकाशित.

भूमिका

संसार के साहित्य में इतिहास का आसन बहुत ऊंचा है। ज्ञान-भंडार के अन्यान्य विषयों में से इतिहास एक ऐसा विषय है कि उसके अभाव में मनुष्य-जाति अपनी उन्नति करने में समर्थ नहीं हो सकती। सच तो यह है कि इतिहास से मानव-समाज का बहुत कुछ उपकार होता है। देशों, जातियों, राष्ट्रों तथा महापुरुषों के रहस्यों को प्रकट करने के लिये इतिहास एक अमोघ साधन है। किसी जाति को सजीव रखने, अपनी उन्नति करने तथा उसपर दृढ़ रहकर सदा अग्रसर होते रहने के लिये संसार में इतिहास से बढ़कर दूसरा कोई साधन नहीं है। अतीत गौरव तथा घटनाओं के उदाहरणों से मनुष्य-जाति एवं राष्ट्रों में जिस संजीवनी शक्ति का सञ्चार होता है उसे इतिहास के सिवा अन्य उपायों से प्राप्त करके सुरक्षित रखना कठिन ही नहीं प्रत्युत एक प्रकार से असंभव है।

इतिहास का महत्त्व तथा उसकी उपयोगिता बतलाने के लिये किसी विशद विवेचन की आवश्यकता नहीं है। शिक्षित समाज अब इस बात को भली भांति समझने लग गया है कि इतिहास भूतकाल की अतीत स्मृति तथा भविष्यत् की अदृश्य सृष्टि को ज्ञानरूपी किरणों द्वारा सदा प्रकाशित करता रहता है। पृथ्वीतल की किसी जाति का साहित्य-भंडार उस समय तक पूर्ण नहीं माना जा सकता, जब तक इतिहासरूपी अमूल्य रत्नों को भी उसमें गौरवपूर्ण स्थान न मिला हो; क्योंकि अधःपतित एवं दीर्घनिद्रा में पड़ी हुई जाति के उत्थान एवं जागृति के अन्यान्य साधनों में उसका इतिहास भी एक सर्वोत्कृष्ट एवं आवश्यक साधन है। यूरोप के सुप्रसिद्ध अंग्रेज़ राजनीतिज्ञ एडमंड बर्क का कथन है कि इतिहास उदाहरणों के साथ-साथ तत्त्वज्ञान का शिक्षण है। जब हमको किसी देश अथवा जाति के प्राचीन इतिहास का परिचय हो, जब हम यह जानते हों कि अमुक जाति अथवा राष्ट्र का उत्थान इन-इन कारणों से हुआ और कौन-कौन से कारणों से तथा किस प्रकार की परिस्थिति के होने से उस-

को अपने पतन का दृश्य देखना पड़ा—तभी हम वर्तमान युग की परिस्थिति को समझने तथा सुधारने में समर्थ हो सकते हैं। यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि इतिहास मनुष्य-जाति का एक सच्चा शिक्षक है, जो समाज को भविष्य का उचित पथ बतलाता रहता है। यह निश्चित है कि उन्नति अनुभव पर निर्भर रहती है, और उन्नति के लिये यह भी नितान्त आवश्यक है कि हमें उसके तत्त्वों का ज्ञान हो। उन (तत्त्वों) का ज्ञान उनके पूर्व-परिणामों पर अवलंबित रहता है और उनको जानने का एकमात्र साधन इतिहास ही है। जिस प्रकार सिनेमा में भूतकाल की किसी घटना का संपूर्ण चित्र हमारी आंखों के सामने आ जाता है, उसी तरह इतिहास किसी तत्कालीन समाज के आचार-विचार, धार्मिक भाव, रहन-सहन, राजनैतिक संस्था, शासन-पद्धति आदि सभी ज्ञातव्य बातों का एक सुन्दर चित्र हमारी अन्तर्दृष्टि के सामने स्पष्ट रूप से रख देता है। इतिहास ही से हम जान सकते हैं कि अमुक जाति अथवा देश में धार्मिक, सामाजिक तथा राजनैतिक विचार कैसे थे, उस काल की परिस्थिति किस प्रकार की थी, राजा-प्रजा का संबंध किस तरह का था, उसकी उन्नति में कौन-कौन से कारण सहायक हुए, कौन-कौन से आदर्श जातीय जीवन के पथप्रदर्शक बने, किस प्रकार जातीय जीवन का निर्माण हुआ, किस तरह ललित कलाओं तथा विभिन्न विद्याओं की उन्नति हुई और किन-किन सामाजिक तथा नैतिक शक्तियों का उस देश के निवासियों पर प्रभाव पड़ा, जिससे वह कालान्तर में उन्नति की चरम सीमा पर पहुंच गया। इसी प्रकार किन कारणों से पतन का आरंभ हुआ, धर्म और राष्ट्रीयता के बन्धन शिथिल होकर मनुष्यों के उच्च आदर्श किस प्रकार अस्त होने लगे; वे कौनसी सामाजिक शक्तियां थीं जो शनैः शनैः लोगों में भेदभाव का विष फैला रही थीं, और अन्त में फूट के घर कर लेने पर वह जाति किस प्रकार उन्नति-शिखर पर से अवनति के गहरे गढ़े में जा गिरी—यह सब इतिहास द्वारा ही ज्ञात हो सकता है। साथ ही हम यह भी जान सकते हैं कि देश अथवा जातियां पराधीन किस तरह हो जाती हैं, सामाजिक संगठन क्यों टूट जाते हैं और सुविशाल साम्राज्य तथा महाप्रतापी राजवंश भी किस तरह नष्ट-भ्रष्ट हो जाते हैं। इतिहास द्वारा पूर्वजों के गुण-गौरव से परिचित होकर अवनत जाति भी पारस्परिक क्षुद्र भेदभाव को मिटाकर अपने में संगठन-शक्ति

का संचार करती हुई राष्ट्रीयता के ऐक्य-सूत्र में आबद्ध हो सकती है। किसी ऐतिहासिक का यह कथन बहुत ठीक है कि यदि किसी राष्ट्र को सदैव अधः-पतित एवं पराधीन बनाये रखना हो, तो सबसे अच्छा उपाय यह है कि उसका इतिहास नष्ट कर दिया जाय। दूसरे शब्दों में इसका अर्थ यही हो सकता है कि किसी राष्ट्र के उत्थान में उसका इतिहास सबसे बड़ा सहायक एवं सुयोग्य मार्ग-दर्शक होता है।

इन सब बातों को सामने रखकर जब हम अपने प्यारे देश भारतवर्ष का ध्यान करते हैं तो हमें उसके इतिहास को सम्पन्न करने तथा सुरक्षित रखने की बहुत बड़ी आवश्यकता जान पड़ती है, परन्तु इस समय हमारे देश के वास्तविक इतिहास का बड़ा भारी अभाव दीख पड़ता है।

अत्यन्त प्राचीन काल में भारतवर्ष ही संसार की सभ्यता का आदि-स्रोत था। यहीं से संसार के भिन्न भिन्न विभागों में धर्म, सभ्यता, संस्कृति, विद्या और विज्ञान का प्रचार हुआ; परन्तु भारतवर्ष का मुसलमानों के इस देश में आने से पूर्व का शृंखलाबद्ध लिखित इतिहास नहीं मिलता। भारतवर्ष एक अत्यन्त प्राचीन और महाविशाल देश है, जहां कभी किसी एक ही राजा का राज्य नहीं रहा, परन्तु समय समय पर अनेक राजवंशों तथा राज्यों का उदय और अस्त होता रहा है। जगन्नियन्ता जगदीश्वर ने पृथ्वीतल पर इस भारतभूमि को ऐसा रचा कि अत्यंत प्राचीन काल से भिन्न भिन्न देशों के विजेताओं ने इसे सदा अपने हस्तगत करने में ही अपने बल और पौरुष की पराकाष्ठा समझी। यही कारण है कि हम अपने देश को पृथ्वी के विजयी शूरवीरों का क्रीडाक्षेत्र पाते हैं। जिस देश पर शताब्दियों से विदेशियों के आक्रमण होते चले आये हों और जहां बाहरी लोगों के तथा एतद्देशीय राजाओं के पारस्परिक युद्धों ने प्रचंड रूप धारण किया हो, वहां के इतिहास का ज्यों-का-त्यों बना रहना असंभव है। युद्धों की भरमार रहने के कारण अनेक प्राचीन नगर नष्ट होते और उनपर नये बसते गये, जिससे अधिक प्राचीन नगर तो भूमि की वर्तमान सतह से कई गज़ नीचे दबे पड़े हैं, जिनका कहीं कहीं खुदाई होने से पता लग रहा है। तक्षशिला, हरप्पा, नालंद और मोहंजो दड़ो[1] आदि

---

(१) यह दड़ा सिंध में लरकाना नगर से बीस मील दूर नॉर्थ-वैस्टर्न रेल्वे के डोकरी

की खुदाई से भारतवर्ष की प्राचीन उन्नत सभ्यता का पता लगता है। मोहेंजो दड़ो के नीचे तो एक ऐसा प्राचीन नगर[1] निकल आया है जो कम से कम आज से ५००० वर्ष पूर्व का है और जिससे यूरोप, अमेरिका आदि की आधुनिक नगरनिर्माण-कला का उस समय भारत में होना सिद्ध होता है। उस नगर के मकानों में स्नानागार, पानी बहने के लिये नालियां, छतों का पानी गिरने के लिये मिट्टी के नल, मकानों के बाहर कूड़ा-कर्कट डालने की कुंडियां तथा प्रत्येक गली में ढकी हुई मैला पानी बहने की नालियां, जिनमें हरएक घर की नालियां आ मिलती हैं, बनी हुई हैं। वहां से जो अनेक पदार्थ निकले हैं, उनसे उस समय की कारीगरी, सभ्यता आदि का भी बहुत कुछ पता लगता है। उसके नीचे एक और नगर भी दबा हुआ प्रतीत होता है, जो उससे भी प्राचीन होना चाहिये। जब उसकी खुदाई होगी तब भारत की इससे भी प्राचीन सभ्यता का पता चलेगा। प्राचीन नगरों के खंडहरों से तथा अन्यत्र मिलनेवाले प्राचीन स्तंभों, मूर्तियों, चित्रों आदि से आज भी हम प्राचीन भारतीयों की सभ्यता, शिल्प, ललित कलाओं आदि का कुछ परिचय प्राप्त कर सकते हैं। इस प्रकार का कार्य अब तक बहुत थोड़ा हुआ है, परन्तु ज्यों-ज्यों अधिक होता जायगा, त्यों-त्यों प्राचीन भारत के गौरव का अनुमान करने के प्रत्यक्ष प्रमाण विशेष रूप से उपस्थित होते जावेंगे।

जब से ऐतिहासिक काल का प्रारंभ होता है, अथवा उसके भी बहुत पहले से, हम इस देश में लड़ाई-झगड़ों का अखंड राज्य स्थापित पाते हैं। आर्यों के इस देश में आकर बसने से ही इस लीला का आरंभ होता है। आदिम निवासियों को मार-काटकर पीछे हटाने और अच्छे अच्छे स्थानों को अपने अधिकार में लाने ही से इस देश के आर्य-इतिहास का आरंभ होता है। कुछ काल के अनंतर हम इन्हें अपनी सभ्यता फैलाने के उद्योग में यत्नशील पाते हैं। इस प्रकार दीर्घ काल तक आर्य जाति भारतवर्ष में अपने संगठन में तत्पर रही। राज्यों की

नामक स्टेशन से सात मील पर है और उसकी ऊंचाई तीस से चालीस फुट, लम्बाई एक मील से अधिक और चौड़ाई भी बहुत है।

(१) भारतवर्ष के इस अत्यन्त प्राचीन नगर का पता लगाने का श्रेय पुरातत्त्व-विभाग के सुप्रसिद्ध विद्वान् श्रीयुत राखालदास बैनर्जी एम्. ए. को है, जिनके प्रयत्न से ई० स० १९१९ में इस नगर का पता चला और इसकी खुदाई शुरू हुई।

स्थापना हो चुकने पर ईर्ष्या और मत्सर ने अपना प्रभुत्व दिखाया और परस्पर के झगड़ों से देश में रक्त की नदियां बहने लगीं। उसके अनंतर विदेशियों के आक्रमणों का प्रारंभ होता है। सर्वप्रथम ईरान के सम्राट् दारा ने और उसके बाद सिकंदर एवं उत्तर के यूनानियों आदि ने इस देश पर अपना प्रभुत्व जमाना चाहा। बौद्धों और ब्राह्मणों के धार्मिक संघर्ष ने भी भारतवर्ष को हानि अवश्य पहुंचाई। फिर मुसलमानों की इस देश पर कृपा हुई और अन्त में यह यूरोपीय जातियों का लीलाक्षेत्र बना। मुसलमानों के समय में तो प्राचीन नगर, मन्दिर, मठ आदि धर्मस्थान, राजमहल और प्राचीन पुस्तकालय नष्ट कर दिये गये, जिससे भारतीय इतिहास के अधिकांश साधन विलुप्त हो गये। इन सब घटनाओं से स्पष्ट है कि ऐसी अवस्था में इस देश का शृंखलाबद्ध इतिहास बना रहना और मिलना कठिन ही नहीं वरन् असम्भव है।

सुप्रसिद्ध मुसलमान विद्वान् अबुरिहां अल्बेरूनी ने, जो ग्यारहवीं शताब्दी में कई वर्षों तक भारतवर्ष में रहकर संस्कृत पढ़ा और जिसने यहां के भिन्न भिन्न विषयों के ग्रन्थों का अध्ययन किया था, अपनी पुस्तक 'तहकीके हिन्द' में लिखा है कि, "दुर्भाग्य है कि हिन्दू लोग घटनाओं के ऐतिहासिक क्रम की ओर ध्यान नहीं देते। वर्षानुक्रम से अपने राजाओं की वंशावलियां रखने में भी वे बड़े असावधान हैं और जब उनसे इस विषय में पूछा जाता है तो ठीक उत्तर न देकर वे इधर उधर की बातें बनाने लगते हैं"[1]; परन्तु इस कथन के साथ ही वह यह भी लिखता है कि "नगरकोट के किले में वहां के राजाओं की रेशम के पट्ट पर लिखी हुई वंशावली होने का मुझे पता लगा, परन्तु कई कारणों से मैं उसे न देख सका"[2]। इसलिये अल्बेरूनी के उपर्युक्त कथन का यही अभिप्राय हो सकता है कि साधारण लोगों में उस समय इतिहास का विशेष ज्ञान न हो; परन्तु राजाओं तथा राज्याधिकारियों के यहां ऐतिहासिक घटनाओं का विवरण अवश्य रहता था। अल्बेरूनी के उपर्युक्त कथन से यदि कोई यह आशय समझते हों कि हिन्दू जाति में इतिहास लिखने की रुचि न थी अथवा हिन्दुओं के लिखे हुए

---

(१) एडवर्ड साचू; अल्बेरूनीज़ इंडिया; जि० २, पृ० १०-११।

(२) वही; जि० २, पृ० ११।

कोई इतिहास-ग्रन्थ उपलब्ध नहीं हैं, तो यह बात हम एकदम नहीं मान सकते। हां, किसी अर्थ में यह कहा जा सकता है कि जिस प्रकार व्याकरण, वैद्यक, ज्योतिष, काव्य, कोष आदि अनेक विषयों के ग्रन्थ मिलते हैं, उसी तरह लिखा हुआ केवल इतिहास विषय पर कोई प्राचीन ग्रन्थ नहीं मिलता। मुसलमानों आदि के हाथ से नष्ट होने पर भी जो कुछ सामग्री बच रही और जो अब तक उपलब्ध हो चुकी है, वह भी इतनी प्रचुर है कि उसकी सहायता से एक सर्वांगपूर्ण इतिहास लिखा जा सकता है, परन्तु ऐसा इतिहास लिखने के लिये अनेक विद्वानों के वर्षों तक श्रम करने की आवश्यकता है। यह सामग्री चार भागों में विभक्त की जा सकती है—

(१) हमारे यहां की प्राचीन पुस्तकें।

(२) विदेशियों के यात्रा-विवरण और इस देश के वर्णन-सम्बन्धी ग्रंथ।

(३) प्राचीन शिलालेख तथा दानपत्र।

(४) प्राचीन सिक्के, मुद्रा या शिल्प।

(१) यद्यपि भारतवर्ष जैसे विस्तीर्ण देश का, जिसमें समय समय पर अनेक स्वतन्त्र राज्यों का उदय और अस्त होता रहा, शृंखलाबद्ध इतिहास नहीं मिलता, पर यह निर्विवाद सिद्ध है कि प्राचीन काल में भारतवासी इतिहास के प्रेमी थे और समय समय पर ऐतिहासिक ग्रन्थ लिखते रहते थे। वैदिक साहित्य से आर्य जाति की प्राचीन सभ्यता एवं संस्कृति के प्रत्येक अंग पर बहुत कुछ प्रकाश पड़ता है और प्राचीन आर्यों के रहन-सहन, उनकी कलाएं, उनके सामाजिक जीवन, धार्मिक भाव आदि अनेक विषयों का विशद वर्णन उसमें मिलता है। वेदों में वर्णित सभ्यता का विस्तृत इतिहास लिखने का यदि यत्न किया जाय, तो इसपर निस्संदेह कई बड़े बड़े ग्रन्थ लिखे जा सकते हैं। यह बात निर्विवाद है कि हमारे यहां भिन्न भिन्न समयों पर अनेक राज्यों का इतिहास संक्षेप से अथवा काव्यों में लिखा गया था और भिन्न भिन्न समय के राजाओं की वंशावलियां तथा ऐतिहासिक घटनाएं लिखी जाती थीं। रामायण में रघुवंश का और महाभारत में कुरुवंश का विस्तृत इतिहास है। इनके सिवा हिन्दू जाति के इन दोनों आदर्श ग्रन्थों में तात्कालिक लोगों के धार्मिक, राजनैतिक और दार्शनिक विचार, रीति-रिवाज़, युद्ध और संधि के नियम, आदर्श पुरुषों के

जीवनचरित्र, राजदरबारों के वर्णन, युद्ध की व्यूहरचनाएं तथा गीता के समान संसार-प्रसिद्ध उपदेश आदि मनुष्य जाति-संबन्धी प्रायः सभी विषयों का समावेश है।

ई० स० के पूर्व की चौथी शताब्दी में मौर्यवंशी सम्राट् चन्द्रगुप्त के मंत्री कौटिल्य (चाणक्य, विष्णुगुप्त) ने 'अर्थशास्त्र' नामक उस समय की राज्यव्यवस्था का बड़ा ग्रंथ लिखा। उसमें भले-बुरे मंत्रियों की परीक्षा, खुफ़िया पुलिस-विभाग, उसका उपयोग तथा प्रबन्ध; गुप्तमन्त्रणा, दूतप्रयोग, राजकुमार-रक्षा, राजा का प्रबंध तथा कर्त्तव्य, अन्तःपुर (ज़नाना) का प्रबन्ध; भूमि के विभाग, दुर्गनिर्माण, राजकीय हिसाब का प्रबन्ध; ग़बन किये हुए धन को निकालना, कोश में रखने योग्य रत्नों की जाँच, खानों की व्यवस्था; राज्य के भिन्न भिन्न विभागों के अध्यक्षों के कार्य, तोलमाप की जाँच, सेना के विभिन्न विभागों के अध्यक्षों के कर्त्तव्य, लोगों के देश-विदेश में जाने के लिये राजकीय मुद्रा सहित परवाना देने का प्रबन्ध; विवाहसम्बन्धी नियम, दायविभाग, व्यापारियों और शिल्पियों की रक्षा, सिद्ध के भेष में रहकर बदमाशों को पकड़ना, अकस्मात् मरे हुए मनुष्यों की लाशों की जाँच; दंडविधान, कोशसंग्रह, राजसेवकों के कर्त्तव्य, षाड्गुण्य (संधि, विग्रह, आसन, यान, संश्रय और द्वैधीभाव) का उद्देश्य; युद्धविषयक विचार, विविध प्रकार की संधियां, प्रबल शत्रु से व्यवहार और विजित शत्रु का चरित्र; क्षय (योग्य पुरुषों का ह्रास), व्यय (सेना तथा धन का ह्रास) तथा लाभ का विचार; छावनियों का बनाना, सैनिक निरीक्षण, छलयुद्ध, क़िलों को घेरना, विजित प्रदेशों में शांति-स्थापन, युद्ध के लिये भिन्न भिन्न प्रकार के शस्त्रों और यन्त्रों का बनवाना इत्यादि अनेक विषयों का वर्णन है, जिससे यही मानना पड़ता है कि आधुनिक उन्नत और सभ्य देशों के राज्य-प्रबन्ध से हमारे यहां की उस समय की राज्य-व्यवस्था किसी प्रकार कम न थी। इस ग्रंथ के प्रकाश में आने से भारतवर्ष के प्राचीन इतिहास के विद्वानों को अपने मत में बहुत कुछ परिवर्तन करना पड़ा है।

वायु, मत्स्य, विष्णु, भागवत आदि पुराणों में सूर्य और चन्द्रवंशी राजाओं तथा उनकी शाखा-प्रशाखाओं की प्राचीन काल से लगाकर महाभारत के युद्ध से पीछे की कई शताब्दियों तक की वंशावलियों एवं नंद, मौर्य, शुंग, काण्व, आंध्र आदि वंशों के राजाओं की पूरी नामावलियां तथा पिछले चार वंशों के प्रत्येक

राजा के राजत्व-काल के वर्षों की संख्या तक दी है। विक्रम संवत् के प्रारंभ के पीछे भी अनेक ऐतिहासिक ग्रंथ लिखे गये थे; जैसे बाणभट्ट-रचित हर्षचरित में थानेश्वर के बैसवंशी राजाओं का, वाक्पतिराज के बनाये हुए गउडवहो में कन्नौज के राजा यशोवर्मा (मोखरी) का, पद्मगुप्त (परिमल)-प्रणीत नवसाहसांकचरित में मालवे के परमारों का, बिल्हण के विक्रमांकदेवचरित में कल्याण के चालुक्यों का, जयानक-विरचित पृथ्वीराजविजय में सांभर और अजमेर के चौहानों का, सोमेश्वर-कृत कीर्तिकौमुदी, हेमचन्द्र के द्व्याश्रयकाव्य और जिनमंडनोपाध्याय, जयसिंहसूरि तथा चारित्रसुन्दरगणि के लिखे हुए कुमारपालचरितों में गुजरात के सोलंकियों का, कल्हण और जोनराज-रचित राजतरंगिणियों में काश्मीर पर राज्य करनेवाले भिन्न भिन्न वंशों का, संध्याकरनंदी-विरचित रामचरित में बंगाल के पालवंशियों का, आनंदभट्ट के बल्लालचरित में बंगाल के सेनवंशी राजाओं का, मेरुतुंग की प्रबन्धचिन्तामणि में गुजरात पर राज्य करनेवाले चावड़ों और सोलंकियों के अतिरिक्त भिन्न भिन्न राजाओं और विद्वानों आदि का, राजशेखरसूरि-रचित चतुर्विंशतिप्रबन्ध में कई राजाओं, विद्वानों और धर्माचार्यों का, नयचन्द्रसूरि के हम्मीरमहाकाव्य में सांभर, अजमेर और रणथंभोर के चौहानों का तथा गंगाधरकविप्रणीत मंडलीक काव्य में गिरनार के कतिपय चूड़ासमा (यादव) राजाओं का इतिहास लिखा गया था।

इन ऐतिहासिक ग्रन्थों के अतिरिक्त भिन्न भिन्न विषयों की कितनी ही पुस्तकों में कहीं प्रसंगवशात् और कहीं उदाहरण के रूप में कुछ-न-कुछ ऐतिहासिक वृत्तान्त मिल जाता है। कई नाटक ऐतिहासिक घटनाओं के आधार पर रचे हुए मिलते हैं और कई काव्य, कथा आदि की पुस्तकों में ऐतिहासिक पुरुषों के नाम एवं उनका कुछ वृत्तांत भी मिल जाता है; जैसे पतंजलि के महाभाष्य से साकेत (अयोध्या) और मध्यमिका (नगरी, चित्तोड़ से सात मील उत्तर में) पर यवनों (यूनानियों) के आक्रमण का पता लगता है। महाकवि कालिदास के 'मालविकाग्निमित्र' नाटक में शुंग वंश के संस्थापक राजा पुष्यमित्र के समय में उसके पुत्र अग्निमित्र का विदिशा (भेलसा) में शासन करना, विदर्भ (बराड़) के राज्य के लिये यज्ञसेन और माधवसेन के बीच विरोध होना, माधवसेन का विदिशा जाने के लिये भागना तथा यज्ञसेन के सेनापति द्वारा क़ैद होना,

माधवसेन को छुड़ाने के लिये अग्निमित्र का यज्ञसेन से युद्ध करना तथा विदर्भ के दो विभाग कर, एक उसको और दूसरा माधवसेन को देना; पुष्यमित्र के अश्व-मेध के घोड़े का सिंधु (कालीसिंध, राजपूताने में) नदी के दक्षिण-तट पर यवनों (यूनानियों) द्वारा पकड़ा जाना, वसुमित्र का यवनों से लड़कर घोड़े को छुड़ाना और पुष्यमित्र के अश्वमेध यज्ञ का पूर्ण होना आदि वृत्तान्त मिलता है। वात्स्यायन-कृत 'कामसूत्र' में कुंतल देश के राजा शातकर्णी के हाथ से क्रीड़ाप्रसंग में उसकी राणी मलयवती की मृत्यु होना लिखा मिलता है। वराहमिहिर की 'बृहत्संहिता' तथा बाणभट्ट के 'हर्षचरित' में भिन्न भिन्न प्रकार से कई राजाओं की मृत्यु होने का प्रसंगवशात् उल्लेख है। अजमेर के चौहान राजा विग्रहराज के राजकवि सोमेश्वर-रचित 'ललितविग्रहराज' नाटक में विग्रहराज (वीसलदेव) और मुसलमानों के बीच की लड़ाई का हाल मिलता है। कृष्णमिश्र के 'प्रबोधचंद्रोदय' नाटक से पाया जाता है कि चेदि देश के राजा कर्ण ने कालिंजर के चंदेल राजा कीर्तिवर्मा का राज्य छीन लिया, परन्तु उस(कीर्तिवर्मा)के ब्राह्मण सेनापति गोपाल ने कर्ण को परास्त कर कीर्तिवर्मा को फिर राज्यसिंहासन पर बिठलाया।

इसी प्रकार कई विद्वानों ने अपने ग्रंथों के प्रारंभ या अंत में अपना तथा अपने आश्रयदाता राजा या उसके वंश का वर्णन किया है। किसी किसी ने तो अपनी पुस्तक की रचना का संवत् तथा तत्कालीन राजा का नाम भी दिया है। कई नक़ल करनेवालों ने पुस्तकों के अंत में नक़ल करने का संवत् तथा उस समय के राजा का नामोल्लेख भी किया है। जल्हण पंडित ने 'सूक्तिमुक्तावली' के आरंभ में अपने पूर्वजों के वृत्तांत के साथ देवगिरि के कई एक राजाओं का परिचय दिया है। हेमाद्रि पंडित ने अपनी 'चतुर्वर्गचिंतामणि' के व्रतखंड के अंत की 'राजप्रशस्ति' में राजा दृढ़प्रहार से लगाकर महादेव तक के देवगिरि (दौलताबाद) के राजाओं की वंशावली तथा कई एक का संक्षिप्त वृत्तान्त भी लिखा है। ब्रह्मगुप्त ने शक संवत् ५५० (वि० सं० ६८५) में 'ब्राह्मस्फुटसिद्धांत' लिखा, उस समय भीनमाल (श्रीमाल, मारवाड़ में) का राजा चाप(चावड़ा)वंशी व्याघ्रमुख था। ईसवी सन् की सातवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में माघ कवि ने, जो भीनमाल का रहनेवाला था, 'शिशुपालवध' काव्य रचा, जिसमें वह अपने दादा सुप्रभदेव को राजा वर्मलात का सर्वाधिकारी बतलाता है। वि० सं० १२८४ (ई० स० १२२८)

के फाल्गुन मास में सेठ हेमचंद्र ने 'ओघनिर्युक्ति' की नक़ल करवाई; उस समय आघाटदुर्ग (आहाड़, मेवाड़ की पुरानी राजधानी) में जैत्रसिंह का राज्य था। इस तरह कई प्राचीन ग्रन्थों में ऐसी अनेक बातों का उल्लेख मिलता है।

ऐतिहासिक काव्यों के अतिरिक्त वंशावलियों की कई पुस्तकें मिलती हैं, जैसे कि क्षेमेंद्र-रचित 'नृपावली' (राजावली)। ई० स० की १४वीं शताब्दी की तीन हस्तलिखित नेपाल के राजाओं की वंशावलियां तथा जैनों की कई एक पट्टावलियां आदि मिली हैं। ये भी इतिहास के साधन हैं।

इस प्रकार इन ग्रन्थों से अनेक ऐतिहासिक घटनाओं तथा ऐतिहासिक पुरुषों का पता चल सकता है और उनके वृत्तान्त जाने जा सकते हैं।

(२) जिन विदेशियों ने अपनी भारतयात्राओं तथा इस देश की बातों का वर्णन लिखा है, उनमें सबसे प्राचीन यूनान-निवासी हैं। उनमें से निम्नलिखित लेखकों के वर्णन या तो स्वतन्त्र पुस्तकों में या उनके अवतरण दूसरे ग्रंथों में मिलते हैं—हिरॉडोटस, केसियस, मैगास्थनीज़, ऐरियन, कर्टियस रुफ़स, प्लूटार्क, डायाडोरस, पैरिप्लस, टॉलमी आदि।

यूनानियों के पीछे चीनवालों का नम्बर आता है। उस देश के कई यात्री भारतवर्ष में आये और उन्होंने अपने अपने यात्रा-वर्णनों में इस देश का बहुत कुछ विवरण लिखा है, जो धर्म और इतिहास के अतिरिक्त यहां के प्राचीन भूगोल के लिये भी बड़े महत्त्व का है। इनमें से सबसे पुराना यात्री फ़ाहियान है, जो वि० सं० ४५६ (ई० स० ३९९) में चीन से स्थल-मार्ग से चला और वि० सं० ४७१ (ई० स० ४१४) में जल-मार्ग से अपने देश को लौटा। उसके पीछे वि० सं० ५७५ (ई० स० ५१८) में सुंगयुन् यहां आया। फिर वि० सं० ६८६ (ई० स० ६२९) में हुएन्त्संग का आगमन हुआ। उसकी यात्रा के सम्बन्ध में दो ग्रंथ मिलते हैं—एक में तो उसकी यात्रा का विस्तृत वर्णन है और दूसरे में उसका जीवनचरित्र है। अंत में वि० सं० ७२८ (ई० स० ६७१) में इत्सिंग यहां आया। इनके यात्रा-विवरणों के अतिरिक्त अनेक संस्कृत ग्रंथों के चीनी भाषा में अनुवाद हुए और जिनसे हमको कई मूल ग्रंथों का पता लगता है, जो भारतवर्ष में लुप्त हो चुके हैं।

तिब्बतवालों का भारतवर्ष से घनिष्ठ सम्बन्ध रहा और उन्होंने अपनी भाषा में अनेक संस्कृत ग्रंथों का अनुवाद किया। तिब्बती साहित्य का अब

तक विशेष अनुसंधान नहीं हुआ, तो भी यह निस्संदेह है कि इसके होने पर भारत के सम्बन्ध में अनेक नई बातों का पता लगेगा। लंकावासियों का भी भारतवर्ष से घनिष्ठ संबंध रहा है। उनके दीपवंश, महावंश और मलिंदपन्हो आदि ग्रंथों में भी हमारे यहां की अनेक ऐतिहासिक बातें मिलती हैं।

मुसलमानों की लिखी हुई अरबी और फारसी की पुस्तकों से भारतवर्ष में मुसलमानों का राज्य स्थापित होने से पहले के हमारे इतिहास में विशेष सहायता नहीं मिलती, तो भी कुछ कुछ बातें उनमें मिल जाती हैं। ऐसी पुस्तकों में सिल्सिलातु त्तवारीख़ (सुलमान सौदागर का यात्रा-विवरण), मुरूजुलज़हब, चचनामा, तहक़ीके हिन्द, तारीख़ यमीनी और तारीख़स्सुबुक्तगीन आदि हैं। उनमें भी अलूबेरूनी की तहक़ीके हिन्द विशेष उपयोगी है।

(३) भारतवर्ष के प्राचीन इतिहास के लिये सबसे अधिक सहायक और सच्चा इतिहास बतलानेवाले, शिलालेख और दानपत्र हैं। शिलालेख बहुधा चट्टानों, गुफाओं, स्तूपों और स्तंभों पर एवं मन्दिरों, मठों, तालाबों, बावड़ियों आदि में लगी हुई, अथवा गांवों या खेतों के बीच गड़ी हुई शिलाओं, मूर्तियों के आसनों या पीठों तथा स्तूपों के भीतर रक्खे पाषाण के पात्रों पर खुदे हुए मिलते हैं। वे संस्कृत, प्राकृत, कनड़ी, तेलुगु, तामिल आदि भाषाओं में गद्य और पद्य दोनों में मिलते हैं। जिनमें राजाओं आदि का प्रशंसायुक्त विस्तृत वर्णन होता है उनको प्रशस्ति भी कहते हैं। शिलालेख पेशावर से कन्याकुमारी तक और द्वारिका से आसाम तक सर्वत्र पाये जाते हैं, पर कहीं कम और कहीं अधिक। नर्मदा से उत्तर के प्रदेश की अपेक्षा दक्षिण में ये बहुत अधिक मिलते हैं, जिसका कारण यह है कि मुसलमानों के अत्याचार उधर उत्तर की अपेक्षा कम हुए हैं। अब तक कई हज़ार शिलालेख ई० स० पूर्व की पांचवीं शताब्दी से लगाकर ई० स० की १९वीं शताब्दी तक के मिल चुके हैं। शिलालेखों में से अधिकतर मन्दिर, मठ, स्तूप, गुफा, तालाब, बावड़ी आदि धर्मस्थानों के बनवाने या उनके जीर्णोद्धार कराने, मूर्तियों के स्थापित करने आदि के सूचक होते हैं। उनमें से कई एक में उन कार्यों से सम्बन्ध रखनेवाले पुरुषों या उनके वंशों के अतिरिक्त उस समय के राजा या राजवंश का भी वर्णन मिलता है। राजाओं, सामंतों, राणियों, मंत्रियों आदि के बनवाये हुए मंदिरादि के लेखों में से कई एक में, जो अधिक

विस्तीर्ण हैं राजवंश का वर्णन विस्तार के साथ लिखा मिलता है। ऐसे लेख एक प्रकार के छोटे छोटे काव्य ही हैं और उनसे इतिहास के ज्ञान के अतिरिक्त कभी कभी अज्ञात—किन्तु प्रतिभाशाली—कवियों की मनोहर कविता का आनन्द भी प्राप्त होता है। दूसरे प्रकार के शिलालेखों में, जिनका धर्मस्थानों से संबंध नहीं होता, राजाज्ञा, विजय, दान, किसी वीर पुरुष का युद्ध में या गायों को चोरों से छुड़ाते हुए मारा जाना, स्त्रियों का अपने पति के साथ सती होना, सिंह आदि हिंसक पशुओं के द्वारा किसी की मृत्यु होना, पंचायत से फ़ैसला होना, धर्म-विरुद्ध कोई कार्य न करने की प्रतिज्ञा करना, अपनी इच्छा से चिता पर बैठकर शरीरान्त करना तथा भिन्न भिन्न धर्मावलंबियों के बीच के झगड़ों का समाधान आदि घटनाओं के उल्लेख मिलते हैं। पाषाण पर लेखों को खुदवाने का अभि-प्राय यही है कि उक्त धर्मस्थान या घटना एवं उससे संबंध रखनेवाले व्यक्ति की स्मृति चिरस्थायी हो जाय। इसी अभिप्राय से कई एक विद्वान् राजाओं या धनाढ्यों ने कितनी ही पुस्तकों को भी शिलाओं पर खुदवाया था। परमार राजा भोजरचित 'कूर्मशतक' नाम के दो प्राकृत काव्य और परमार राजा अर्जुनवर्मा के राजकवि मदन-कृत 'पारिजातमंजरी' (विजयश्री) नाटिका—ये तीनों ग्रंथ राजा भोज की बनवाई हुई धारा नगरी की 'सरस्वतीकंठाभरण' नाम की पाठशाला से, जिसे अब 'कमालमौला' कहते हैं, मिले हैं। अजमेर के चौहान राजा विग्रहराज (वीसलदेव चौथे) का रचा हुआ 'हरकेलि नाटक', उक्त राजा के राजकवि सोमे-श्वररचित 'ललितविग्रहराज' नाटक और विग्रहराज या किसी दूसरे राजा के समय के बने हुए चौहानों के ऐतिहासिक काव्य की शिलाओं में से पहली शिला—ये सब अजमेर से प्राप्त हुए हैं। सेठ लोलाक ने 'उन्नतशिखरपुराण' नामक जैन (दिगम्बर) पुस्तक बीजोल्यां (मेवाड़ में) के पास एक चट्टान पर वि० सं० १२२६ (ई० स० ११७०) में खुदवाई थी, जो अब तक सुरक्षित है। चित्तोड़ (मेवाड़) के महाराणा कुंभकर्ण (कुंभा) ने कीर्तिस्तंभों के विषय की एक पुस्तक शिलाओं पर खुदवाई थी, जिसकी पहली शिला के प्रारंभ का अंश चित्तोड़ में मिला है। मेवाड़ के महाराणा राजसिंह ने तैलंग भट्ट मधुसूदन के पुत्र रणछोड़ से 'राजप्र-शस्ति' नामक २४ सर्ग का महाकाव्य (जिसमें महाराणा राजसिंह तक का मेवाड़ का इतिहास है) तैयार करवाकर अपने बनाये हुए राजसमुद्र नामक तालाब

की पाल पर २५ बड़ी बड़ी शिलाओं पर खुदवाकर लगवाया था, जो अब तक वहां विद्यमान है।

राजाओं तथा सामंतों की तरफ़ से ब्राह्मणों, साधुओं, चारणों, धर्माचार्यों, मंदिरों, मठों आदि को धर्मार्थ दिये हुए गांव, कुएँ, खेत आदि की सनदें चिर-स्थायी रखने के विचार से बहुधा तांबे के पत्रों पर खुदवाकर दी जाती थीं, जिनको ताम्रपत्र या दानपत्र कहते हैं। ये कभी गद्य में और कभी गद्य-पद्य दोनों में लिखे मिलते हैं। कई एक दानपत्र एक ही छोटे या बड़े पत्र पर खुदे मिलते हैं, परंतु कितने ही दो या अधिक पत्रों पर खुदे रहते हैं, जिनमें से पहला तथा अंतिम पत्र भीतर की ओर ही खुदा रहता है और बीच के दोनों तरफ़। ऐसे सब पत्रे छोटे हों तो एक, और बड़े हों तो दो कड़ियों से जुड़े रहते हैं। इनमें बहुधा दान दिये जाने का संवत्, मास, पक्ष और तिथि तथा दान देनेवाले और लेनेवाले के नामों के अतिरिक्त किसी किसी में दान देनेवाले राजा के वंश का विस्तृत वर्णन तक पाया जाता है। पूर्वी चालुक्यों के कई दानपत्रों में राजवंश की नामावली के अतिरिक्त प्रत्येक राजा का राजत्वकाल भी दिया हुआ मिलता है। अब तक सैकड़ों दानपत्र मिल चुके हैं।

प्राचीन शिलालेख और दानपत्र हमारे प्राचीन इतिहास के लिये बड़े उपयोगी हैं, क्योंकि उनसे मौर्य, ग्रीक, शातकर्णी (आंध्र), शक, क्षत्रप, कुशन, आभीर, गुप्त, हूण, वाकाटक, यौधेय, बैस, लिच्छवी, मोखरी, परिव्राजक, राजर्षितुल्य, मैत्रक, गुहिल, चापोत्कट (चावड़ा), सोलंकी, प्रतिहार, परमार, चौहान, राठोड़, कछवाहा, तँवर, कलचुरि (हैहय), त्रैकूटक, चंद्रात्रेय (चंदेल), यादव, गुर्जर, मिहिर, पाल, सेन, पल्लव, चोल, कदंब, शिलार, सेंद्रक, काकतीय, नाग, निकुंभ, बाण, गंग, मत्स्य, शालंकायन, शैल, चतुर्थवर्ण (रेड्डि) आदि अनेक राजवंशों का बहुत कुछ वृत्तांत, उनकी वंशावलियां और कई राजाओं तथा सामंतों के राज्याभिषेक एवं देहांत आदि के निश्चित संवत् मिल जाते हैं। ऐसे ही अनेक विद्वानों, धर्माचार्यों, मंत्रियों, दानवीरों, योद्धाओं आदि प्रसिद्ध पुरुषों तथा अनेक राणियों, प्रसिद्ध स्त्रियों आदि के नाम तथा उनके समय का पता चलता है और हमारे यहां के पहले के अनेक संवतों के प्रारंभ का भी निश्चय होता है।

(४) एशिया और यूरोप के प्राचीन सिक्कों को देखने से पाया जाता है कि सोने के सिक्के चांदी के सिक्कों से पीछे बनने लगे थे। ई० सन् से पूर्व की पांचवीं और चौथी शताब्दी में ईरान के चांदी के सिक्के गोली की आकृति के होते थे, जिनपर ठप्पा लगाने से वे कुछ चपटे पड़ जाते थे, परन्तु बहुत मोटे और भद्दे रहते थे। उनपर कोई लेख नहीं होता था, परन्तु मनुष्य आदि की भद्दी शकलों के ठप्पे लगते थे। ईरान के ही नहीं, किंतु लीडिया, यूनान आदि देशों के पुराने सिक्के भी ईरानियों के सिक्कों की नाईं गोल, भद्दे, गोली की शकल के चांदी के टुकड़े ही होते थे। हिंदुस्तान में ही प्राचीन काल में चांदी के चौकोर या गोल चपटे और सुंदर सिक्के बनते थे, जो कार्षापण कहलाते थे। उनपर भी लेख नहीं होते थे; केवल सूर्य, चन्द्र, मनुष्य, पशु, पक्षी, धनुष बाण, वृक्ष आदि के ही ठप्पे लगते थे। ई० सन् पूर्व की चौथी शताब्दी के आसपास से लेखवाले सिक्के मिलते हैं।

अब तक सोने, चांदी, तांबे और सीसे के लेखवाले हज़ारों सिक्के मिल चुके हैं और मिलते जाते हैं। उनपर के छोटे छोटे लेख भी प्राचीन इतिहास के लिये बहुत उपयोगी हैं। जिन वंशों के राजाओं के शिलालेखादि अधिक नहीं मिलते उनकी नामावली का पता कभी कभी सिक्कों से लग जाता है; जैसे कि पंजाब के ग्रीक राजाओं का अब तक केवल एक शिलालेख बेसनगर (विदिशा) से मिला है, परन्तु सिक्के २७ राजाओं के मिल चुके हैं, जिनसे उनके नाममात्र मालूम होते हैं। त्रुटि यही है कि उनपर राजा के पिता का नाम तथा संवत् नहीं है, जिससे उनका वंशक्रम स्थिर नहीं हो सकता। पश्चिमी क्षत्रपों के भी शिलालेख थोड़े ही मिलते हैं, परन्तु उनके हज़ारों सिक्कों पर राजा या शासक और उसके पिता का नाम, ख़िताब तथा संवत् होने से उनकी वंशावली सिक्कों से ही बन जाती है। गुप्तवंशी राजाओं के ई० सन् की चौथी और पांचवीं शताब्दी के सिक्कों पर गद्य एवं भिन्न भिन्न छन्दों में भी लेख मिलते हैं, जिनसे पाया जाता है कि सबसे पहले हिंदुओं ने ही अपने सिक्के कविताबद्ध लेखों से अंकित किये थे। ग्रीक, शक और पार्थियन राजाओं के तथा कई एक कुशनवंशी और क्षत्रप आदि विदेशी राजाओं के सिक्कों पर एक तरफ़ प्राचीन ग्रीक लिपि में ग्रीक भाषा का लेख और दूसरी ओर बहुधा उसी आशय का प्राकृत भाषा का लेख खरोष्ठी लिपि में होता था, परन्तु प्राचीन शुद्ध भारतीय सिक्कों पर ब्राह्मी लिपि के ही

लेख हैं। ई० सन् की तीसरी शताब्दी के आसपास सिक्कों एवं शिलालेखों से खरोष्ठी लिपि, जो ईरानियों ने पंजाब में प्रचलित की थी, इस देश से उठ गई।

अब तक ग्रीक (यूनानी), शक, पार्थियन, कुशन (तुर्क), सातवाहन (आंध्र), क्षत्रप, औदुंबर, कुनिंद, गुप्त, त्रैकूटक, बोधि, मैत्रक, हूण, परिव्राजक, चौहान, प्रतिहार, यौधेय, सोलंकी, तँवर, गाहड़वाल, पाल, कलचुरि, चंदेल, गुहिल, नाग, यादव, राठोड़ आदि कितने ही राजवंशों के तथा काश्मीर, नेपाल, अफ़ग़ानिस्तान आदि पर राज्य करनेवाले हिंदू राजाओं के सिक्के मिल चुके हैं। कई प्राचीन सिक्के ऐसे भी मिले हैं, जिनपर राजा का तो नामोल्लेख नहीं, किंतु देश, नगर या जाति का नाम है। ये सिक्के अब तक इतने अधिक और इतने भिन्न भिन्न प्रकार के मिले हैं कि उनके संबंध में अनेक ग्रन्थ छप चुके हैं।

भारतवर्ष में मुद्रा अर्थात् मुहर लगाने की प्रथा प्राचीन काल से ही चली आती है। कई एक ताम्रपत्रों पर तथा उनकी कड़ियों की संधियों पर राजमुद्राएं लगी मिलती हैं। कितने ही पकाये हुए मिट्टी के ऐसे गोले मिले हैं जिनपर भिन्न भिन्न पुरुषों की मुद्राएं लगी हुई हैं। अंगूठियों तथा अक़ीक आदि कीमती पत्थरों पर खुदी हुई कई मुद्राएं मिली हैं। वे भी हमारे यहां के प्राचीन इतिहास में कुछ कुछ सहायता देती हैं। कन्नौज के प्रतिहार राजा भोजदेव (प्रथम) के वि० सं० ९०० के दानपत्र के साथ जुड़ी हुई मुद्रा में देवशक्ति से भोजदेव तक की पूरी वंशावली तथा चार राणियों के नाम हैं। उसी वंश के राजा विनायकपाल के ताम्रपत्र की मुद्रा में देवशक्ति से विनायकपाल तक की वंशावली एवं छः राणियों के नाम मिलते हैं। गुप्तवंशी राजा कुमारगुप्त (दूसरे) की मुद्रा में महाराजगुप्त से लगाकर कुमारगुप्त (दूसरे) तक की वंशावली और छः राजमाताओं के नाम अंकित हैं। मोखरी शर्ववर्मा की राजमुद्रा में हरिवर्मा से आरंभ कर शर्ववर्मा तक की वंशावली और चार राणियों के नाम दिये हैं। गुप्तवंशी राजा चंद्रगुप्त (दूसरे) के पुत्र गोविन्दगुप्त के नाम का पता मिट्टी के एक गोले पर लगी हुई उस (गोविंदगुप्त) की माता ध्रुवस्वामिनी की मुद्रा से ही लगता है। ऐसे ही कई राजाओं, धर्माचार्यों, धनाढ्यों आदि के नाम उनकी मुद्राओं से मिलते हैं। अब तक ऐसी सैकड़ों मुद्राएं मिल चुकी हैं।

प्राचीन चित्रों और मूर्तियों से भी इतिहास में कुछ कुछ सहायता मिल जाती है, क्योंकि उनसे पोशाक, आभूषण आदि का हाल तथा उस समय की चित्र एवं तक्षणकला की दशा का ज्ञान होता है। अजंटा की सुप्रसिद्ध गुफाओं में १३०० वर्ष से भी अधिक पूर्व के बहुत-से रंगीन चित्र विद्यमान हैं, जो इतने दीर्घ काल तक खुले रहने पर भी अब तक अच्छी दशा में हैं और चित्र-कला-मर्मज्ञों को मुग्ध कर देते हैं। दक्षिण आदि की अनेक भव्य गुफाएं, देलवाड़ा (आबू पर), बाड़ोली (मेवाड़ में) आदि अनेक स्थानों के विशाल मन्दिर, अनेक प्राचीन स्तंभ, स्तूप, मूर्तियां आदि सब उस समय के शिल्पविद्या की उत्तमता का परिचय देते हैं। प्राचीन चित्र, गुफा, मन्दिर, स्तंभ, मूर्तियों आदि के सचित्र विवरण कई पुस्तकों में छप चुके हैं।

चार प्रकार की जिस सामग्री[1] का ऊपर संक्षेप में उल्लेख किया गया है, उससे भारतवर्ष के इतिहास से संबंध रखनेवाली कई प्राचीन बातों का पता लगा है और उसके आधार पर अनेक नवीन ग्रन्थ लिखे गये हैं। साथ ही इस सामग्री की खोज समाप्त नहीं हो गई है। खोज निरंतर हो रही है, जिससे प्रतिवर्ष नई नई बातों का पता लग रहा है।

राजपूताना प्राचीन काल से ही वीर पुरुषों का लीलाक्षेत्र एवं भारत के इतिहास का केन्द्र रहा है। राजपूताने का प्राचीन इतिहास केवल वर्त्तमान राजपूताने की सीमा से ही नहीं, किन्तु भारतवर्ष के अधिकांश से संबंध रखता है। ऊपर लिखे हुए राजवंशों में से मौर्य, मालव, यूनानी (ग्रीक), अर्जुनायन, क्षत्रप, कुशन, गुप्त, वरीक, वर्मान्तनामवाले राजा, यशोधर्मन, हूण, गुर्जर (बड़गूजर), बैस, चावड़ा, प्रतिहार, परमार, सोलंकी, यौधेय, तंवर, दहिया, निकुंप, गौड़ आदि वंशों ने, जिनका संक्षिप्त परिचय इस इतिहास के प्रारंभ के तीसरे अध्याय में दिया गया है, किसी काल में इस देश के किसी-न-किसी विभाग पर अपना प्रभुत्व स्थापित किया था। परमार, रघुवंशी प्रतिहार आदि ने तो राजपूताने के बाहर जाकर सुदूर प्रदेशों पर अपना आधिपत्य जमाया था। मुग़लों के समय में भी राजपूताने के राजाओं आदि ने मुसलमान सैन्य के मुखिया बनकर हिन्दुस्तान के बाहर उत्तर में

---

(१) भारतवर्ष के प्राचीन इतिहास की सामग्री के संबंध में जो अधिक जानना चाहें, वे मेरी लिखी हुई 'भारतवर्ष के प्राचीन इतिहास की सामग्री' नामक पुस्तक देखें।

काबुल, कंधार और बलख तक विजय के डंके बजाये थे। इसी प्रकार उन्होंने पूर्व में बिहार, बंगाल और उड़ीसे तक तथा मालवे, गुजरात, काठियावाड़ एवं दूरस्थ दक्षिण तक अनेक युद्ध किये और वे भारत के भिन्न भिन्न विभागों के शासक भी रहे। इस समय भी राजपूताने के बाहर यहां के वर्तमान राजवंशों के कई राज्य विद्यमान हैं—जैसे गुहिलवंशियों (सीसोदियों) के नेपाल (स्वतन्त्र राज्य), धरमपुर (सूरत ज़िले में); भावनगर, पालीताणा, वळा, लाठी आदि (काठियावाड़ में) तथा राजपीपला (गुजरात के रेवाकांठे में) और बड़वानी (मालवे में)। मराठा-राज्य का संस्थापक सुप्रसिद्ध शिवाजी भी मेवाड़ के गुहिलवंशियों का वंशधर था; उस शाखा में इस समय कोल्हापुर और मुधोल के राज्य (दक्षिण में) हैं। राठोड़-वंशियों के राज्य ईडर (गुजरात में), रतलाम, सीतामऊ, सैलाना और झाबुआ (चारों मालवे में); चौहानों के छोटा उदयपुर तथा देवगढ़ (बारिया) गुजरात में, और परमारों के दाँता (गुजरात में), राजगढ़, नरसिंहगढ़, धार तथा देवास (चारों मालवे में) हैं।

सात हिन्दू और एक मुसलमान राजवंश इस समय राजपूताने में राज्य कर रहे हैं। हिन्दुओं में गुहिल (सीसोदिया), चौहान, यादव, राठोड़, कछवाहा, जाट और झाला हैं। इनमें सबसे प्राचीन मेवाड़ का गुहिल वंश है, जिसके राज्य का प्रारंभ वि० सं० ६२५ (ई० स० ५६८) के आसपास हुआ। एक ही भूमि पर १३५० से अधिक वर्षों तक अविच्छिन्न रूप से राज्य करनेवाला दूसरा राजवंश भारत में तो क्या, संसार में भी शायद ही कोई मिले। गुहिल वंश के बाद चौहानों का उद्गम हुआ, और उनके पीछे यादवों के प्राचीन राजवंश का पता लगता है। फिर राठोड़ों के गुजरात की तरफ़ से यहां आकर दो अलग अलग राज्य स्थापित करने के प्रमाण मिलते हैं। उन राठोड़ों का तो अब राज्य नहीं रहा, परन्तु वर्तमान राठोड़वंशी विक्रम की तेरहवीं शताब्दी में कन्नौज की तरफ़ से यहां आये। कछवाहों का राज्य पहले ग्वालियर पर था, जहां की एक छोटी शाखा वि० सं० की बारहवीं शताब्दी में राजपूताने में आई। विक्रम की अठारहवीं शताब्दी में भरतपुर के जाटों, और उन्नीसवीं में धौलपुर के जाटों, टोंक के मुसलमानों तथा झालावाड़ के झालों के राज्य स्थापित हुए।

कालक्रम के अनुसार इन राजवंशों के इतिहास की सामग्री के तीन विभाग किये जा सकते हैं—

(१) प्राचीन काल से लगाकर अजमेर में मुसलमानों का राज्य स्थापित होने (अर्थात् वि० सं० १२४९) तक।

(२) वि० सं० १२४९ से अकबर के राज्य के प्रारंभ तक।

(३) अकबर के राजत्वकाल से वर्तमान समय तक।

(१) प्राचीन काल से लगाकर वि० सं० १२४९ तक मेवाड़ और डूंगरपुर के गुहिलवंशियों के इतिहास के साधन उनके शिलालेख, ताम्रपत्र और सिक्के ही हैं। उनका सबसे प्राचीन शिलालेख वि० सं० ७०३ (ई० स० ६४६।) का मिला है और उसके पीछे के तो अब तक बहुतसे प्राप्त हुए हैं। अजमेर और सांभर के चौहानों के थोड़े-से सिक्कों के अतिरिक्त वि० सं० १०३० (ई० स० ९७३) से लेकर वि० सं० १२४५ (ई० स० ११८८) तक के कई एक शिलालेख मिल चुके हैं। इनके सिवा वीसलदेव (विग्रहराज चतुर्थ) का बनाया हुआ 'हरकेलि' नाटक तथा उसी के राजकवि सोमेश्वर-रचित 'ललितविग्रहराज' नाटक (दोनों शिलाओं पर खुदे हुए); चौहानों के इतिहास का एक महाकाव्य, जो शिलाओं पर खुदवाया गया था और जिसकी पहली शिला ही प्राप्त हुई है, काश्मीरी पंडित जयानक-प्रणीत 'पृथ्वीराजविजय' महाकाव्य तथा नयचन्द्रसूरि-कृत 'हम्मीरमहाकाव्य' चौहानों के इतिहास के साधन हैं। सांभर के चौहानों की एक छोटी शाखा ने नाडौल (जोधपुर राज्य) में अपना राज्य स्थापित किया; इसके उस समय के कई शिलालेख और ताम्रपत्र मिलते हैं। नाडौल की इस शाखा से हाड़ों (बूंदीवालों) और सोनगरों (जालोरवालों) की उपशाखाएं निकलीं, जिनमें से सोनगरों के कुछ शिलालेख और ताम्रपत्र मिले हैं। राजपूताने में पहले आनेवाले राठोड़ों के दो शिलालेख पाये गये हैं; इनमें से हस्तिकुंडी (हथुंडी, जोधपुर राज्य में) के राठोड़ों का वि० सं० १०५३ का, और धनोप के राठोड़ों का वि० सं० १०६३ का है। करौली के यादवों के समय के वि० सं० की आठवीं से १३वीं शताब्दी के मध्य तक के पांच शिलालेख अब तक प्राप्त हुए हैं।

(२) वि० सं० १२४९ से लगाकर अकबर के राज्यसिंहासन पर आरूढ़ होने तक गुहिलवंशियों के कुछ सिक्के तथा अनेक शिलालेख उपलब्ध हुए हैं, जिनमें ऐतिहासिक उपयोगिता के विचार से निम्नलिखित लेख उल्लेखनीय हैं—रावल तेजसिंह के समय का वि० सं० १३२२ का घाघसा ग्राम का; रावल समरसिंह के समय का

वि० सं० १३३० का चीरवा गांव से मिला हुआ; वि० सं० १३३१ का चित्तोड़ का (पहली शिला-मात्र) और १३४२ का आबू का; महाराणा मोकल के समय का वि० सं० १४८५ का शृंगीऋृषि से प्राप्त तथा उसी संवत् का चित्तोड़ के मोकलजी के मंदिर का; महाराणा कुंभकर्ण के समय का वि०सं० १४८१ का देलवाड़ा गांव का; वि० सं० १४९६ का राणपुर के जैन मंदिरवाला; वि० सं० १५१७ का चित्तोड़ के कीर्तिस्तंभ का तथा उसी संवत् का कुंभलगढ़ का और महाराणा रायमल के समय की वि० सं० १५४५ की एकलिंगजी के दक्षिण द्वार की प्रशस्ति; जावर के रामस्वामी के मंदिर में लगा हुआ वि० सं० १५५४ का लेख; और वि० सं० १५६३ का घोसुंडी की बावड़ी का शिलालेख। इन लेखों के अतिरिक्त जयसिंह-सूरि-कृत 'हम्मीरमदमर्दन,' जिनप्रभसूरि-विरचित 'तीर्थकल्प,' महाराणा कुंभा के समय का बना हुआ 'एकलिंगमाहात्म्य;' और ओघनिर्युक्ति, पाक्षिकसूत्रवृत्ति, श्रावकप्रतिक्रमणसूत्रचूर्णि नामक पुस्तकों से भी इतिहास में थोड़ी बहुत सहायता मिलती है। इसी प्रकार रायमल रासा तथा पद्मावत की कथा भी कुछ सहायक हैं।

इस समय के अजमेर के चौहानों का वि० सं० १२५१ (ई० स० ११९४), का केवल एक ही शिलालेख—हरिराज का—मिला है। उसी समय से अजमेर के चौहान-राज्य पर मुसलमानों का अधिकार हो गया और पृथ्वीराज का पुत्र गोविंदराज रणथंभोर चला गया। रणथंभोर के चौहानों के भी कुछ शिलालेख मिले हैं। उनका इतिहास हंमीरमहाकाव्य (संस्कृत) में मिलता है और उसी काल में नरपति नाल्ह ने वीसलदेव रासा नाम की हिन्दी पुस्तक लिखी, जिसका संबंध सांभर के वीसलदेव तीसरे से है। नाडौल और जालोर के राज्य मुसलमानों के अधीन होने पर सिरोही का राज्य स्थापित हुआ। इन तीनों राज्यों के कई शिलालेखों के अतिरिक्त 'कान्हड़दे प्रबन्ध' (पुराणी गुजराती भाषा का) भी मिलता है। हाड़ों के इस समय के केवल दो ही शिलालेख मिले हैं, जिनमें से पहला वि० सं० १४४६ (ई० स० १३८९) का बंबावदे के हाड़ा महादेव का मैनाल (उदयपुर राज्य में) से और दूसरा बूंदी के इतिहास से संबंध रखनेवाला वि० सं० १५६३ का खजूरी गांव (बूंदी राज्य में) से प्राप्त हुआ है।

राठोड़ों के समय के दो छोटे छोटे शिलालेख मिले हैं—इनमें से एक वि० सं० १३३० का और दूसरा १३६६ का है—जो क्रमशः जोधपुर के राठोड़ों के पूर्वज

सीहा और धूहड़ की मृत्यु के निश्चित संवत् प्रकट करते हैं। जैसलमेर के यादवों (भाटियों) के इतिहासोपयोगी चार शिलालेख प्रसिद्धि में आये हैं, जो वि० सं० १४७३ से वि० सं० १४६४ तक के हैं। इस काल से संबन्ध रखनेवाला कछवाहों का कोई शिलालेख या उस समय का बना हुआ कोई ऐतिहासिक ग्रंथ नहीं मिला।

इन शिलालेखादि के अतिरिक्त मुसलमान ऐतिहासिकों की लिखी हुई ताजुल्मआसिर, तबकातेनासिरी, तारीखे अलाई, तारीखे अल्फ़ी, तारीखे फ़ीरोज़शाही, फ़तूहाते फ़ीरोज़शाही, तुज़ुके बाबरी, हुमायूंनामा, तारीखे शेरशाही, तारीख़ फ़िरिश्ता, मिराते अहमदी और मिराते सिकन्दरी आदि फ़ारसी तवारीखों से भी उस काल के राजपूताने के इतिहास में कुछ कुछ सहायता मिलती है, क्योंकि उन्हीं से अजमेर के चौहान-राज्य के अस्त होने; रणथंभोर, मंडोर, सवालक, जालोर, लावा, सांभर और चित्तोड़ आदि पर होनेवाली मुसलमानों की चढ़ाइयों, तथा मेवाड़ के राजाओं की दिल्ली, मालवा और गुजरात के सुलतानों के साथ की लड़ाइयों आदि का और राव मालदेव पर की शेरशाह सूर की चढ़ाई का वृत्तान्त मिलता है।

इस समय के इतिहास पर मेवाड़ आदि के शिलालेख और फ़ारसी तवारीखें ही कुछ प्रकाश डालती हैं, परन्तु इस काल का अधिकांश इतिहास अंधकार में ही है, क्योंकि इस समय बार बार होनेवाले मुसलमानों के आक्रमणों के कारण युद्धों में लगे रहने से शिलालेखादि खुदवाने या ऐतिहासिक ग्रंथ लिखवाने की तरफ़ राजपूत राजाओं का विशेष ध्यान नहीं रहा, और मुसलमान ऐतिहासिकों ने भी जो कुछ लिखा है वह अपनी जाति की प्रशंसा एवं पक्षपात से खाली नहीं है। इसपर भी उनके लिखे हुए ग्रन्थों से उस समय का इतिहास संग्रह करने में सहायता मिल सकती है।

(३) अकबर के समय से लेकर अब तक के इतिहास की सामग्री विशेष रूप से मिलती है। इस समय के शिलालेख (कुछ संस्कृत में और कुछ हिन्दी में) बहुत मिलते हैं, परन्तु पुराने शिलालेखों की तरह विस्तृत न होने से वे विशेष उपयोगी नहीं हैं। बड़े लेखों में उदयपुर के जगदीश के मन्दिर की प्रशस्ति, सीसारमां गांव (उदयपुर राज्य में) के वैद्यनाथ के मन्दिर का शिलालेख और

बीकानेर के राजमहलों के द्वार के पार्श्व पर खुदी हुई बड़ी प्रशस्ति उल्लेखनीय हैं। इस समय के ताम्रपत्र भाषा में लिखे जाते थे और उनमें दान देनेवाले तथा लेनेवाले के नामों और संवत् के सिवा प्राचीन ताम्रपत्रों के समान विस्तृत वृत्तांत नहीं है। अलवर राज्य में दौरा करते समय मैंने जयपुर (आंबेर) के राजाओं के कुछ ऐसे शिलालेख और पट्टे देखे, जो फ़ारसी और हिन्दी दोनों में खुदे और लिखे हुए हैं। मुसलमान बादशाहों के बहुधा सब लेख फ़ारसी भाषा में मिलते हैं।

संस्कृत पुस्तकों में उदयपुर राज्य के सम्बन्ध के अमरकाव्य, जगत्प्रकाश महाकाव्य, राजप्रशस्ति महाकाव्य और महाराणा अमरसिंह द्वितीय के राज्याभिषेक-सम्बन्धी एक अपूर्ण काव्य; जोधपुर राज्य के सम्बन्ध का अजितोदय काव्य; जयपुर राज्य के विषय के जयवंशकाव्य और कच्छवंश-महाकाव्य तथा बूंदी राज्य से सम्बन्ध रखनेवाले सुर्जनचरित और शत्रुशल्यकाव्य उपलब्ध हुए हैं।

भाषा की पुस्तकों में बड़वों और राणीमंगों की ख्यातें मुख्य हैं। प्रत्येक राज्य की, सरदारों के ठिकानों की तथा भिन्न भिन्न जातियों की अनेक ख्यातें मिलती हैं। उनमें विशेषकर राजाओं, सरदारों तथा अनेक जातियों के कुलों की वंशावलियां, संवत् तथा उनको दी हुई भेटों का अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन मिलता है। लगभग सौ वर्ष पूर्व ये ही ख्यातें राजपूताने के इतिहास के मुख्य साधन मानी जाती थीं, परन्तु ज्यों-ज्यों प्राचीन शोध का काम आगे बढ़ता गया और अनेक राजवंशों की वंशावलियां तथा कई राजाओं के निश्चित संवत् शिलालेखादि से ज्ञात होते गये, त्यों-त्यों इनपर से विद्वानों का विश्वास उठता गया और इनमें दिये हुए सैकड़ों नामों में से पंद्रहवीं शताब्दी के पूर्व के अधिकांश नाम और संवत् प्रायः कल्पित सिद्ध हुए। हमने चौहानों की बूंदी, सिरोही और नीमराणे के बड़वों की ख्यातों का मिलान किया, तो बूंदी की ख्यात में चाहमान से लगाकर प्रसिद्ध पृथ्वीराज तक १७७, सिरोही की ख्यात में २२७ और नीमराणे की ख्यात में ४ सौ से अधिक नाम मिले। पृथ्वीराज रासे से जो थोड़े-से नाम उनमें उद्धृत किये हैं, वे ही बिना किसी क्रम के परस्पर मिले और शेष नाम बहुधा एक दूसरे से भिन्न पाये गये। बड़वों की सौ से अधिक ख्यातों की हमने प्राचीन शोध की कसौटी पर जांच की, तो पन्द्रहवीं शताब्दी तक के

नाम, संवत् आदि अधिकतर कृत्रिम ही पाये। उनकी अप्रामाणिकता का विवेचन इस इतिहास में स्थल स्थल पर किया गया है। अनुमान होता है कि या तो बड़वों की पुरानी ख्यातें नष्ट होगईं, जिससे उन्होंने नई बनाने का यत्न किया हो, अथवा वे विक्रम संवत् की सोलहवीं शताब्दी से ही लिखने लगे हों।

राणीमंगों की ख्यातों में बहुधा राणियों के ही नाम दर्ज किये जाते हैं। वे भी बड़वों की ख्यातों के समान अप्रामाणिक हैं।

राजपूताने में भिन्न भिन्न राज्याधिकारी अपने अपने राज्यों की ख्यातें लिखते रहते थे। छोटी-बड़ी ऐसी कई ख्यातें उपलब्ध हुई हैं, जिनमें विक्रम संवत् की पन्द्रहवीं शताब्दी से पूर्व के अधिकांश नाम और संवत् तो भाटों से ही लिये गये हैं; परन्तु उक्त समय के पिछले राजाओं का वृत्तान्त उनमें विस्तार के साथ मिलता है, जो अतिशयोक्ति तथा अपने अपने राज्य का महत्त्व बतलाने की चेष्टा से रहित नहीं हैं। वि० सं० की १७वीं शताब्दी के पीछे राजाओं की तरफ़ से भी अपने अपने राज्यों की ख्यातें अपने दफ़्तरों की सहायता से तैयार कराई गईं। जोधपुर और बीकानेर राज्य की ऐसी ख्यातें विस्तृत रूप में मिलती हैं, परन्तु विक्रम संवत् की पन्द्रहवीं शताब्दी के पूर्व के लिये तो उनका आधार बड़वों की ख्यातों पर ही रहा, इसलिये उपर्युक्त दोषों से वे भी मुक्त नहीं हैं। आज तक मिली हुई समस्त ख्यातों में मुहणोत नैणसी की ख्यात विशेष उपयोगी है। उसके संग्रहकर्ता मुहणोत नैणसी का जन्म वि० सं० १६६७ मार्गशीर्ष सुदि ४ को और देहान्त वि० सं० १७२७ भाद्रपद वदि १३ को हुआ था। वि० सं० १७१४ में जोधपुर के महाराजा जसवन्तसिंह (प्रथम) ने उसे अपना दीवान बनाया था। वह वीर तथा प्रबन्ध-कुशल होने के अतिरिक्त इतिहास का बड़ा प्रेमी था। जोधपुर जैसे राज्य का दीवान होने से अन्य राज्यों के प्रसिद्ध पुरुषों के साथ उसका बहुत कुछ मेल-मिलाप रहता था, जिससे प्रसिद्ध पुरुषों, चारणों और भाटों आदि से जो कुछ ऐतिहासिक बातें उसे मिलीं, उनका वि० सं० १७०७ के कुछ पूर्व से वि० सं० १७२२ के कुछ पीछे तक उसने बृहत् संग्रह किया। उसने कई जगह तो जिसके द्वारा जिस संवत् में जो वृत्तान्त मिला, उसका उल्लेख तक किया है। कई वंशावलियां उसने भाटों की ख्यातों से भी उद्धृत की हैं, इसलिये उनमें दिये हुए प्राचीन नामों आदि में बहुतसे अशुद्ध हैं, परन्तु प्राचीन शोध से उनकी

बहुत कुछ शुद्धि हो सकती है। प्रत्येक राज्य के संबंध की जितनी भिन्न भिन्न 'बातें' या वंशावलियां मिल सकीं, वे सब नैणसी ने दर्ज की हैं, जिनमें कुछ ठीक हैं और कुछ अशुद्ध। लेखक-दोष से कहीं कहीं संवतों में भी अशुद्धियां हो गई हैं और कुछ स्थलों पर अपने राज्य का पक्षपात भी पाया जाता है; इसपर भी वह ख्यात विक्रम की १५वीं से सत्रहवीं सदी तक के राजपूताने के इतिहास के लिये ऊपर लिखी हुई ख्यातों की अपेक्षा विशेष उपयोगी है। उसमें उदयपुर, डूंगरपुर, बांसवाड़ा और प्रतापगढ़ राज्यों के सीसोदियों (गुहिलोतों); रामपुरे, के चंद्रावतों (सीसोदियों की एक शाखा); खेड़ के गोहिलों (गुहिलोतों); जोधपुर, बीकानेर और किशनगढ़ के राठोड़ों; जयपुर और नरवर के कछवाहों; परमारों, पड़िहारों, सिरोही के देवड़ों (चौहानों); बूंदी के हाड़ों तथा बागड़िया, सोनगरा, सांचोरा, बोड़ा, कांपलिया, खीची, चीबा, मोहिल आदि चौहानों की भिन्न भिन्न शाखाओं; यादवों और उनकी जाड़ेचा, सरवैया आदि कच्छ और काठियावाड़ की शाखाओं और राजपूताने के झालों, दहियों, गौड़ों, कायमखानियों आदि का इतिहास मिलता है।

इस प्रकार के इतिहास के अतिरिक्त गुहिलोत (सीसोदिया), परमार, चौहान, पड़िहार, सोलंकी, राठोड़ आदि वंशों की भिन्न भिन्न शाखाओं के नाम, अनेक क़िले आदि बनाने के संवत् तथा पहाड़ों, नदियों और ज़िलों के विवरण भी मिलते हैं। उक्त ख्यात में चौहानों, राठोड़ों, कछवाहों और भाटियों का इतिहास तो इतने विस्तार के साथ दिया गया है कि उसका अन्यत्र कहीं मिलना सर्वथा असंभव है। इसी तरह वंशावलियों का तो इतना बड़ा संग्रह है कि वह अब अन्यत्र मिल ही नहीं सकता। उसमें अनेक लड़ाइयों का वर्णन, उनके निश्चित संवत् तथा सैकड़ों वीर पुरुषों के जागीर पाने या लड़कर मारे जाने का संवत् सहित उल्लेख देखकर यह कहना अनुचित न होगा कि नैणसी जैसे वीर प्रकृति के पुरुष ने अनेक वीर पुरुषों के स्मारक अपनी पुस्तक में सुरक्षित किये हैं। वि० सं० १३०० के बाद से नैणसी के समय तक के राजपूतों के इतिहास के लिये तो मुसलमानों की लिखी हुई तवारीखों से भी नैणसी की ख्यात कहीं कहीं विशेष महत्त्व की है। सुप्रसिद्ध इतिहासवेत्ता स्वर्गीय मुंशी देवीप्रसाद ने तो नैणसी को राजपूताने का अबुल्फ़ज़ल माना था। कर्नल टॉड के समय तक यह

ग्रन्थ प्रसिद्धि में नहीं आया। यदि उसे ग्रंथ मिल जाता तो उसका राजस्थान का इतिहास और भी विस्तृत तथा विशेष उपयोगी होता। इस ग्रंथ[1] को प्रसिद्धि में लाने का सारा श्रेय जोधपुर राज्य के स्वर्गीय महामहोपाध्याय कविराजा मुरारिदान को है।

इस काल में समय समय पर भाषा के अनेक ऐतिहासिक काव्य भी बने, जिनमें सबसे अधिक प्रसिद्धि चंदबरदाई के पृथ्वीराज रासे की हुई। प्राचीन शोध के प्रारंभ से पूर्व यह 'राजपूताने का महाभारत' और इतिहास का अमूल्य कोष समझा जाता था। कई एक आधुनिक हिन्दी-लेखक इसको हिन्दी का आदिकाव्य मानकर इसे सम्राट् पृथ्वीराज के समय का बना हुआ बतलाते हैं, जो हमारी राय में भ्रमपूर्ण ही है। यदि यह काव्य पृथ्वीराज के समय का बना हुआ होता, तो जयानक के पृथ्वीराजविजय के समान इसमें लिखी हुई घटनाएं और वंशावली शुद्ध होती और चौहानों के प्राचीन शिलालेखों से ठीक मिल जाती, परन्तु वैसा है नहीं। यह काव्य विक्रम संवत् १६०० के आसपास का बना हुआ होना चाहिये। इसमें प्रति शत १० फ़ारसी शब्द हैं और इसमें दी हुई चौहानों की अधिकांश वंशावली अशुद्ध और अपूर्ण है। इसी तरह पृथ्वीराज के पिता सोमेश्वर का दिल्ली के तँवर राजा अनंगपाल की पुत्री कमला से विवाह करना, वि० सं० १११५ में उससे पृथ्वीराज का जन्म होना, उसका अपने नाना के यहां गोद जाना, अनंगपाल की दूसरी पुत्री सुन्दरी का विवाह कन्नौज के राजा विजयपाल से होना, आबू पर सलख और उसके पुत्र जैत परमार का राज्य होना, सलख की पुत्री इच्छनी के साथ विवाह करने के लिये गुजरात के सोलंकी राजा भोलाभीम का आग्रह करना, सलख का पृथ्वीराज के साथ अपनी पुत्री का विवाह कर देना, भोलाभीम के हाथ से पृथ्वीराज के पिता सोमेश्वर का मारा जाना, पृथ्वीराज का भोलाभीम को मारना, पृथ्वीराज की बहिन पृथाबाई का विवाह मेवाड़ के रावल तेजसिंह के पुत्र समरसिंह के साथ होना, कन्नौज के राजा जयचंद का राजसूययज्ञ करना, उसकी पुत्री संयोगिता का पृथ्वीराज के द्वारा हरण होना, रावल समरसिंह का पृथ्वीराज के

---

(१) इस पुस्तक के हिन्दी अनुवाद का प्रथम भाग नागरीप्रचारिणी सभा, काशी, ने प्रकाशित किया है, जिसमें गुहिलवंशियों (सीसोदियों), परमारों, चौहानों, पड़िहारों और सोलंकियों के इतिहास का संग्रह हुआ है। मूल पुस्तक में एक वंश का इतिहास एक ही स्थान पर नहीं है, परन्तु हिन्दी अनुवाद में क्रमबद्ध संग्रह किया गया है।

पक्ष में रहकर शहाबुद्दीन के साथ की लड़ाई में मारा जाना, पृथ्वीराज का कैद होकर ग़ज़नी पहुंचना, पृथ्वीराज के शब्दवेधी बाण से शहाबुद्दीन का मारा जाना, पृथ्वीराज और चंद बरदाई का ग़ज़नी में आत्मघात करना, पृथ्वीराज के पीछे उसके पुत्र रैनसी का दिल्ली की गद्दी पर बैठना आदि बहुधा मुख्य-मुख्य घटनाएं कल्पित ही हैं[1]। भाटों ने पृथ्वीराज रासे को प्रामाणिक ग्रंथ जानकर उसमें दिये हुए पृथ्वीराज के जन्म और मृत्यु के वि० संवत् क्रमशः १११५ और ११५८ मानकर मेवाड़ के रावल समरसिंह (समरसी) का वि० सं० ११०६ (ई० स० १०४६) में, कन्नौज के राजा जयचंद का वि० सं० ११३२ में और आम्बेर के राजा पज्जून का वि० सं० ११२७ में गद्दी पर बैठना स्वीकार-कर उदयपुर, जोधपुर और जयपुर के पहले के राजाओं के कल्पित संवत् स्थिर किये, जिससे राजपूताने के इतिहास में और भी संवत् संबंधी अशुद्धियां हो गईं।

पृथ्वीराज रासे की भाषा, ऐतिहासिक घटनाएं और संवत् आदि जिन जिन बातों की प्राचीन शोध की कसौटी पर जांच की जाती है तो उससे यही सिद्ध होता है कि वह पुस्तक वर्तमान रूप में न पृथ्वीराज की समकालीन है और न किसी समकालीन कवि की कृति।

पृथ्वीराज रासे के अतिरिक्त खुंमाण रासा, राणा रासा, राजविलास, जयविलास (उदयपुर के); विजयविलास, सूर्यप्रकाश (जोधपुर के); राव जैतसीरो छंद (बीकानेर का); मानचरित्र, जयसिंहचरित्र (जयपुर के); हंमीर रासा, हंमीर-हठ (रणथंभोर के चौहानों के) आदि हिन्दी या डिंगल के ग्रंथ मिलते हैं। उनमें से कुछ, समकालीन लेखकों के न होने और कविता की दृष्टि से लिखे जाने के कारण, वे इतिहास में बहुत थोड़ी सहायता देते हैं।

राजपूत राजाओं, सरदारों आदि के वीरकार्यों, युद्धों में लड़ने या मारे जाने, किसी बड़े दान के देने या उनके उत्तम गुणों, अथवा राणियों तथा ठकुराणियों के सती होने आदि के संबंध के डिंगल भाषा में लिखे हुए हज़ारों गीत मिलते हैं। ये गीत चारणों, भाटों, मोतीसरों और भोजकों के बनाये हुए हैं। इन गीतों

---

(१) 'अनंद विक्रम संवत् की कल्पना' शीर्षक मेरे लेख में—जो नागरीप्रचारिणी पत्रिका (भाग १, पृ० ३७७-४५४) में प्रकाशित हुआ है—इनमें से कई एक घटनाओं के अशुद्ध होने का प्रसंगवशात् विस्तृत विवेचन किया गया है।

में से अधिकतर की रचना वास्तविक घटनाओं के आधार पर की गई है, परन्तु इनके वर्णनों में अतिशयोक्ति भी पाई जाती है। युद्धों में मरनेवाले जिन वीरों का इतिहास में संक्षिप्त विवरण मिलता है, उनकी वीरता का ये अच्छा परिचय कराते हैं। गीत भी इतिहास में सहायक अवश्य होते हैं। राजाओं, सरदारों, राज्याधिकारियों, चारणों, भाटों, मोतीसरों आदि के यहां इन गीतों के बड़े बड़े संग्रह मिलते हैं। कहीं कहीं तो एक ही स्थान में दो हज़ार तक गीत देखे गये। इनमें से अधिकतर वीररसपूर्ण होने के कारण राजपूताने में ये बड़े उत्साह के साथ पढ़े और सुने जाते थे, परन्तु गत पचास वर्षों से लोगों में इनके सुनने का उत्साह भी कम हो गया है और ऐसे गीतों के बनानेवाले विरले ही रह गये हैं। इन गीतों में से कुछ, अधिक प्राचीन[1] भी हैं, परन्तु कई एक के बनानेवालों के समय निश्चित न होने से उनमें से अधिकांश के रचना-काल का ठीक ठीक निश्चय नहीं हो सकता। गीतों की तरह डिंगल भाषा के पुराने दोहे, छप्पय आदि बहुत मिलते हैं। वे भी बहुधा वीररसपूर्ण हैं और इतिहास के लिये गीतों के समान ही उपयोगी हैं।

राजपूताने के इतिहास के लिये निम्नलिखित फ़ारसी तवारीख़ें भी उपयोगी हैं—तारीख़े अल्फ़ी, तबक़ाते अकबरी, मुन्तख़बुत्तवारीख़, अकबरनामे (दोनों, अबुल्फ़ज़ल और फ़ैज़ीकृत), आईने अकबरी, तुज़ुके जहांगीरी, इकबालनामा जहांगीरी, बादशाहनामा, शाहजहांनामा, आलमगीरनामा, मआसिरे आलमगीरी, मुन्तख़बुल्लुबाब, मआसिरुल्उमरा, बहादुरशाहनामा, सैरुल्मुताख़िरीन आदि। हिन्दुओं की अपेक्षा मुसलमानों में इतिहास लिखने का विशेष प्रचार था, जिससे जहां जहां उनके राज्य रहे, वहां का सविस्तर वृत्तांत लिखा मिलता है। प्रसिद्ध सुलतानों और बादशाहों में से कई एक के सम्बन्ध की एक से अधिक स्वतंत्र पुस्तकें उपलब्ध हैं। अकबर के समय से मनसबदारी की प्रथा जारी होने के कारण राजपूताने के कई राजा, राजकुमार, राजाओं के कुटुम्बी

---

(१) सुभाषित-हारावलि में एक श्लोक मुरारि कवि के नाम से उद्धृत किया गया है, जिसमें चारणों की ख्यात और गीतों का उल्लेख मिलता है (ना० प्र० प०; भाग १, पृ० २२१–३१)। यदि वह वास्तव में अनर्घराघव के कर्त्ता मुरारि कवि का हो, तो यह भी मानना पड़ेगा कि दसवीं शताब्दी से पूर्व भी ऐसे गीत बनाये जाते थे। नैणसी की ख्यात में भी कुछ पुराने गीत, दोहे, छप्पय आदि मिलते हैं।

आदि अनेक राजपूत बादशाही सेवा स्वीकार कर शाही मनसबदार बने । उनके मनसब की तरक्क़ियां, कई लड़ाइयों में उनका लड़ना, ज़िलों के सूबेदार बनना आदि बहुतसी बातें फ़ारसी तवारीख़ों में पाई जाती हैं । मश्रासिरुल् उमरा में राजपूताने के अनेक राजाओं, सरदारों आदि की जीवनियों का जो संग्रह किया गया है, उसका बहुत थोड़ा अंश राजपूताने की ख्यातों आदि में मिलता है । मुसलमान चाहे हिन्दुओं की पराजय और अपनी विजय का वर्णन कितने ही पक्षपात से लिखते थे और धर्म-द्वेष के कारण हिन्दुओं की बुराई तथा अपनी बड़ाई करने में कभी कसर न रखते थे, तो भी उनकी लिखी हुई पुस्तकों में दिये हुए संवत् तथा मुख्य घटनाएं बहुधा प्रामाणिक रीति से लिखी मिलती हैं ।

प्रत्येक राज्य के प्रसिद्ध ज्योतिषियों के यहां राजाओं, कुंवरों, कुंवरियों, राणियों, मंत्रियों, प्रसिद्ध पुरुषों आदि की जन्मपत्रियां रहा करती हैं, जिनमें उनके जन्म का संवत्, मास, पक्ष, तिथि, वार और जन्मकुंडली लिखी रहती है । जन्मपत्रियों के कई छोटे-बड़े संग्रह देखने में आये, जिनमें दो उल्लेखनीय हैं । प्रसिद्ध इतिहासवेत्ता मुंशी देवीप्रसाद के यहां एक पुराने हस्तलिखित गुटके तथा फुटकर संग्रह में वि० सं० १४७२ से वि० सं० १८८६ तक की २१४ जन्मपत्रियां हैं । उसमें मेवाड़ के राणाओं, डूंगरपुर के रावलों; जोधपुर, बीकानेर, किशनगढ़, ईडर, रतलाम, नागोर, मेड़ता, भिणाय और खरवा आदि के राठोड़ों; कोटा और बूंदी के हाडों; सिरोही के देवड़ों, जयपुर के कछवाहों, ग्वालियर के तँवरों, जैसलमेर के भाटियों, जामनगर के जामों, रीवां के बघेलों, अनूपशहर के बड़गूजरों, ओछों के बुंदेलों, राजगढ़ के गौड़ों, वृन्दावन के गोस्वामियों, जोधपुर के पंचोलियों, भंडारियों और मुहणोतों आदि अहलकारों और दिल्ली के बादशाहों, शाहज़ादों, अमीरों तथा छत्रपति शिवाजी आदि की जन्मपत्रियां हैं[1] । जन्मपत्रियों का दूसरा बड़ा संग्रह[2] (जो जोधपुर के प्रसिद्ध ज्योतिषी चंडू के घराने का था) हमारे मित्र ब्यावर-निवासी मीठालाल व्यास के द्वारा हमें

---

(१) ना० प्र० प०; भाग १, पृ० ११४–२० ।

(२) ये जन्मपत्रियां एक बड़े गुटके के मध्य में हैं जिसके पहले और पीछे पुरोहित शिवराम के हाथ की लिखी हुई ज्योतिष-सम्बन्धी कई पुस्तकें तथा फुटकर बातें हैं । कई पुस्तकों के अन्त में उनके लिखे जाने के संवत् भी दिये हैं, जो वि० सं० १७३२ से १७३७ तक के हैं, और कई जगह उनके लेखक शिवराम का नाम भी दिया है ।

मिला है। इसमें वि० सं० १७३२ और १७३७ के बीच चंडू के वंशधर शिवराम पुरोहित ने अनुमान ५०० जन्मपत्रियों का क्रमबद्ध संग्रह किया था और ४० जन्मपत्रियां पीछे से समय समय पर बढ़ाई गईं। इसमें वि० सं० १४७२ से लगाकर १७३७ तक का पुराना संग्रह है, जिसमें दिल्ली के बादशाहों, शाहज़ादों और अमीरों, तथा राजा एवं राजवंशियों में सीसोदियों (शिवाजी सहित), राठोड़ों, कछवाहों, देवड़ों, भाटियों, गौड़ों, हाड़ों, गूजरों, जामों, चौहानों, बुंदेलों, आसायचों, पंवारों, खीचियों की, और मुहणोतों, सिंघियों, भण्डारियों, पंचोलियों, ब्राह्मणों, राणियों तथा कुंवरियों की जन्मपत्रियां हैं। जन्मपत्रियों का इतना बड़ा कोई दूसरा संग्रह हमारे देखने में नहीं आया। कई राजाओं, कुंवरों, सरदारों तथा प्रसिद्ध राजकीय पुरुषों के जन्म-संवत् जानने में ये जन्मपत्रियां सहायता देती हैं।

इसी तरह मुसलमान बादशाहों के फ़रमान तथा शाहज़ादों के निशान और राजाओं के पट्टे परवाने, राजाओं की तरफ़ से बादशाहों के यहां रहनेवाले वकीलों के पत्र, राजकीय पत्र-व्यवहार तथा मरहटों के पत्र हज़ारों की संख्या में मिलते हैं। ये भी इतिहास के लिये उपयोगी हैं।

मुग़ल-साम्राज्य के डगमगाने और मरहटों के प्रबल होने पर कई एक यूरोपियन, हिन्दू और मुसलमान राज्यों की सेना में नियुक्त होते रहते थे। उन लोगों के चरित्रग्रन्थ या यूरोप भेजे हुए उनके पत्रों आदि के आधार पर जो ग्रंथ लिखे गये हैं, उनमें भी राजपूताने के संबंध की कुछ बातें मिलती हैं; जैसे फ़्रांसीसी समरू (सौम्ब्रे, वॉल्टर रैनहार्ड) भरतपुर और जयपुर के राजाओं के पास अपनी सेना रखकर उनसे वेतन पाता रहा। इसी तरह जॉर्ज थॉमस मरहटों की सेवा में रहा, और जयपुर, बीकानेर, उदयपुर आदि से लड़ाइयां लड़ा था। उसके लिखे हुए पत्रों के आधार पर उसकी जीवनी लिखी गई, जो पहले कलकत्ते में छपी और उसका दूसरा संस्करण ई० स० १८०५ में लंदन में छपा। उसमें राजपूताने के सम्बन्ध की उस समय की कई उपयोगी बातों का समावेश है। जार्ज थॉमस अब तक राजपूताने में 'जाज फिरंगी' नाम से प्रसिद्ध है। कुछ फ़्रांसीसियों का अब तक जयपुर राज्य के जागीरदार होना सुना जाता है।

आज से सौ वर्ष पूर्व उपर्युक्त शिलालेख, ताम्रपत्र, सिक्के और संस्कृत

पुस्तक आदि सामग्री उपस्थित न थी, तो भी राजपूताने के पिछले इतिहास से सम्बन्ध रखनेवाली सामग्री इतनी अवश्य थी कि उससे राजपूताने का इतिहास बनाने का यत्न किया जा सकता था, परन्तु मुहणोत नैणसी के प्रयास को छोड़कर उस समय के भिन्न भिन्न राज्यों का इतिहास लिखने का प्रयत्न किसी ने न किया। आज राजपूताने के इतिहास पर जितना प्रकाश पड़ रहा है, उसका श्रेय एक अंग्रेज़ सैनिक एवं विद्यानुरागी सज्जन—कर्नल टॉड—को है। उक्त महानुभाव ने कैसी स्थिति में किस प्रकार अथक परिश्रम कर राजपूताने के इतिहास की नींव डाली, इससे पाठकों को परिचित कराने के लिये कर्नल टॉड का कुछ परिचय नीचे दिया जाता है—

जेम्स टॉड का जन्म इंग्लैण्ड के इस्लिंग्टन नगर में ता० २० मार्च ई० स० १७८२ (चैत्र सुदि ६ वि० सं० १८३६) को एक उच्च कुल में हुआ था। ई० स० १७६८ (वि० सं० १८५५) में वह ईस्ट इण्डिया कंपनी के उच्चपद के सैनिक उम्मेदवारों में भरती होकर वुलविच नगर की राजकीय सैनिक पाठशाला में प्रविष्ट हुआ और दूसरे साल ही १७ वर्ष की आयु में बंगाल में आया, जहां ई० स० १८०० (वि० सं० १८५६) के प्रारंभ में उसे दूसरे नंबर के रेजिमेंट में स्थान मिला। लार्ड वेलेज़्ली के मोलक्का द्वीप पर सेना भेजने का विचार सुनकर साहसी टॉड ने उस सेना में सम्मिलित होने के लिये अर्ज़ी दी, जिसके स्वीकृत होने पर वह जलसेना में भरती होगया। किसी कारणवश उस सेना का वहां जाना स्थगित हुआ, परन्तु इससे उसे जलसैन्य-सम्बन्धी कामों का भी अनुभव हो गया। इसके कुछ समय बाद वह १४ नम्बर की देशी पैदल सेना का लेफ़्टेनेण्ट बनाया गया। उस समय से ही उसकी कुशाग्र बुद्धि उसके होनहार होने का परिचय देने लगी। फिर कलकत्ते से हरिद्वार और वहां से दिल्ली में उसकी नियुक्ति हुई।

इञ्जीनियरी के काम में कुशल होने के कारण दिल्ली की पुरानी नहर की पैमाइश का काम लेफ़्टेनेंट टॉड के सुपुर्द हुआ, जिसे उसने बड़ी योग्यता के साथ पूर्ण किया। ई० स० १८०५ (वि० सं० १८६२) में ग्रीम मर्सर सरकार अंग्रेज़ी की तरफ़ से राजदूत और रेज़िडेंट नियत होकर दौलतराव सिंधिया के दरबार में जानेवाला था। इतिहासप्रेमी होने के कारण राज-दरबारों के वैभव देखने की उत्कंठा से टॉड ने भी उसके साथ चलने की इच्छा प्रगट की। ग्रीम

मलैर ने उसकी प्रशंसनीय स्वतन्त्र प्रकृति से परिचित होने के कारण सरकार से आज्ञा लेकर उसे अपने साथ रहनेवाली सरकारी सेना का अफ़सर नियत किया।

उस समय तक यूरोपियन विद्वानों को राजपूताना और उसके आसपास के प्रदेशों का भूगोल-संबंधी ज्ञान बहुत ही कम था, जिससे उनके बनाये हुए नक्शों में उन प्रदेशों के मुख्य मुख्य स्थान अनुमान से ही दर्ज किये गये थे; यहां तक कि चित्तोड़ का क़िला, जो उदयपुर से ७० मील पूर्व की ओर है, उनमें उदयपुर से उत्तर-पश्चिम में दर्ज था। राजपूताने के पश्चिमी और मध्य-भाग के राज्य तो उन्होंने बहुधा छोड़ ही दिये थे। उस समय सिंधिया के मेवाड़ में होने के कारण मर्सेर को आगरे से जयपुर की दक्षिणी सीमा में होकर उदयपुर पहुंचना था। साहसी टॉड ने आगरे से उदयपुर को प्रस्थान करने के दिन से ही अपनी पैमाइश की सामग्री सम्हाली और डॉ० हंटर के नियत किये हुए आगरा, दतिया, झांसी आदि को आधारभूत मानकर पैमाइश करता हुआ वह ई० स०१८०६ (वि० सं० १८६३) के जून मास में उक्त राजदूत के साथ उदयपुर पहुंचा। उदयपुर तक की पैमाइश करने के बाद टॉड ने शेष राजपूताना और उसके आसपास के प्रदेशों का एक उत्तम नक्शा तैयार करना चाहा, जिससे उक्त राजदूत के साथ जहां कहीं वह जाता या ठहरता, वहां अपना बहुतसा समय इस कार्य में लगाता। पैमाइश करने के साथ साथ वह उन प्रदेशों के इतिहास, जनश्रुति आदि का भी यथाशक्ति संग्रह करता जाता था। उसी समय से उसकी अमर कीर्तिरूप राजस्थान के इतिहास की सामग्री का संग्रह होने लगा।

सिंधिया की सेना के साथ साथ टॉड भी उदयपुर से चित्तोड़गढ़ के मार्ग से मालवे में होता हुआ बुंदेलखण्ड की सीमा पर कमलासा में पहुंचा। इधर भी उसने अपना काम बड़े उत्साह से जारी रक्खा और जब सिंधिया की सेना ने ई० स० १८०७ (वि० सं० १८६४) में राहतगढ़ पर घेरा डाला, तो टॉड को अपने कार्य का बहुत अच्छा अवसर मिलगया। कुछ सिपाहियों को लेकर वह राजपूताने के भिन्न भिन्न स्थानों में गया और उधर के अधिकांश की पैमाइश कर फिर राहतगढ़ में सिंधिया की सेना से आ मिला। जिस हिस्से में वह स्वयं न जा सका, उधर अपने तैयार किये हुए आदमियों को भेजकर उसने पैमाइश कराई और उसकी स्वयं जांच की। इस तरह १० वर्ष तक निरन्तर परिश्रम कर उसने

राजपूताने का पूरा नक्शा तैयार कर लिया, जो अंग्रेज़ों के लिये पिंडारियों के साथ की लड़ाई में बड़ा उपयोगी सिद्ध हुआ।

ई० स० १८१३ (वि० सं० १८७०) में उसको कप्तान का पद मिला। फिर दो वर्ष बाद वह सिंधिया के दरबार का असिस्टेंट रेज़िडेंट नियत हुआ और यहीं से उसका पोलिटिकल (राजनैतिक) विभाग में प्रवेश हुआ। राजपूताने के राज्यों के साथ अंग्रेज़ों की संधियां होने पर कप्तान टॉड उदयपुर, जोधपुर, कोटा, बूंदी और जैसलमेर के राज्यों का पोलिटिकल एजेंट बना और उसका सदर मुक़ाम उदयपुर नियत हुआ, जहां वह अपने उत्तम स्वभाव के कारण महाराणा भीमसिंह का विश्वासपात्र और सलाहकार बन गया।

इस प्रकार राजपूताने में स्थिर होकर उसने अपने इतिहास का कार्य उत्साह के साथ आरंभ किया। महाराणा ने अपने सरस्वती भंडार से पुराण, रामायण, महाभारत, पृथ्वीराज रासा आदि ग्रंथ निकलवाकर उनसे पंडितों के द्वारा सूर्य और चन्द्र आदि वंशों की विस्तृत वंशावलियों और वृत्तान्तों का संग्रह करवा दिया। फिर टॉड ने यति ज्ञानचन्द्र को गुरु बनाकर अपने पास रक्खा, जो कविता में निपुण होने के अतिरिक्त प्राचीन लिपियों को पढ़ सकता था और जिसे संस्कृत का भी ज्ञान था। ज्ञानचन्द्र के अतिरिक्त कुछ पंडितों और घासी नामक चित्रकार को भी वह अपने साथ रखता था। दौरा करने के लिये टॉड जहां जाता, वहां शिलालेखों, सिक्कों, संस्कृत और हिन्दी के प्राचीन काव्यों, वंशावलियों, ख्यातों आदि का संग्रह करता और शिलालेखों तथा संस्कृत काव्यों का यति ज्ञानचन्द्र से अनुवाद कराता। राजपूताने में रहने तथा यहां के निवासियों के साथ प्रेम होने के कारण उसे यहां की भाषा का अच्छा ज्ञान हो गया था। वह गांवों के वृद्ध पुरुषों, चारणों, भाटों आदि को अपने पास बुलाकर उनसे पुराने गीत तथा दोहों का संग्रह करता और वहां की इतिहास-सम्बन्धी बातें, क्षत्रियों की वीरता और भिन्न भिन्न जातियों के रीति रिवाज़ या धर्मसंबंधी वृत्तान्त पूछता। जिस जिस राज्य में जाना होता, वहां का इतिहास राजाओं द्वारा अपने लिये संग्रह कराता और ऐतिहासिक पुस्तकों की नकल करवाता। प्रत्येक प्राचीन मन्दिर, महल आदि स्थानों के बनवानेवालों का यथासाध्य पता लगाता और जहां युद्धों में मरे हुए वीरों के चबूतरे देखता, उन-

पर के लेख पढ़वाकर या लोगों से पूछकर उनका विवरण एकत्र करता। यदि कोई शिलालेख बहुत उपयोगी होता तो उसे उठवाकर साथ ले जाता। जहां जाता, वहां के उत्तमोत्तम मन्दिरों व महलों आदि के चित्र भी बनवाता। यह काम बहुधा उसका साथी कैप्टन वॉग़ किया करता था। इसी तरह राजाओं और प्रतिष्ठित पुरुषों के अधिकांश चित्र घासी तैयार किया करता था। साथ ही वह स्वयं हिन्दी, संस्कृत, फ़ारसी आदि भाषाओं में लिखे हुए ऐतिहासिक और अन्य विषय के ग्रंथों, ख्यातों एवं प्राचीन ताम्रपत्र तथा सिक्कों का संग्रह करता। प्राचीन सिक्कों के संग्रह के लिये मथुरा आदि शहरों में उसने अपने एजेण्ट रक्खे थे। इस प्रकार उसने २०००० पुराने सिक्के, सैंकड़ों शिलालेख, कई ताम्रपत्र या उनकी नकलें, वंशावलियां, बहुतसी ख्यातें तथा अनेक ऐतिहासिक काव्य इकट्ठे कर लिये।

ई० स० १८१९ के अक्टूबर (वि० सं० १८७६ आश्विन) में वह उदयपुर से जोधपुर को रवाना हुआ और नाथद्वारा, कुंभलगढ़, घाणेराव, नाडौल आदि होता हुआ वहां पहुंचा। वहां से वह मंडोर, मेड़ता, पुष्कर, अजमेर आदि प्राचीन स्थान देखता हुआ उदयपुर लौट आया; फिर वह बूंदी और कोटा गया। बाड़ोली, भानपुर, धमनार (जहां सुंदर प्राचीन गुफाएं हैं), झालरापाटन (चंद्रावती), बीजोल्यां, मैनाल, बेगूं आदि स्थानों को देखकर दौरा करता हुआ वह उदयपुर लौट आया।

टॉड को स्वदेश छोड़े हुए २२ वर्ष हो चुके थे, जिनमें से १८ वर्षों तक पृथक् पृथक् पदों पर रहने के कारण उसका राजपूतों के साथ बराबर संबंध रहा। अपनी सरल प्रकृति और सौजन्य से वह जहां जहां रहा या गया, वहीं लोकप्रिय बन गया, और उसको राजपूताना तथा यहां के निवासियों के साथ ऐसा स्नेह हो गया था कि उसकी इच्छा थी कि मैं अपनी शेष आयु यहीं बिताऊं, परन्तु शारीरिक अस्वस्थता के कारण उसका स्वदेश जाना आवश्यक था; और स्वदेश जाने में दूसरा मुख्य कारण यह भी था कि देशी राजाओं के साथ स्नेह रखने से अंग्रेज़ सरकार को उसकी प्रामाणिकता के विषय में सन्देह होने लग गया था, जिससे अप्रसन्न होकर उसने गवर्नमेंट की सेवा छोड़ देने का संकल्प कर लिया।

राजपूताने के इतिहास की बड़ी भारी सामग्री एकत्रित कर उसने

स्वदेश के लिये ता० १ जून ई० स० १८२२ (ज्येष्ठ सुदि १२ वि० सं० १८७६) को उदयपुर से प्रस्थान किया। बंबई जाने तक मार्ग में भी वह अपने इतिहास-प्रेम और शोधक बुद्धि के कारण इतिहास की सामग्री एकत्रित करता रहा। उदयपुर से गोगूंदा, बीजापुर और सिरोही होता हुआ वह आबू पहुंचा, जहां के अनुपम जैन मन्दिरों को देखकर अत्यन्त मुग्ध हुआ और उनकी कारीगरी की उसने मुक्तकंठ से प्रशंसा की। आबू पर जानेवाला वह पहला ही यूरोपियन था। आबू से परमार राजाओं की राजधानी—चन्द्रावती नगरी—के खंडहरों को देखता हुआ वह पालनपुर, सिद्धपुर, अनहिलवाड़ा (पाटण), अहमदाबाद, बड़ोदा आदि स्थानों में होकर खंभात पहुंचा। वहां से सौराष्ट्र (सोरठ) में आकर भावनगर और सीहोर देखकर वह वलभीपुर (वळा) पहुंचा। उसकी इस यात्रा का उद्देश्य केवल यही था कि जैनों के कहने से उसे यह विश्वास हो गया था कि मेवाड़ के राजाओं का राज्य पहले सौराष्ट्र में था और उनकी राजधानी वलभीपुर थी, जहां का अनुसंधान करना उसने अपने इतिहास के लिये आवश्यक समझा। उन दिनों सड़कें, रेल, मोटर आदि न थीं, ऐसी अवस्था में केवल इतिहास-प्रेम और पुरातत्त्व के अनुसंधान की जिज्ञासा के कारण ही उसने इतना अधिक कष्ट सहकर यह यात्रा की। सोमनाथ से एक कोस दूर वेरावल स्थान के एक छोटे-से मन्दिर में गुजरात के राजा अर्जुनदेव के समय का एक बड़ा ही उपयोगी लेख उसे मिला, जिसमें हिजरी सन् ६६२, वि० सं० १३२०, वलभी संवत् ६४५ और सिंह संवत् १५१ दिये हुए थे। इस लेख के मिलने से उसने अपनी इस कष्टपूर्ण यात्रा को सफल समझा और इससे वलभी तथा सिंह संवतों का प्रथम शोधक और निर्णयकर्त्ता बनने का श्रेय उसे ही मिला। सोमनाथ से घूमता हुआ वह जूनागढ़ गया, जहां से थोड़ी दूर एक चट्टान पर उसने अशोक, क्षत्रप रुद्रदामा और स्कन्दगुप्त के लेख देखे, परन्तु उस समय तक उनके पढ़े न जाने के कारण उसकी आकांक्षा पूर्ण न हो सकी। गिरनार पर जैन मन्दिर और यादवों के शिलालेख आदि देखकर गूंमली, द्वारिका, मांडवी (कच्छ राज्य का बन्दर) होता हुआ वह बंबई पहुंचा। इस यात्रा का सविस्तर वृत्तांत उसने अपने "ट्रैवल्स इन वैस्टर्न इण्डिया" नामक एक बृहद् ग्रन्थ में लिखा है, जो उसकी मृत्यु के बाद प्रकाशित हुआ। तीन सप्ताह तक बंबई

में रहकर उसने स्वदेश को प्रस्थान किया। इस समय वह यहां से इतनी ऐति-हासिक सामग्री ले गया था कि उसको वहां केवल अपने सामान का ७२ पौंड महसूल देना पड़ा।

टॉड के इंग्लैण्ड पहुंचने से कुछ समय पहले लंडन में रॉयल एशियाटिक सोसाइटी की स्थापना हो चुकी थी। वहां जाते ही वह भी उसका सभासद बन गया और कुछ समय बाद अपने विद्यानुराग के कारण वह उसका पुस्तकालयाध्यक्ष बनाया गया। वहां पहुंचने के दूसरे साल ही उसने पृथ्वीराज (दूसरे) के समय के वि० सं० १२२४ माघ सुदि ७ के लेख पर एक अत्यन्त विद्वत्तापूर्ण निबन्ध पढ़ा, जिससे यूरोप में उसकी विद्वत्ता की बड़ी प्रशंसा हुई। तदनंतर समय समय पर उसने राजपूताने के इतिहास-संबंधी कई अन्य निबन्ध भी पढ़े, जिनके कारण यूरोपीय विद्वानों का ध्यान राजपूताने के इतिहास की ओर आकर्षित हुआ।

टॉड ई० स० १८२४ में मेजर और १८२६ में लेफ्टेनेंट कर्नल हुआ। अपनी तीन बरस की छुट्टी समाप्त होने पर उसने अपने पूर्व संकल्प के अनुसार ई० स० १८२५ में सरकारी नौकरी से इस्तीफ़ा दे दिया। ई० स० १८२६ (वि० सं० १८८३) में उसने ४४ वर्ष की अवस्था में विवाह किया और थोड़े ही दिनों बाद स्वास्थ्य-सुधार के लिये यूरोप की यात्रा की।

ई० स० १८२९ (वि० सं० १८८६) में उसने राजपूत जाति के कीर्तिस्तम्भ-रूप 'राजस्थान के इतिहास' की पहली जिल्द और ई० स० १८३२ में दूसरी जिल्द प्रकाशित की। फिर ई० स० १८३५ (वि० सं० १८९२) में 'पश्चिमी भारत की यात्रा' नामक पुस्तक लिखकर समाप्त की। उसे छपवाने के लिये वह १४ नवम्बर १८३५ (वि० सं० १८९२) को लण्डन में आया, परन्तु उसके दो ही दिन बाद, जब वह एक कम्पनी के यहां अपने लेनदेन का हिसाब कर रहा था, एकाएक मिरगी के आक्रमण से वह मूर्छित हो गया और २७ घंटे मूर्छित रहने के अनंतर ता० १७ नवम्बर को ५३ वर्ष की अवस्था में उसने इस संसार से प्रयाण किया।

टॉड का क़द मझोला था। उसका शरीर हृष्ट-पुष्ट और चेहरा प्रसन्न तथा प्रभावशाली था। उसकी शोधक बुद्धि बहुत बढ़ी हुई थी; वह बहुश्रुत, इति-हास का प्रेमी और असाधारणवेत्ता, विद्यारसिक तथा क्षत्रिय प्रकृति का निरभि-मानी पुरुष था। यही कारण था कि राजपूतों की वीरता और आत्मत्याग

के उदाहरणों के जानने से उसको राजपूताने के इतिहास से बड़ा प्रेम हो गया था।

टॉड ने जब अपना सुप्रसिद्ध और विद्वत्तापूर्ण इतिहास लिखा, उस समय प्राचीन शोध का कार्य आरंभ ही हुआ था। उस समय उसे न तो कोई पुरातत्त्वान्वेषक संस्था इस महान् कार्य में सहायता दे सकी और न उससे पूर्व किसी विद्वान् ने राजपूताने में कुछ शोध किया था। ऐसी अवस्था में इतना महत्त्वपूर्ण इतिहास लिखना कितना कठिन कार्य था, यह बतलाने की कोई आवश्यकता नहीं। उसने अपना इतिहास अधिकतर पुराणादि ग्रंथों, भाटों की ख्यातों, राजाओं के दिये हुए अपने अपने इतिहासों और वंशावलियों, प्राचीन संस्कृत और हिन्दी काव्यों तथा कुछ फ़ारसी तवारीख़ों के आधार पर लिखा; परन्तु केवल इन्हीं पर उसने संतोष न किया और भिन्न भिन्न शिलालेखों तथा सिक्कों की खोज कर उसने पृथ्वीराज रासे और भाटों की ख्यातों की कई अशुद्धियां ठीक कीं।

पहली जिल्द में राजपूताने का भूगोलसंबंधी वर्णन, सूर्य, चन्द्र आदि पौराणिक राजवंशों और पिछले ३६ राजवंशों का विवेचन, राजपूताने में जागीरदारी की प्रथा; और अपने समय तक का उदयपुर का इतिहास तथा वहां के त्योहारों आदि का वर्णन एवं उदयपुर से जोधपुर और जोधपुर से उदयपुर लौटने तक के दौरे में जहां जहां उसका ठहरना हुआ, वहां का तथा उनके आसपास के स्थानों के वृत्तान्त, वहां के इतिहास, शिल्प, शिलालेख, राजाओं और सरदारों का वर्णन, लोगों की दशा, भौगोलिक स्थिति, खेतीबाड़ी, वहां के युद्धों, वीरों के स्मारकों, दन्तकथाओं तथा अनेक ऐतिहासिक घटनाओं का विवरण है। यह विवरण भी बड़ा ही रोचक और एक प्रकार से इतिहास का ख़ज़ाना है। दूसरी जिल्द में जोधपुर, बीकानेर और जैसलमेर का इतिहास, मरुस्थली का संक्षिप्त वृत्तान्त; आम्बेर का इतिहास, शेखावतों का परिचय, हाड़ौती (बूंदी) और कोटे का इतिहास एवं उदयपुर से कोटा और कोटे से उदयपुर तक की दो यात्राओं का सविस्तर विवरण है। इन दोनों दौरों का विवरण भी ठीक वैसा और उतने ही महत्त्व का है जितना कि जोधपुर के दौरे का ऊपर बतलाया गया है। इन दोनों जिल्दों में स्थान स्थान पर टॉड ने राजाओं, प्रसिद्ध वीरों, ऐतिहासिक स्थानों और कई उत्तम दृश्यों आदि के अपने तैयार करवाये हुए अनेक सुन्दर चित्र भी दिये हैं।

इस पुस्तक के प्रकाशित होने से राजपूत वीरों की कीर्ति, जो पहले केवल भारतवर्ष में सीमाबद्ध थी, भूमण्डल में फैल गई। यह पुस्तक इतनी लोकप्रिय और प्रसिद्ध हुई कि इस बृहद् ग्रंथ के अनेक संस्करण भारत के भिन्न भिन्न प्रान्तों और इंग्लैण्ड में प्रकाशित हुए। भारत में तो हिन्दी, गुजराती, बंगला, उर्दू आदि भाषाओं में इसके कई अनुवाद प्रकाशित हुए और कई भाषाओं में इसके आधार पर स्वतन्त्र ऐतिहासिक पुस्तक, काव्य, उपन्यास, नाटक तथा जीवनचरित्र लिखे गये और अब भी लिखे जा रहे हैं।

टॉड स्वयं संस्कृत से अनभिज्ञ था, इसलिये संस्कृत के शिलालेखों के लिये उसे अपने गुरु यति ज्ञानचन्द्र से सहायता लेनी पड़ती थी। ज्ञानचन्द्र भाषा-कविता का विद्वान् होने पर भी अधिक पुराने शिलालेखों को ठीक ठीक नहीं पढ़ सकता था और उसका संस्कृत का ज्ञान भी साधारण ही था; जिससे टॉड की संगृहीत सामग्री का पूरा पूरा उपयोग न हो सका, और कुछ लेखों के ठीक न पढ़े जाने के कारण भी उसके इतिहास में कुछ अशुद्धियां रह गईं। राजाओं से उनके यहां के लिखे हुए जो इतिहास मिले, उनके अतिशयोक्तिपूर्ण होने एवं विशेष खोज के साथ न लिखे जाने के कारण भी इतिहास में कई स्थल दोषपूर्ण हैं। भाटों और चारणों की ख्यातों तथा गीतों को आधारभूत मानने के कारण एवं बहुतसी अनिश्चित दन्तकथाओं का समावेश होने से भी त्रुटियां रह गई हैं। संस्कृत भाषा तथा भारतीय पुरुषों या स्थानों के नामों से पूर्ण परिचय न होने से कई जगह नामों की अशुद्ध कल्पना हुई है। कहीं यूरोप और मध्य एशिया की जातियों तथा राजपूतों के रीति-रिवाजों का मिलान करने में भ्रमपूर्ण अनुमान भी किये गये हैं। कुछ लोगों की लिखवाई हुई बातों की ठीक ठीक जांच न कर उनको ज्यों-की-त्यों लिखने से भी अशुद्धियां रह गई हैं। इसपर भी टॉड का इतिहास एक अपूर्व ग्रंथ है। यह इतिहास अपने विषय का सबसे पहला और सबसे महत्त्वपूर्ण प्रयास है। टॉड के बाद किसी भी यूरोपियन या भारतीय विद्वान् ने इन सौ वर्षों में राजपूताने के इतिहास के लिये इतना अगाध और प्रशंसनीय परिश्रम नहीं किया। आज भी राजपूताने का इतिहास लिखने में टॉड का[1] आधार लिये बिना काम नहीं चल सकता।

---

(१) ई० स० १९०१ में मैंने 'कर्नल जेम्स टॉड का जीवनचरित्र' नामक छोटी पुस्तक

कर्नल टॉड का इतिहास प्रकाशित होने के पीछे के राजपूताने के इतिहास के लिये नीचे लिखे हुए ग्रंथ उपयोगी हैं। एचिसन की 'कलैक्शन ऑफ़ ट्रीटीज़, एङ्गेज़मेंट्स एण्ड सनद्ज़' (राजपूताने के सम्बन्ध की दूसरे संस्करण की तीसरी जिल्द), जे. सी. ब्रुक-कृत 'हिस्ट्री ऑफ़ मेवार' और 'ए पोलिटिकल हिस्ट्री ऑफ़ दी स्टेट ऑफ़ जयपुर', जनरल शावर्स की 'ए मिसिंग चैप्टर ऑफ़ दी इंडियन म्युटिनी', ई० स० १८५७ के विद्रोह के संबंध की कई अंग्रेज़ी पुस्तकें, जे. पी. स्ट्रेटन-कृत 'चितोर एण्ड दी मेवार फ़ैमिली', राजपूताने के भिन्न भिन्न राज्यों के गैज़ेटियर (पुराने और नये), 'इम्पीरियल गैज़ेटियर ऑफ़ इंडिया; राजपूताने की भिन्न भिन्न एजेंसियों और राज्यों की सालाना रिपोर्टें', 'चीफ़्स एण्ड लीडिंग फ़ैमिलीज़ इन राजपूताना', कर्नल वॉल्टर का मेवाड़ के सरदारों का इतिहास आदि।

कर्नल टॉड के पीछे बूंदी के महाराव रामसिंह के समय मिश्रण सूर्यमल्ल ने वंशभास्कर नामक कवितावद्ध बड़ा ग्रंथ लिखा, जिसमें बूंदी के राज्य का उस समय तक का तथा राजपूताने के भिन्न भिन्न राज्यों एवं राजवंशों का भी कुछ इतिहास है। इस वृहद्ग्रन्थ का कर्त्ता उत्तम कवि और अच्छा विद्वान् था, परन्तु इतिहासवेत्ता नहीं। इसलिये उसने विक्रम संवत् की सोलहवीं शताब्दी के प्रारंभ के आसपास तक का इतिहास अधिकतर भाटों के आधार पर लिखा, जो बहुधा विश्वास योग्य नहीं है। पिछला इतिहास ठीक है, परन्तु उसमें भी विशेष अनुसंधान किया हो, ऐसा पाया नहीं जाता।

भरतपुर-निवासी मुंशी ज्वालासहाय ने 'वकाये राजपूताना' नाम की पुस्तक उर्दू भाषा में तीन जिल्दों में लिखी, जिसमें राजपूताने के समस्त राज्यों का इतिहास देने का यत्न किया है, परन्तु पहले का सारा इतिहास तो टॉड से ही लिया गया है और पिछला सरकारी रिपोर्टों, अन्य पुस्तकों तथा अपने परिचय से लिखा है।

उदयपुर के महाराणा सज्जनसिंह ने अपने विद्यानुराग और इतिहास-प्रेम के कारण महामहोपाध्याय कविराजा श्यामलदास को 'वीरविनोद'

लिखी थी, जो ई० स० १६०२ में खड्गविलास प्रेस, बांकीपुर (पटना), से प्रकाशित हुई, और उसका दूसरा संस्करण खड्गविलास प्रेस से प्रकाशित "हिंदी टॉड-राजस्थान" के प्रथम खंड के प्रारंभ में प्रकाशित हुआ है। उसका गुजराती अनुवाद गुजराती भाषा के 'राजस्थान नो इतिहास' की पहली जिल्द में प्रकाशित हुआ। जो महाशय कर्नल टॉड और उसके ग्रंथ के विषय में अधिक जानना चाहें, वे उसे पढ़ें।

नामक उदयपुर का विस्तृत और राजपूताने के अन्य राज्यों तथा जिन जिनसे मेवाड़ का सम्बंध रहा, उनका संक्षिप्त इतिहास लिखने की आज्ञा दी। इस बृहद् इतिहास के लिखने तथा छपने में अनुमान १२ वर्ष लगे और एक लाख रुपये व्यय हुए। कर्नल टॉड के ग्रंथ के अतिरिक्त इसमें फ़ारसी तवारीख़ों, कुछ शिलालेखों, ख्यातों तथा संस्कृत और भाषा के काव्यों से बहुत कुछ सहायता ली गई है। कई हज़ार पृष्ठों में यह बृहद् ग्रंथ समाप्त हुआ है; टॉड के पीछे ऐसा कोई दूसरा ग्रंथ नहीं बना। इसके पहले खंड के प्रारंभ में कई अनावश्यक बातें भर दी गई हैं, तो भी यह ग्रंथ इतिहास के लिये अवश्य उपयोगी है। इसको छपे ३५ वर्ष हो चुके, परंतु यह अब तक प्रकाशित नहीं हुआ। सौभाग्य की बात है कि इसकी कुछ प्रतियां बाहर निकल गईं, जिनको प्राप्त कर आजकल के अंग्रेज़ी तथा हिन्दी में इतिहास लिखनेवाले विद्वान् इससे भी सहायता ले रहे हैं।

वि० सं० १९४८ में चारण रामनाथ रत्नू ने 'इतिहास राजस्थान' नामक एक छोटी पुस्तक प्रकाशित की, जिसमें करौली, भरतपुर, धौलपुर और टोंक को छोड़कर राजपूताने के १४ राज्यों का संक्षिप्त इतिहास है। यह भी बहुधा टॉड के आधार पर लिखी गई है।

मुंशी देवीप्रसाद ने 'प्रसिद्ध चित्रावली' में उदयपुर, जोधपुर, बीकानेर और जयपुर के कुछ राजाओं की जीवनियां हिन्दी या हिन्दी-उर्दू में प्रकाशित की थीं, परंतु वे बहुत ही संक्षिप्त हैं।

इन पुस्तकों के अतिरिक्त राजपूताना या उसके भिन्न भिन्न राज्यों के इतिहास के सम्बंध में कुछ और भी पुस्तकें हिन्दी में प्रकाशित हुईं, परन्तु ऐतिहासिक दृष्टि से वे उल्लेखनीय नहीं हैं।

अब हमारे इतिहास के प्रकाशित किये जाने के सम्बंध में दो शब्द कहना अनुचित न होगा। बंबई में रहते समय विद्यार्थी-जीवन में ही मुझे इतिहास और पुरातत्त्व से अधिक प्रेम हुआ, और जब मैंने ग्रीस तथा रोम के गौरवपूर्ण प्राचीन इतिहास पढ़े, तब मेरे हृदय में प्राचीन भारत का इतिहास जानने की प्रबल उत्कंठा उत्पन्न हुई। उसी समय से मैंने भारत के पुराने इतिहास का अध्ययन आरंभ किया और प्राचीन इतिहास या पुरातत्त्व-सम्बंधी जो कोई लेख, पुस्तक

शिलालेख या ताम्रपत्र मेरे दृष्टिगोचर होता, उसे मैं अवश्यमेव पढ़ता। इस अध्ययन से मुझे बहुत कुछ लाभ हुआ और मेरी रुचि पुरातन इतिहास तथा पुरातत्त्व की ओर निरंतर बढ़ती गई। इन्हीं दिनों कर्नल टॉड के राजस्थान के इतिहास को पढ़ने से मेरे हृदय पर बड़ा प्रभाव पड़ा। राजपूतों की स्वदेश-भक्ति, आत्मत्याग तथा आदर्श वीरता के अनेक उदाहरण पढ़कर मैं मुग्ध हो गया और राजपूताने का निवासी होने के कारण यहां का विस्तृत इतिहास जानने के लिये मैं उत्सुक हुआ और यह उत्कंठा इतनी बढ़ी कि मैंने राजपूताने के राजाओं के दरबार, प्राचीन दुर्ग, रणक्षेत्रादि सब ऐतिहासिक स्थान देखने तथा शिलालेख, ताम्रपत्र आदि संग्रह करने का निश्चय कर लिया। तदनुसार मैं वि० सं० १९४४ में उदयपुर पहुंचा। उन दिनों 'वीरविनोद', जिसका वर्णन ऊपर किया गया है, सारा लिखा जा चुका था और दो-तिहाई छप भी गया था। मेरे इतिहास प्रेम के कारण मैं वहां के इतिहास-कार्यालय का मंत्री बनाया गया, जिससे मुझे मेवाड़ के भिन्न भिन्न ऐतिहासिक स्थलों को देखने और ऐतिहासिक सामग्री (ख्यातें, गीत आदि) एकत्र करने का बहुत अच्छा अवसर मिल गया। जब उदयपुर में विक्टोरिया हॉल के पुस्तकालय और म्यूज़ियम खोले गये, तब मैं ही उनका अध्यक्ष नियत हुआ, जहां के पुरातत्त्व-विभाग के लिये भी मुझे शिलालेखों, सिक्कों, मूर्तियों, प्राचीन कारीगरी के सुन्दर नमूनों आदि के संग्रह करने का सुअवसर प्राप्त हुआ। अनेक शिलालेखों को पढ़ने या उनका संग्रह करने से मुझे यह अनुभव हुआ कि भारतवर्ष में असंख्य शिलालेख, ताम्रपत्र और सिक्के उपलब्ध होते हैं, परन्तु उनकी लिपियां इतनी प्राचीन और भिन्न भिन्न हैं कि उन्हें पढ़नेवाले विद्वान् इने गिने ही हैं। यदि संस्कृतज्ञ पंडित भी प्राचीन लिपियों को पढ़ना सीख जावें, तो शिलालेखों को प्रसिद्धि में लाने के लिये अधिक सुविधा हो जाय; परन्तु इस विषय पर अंग्रेज़ी या अन्य किसी भाषा में भी उस समय तक कोई ग्रन्थ न था। इस त्रुटि को पूर्ण करने के लिये मैंने वि० सं० १९५१ में 'भारतीय प्राचीन लिपिमाला' नामक पुस्तक प्रकाशित की, और इस विषय की प्रथम पुस्तक होने के कारण भारतीय तथा यूरोपियन विद्वानों ने उसका अच्छा आदर कर मेरे उत्साह को और भी बढ़ाया। इन सब बातों से भारतवर्ष के प्राचीन इतिहास तथा प्राचीन शोध की तरफ़ मेरी प्रवृत्ति

और भी बढ़ी, और मैंने भारतीय ऐतिहासिक ग्रंथमाला प्रकाशित करने का विचार किया। इसी विचार के फलस्वरूप उक्त माला का प्रथम पुष्प मेरे सोलंकियों के प्राचीन इतिहास के रूप में विकसित हुआ, परन्तु कई कारणों से उक्त ग्रंथमाला के अन्य भाग प्रकाशित न किये जा सके। उदयपुर में रहते हुए अवकाश के समय इसी उद्देश्य से मैं राजपूताने के अन्य राज्यों तथा भारत के भिन्न भिन्न विभागों में भी भ्रमण करता रहा और वि० सं० १६५५ में काठियावाड़ के जामनगर राज्य में तो काबों ने मुझे लूट भी लिया था; परन्तु मेरी तैयार की हुई वहां के अनेक शिलालेखों की छापें एवं प्राचीन सिक्के बच गये, क्योंकि वे उस समय मेरे साथ न थे।

वि० सं० १६६४ (ई० स० १६०८) में मेरी नियुक्ति अजमेर के राजपूताना म्यूज़ियम पर हुई, जिससे मुझे राजपूताने के बहुत-से राज्यों में भ्रमण करने का और भी अवसर मिला; कर्नल टॉड के देखे हुए स्थानों में से अधिकांश के अतिरिक्त और भी अनेक स्थान मैंने देखे, और इन दौरों में भी मैंने बहुतसे शिलालेख, ताम्रपत्र, सिक्के, गीत, ख्यातें आदि का संग्रह किया। यहां रहते हुए मैंने सिरोही राज्य के अधिकांश में दौरा कर वहां का इतिहास प्रकाशित किया। फिर मेरी 'भारतीय प्राचीन लिपिमाला' का प्रथम संस्करण अप्राप्य होने पर कई एक मित्रों के साग्रह अनुरोध से चार वर्ष तक सतत परिश्रम कर मैंने उसका परिवर्धित द्वितीय संस्करण प्रकाशित किया। हर्ष की बात है कि उसका भी देशी और विदेशी विद्वानों ने अच्छा आदर किया।

इस तरह राजपूताने में रहते और यहां का अनुसंधान करते हुए मुझे लगभग चालीस वर्ष हो गए। इस दीर्घ काल में मैं राजपूताने के इतिहास की सामग्री—शिलालेख, सिक्के, ताम्रपत्र, संस्कृत और हिन्दी आदि के प्राचीन या नवीन काव्य, ख्यातें, गीत, दोहे आदि—का निरन्तर यथाशक्ति संग्रह करता रहा। मैंने यह संग्रह केवल अपने इतिहास-प्रेम से प्रेरित होकर ही किया था। इस प्रकार पाठक जान जावेंगे कि मैंने अब तक अपनी ६४ वर्ष की आयु—विद्यार्थी-जीवन को छोड़कर—राजपूताने में ही बिताई है और मैं गत चालीस वर्षों से राजपूताने के राज्यों में ऐतिहासिक खोज करता रहा हूं। ऐतिहासिक स्थलों को देखने की इच्छापूर्ति के लिये अनेक स्थानों—गांवों,

जंगलों, पहाड़ों, प्राचीन नगरों के खंडहरों, पुराने क़िलों आदि—में भ्रमण करते हुए मैंने अनेक असुविधाओं का सामना किया है। राजपूताने में रेल अन्य प्रान्तों की अपेक्षा बहुत थोड़ी होने के कारण तांगे, घोड़े, ऊँट, हाथी पर तथा पैदल भी मुझे अब तक कई हज़ार मील का भ्रमण करना पड़ा है। सामग्री संग्रह करने का कार्य बराबर होता रहा। भारतीय प्राचीन लिपिमाला का द्वितीय संस्करण प्रकाशित होने के अनन्तर मेरा ध्यान राजपूताने के इतिहास की तरफ़ गया। यह तो सब को भली भाँति विदित है कि राजपूताने के इतिहास को प्रकाश में लाने का प्रथम परिश्रम कर्नल टॉड ने किया था; परन्तु उस समय प्राचीन शोध के कार्य का आरम्भ ही हुआ था, अतएव कर्नल टॉड को अपने ग्रंथ की रचना बड़वे-भाटों की ख्यातों, प्रत्येक राजवंश की प्रचलित दन्तकथाओं और प्रत्येक राज्य ने जो कुछ अपना इतिहास दिया, उसी पर करनी पड़ी। उसके राजस्थान के इतिहास को प्रकाशित हुए १०० वर्ष होने आये हैं। इस अर्से में कई पुरातत्ववेत्ताओं के बड़े परिश्रम और सतत खोज से राजपूताना और उससे संबंध रखनेवाले बाहरी प्रदेशों से हज़ारों शिलालेख, सैंकड़ों दानपत्र, कई राजवंशों के प्राचीन सिक्के, अनेक संस्कृत, प्राकृत, हिन्दी एवं डिंगल भाषा के काव्य, मुहणोत नैणसी की ख्यात, बड़वे-भाटों की अनेक पुस्तकें, कई स्वतंत्र पुरुषों द्वारा संगृहीत भिन्न भिन्न राज्यों की ख्यातें, वंशावलियों की कई पुस्तकें, अनेक फ़ारसी तवारीखें तथा पुराने पत्र-व्यवहार संगृहीत हुए हैं। बड़वे-भाटों की ख्यातों में दिये हुए प्राचीन इतिवृत्त पुरानी वंशावलियां तथा विक्रम संवत् की पन्द्रहवीं शताब्दी से पूर्व के राजाओं के संवत् प्राचीन शोध की कसौटी पर प्रायः कपोलकल्पित सिद्ध हुए। नवीन शोध से भारत के इतिहास के साथ साथ राजपूताने के इतिहास में भी बहुत कुछ परिवर्तन करने की आवश्यकता हुई है। इतनी सामग्री उपस्थित हो जाने पर भी, जहां तक हम जानते हैं, टॉड की पुस्तक की बहुत सी त्रुटियां अब तक दूर नहीं हुई हैं। वि० सं० १९६५ में खड्गविलास प्रेस, बांकीपुर से प्रकाशित होनेवाले टॉड-राजस्थान के हिन्दी अनुवाद का संपादन करते हुए हमने यथामति टॉड के अपूर्व ग्रंथ के कुछ प्रकरणों की ऐतिहासिक त्रुटियों को अपनी विस्तृत टिप्पणियों द्वारा दूर करने तथा जो नई बातें मालूम हुईं, उनको बढ़ाने का प्रयत्न किया था; परन्तु कई कारणों से उस अनुवाद के केवल १४

प्रकरण ही छप सके, जिससे उक्त महानुभाव के अंग्रेज़ी ग्रंथ का बहुत ही थोड़ा अंश हिन्दी संसार के सामने रक्खा जा सका।

जहां तक हम जानते हैं, आधुनिक शोध के आधार पर राजपूताने का वास्तविक इतिहास अब तक लिखा ही नहीं गया। जहां अन्य स्वतन्त्र एवं समुन्नत देशों में ज़रा ज़रा-सी घटना को लेकर बड़े बड़े ग्रंथ लिखे जाते हैं, फिर उन्नति के इस युग में—और वह भी इतिहास का महत्त्व पूर्णतया अनुभव करते हुए—जिस राजस्थान की वीरता न केवल भारतवर्ष में वरन् संसार में अद्वितीय कही जा सकती है, और जिसका वर्णन हमारे देशवासियों द्वारा स्वर्णाक्षरों में लिखा जाना चाहिये था, उसका कोई क्रमबद्ध, खोजपूर्ण, विशद, प्रमाणभूत तथा सच्चा इतिहास अभी तक नहीं लिखा गया। जिस देश की भूमि को महाराणा प्रताप, राठोड़ दुर्गादास आदि वीर-पुरुषों ने अपने जन्म से अलंकृत किया है, उसके इतिहास के अभाव से किस इतिहास-प्रेमी के हृदय में दुःख न होगा? फ्रांस में नेपोलियन एक बड़ा वीर पुरुष हुआ। उस देश पर दृष्टिपात करने से जान पड़ता है कि नेपोलियन के जीवन पर सैकड़ों आलोचनात्मक ग्रंथ प्रकाशित हो चुके हैं, और उसके समय की कोई घटना ऐसी नहीं है जो उन इतिहास-ग्रंथों में अंकित न हुई हो। प्रातः-स्मरणीय राणा प्रताप के प्रताप की गूंज जिस देश के कोने कोने में सुनाई देती है और जिसने भारतवर्ष और विशेषकर राजपूताने का मुख उज्ज्वल किया है, क्या शिक्षित-वर्ग को उस देश के सच्चे इतिहास का अभाव नहीं जान पड़ता? किसी समय शौर्य, पराक्रम, तेज एवं वीरता-धीरता में सबसे बढ़ा-चढ़ा और स्वतन्त्रता की रक्षा के लिये आत्मोत्सर्ग करने में सर्वाग्रणी रहनेवाला यह राजपूताना आज अपने अतीत गौरव को भूल गया है। बीसवीं शताब्दी के आरंभ से भारतीय विद्वानों ने इतिहास लिखने की ओर अधिक ध्यान दिया है, परन्तु जहां अनेक भारतीय विद्वान् भारतवर्ष के भिन्न भिन्न भागों और प्रान्तों के इतिहास लिखने में संलग्न हो रहे हैं, वहां राजपूताने के इतिहास की तरफ़ किसी विद्वान् का ध्यान नहीं गया। मैं चाहता था कि यदि कोई सुयोग्य ऐतिहासिक तथा पुरातत्त्ववेत्ता इस कार्य को अपने हाथ में ले, तो मैं अपनी संग्रह की हुई सामग्री द्वारा

उसे पूर्ण रूप से सहायता दूं, परन्तु जब इतने वर्षों में किसी विद्वान् ने इस तरफ़ ध्यान ही न दिया, तब मेरी संगृहीत सामग्री और इतने वर्षों के अध्ययन तथा भ्रमण से प्राप्त राजपूताने के इतिहास का मेरा अनुभव निष्फल न हो, यह विचार कर—अपनी वृद्धावस्था एवं शारीरिक अस्वस्थता होते हुए भी—मैंने यह निश्चय कर लिया कि यथाशक्ति अपनी शेष आयु राजपूताने का एक स्वतन्त्र इतिहास लिखने में व्यतीत की जाय, ताकि हिन्दी-साहित्य में राजपूताने के इतिहास का जो अभाव है, उसके कुछ अंश की तो पूर्ति हो जाय। इसी निश्चय के अनुसार मैंने वि० सं० १९८२ के प्रारंभ से इसका खंडशः प्रकाशन आरंभ किया। यह ग्रंथ कई जिल्दों में समाप्त होगा।

पहली जिल्द के प्रथम चार अध्यायों का संबंध समस्त राजपूताने से है। उनमें जो कुछ लिखा है, पाठकों के सुबीते के लिये उसका संक्षिप्त परिचय पृ० ३०३-३०४ में दे दिया गया है, अतएव उसे यहां दुहराने की आवश्यकता नहीं। फिर वर्तमान राज्यों का इतिहास आरम्भ होता है। राजपूताने के राज्यों में सबसे प्राचीन उदयपुर और वंशों में सबसे अधिक गौरवान्वित गुहिलवंश है। इसी लिये हमने उदयपुर राज्य के इतिहास को प्रथम स्थान देना उचित समझा। उक्त राज्य के इतिहास के पहले अध्याय में भूगोल-सम्बंधी वर्णन देकर दूसरे में वहां के राजवंश की प्राचीनता एवं उसके गौरव का वर्णन और उसके सम्बंध की कई विवादग्रस्त बातों का सप्रमाण निराकरण किया है। तीसरे अध्याय में मेवाड़ का प्राचीन इतिहास लिखा गया है, जो अब तक अंधकार में ही था। कर्नल टॉड ने आज से सौ वर्ष पूर्व जो कुछ थोड़ासा प्राचीन इतिहास लिखा, वह त्रुटिपूर्ण तथा नाममात्र का है। टॉड के बाद वहां के प्राचीन इतिहास को प्रकाश में लाने का किसी ने उद्योग किया ही नहीं, इसलिये हमने प्राचीन इतिहास पर अपने अनुसंधानों द्वारा कुछ नया प्रकाश डालने का भरसक प्रयत्न किया है। परन्तु यह हम अवश्य कहेंगे कि यदि प्राचीन शोध के कार्य में विशेष उन्नति हुई, तो मेवाड़ में अनेक स्थानों से प्राचीन इतिहास की प्रचुर सामग्री उपलब्ध होगी, जिसकी सहायता से भविष्य में वहां का एक सर्वांगपूर्ण प्राचीन इतिहास लिखा जा सकेगा। उक्त तीसरे अध्याय के साथ ही हमारे इतिहास की पहली जिल्द समाप्त

होती है । दूसरी जिल्द में मेवाड़ का इतिहास पूर्ण करने का यत्न किया जायगा। फिर क्रमशः डूंगरपुर, बांसवाड़ा, प्रतापगढ़, जोधपुर, बीकानेर, किशनगढ़, जयपुर, अलवर, बूंदी, कोटा, सिरोही, करौली, जैसलमेर, झालावाड़, भरतपुर, धौलपुर, टोंक और अजमेर के सरकारी इलाक़े व इस्तमरारदारों का इतिहास रहेगा। हमारा विचार है कि प्रत्येक राज्य के इतिहास के प्रारम्भ में वहां का भूगोल-सम्बंधी वर्णन और वहां के प्राचीन एवं प्रसिद्ध स्थानों का विवरण, तथा अंत में प्रसिद्ध सरदारों आदि का संक्षिप्त परिचय दिया जाय। प्राचीन स्थानों, प्रसिद्ध राजाओं तथा सरदारों आदि के चित्र देने का भी यथाशक्ति यत्न किया जायगा।

हम किसी प्रकार यह कहने के लिये तैयार नहीं हैं कि हमारा यह इतिहास सर्वांगपूर्ण है, क्योंकि अब तक हम इस बात को भली भांति जानते हैं कि इस इतिहास में अनेक त्रुटियां रह गई होंगी। हमारा अनुभव पर्याप्त नहीं हुआ है, कई बातों की हमें अब तक जानकारी न हो; इस कारण कई त्रुटियां रह जाना संभव है। साथ ही हमारी यह भी धारणा है कि राजपूताने का वास्तविक इतिहास लिखे जाने का समय अभी दूर है, क्योंकि उसके लिये विशेष खोज की आवश्यकता है। यदि शोध के कार्य में निरन्तर उन्नति होती गई, तो आधी शताब्दी के भीतर इतिहास की कायापलट हो जायगी, और उस परिपूर्ण शोध के आधार पर राजपूताने का एक सर्वोत्कृष्ट एवं सर्वांगसुंदर इतिहास लिखने का श्रेय किसी भावी विद्वान् को ही मिलेगा; परन्तु हम इतना अवश्य कहेंगे कि भविष्य में जो कोई इतिहासवेत्ता इस देश का ऐसा इतिहास लिखने में प्रवृत्त होगा, उसको हमारा यह इतिहास कुछ-न-कुछ सहायता अवश्य देगा। हमारी आंतरिक इच्छा यही है कि इस पुस्तक द्वारा राजपूताने के भावी इतिहासकारों के लिये कुछ सामग्री तैयार कर रख दी जाय, तो इतिहास-निर्माण में उनको कुछ सुगमता हो। दूसरी बात यह है कि हमने अपने इतिहास के पृष्ठों में 'नामूलं लिख्यते किञ्चित्', सिद्धान्त का यथाशक्ति पालन करने का प्रयत्न किया है। इसका कारण यही है कि पाठकों को प्रत्येक बात का प्रमाण वहीं मिल जाय और उसके लिये विशेष श्रम न करना पड़े। अप्रकाशित शिलालेखादि के आधार पर जो कुछ लिखा है, उसके साथ टिप्पण में मूल

अवतरण दे दिये हैं, और प्रकाशित शिलालेखादि से आवश्यकता के अनुसार।

इस इतिहास में हमने राजपूताने के प्रचलित प्रान्तीय शब्दों का उपयोग भी किया है, जो आवश्यक था, जैसे 'राणा', 'राणी' और 'घाट' इत्यादि। 'राणा', 'राणी' शब्दों का प्रयोग देखकर युक्त प्रदेश के कुछ विद्वान् इनको ठीक न समझेंगे, परन्तु उनके 'राना' और 'रानी' शब्द वास्तव में राजाओं के यहां प्रयुक्त नहीं होते। राजपूताना, मालवा, गुजरात, काठियावाड़, बुंदेलखंड और बघेलखण्ड आदि प्रदेशों में, जहां राजाओं के राज्य हैं, ये शब्द 'राणा' और 'राणी' ही बोले जाते हैं न कि 'राना' और 'रानी'। फ़ारसी और अंग्रेज़ी की वर्णमाला की अपूर्णता के कारण उनमें 'ण' अक्षर न होने से उसके स्थान पर 'न' ही लिखा जाता है, जिसका अनुकरण कुछ हिन्दी-लेखक भी करने लगे हैं। जब हिन्दी-लेखक नागरी अक्षरों के नीचे बिन्दियां लगाकर उनको फ़ारसी उच्चारण के समान बनाने की चेष्टा करते हैं, तो ऐसे विशाल प्रदेश में बोले जानेवाले शब्दों को ज्यों-के-त्यों रखना हमें अनुचित प्रतीत नहीं होता। अंग्रेज़ी की अपूर्ण वर्णमाला में लिखे हुए राजपूताने के कई नामों का अनुकरण कर हिन्दी-लेखक उनको अंग्रेज़ी सांचे में ढालते हैं, जैसे चीतोर राठौर, आरावली (आड़ावळा) आदि, जो वस्तुतः ठीक नहीं हैं, क्योंकि जिन स्थानों या पुरुषों से उनका संबंध है, वहां ये शब्द इस तरह बोले ही नहीं जाते। इसी तरह कई आधुनिक हिन्दी-लेखक 'राजा', 'महाराजा' आदि शब्दों के बहुवचन 'राजे' 'महाराजे' बनाते हैं, जो बहुत ही कर्णकटु प्रतीत होते हैं, और राजपूताने में इनका प्रयोग बिलकुल नहीं होता। कई वर्ष पूर्व स्व० विद्वद्वर पंडित चन्द्रधर शर्मा गुलेरी ने 'समालोचक' पत्र में इस विषय में एक लेख प्रकाशित कर इन शब्दों के शुद्धाशुद्ध होने की ओर हिन्दी-पाठकों का ध्यान आकर्षित किया था। इसी तरह वंश या शाखा के परिचायक शब्द भी राजपूताने में प्रचलित बोलचाल के अनुसार ही दिये गये हैं; जैसे चूंडावत, शक्तावत, सारंगदेवोत आदि, क्योंकि उनसे उस पुरुष का विशेष परिचय हो जाता है। राजपूताने की बोलचाल के अनुसार हमने कहीं कहीं 'ळ' अक्षर का भी प्रयोग किया है। इस ग्रंथ में कई एक हस्तलिखित पुस्तकों के पृष्ठांक टिप्पण में दिये गये हैं, जो हमारे संग्रह की हस्तलिखित पुस्तकों के ही हैं।

इतिहास-प्रेमी पाठकों से हमारा सविनय निवेदन है कि इस ग्रंथ में जो-जो ऐतिहासिक त्रुटियां उनके दृष्टिगोचर हों, उनकी सप्रमाण सूचना यदि वे हमारे पास भेजने की कृपा करेंगे, तो इसके द्वितीय संस्करण में, जो शीघ्र ही प्रकाशित होगा, हम उन्हें सहर्ष स्थान देंगे; परन्तु जो प्रमाण हमारे पास आवें, वे ऐसे हों कि ऐतिहासिक कसौटी पर जाँच करने से उनकी सचाई पर हमें विश्वास हो जाय।

मैं उन सब ग्रंथकर्त्ताओं का उपकृत हूं, जिनके ग्रंथों अथवा लेखों आदि से मुझे अपने इतिहास के प्रणयन में सहायता मिली है और जिनके नाम स्थान स्थान पर दिये गये हैं। मैं रायसाहब हरबिलास सारड़ा तथा उदयपुर-निवासी बाबू रामनारायण दूगड़ आदि अपने मित्रों का भी कृतज्ञ हूं, जिन्होंने समय समय पर अपने परामर्श से मुझे बाधित किया है। यहां पर मैं अपने आयुष्मान् पुत्र रामेश्वर का नामोल्लेख करना आवश्यक समझता हूं, क्योंकि उसने बड़े उत्साह के साथ इस ग्रंथ का प्रूफ़-संशोधन किया और मेरी अस्वस्थता के दिनों में विशेष श्रम कर प्रकाशन-कार्य को स्थगित न होने दिया।

हमारे यहां ऐतिहासिक ग्रंथों की बड़ी कमी है, ऐसी दशा में यदि इस ग्रंथ से राजपूताने के इतिहास की नाममात्र को भी क्षति-पूर्ति होगी, तो मैं अपना सारा श्रम सफल समझूंगा। अन्तिम निवेदन यही है कि—

एष चेत् परितोषाय विदुषां कृतिनो वयम्

अजमेर,
वसंत-पंचमी,
वि० सं० १९८३

गौरीशंकर हीराचन्द ओझा

विषय-सूची

पहला अध्याय

भूगोल-संबंधी वर्णन

दूसरा अध्याय

राजपूत

तीसरा अध्याय

राजपूताने से संबंध रखनेवाले प्राचीन राजवंश

विषय				पृष्ठांक

चौथा अध्याय

मुसलमानों, मरहटों और अंग्रेजों का राजपूताने से संबंध

उदयपुर राज्य का इतिहास

पहला अध्याय

भूगोल-संबंधी वर्णन

दूसरा अध्याय

उदयपुर का राजवंश

तीसरा अध्याय

उदयपुर राज्य का प्राचीन इतिहास

परिशिष्ट

चित्रसूची

* यह चित्र टॉड-राजस्थान (ऑक्सफ़र्ड-संस्करण) की दूसरी जिल्द से लिया गया है।

पहली जिल्द में दिये हुए पुस्तकों के संक्षिप्त नामसंकेतों का परिचय

ऑ; कै. कै. ... ···ऑफ़्रेक्ट का 'कैटेलॉगस् कैटेलॉगरम्.'

इं. ऍ. ... ···इंडियन ऍंटिक्वेरी.

ए. इं. ... ···एपिग्राफ़िया इंडिका.

क; आ. स. इं.
क; आ. स. रि. } ···कनिंगहाम की 'आर्कियालॉजिकल् सर्वे की रिपोर्ट'.

गौ. ही. ओ; भा. प्रा. लि. ···गौरीशंकर हीराचंद ओझा-रचित 'भारतीय प्राचीन लिपिमाला' (द्वितीय संस्करण).

गौ. ही. ओ; सो. प्रा. इ. ···गौरीशंकर हीराचंद ओझा-रचित 'सोलंकियों का प्राचीन इतिहास' (प्रथम भाग).

ज. ए. सो. बंगा.
(बंगा. ए. सो. ज.) } ···जर्नल ऑफ़ दी एशियाटिक सोसाइटी ऑफ़ बंगाल.

ज. बंब. ए. सो.
(बंब ए. सो. ज.) } ···जर्नल ऑफ़ दी बॉम्बे ब्रँच ऑफ़ दी रॉयल एशियाटिक सोसाइटी.

ज. रॉ. ए. सो. ···जर्नल ऑफ़ दी रॉयल एशियाटिक सोसाइटी.

जॉ. ऐ; कॉ. गु. डा. ···जॉन् ऐलन्-कृत 'कोइन्स ऑफ़ दी गुप्त डाइनेस्टीज़'.

टॉड; राज.
टॉ; रा. } ···टॉड-कृत 'राजस्थान' (ऑक्सफ़र्ड संस्करण).

ना. प्र. पत्रिका.
ना. प्र. प. } ···नागरीप्रचारिणी पत्रिका (नवीन संस्करण).

फ़्ली; गु. इं. ··· फ़्लीट-संपादित 'गुप्त इन्स्क्रिप्शन्स.'

बंब. गै. ···बंबई गैज़ेटियर.

बील; बु. रे. वे. व.
बी; बु. रे. वे. व. } ···सेम्युअल बील-कृत बुद्धिस्ट रेकर्ड्ज़ ऑफ़ दी वेस्टर्न वर्ल्ड.

स्मि; अ. हि. इं. ···विन्सेंट स्मिथ-रचित 'अर्ली हिस्ट्री ऑफ़ इंडिया.'

स्मि; कै. कॉ. इं. म्यू. ···स्मिथ का "कैटैलॉग ऑफ़ दी कॉइन्स इन् दी इंडियन म्यूज़ियम्.

हि. टॉ. रा. ···हिन्दी टॉड-राजस्थान (खड्गविलास प्रेस, बांकीपुर का संस्करण).

राजपूताने का इतिहास

पहली जिल्द

पहला अध्याय

भूगोलसंबंधी वर्णन

"*There is not a petty State in Rajasthan that has not had its Thermopylae, and scarcely a city that has not produced its Leonidas.*[1]"—JAMES TOD.

नाम

राजपूताना नाम अंग्रेज़ों का रक्खा हुआ है। जिस समय उनका संबंध इस देश के साथ हुआ उस समय बहुधा यह सारा देश, भरतपुर राज्य को छोड़कर, राजपूत राजाओं के अधीन होने से उन्होंने गोंडवाना, तिलिंगाना आदि के ढंग पर इसका नाम भी राजपूताना अर्थात् राजपूतों का देश रक्खा। राजपूताने के प्रथम और प्रसिद्ध इतिहास-लेखक कर्नल जेम्स टॉड ने इस देश का नाम राजस्थान या रायथान दिया है, जो राजाओं या उनके राज्यों के स्थान का सूचक है, परंतु अंग्रेज़ों के पहले यह सारा देश उस नाम से कभी प्रसिद्ध रहा हो ऐसा कोई उदाहरण नहीं मिलता. अतएव यह नाम भी

---

(१) "राजस्थान में कोई छोटासा राज्य भी ऐसा नहीं है, कि जिसमें थर्मोपिली जैसी रणभूमि न हो और शायद ही कोई ऐसा नगर मिले, जहां लियोनिडास जैसा वीर पुरुष उत्पन्न न हुआ हो"।

—जेम्स टॉड

(थर्मोपिली और लियोनिडास के लिये देखो खड्गविलास प्रेस (बांकीपुर) का छपा हुआ हिंदी 'टॉड–राजस्थान', प्रथम खंड, पृ० २७, टिप्पण १४, १५)

कल्पित ही है, क्योंकि राजस्थान या उसके प्राकृत (लौकिक) रूप रायथान का प्रयोग प्रत्येक राज्य के लिये हो सकता है। सारे राजपूताने के लिये पहले किसी एक नाम का प्रयोग होना पाया नहीं जाता। उसके कितने एक अंशों के तो प्राचीन काल में समय समय पर भिन्न भिन्न नाम थे और कुछ विभाग अन्य बाहरी प्रदेशों के अंतर्गत थे[1]।

---

(१) पहले सारा बीकानेर राज्य तथा जोधपुर राज्य का उत्तरी विभाग, जिसमें नागोर आदि परगने हैं, जांगल देश कहलाता था। उसकी राजधानी अहिच्छत्रपुर (नागोर) थी। वही देश चौहानों के राज्य-समय सपादलक्ष नाम से प्रसिद्ध हुआ और उसकी सीमा दूर दूर तक फैली। सपादलक्ष की पहली राजधानी सांभर (शाकंभरी) और दूसरी अजमेर रही। अलवर राज्य का उत्तरी विभाग कुरु देश के, दक्षिणी और पश्चिमी मत्स्य देश के, और पूर्वी विभाग शूरसेन देश के अन्तर्गत था। भरतपुर और धौलपुर राज्य तथा करौली राज्य का अधिकांश शूरसेन देश के अंतर्गत थे। शूरसेन देश की राजधानी मथुरा थी और मथुरा के आस पास के प्रदेशों पर राज्य करनेवाले क्षत्रप राजाओं के समय शूरसेन देश को राजन्य देश भी कहते थे। जयपुर राज्य का उत्तरी विभाग मत्स्य देश के अंतर्गत और दक्षिणी विभाग चौहानों के राज्य-समय सपादलक्ष में गिना जाता था। मत्स्य देश की राजधानी वैराट नगर (जयपुर राज्य में) थी। उदयपुर राज्य का प्राचीन नाम शिवि देश था, जिसकी राजधानी मध्यमिका नगरी थी। उसके खंडहर इस समय नगरी नाम से प्रसिद्ध हैं और चित्तोड़ से ७ मील उत्तर में हैं। वहां पर मेव जाति का अधिकार होने से उक्त देश का नाम मेदपाट या मेवाड़ हुआ, जिसको प्राग्वाट देश भी कहते थे। मेवाड़ का पूर्वी हिस्सा चौहानों के राजत्वकाल में सपादलक्ष देश के अंतर्गत था। डूंगरपुर और बांसवाड़ा राज्यों का प्राचीन नाम वागड़ (वागट) था और अब भी वे उसी नाम से प्रसिद्ध हैं। जोधपुर राज्य के सारे रेतीले प्रदेश का सामान्यतः मरु देश में समावेश होता था, परन्तु इस समय खास मरु (मारवाड़) में उक्त राज्य के शिव, मालाणी और पचभद्रा के परगने ही माने जाते हैं। जैसलमेर राज्य से मिले हुए जोधपुर राज्य के दक्षिणी अथवा पश्चिमी (?) विभाग का नाम वल्ल देश था और मालाणी या उसके पास का एक प्रदेश कन्नौज के प्रतिहारों (पड़िहारों) के समय में त्रवणी कहलाता था। गुर्जरों (गूजरों) के अधीन का, जोधपुर राज्य की उत्तरी सीमा से लगा कर दक्षिणी सीमा तक का, सारा मारवाड़ गुर्जरत्रा या गुर्जर (गुजरात) के नाम से प्रसिद्ध था। सिरोही राज्य और उससे मिले हुए जोधपुर राज्य के एक विभाग की गणना अर्बुद (आबू) देश में होती थी। जैसलमेर राज्य का नाम माड था और अब भी वहां के लोग उसे माड ही कहते हैं। प्रतापगढ़, कोटा (जिसका कुछ उत्तरी अंश सपादलक्ष के अंतर्गत था), झाला-वाड़ राज्य और टोंक के छबड़ा, पिरावा तथा सिरोंज के ज़िले मालव देश के अंतर्गत थे।

इस विषय के सप्रमाण विस्तृत वर्णन के लिये देखो 'राजपूताने के भिन्न भिन्न विभागों के प्राचीन नाम' शीर्षक मेरा लेख (ना० प्र० पत्रिका, भाग २, पृष्ठ ३२७–३४७)

राजपूताना २३° ३′ से ३०° १२′ उत्तर अक्षांश और ६९° ३०′ से ७८° १७′ पूर्व देशान्तर के बीच फैला हुआ है। इसका क्षेत्रफल अनुमान १३०४६२ वर्ग मील है।

स्थान और क्षेत्रफल

राजपूताने के पश्चिम में सिंध, उत्तर-पश्चिम में पंजाब का बहावलपुर राज्य, उत्तर तथा उत्तर-पूर्व में पंजाब, पूर्व में आगरा तथा अवध का संयुक्त प्रदेश और ग्वालियर राज्य; और दक्षिण में मध्य भारत के कई राज्य, बंबई इहाते के पालनपुर, ईडर आदि राज्य तथा कच्छ के रण का उत्तर-पूर्वी हिस्सा है।

सीमा

इस समय राजपूताने में १८ मुख्य राज्य हैं, जिनमें से उदयपुर, डूंगरपुर, बांसवाड़ा और प्रतापगढ़ गुहिल वंशियों (सीसोदियों) के; जोधपुर, बीकानेर और किशनगढ़ राठोड़ों के; जयपुर और अलवर कछवाहों के; बूंदी, कोटा और सिरोही चौहानों के; जैसलमेर और करौली यादवों के, झालावाड़ झालों का; भरतपुर और धौलपुर जाटों के, और टोंक मुसलमानों का है। इनके अतिरिक्त अजमेर-मेरवाड़े का सरकारी इलाक़ा तथा शाहपुरा (फूलिया) और लावा के ठिकाने हैं। इनमें से जैसलमेर, जोधपुर और बीकानेर पश्चिम तथा उत्तर में; शेखावाटी (जयपुर राज्य का अंश) और अलवर उत्तर-पूर्व में; जयपुर, भरतपुर, धौलपुर, करौली, बूंदी, कोटा और झालावाड़ पूर्व और दक्षिण-पूर्व में; प्रतापगढ़, बांसवाड़ा, डूंगरपुर और उदयपुर दक्षिण में; सिरोही दक्षिण-पश्चिम में; और मध्य में अजमेर-मेरवाड़े का सरकारी इलाक़ा, किशनगढ़ राज्य, शाहपुरा (फूलिया) और लावा के ठिकाने तथा टोंक[1] राज्य के हिस्से हैं।

वर्तमान राज्य और उनके स्थान

अर्वली[2] पर्वत राजपूताने के ईशान कोण से शुरू होकर नैर्ऋत्य कोण

---

(१) राजपूताने में एक टोंक राज्य ही ऐसा है कि जिसके भिन्न भिन्न विभाग एक दूसरे से मिले हुए नहीं हैं। उक्त राज्य के ६ हिस्सों में से टोंक, अलीगढ़ और नींबाहेड़ा ये तीन परगने राजपूताने में, और छबड़ा, पिरावा तथा सिरोंज मध्यभारत में हैं।

(२) राजपूताने में यह पहाड़ आड़ावळा या वळा नाम से प्रसिद्ध है। यहां की भाषा में वळा शब्द पहाड़ का सूचक है। अंग्रेज़ी वर्णमाला की अपूर्णता के कारण उसमें लिखा हुआ नाम शुद्ध और एक ही तरह से पढ़ा नहीं जाता, इसी दोष से आड़ावळा का अर्वली नाम अंग्रेज़ों के समय में प्रचलित हो गया है, परंतु राजपूताने के लोग अब तक इसको आड़ावळा ही कहते हैं। (टॉड राजस्थान का हिंदी अनुवाद, प्रथम खंड, पृ० ४६–४७, टिप्पण १०)

तक चला गया है। वहां से दक्षिण की ओर आगे बढ़ता हुआ गुजरात के महीकांठा आदि में होकर सतपुड़ा से जा मिला है। उत्तर में इस की श्रेणियां बहुत चौड़ी नहीं हैं, परंतु अजमेर से दक्षिण में जाकर वे बहुत चौड़ी होती गई हैं। सिरोही, उदयपुर राज्य के दक्षिणी और पश्चिमी हिस्से, डूंगरपुर, बांसवाड़ा और प्रतापगढ़ राज्य का पश्चिमी हिस्सा इन श्रेणियों से बहुत कुछ ढका हुआ है। एक दूसरी श्रेणी उदयपुर राज्य के पूर्वी परगने मांडलगढ़ से प्रारंभ होकर बूंदी, कोटा व जयपुर राज्य के दक्षिण तथा झालावाड़ में होकर पूर्व और दक्षिण में मध्यभारत में फैलती हुई सतपुड़ा से जा मिली है। अलवर राज्य के पश्चिमी हिस्से तथा उससे मिले हुए जयपुर राज्य में कुछ दूर तक एक और श्रेणी चली गई है। जोधपुर राज्य के दक्षिणी विभाग में एक दूसरी से विलग पहाड़ियां, तथा दक्षिण-पूर्वी विभाग में एक श्रेणी आगई है। अर्वली पहाड़ का सब से ऊंचा हिस्सा सिरोही राज्य में आबू का पर्वत है, जिसकी गुरु-शिखर नामक सब से ऊंची चोटी की ऊंचाई समुद्र की सतह से ५६५० फुट है। हिमालय और नीलगिरि के बीच में इतनी ऊंचाईवाला कोई दूसरा पहाड़ नहीं है।

पहाड़

अर्वली पर्वत-श्रेणी राजपूताने को दो प्राकृतिक विभागों में विभक्त करती है, जिनको पश्चिमी और पूर्वी विभाग कहना चाहिये। पश्चिमी विभाग में बीकानेर, जैसलमेर, जोधपुर और जयपुर राज्य के शेखावाटी प्रदेश का पश्चिमी अंश है। यह प्रायः रेगिस्तान है, जिसमें राजपूताने की ३/५ भूमि का समावेश होता है। पूर्वी विभाग में अन्य राज्य हैं जहां की भूमि उपजाऊ है।

चंवल—राजपूताने की सब से बड़ी नदी है। यह मध्य भारत के इंदौर राज्य (मऊ की छावनी से ६ मील दक्षिण-पश्चिम) से निकलती है और ग्वालियर, इंदौर तथा सीतामऊ राज्यों में बहकर राजपूताने में प्रवेश करती हुई भैंसरोड़गढ़ (मेवाड़ में), कोटा, केशवराय-पाटण और धौलपुर के निकट बहती हुई संयुक्त प्रदेश में इटावा से २५ मील दक्षिण-पश्चिम जमना से जा मिलती है। इस नदी की पूरी लंबाई ६५० मील है।

नदियां

बनास—यह उदयपुर राज्य के प्रसिद्ध कुंभलगढ़ के किले से ३ मील दूर की पर्वत-श्रेणी से निकल कर उदयपुर, जयपुर, बूंदी, टोंक और करौली राज्यों में बहती हुई रामेश्वर तीर्थ के पास चंवल में जा गिरती है। इसकी लंबाई अनुमान ३०० मील है।

कालीसिंध—यह मध्य भारत से निकलती और ग्वालियर, देवास, नरसिंहगढ़ तथा इंदौर राज्यों में वहती हुई राजपूताने में प्रवेश करती है। फिर झालावाड़ तथा कोटा राज्यों में बहती पीपरा गांव के पास चंबल में मिल जाती है। राजपूताने में इसका बहाव ४५ मील है।

पारबती—यह भी मध्य भारत से निकल कर टोंक तथा कोटा राज्यों में बहती हुई पालीघाट (कोटा राज्य में) के पास चंवल में गिरती है। इसकी कुल लंबाई २२० मील है।

लूंणी—यह अजमेर के पास से निकलती है जहां इसको सागरमती कहते हैं। फिर जोधपुर राज्य में बहती हुई कच्छ के रण में विलीन होजाती है। इसकी लंबाई २०० मील है।

मही—यह मध्य भारत से निकल कर राजपूताने में डूंगरपुर और बांसवाड़ा राज्यों की सीमा बनाती हुई गुजरात में प्रवेश कर खंभात की खाड़ी में जा गिरती है। इसकी पूरी लंबाई ३०० से ३५० मील है।

झीलें

राजपूताने में प्राकृतिक बड़ी झील सांभर की है। पूरी भर जाने पर उसकी लंबाई २० मील और चौड़ाई २ से ७ मील तक हो जाती है उस समय उसका क्षेत्रफल ९० वर्ग मील होता है। यह खारे पानी की झील जोधपुर तथा जयपुर राज्यों की सीमा पर है। अनुमान ४०००००० मन नमक प्रतिवर्ष उसमें पैदा होता है। इस समय इस झील को सरकार अंग्रेज़ी ने अपने अधिकार में करलिया है और जोधपुर तथा जयपुर राज्यों को उसके बदले नियत रक़म सालाना दी जाती है।

कृत्रिम अर्थात् वंद बांधकर वनाई हुई झीलों में सव से वड़ी झील जयसमुद्र (ढेवर) उदयपुर राज्य में है। उसके भर जाने पर उसकी अधिक से अधिक लंबाई ९ मील से ऊपर और सबसे ज्यादा चौड़ाई ६ मील से कुछ अधिक हो जाती है। उसके अतिरिक्त उक्त राज्य में राजसमुद्र, उदयसागर और पिछोला नामक झीलें भी बड़े विस्तारवाली हैं। ये सब झीलें पहले समय की वनी हुई हैं। अभी जयपुर, अलवर, जोधपुर आदि राज्यों में कई नई झीलें भी वनीं और बनती जाती हैं।

राजपूताने का जलवायु सामान्य रूप से आरोग्यप्रद माना जाता है। रेगिस्तानी प्रदेश अर्थात् जोधपुर, जैसलमेर, वीकानेर और शेखावाटी

आरोग्य के विचार से विशेष उत्तम हैं। पहाड़ी प्रदेशों का जल भारी होने के कारण वहां के निवासियों का स्वास्थ्य रेगिस्तानवालों के जैसा अच्छा नहीं रहता। राजपूताने के अन्य विभागों की अपेक्षा रेतीले प्रदेशों में शीत काल में अधिक सर्दी और उष्ण काल में अधिक गर्मी[1] रहती और लू तथा आंधियां भी बहुत चलती हैं। मेवाड़ आदि के पहाड़ी प्रदेशों में ऊंचाई के कारण गर्मी कम रहती है और लू भी उतनी नहीं चलती। आबू पहाड़ पर उसकी अधिक ऊंचाई के कारण न तो उष्ण काल में पसीना आता और न गरम हवा चलती है, इसीसे वह राजपूताने का शिमला कहलाता है।

जल वायु

राजपूताने के पश्चिमी रेगिस्तानी विभाग में पूर्वी विभाग की अपेक्षा वर्षा कम होती है। जैसलमेर में वर्षा की औसत ६ से ७ इंच, बीकानेर में १२, जोधपुर में १३; सिरोही, अजमेर, किशनगढ़ और बूंदी में २०-२१ के बीच, अलवर में २२, जयपुर में २३, उदयपुर में २४, टोंक, भरतपुर और धौलपुर में २६, डूंगरपुर में २७, करौली में २६, कोटे में ३१, प्रतापगढ़ में ३४, झालावाड़ में ३७ और बांसवाड़ा में ३८ इंच के करीब है। आबू पर अधिक ऊंचाई के कारण वर्षा की औसत ५७ और ५८ इंच के बीच है।

वर्षा

रेगिस्तानवाले प्रदेश में रेता अधिक होने से विशेष कर एक ही फसल खरीफ (सियालू) की होती है और रबी (उनालू) की बहुत कम। कोटा, बूंदी, झालावाड़, बांसवाड़ा और प्रतापगढ़ के पूर्वी विभाग आदि में माळ की ज़मीन अधिक होने से बिना पिलाये ही रबी की फसल हो जाती है, परंतु कुए या तालाब से पीनेवाली ज़मीन की अपेक्षा उसमें उपज कम होती है। बाकी के हिस्सों में, जहां न तो विशेष रेतीली और न माळ की भूमि है, कुओं आदि से पानी पिलाने पर दोनों फसलें अच्छी होती हैं। पहाड़ों के ढाल में भी खरीफ में खेती होती है, जिसको यहां वालरा (प्राकृत वल्लर) कहते हैं। पहाड़ों के बीच की भूमि में, जहां पानी भर जाता है, चावल की खेती भी होती है। राजपूताने की मुख्य पैदायशी चीज़ें गेहूं, जौ, मक्की, जवार, बाजरा, मोठ, मूंग, उड़द, चना, चावल,

ज़मीन और पैदावारी

(१) ता० १० जून सन् १८९७ ई० को जोधपुर में १२१ डिगरी गर्मी हो गई थी। जैसलमेर में जनवरी महीने में रात के वक्त कभी कभी इतनी सर्दी पड़ती है कि पानी जम जाता है।

तिल, सरसों, अलसी, सुआ, जीरा, रूई, तंबाकू और अफीम हैं। अफीम की खेती पहले बहुत होती थी, परंतु अब तो सरकार अंग्रेज़ी ने रियासतों में इसका बोना बहुधा बन्द करा दिया है। उक्त पैदावारी की चीज़ों में से रूई, अफीम, तिल, सरसों, अलसी और सुआ बाहर जाते हैं, और शक्कर, गुड़, कपड़ा, तंबाकू, सोना, चांदी, लोहा, तांबा, पीतल आदि बहुत सी ज़रूरी चीज़ें बाहर से आती हैं।

राजपूताने में लोहा, तांबा, जस्ता, चांदी, सीसा, स्फटिक, तामड़ा, भोडल, और कोयले की खानें हैं। लोहे की खानें उदयपुर, अलवर और जयपुर राज्यों में, चांदी और जस्ते की खान उदयपुर राज्य के जावर स्थान में, सीसे की खान अजमेर के पास, और तांबे की जयपुर राज्य में खेतड़ी के पास सिंघाणे में है। ये सब खानें पहले जारी थीं, परंतु बाहर से आनेवाली इन धातुओं के सस्तेपन के कारण अब वे सब बंद हैं, केवल उदयपुर राज्य के बीगोद गांव में कुछ लोहा अब तक निकाला जाता है, जिसका कारण यही है कि लोग उस लोहे को विदेशी लोहे से अच्छा समझते हैं। बीकानेर में कोयले की खान (पलाना में) वि० सं० १९५५ (ई० स० १८९८) से चलने लगी है। भोडल और तामड़े की खानें ज़िला अजमेर तथा किशनगढ़ राज्य आदि में जारी हैं, क्योंकि ये दोनों वस्तु बिक्री के वास्ते बाहर जाती हैं। संगमरमर कई जगह निकलता है, परंतु सब से उत्तम मकराणे का है। इमारती काम का पत्थर, पट्टियां आदि अनेक जगह निकलती हैं। नमक की पैदायश का मुख्य स्थान सांभर है, उसके अतिरिक्त जोधपुर राज्य के डीडवाना, पचभद्रा आदि स्थानों में, बीकानेर राज्य के छापर और लूणकरनसर में, तथा जैसलमेर राज्य के काणोद में भी नमक बनता है। नमक के सब स्थान अब सरकार अंग्रेज़ी के हस्तगत हैं।

खानें

मेवाड़ में चित्तोड़गढ़, कुंभलगढ़ और मांडलगढ़; मारवाड़ में जोधपुर और नागोर; जयपुर में रणथंभोर, बीकानेर में भटनेर और अजमेर में तारागढ़ के प्रसिद्ध क़िले हैं। इनके सिवा छोटे बड़े गढ़ बहुत से हैं।

क़िले

राजपूताने में रेल की सड़कें छोटे और बड़े दोनों नाप की हैं, परंतु अधिक प्रमाण में छोटे नाप की ही हैं, जिनमें मुख्य 'बंबई बड़ौदा एंड सेंट्रल इंडिया रेलवे' है, जो अहमदाबाद से आबूरोड, अजमेर, फुलेरा, बांदीकुई होती हुई दिल्ली तक चली गई है। अजमेर से एक शाखा चित्तोड़, रतलाम

रेल्वे

होती हुई खंडवे तक, दूसरी शाखा बांदीकुई से भरतपुर होती हुई आगरे तक, तीसरी फुलेरे से रेवाड़ी तक जाती है। देशी राज्यों की छोटे नाप की रेलवे में 'जोधपुर-बीकानेर रेलवे' मुख्य है। उसकी सब से बड़ी सड़क मारवाड़ जंक्शन से लूंणी जंक्शन और वहां से बाड़मेर होती हुई सिंध के हैदराबाद में जा कर बड़े नाप की रेलवे से मिल जाती है। उसीकी दूसरी शाखा लूंणी जंक्शन से निकल कर जोधपुर, मेड़ता, नागोर, बीकानेर, महाजन, सूरतगढ़, भटनेर होती हुई पंजाब के भटिंडा में बड़ी सड़क से मिलती है। तीसरी शाखा जोधपुर से फलोदी (पोकरण तरफ की) तक गई है। चौथी शाखा फुलेरे से मेड़ते तक है, पांचवीं फुलेरे से मेड़ते जानेवाली सड़क के डीगाना स्टेशन से निकल कर उत्तर में हिसार से जा मिली है। बीकानेर राज्य में गींगासर स्टेशन से पलाना की खान तक एक छोटी सड़क कोयला लाने के लिये बनी है। दूसरी बीकानेर से रतनगढ़ तक और तीसरी रतनगढ़ से सर्दारशहर तक गई है। जयपुर राज्य की सवाई माधोपुर से जयपुर, रींगस, पलसाना होती हुई झूंझणू तक गई है। उदयपुर राज्य की उदयपुर से चित्तोड़ तक है। धौलपुर से बाड़ी तक धौलपुर राज्य की एक और भी छोटे नाप की रेल बनी है।

बड़े नाप की रेलों में 'बंबई बड़ोदा एंड सेंट्रल इंडिया रेलवे' की सड़क बंबई से बड़ोदा, गोधरा, रतलाम, नागदा होती हुई पचपहाड़, कोटा, सवाई माधोपुर, बयाना, भरतपुर और मथुरा से गुज़र कर दिल्ली तक चली गई है। इसकी एक शाखा बयाने से आगरे जाती है। जी. आई. पी. रेलवे की एक शाखा बारां से कोटे तक और दूसरी ग्वालियर से धौलपुर होती हुई आगरे गई है।

जनसंख्या

राजपूताने में अब तक पांच वार मनुष्यगणना हुई, जिससे पाया जाता है कि यहां की जनसंख्या ईसवी सन् १८८१ में १०५६२८२७; ई० स० १८९१ में १२०१६१०७; ई० स० १९०१ में १०३३००७८; ई० स० १९११ में ११०३१८२७ और ई० स० १९२१ में १०३३६६५५ थी।

धर्म

महाभारत के युद्ध से पूर्व और बहुत पीछे तक भी भारतवर्ष के अन्य प्रदेशों के समान राजपूताने में भी वैदिक-धर्म का प्रचार था। वैदिक-धर्म में यज्ञ ही मुख्य था, और राजा लोग बहुधा अश्वमेध आदि कई यज्ञ किया करते थे। यज्ञों में जीवहिंसा होती थी और मांस-भक्षण का प्रचार भी बढ़ा हुआ था। जीवदया के सिद्धान्तों का प्रचार करनेवाले भी समय समय पर

हुए, किंतु उनका लोगों पर विशेष प्रभाव न पड़ा। विक्रम संवत् के पूर्व की पांचवीं शताब्दी में मगध के राजा अजातशत्रु के समय गौतम बुद्ध ने बौद्ध धर्म के, और उसी समय महावीर स्वामी ने जैन धर्म के प्रचार को बढ़ाने का बीड़ा उठाया। इन दोनों धर्मों के सिद्धान्तों में जीवदया मुख्य थी, और वैदिक वर्णाश्रम को तोड़, साधर्म्य अर्थात् उन धर्मों के समस्त अनुयायी एक श्रेणी के गिने जावें, ऐसी व्यवस्था की गई, जिसमें ऊंच-नीच का भाव न रहा। गौतम ने जीवमात्र की भलाई के विचार से अपने सिद्धांतों का प्रचार बड़े उत्साह के साथ किया। उनकी जीवित दशा में ही अनेक ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा अन्य वर्ण के लोगों ने उक्त धर्म को स्वीकार किया और दिन दिन उसकी उन्नति होती गई। मौर्यवंशी राजा अशोक ने कलिंग-युद्ध में लाखों मनुष्यों का संहार किया, जिसके पीछे उसकी बौद्ध धर्म की ओर रुचि बढ़ी। उसने उस धर्म को स्वीकार कर उसे बड़ी उन्नति दी, अपने विस्तृत राज्य में यज्ञों का होना बंद कर दिया और हिंसा को भी बहुत कुछ रोका। राजपूताने में भी उसीके समय से बौद्ध धर्म का प्रचार बढ़ा। बौद्ध धर्म के सामने वैदिक धर्म की सुदृढ नींव हिलने लगी, और ब्राह्मण लोग अपने धर्म को फिर से उन्नत करने का प्रयत्न करते रहे। मौर्यवंश के अंतिम राजा बृहद्रथ को मार कर उसका शुंगवंशी सेनापति पुष्यमित्र मौर्य-साम्राज्य का स्वामी बना। उसने फिर वैदिक धर्म का पक्ष ग्रहण कर दो अश्वमेध यज्ञ किये। उसने बौद्धों पर अत्याचार भी किया हो ऐसा बौद्ध ग्रंथों से पाया जाता है। राजपूताने में मध्यमिका नगरी (चित्तोड़ के प्रसिद्ध किले से ७ मील उत्तर में) के राजा ने भी वि० सं० पूर्व की दूसरी शताब्दी के आसपास अश्वमेध यज्ञ किया, जिसके पीछे राजपूताने में प्राचीन शैली से अश्वमेध करने का कोई उदाहरण नहीं मिलता। गुप्तों के राज्य के प्रारंभ तक बौद्ध धर्म की उन्नति होती रही, फिर समुद्रगुप्त ने बहुत समय से न होनेवाला अश्वमेध यज्ञ किया। वाकाटकवंशी राजाओं के राज्य में भी कई यज्ञ हुए। गुप्तों के समय से ही बौद्ध धर्म का पतन और वैदिक धर्म का पुनरुत्थान होने लगा। वि० सं० ६६७ (ई० स० ६४०) के आसपास चीनी यात्री हुएन्त्संग राजपूताने में आया उस समय यहां बौद्ध धर्म की अवनति हो रही थी। वह गुर्जर देश की राजधानी भीनमाल (जोधपुर राज्य में) के प्रसंग में लिखता है कि "यहां की बस्ती घनी है, विधर्मियों (वैदिक धर्म को माननेवालों) की संख्या बहुत और बौद्धों

की थोड़ी है। यहां एक ही संघाराम (बौद्ध मठ) है, जिसमें हीनयान संप्रदाय के १०० साधु रहते हैं जो सर्वास्तिवादी हैं। ब्राह्मणों के देव-मंदिर कई दहाई (बहुत से) हैं, जिनमें भिन्न भिन्न संप्रदायों के अनुयायी वास करते हैं[1]"। वि० सं० ६९२ (ई० स० ६३५) के आसपास वही यात्री मथुरा से १०० मील पश्चिम के एक राज्य में पहुंचा, जिसका नाम उसने 'पो-लि-ये-टो-लो' दिया है। संभव है कि यह नाम वैराट (जयपुर राज्य में) का सूचक हो। यह तो निश्चित है कि हुएन्त्संग का लिखा हुआ यह स्थान राजपूताने में ही था। उसके संबंध में वह लिखता है कि "यहां के लोग बौद्ध धर्म का सम्मान नहीं करते। यहां आठ संघाराम हैं जो प्रायः ऊजड़ पड़े हुए हैं। उनमें थोड़े से हीनयान संप्रदाय के बौद्ध साधु रहते हैं। यहां (ब्राह्मणों के) १० देवमंदिर हैं, जिनमें भिन्न भिन्न संप्रदायों के १००० पुजारी आदि रहते हैं[2]"। उसी समय मथुरा में अनुमान २० संघारामों का होना वही यात्री बतलाता है, जिनमें २००० श्रमण रहते थे। साथ ही में वहां ब्राह्मणों के केवल ५ देवमंदिर होना उसने लिखा है। वि० सं० १०७५ (ई० स० १०१८) में महमूद ग़ज़नवी ने मथुरा पर चढ़ाई की उस समय वहां ब्राह्मण मत के १००० मंदिर थे। राजपूताने से वि० सं० की नवीं शताब्दी के आसपास बौद्ध धर्म का नाम निशान भी उठ गया, और जो लोग बौद्ध हो गये थे वे समय समय पर पीछा वैदिक धर्म ग्रहण करते रहे[3]।

यद्यपि जैनधर्म की स्थिति के ऐसे प्राचीन लिखित प्रमाण नहीं मिलते, तो भी अजमेर ज़िले के बर्ली नामक गांव से वीर संवत् ८४ (वि० सं० पूर्व ३८६=

(१) बील; बु० रे० वे० व०; जि० २, पृ० २७० ।

(२) वही, जि० १, पृ० १७९ ।

(३) वैदिक काल में व्रात्य अर्थात् पतित एवं विधर्मियों को वैदिक धर्म में लेने के समय 'व्रात्यस्तोम' नामक शुद्धि की एक क्रिया होती थी, जिससे उन व्रात्यों की गणना द्विज वर्णों में हो जाती थी। व्रात्यस्तोम का वर्णन सामवेद के 'तांड्यब्राह्मण' (प्रकरण १७) और 'लाट्यायन श्रौतसूत्र' (६ । ८) में मिलता है (बंब० ए० सो० ज०; जि० १९, पृ० ३५७-६४)। बौद्धधर्म की उन्नति के समय में करोड़ों वैदिक मतावलंबी (हिंदू) बौद्ध हो गये थे, परंतु उक्त धर्म की अवनति के समय वे पीछे हिंदू धर्म को ग्रहण करते गये। उस समय व्रात्यस्तोम जैसी कोई शुद्धि की क्रिया होती रही हो ऐसा पाया नहीं जाता।

ई० स० पूर्व ४४३) का एक शिलालेख मिला है[1], जिससे अनुमान होता है कि अशोक से पूर्व भी राजपूताने में जैन धर्म का प्रचार था। जैन लेखकों का यह मत है कि राजा संप्रति ने, जो अशोक का वंशधर था, जैन धर्म को बड़ी उन्नति दी और राजपूताना व इसके आसपास के प्रदेशों में भी उसने कई जैन मंदिर बनवाए थे। वि० सं० की दूसरी शताब्दी के बने हुए मथुरा के कंकालीटीले-वाले जैन स्तूप से तथा इधर के कुछ अन्य स्थानों से मिले हुए प्राचीन शिला-लेखों तथा मूर्तियों से पाया जाता है, कि उस समय भी यहां जैन धर्म का अच्छा प्रचार था। वि० सं० की १२ वीं शताब्दी में गुजरात के सोलंकी राजा कुमार-पाल ने अपने प्रसिद्ध विद्वान् गुरु हेमचंद्राचार्य के उपदेश से जैन धर्म ग्रहण कर उसकी बहुत कुछ उन्नति की। उस समय राजपूताने के कई राजाओं ने हिंसा रोकने के लेख भी खुदवाए, जो अब तक विद्यमान हैं। कुमारपाल के पूर्व से लगाकर अब तक के सैंकड़ों भव्य जैन मंदिर यहां विद्यमान हैं, जिनमें कई एक स्वयं कुमारपाल ने बनवाए थे।

बौद्ध और जैन धर्मों के प्रचार से वैदिक धर्म को बड़ी हानि पहुंची, इतना ही नहीं, किंतु उसमें परिवर्त्तन करना पड़ा और वह एक नये सांचे में ढल कर पौराणिक धर्म बन गया। उसमें बौद्ध और जैनों से मिलती जुलती धर्म संबंधी बहुतसी नई बातें प्रवेश कर गईं, इतना ही नहीं, किंतु बुद्धदेव की गणना विष्णु के अवतारों में हुई और मांस-भक्षण का भी बहुत कुछ निषेध किया गया।

दिल्ली में मुसलमानों का राज्य स्थिर होने के पीछे उन्होंने राजपूताने में लोगों को बहुधा बलपूर्वक या लालच देकर भी मुसलमान बनाना शुरू किया, तभी से यहां इस्लाम को माननेवालों की संख्या बढ़ने लगी।

ई० स० १८१८ (वि० सं० १८७५) से राजपूताने का संबंध सरकार अंग्रेज़ी के साथ जुड़ने के पीछे ईसाई पादरी भी इस देश में आकर अपने धर्म का प्रचार करने और लोगों को ईसाई बनाने लगे हैं। इन देशी ईसाइयों में प्रायः हलकी जाति के हिन्दू व मुसलमान ही विशेष हैं।

ज़रतुश्त मत के माननेवाले थोड़े से पारसी भी नौकरी या व्यापार के निमित्त राजपूताने में रहते हैं।

---

(१) यह शिलालेख राजपूताना म्यूज़ियम् (अजमेर) में सुरक्षित है।

ई० स० १९२१ (वि० सं० १९७७) की मनुष्य-गणना के अनुसार राजपूताने में भिन्न भिन्न धर्मावलंबियों की संख्या नीचे लिखे अनुसार है—

हिन्दू—९२२६४८८, इनमें ब्राह्मण धर्म को माननेवाले ८५२९३३३, जैन २९८१४४, आर्य ४६५२, ब्राह्मो २२, सिक्ख ८९२२, भील, मीने आदि जंगली लोग ४८५४१५ हैं। मुसलमानों की संख्या १००२११७, ईसाई १०४४२, पारसी ५४७, यहूदी ५१, बौद्ध १ और अनिश्चित मतवाले ९ हैं[1]।

प्राचीन भारत में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ये चार वर्ण मात्र थे, और वर्णव्यवस्था भी प्रायः गुण-कर्मानुसार होती थी। प्रत्येक वर्ण को अपने और

जातियां

अपने नीचे के वर्णों में भी विवाह करने का अधिकार था; परस्पर के खानपान में कुछ भी प्रतिबंध न था, केवल शुद्धता का विचार रहता था। गुप्तवंशी राजाओं के राज्य-समय से प्राचीन वैदिक धर्म में परिवर्त्तन होकर पौराणिक मत का प्रचार होने के पीछे धार्मिक संप्रदायों के बढ़ जाने से पुराने रीति रिवाजों का उच्छेद होकर जो आर्य जाति एक ही धर्म और एक ही राष्ट्रीय भाव में बंधी हुई थी उसके टुकड़े टुकड़े हो गये। विक्रम संवत् की सातवीं शताब्दी के आसपास मारवाड़ के ब्राह्मण हरिश्चंद्र की दो पत्नियों में से एक ब्राह्मणी और दूसरी क्षत्रिय जाति की थी, ऐसा वि० सं० ८९४[2] तथा ९१८[3] के शिलालेखों से पाया जाता है। मारवाड़ ही से जाकर कन्नौज में अपना राज्य

---

(१) ई० स० १९२१ की मनुष्य-गणना की रिपोर्ट में आर्य, सिक्ख, जैन, ब्राह्मो, भील, मीने आदि को हिन्दुओं से भिन्न बतलाया है, परंतु वास्तव में इन सब का समावेश हिन्दुओं में ही होता है, इनमें केवल मतभेद है।

(२) *विप्रः श्रीहरिचन्द्राख्यः पत्नी भद्रा च क्षत्(त्रि)या। .... ।*

तेन श्रीहरिचन्द्रेण परिणीता द्विजात्मजा ।

द्वितीया क्षत्(त्रि)या भद्रा महाकुलगुणान्विता ॥

प्रतीहारा द्विजा भूता ब्राह्मण्यां येभवन्सुताः ।

राज्ञी भद्रा च यान्सूते ते भूता मधुपायिनः ॥

राजपूताना म्यूज़ियम् (अजमेर) में रक्खे हुए मूल लेख से।

(३) *विप्पो सिरिहरिअंदो भज्जा आसित्ति खत्तिआ भद्दा ।*

घटियाले के शिलालेख की छाप से।

जमानेवाले प्रतिहारवंशी राजाओं में से राजा महेंद्रपाल के ब्राह्मण गुरु राजशेखर की विदुषी पत्नी अवन्तिसुंदरी चौहान वंश[1] की थी। राजशेखर विक्रम संवत् ६५० के आसपास जीवित था। इस समय के पश्चात् ब्राह्मणों का क्षत्रिय वर्ण में विवाह-संबंध होने का कोई उदाहरण नहीं मिलता। पीछे तो प्रत्येक वर्ण में भेदभाव यहां तक बढ़ता गया कि एक ही वर्ण में सैंकड़ों शाखा प्रशाखा फूटकर अपने ही वर्ण में शादी विवाह का संबंध जोड़े रहना तो दूर, किंतु खानपान का संसर्ग तक भी न रहा, एक ही जाति के लोग अपनी जातिवालों के साथ भोजन करने में भी हिचकने लगे; इस तरह देशभेद, पेशे और मतभेद से अनेक जातियां बन गईं, तो भी राजपूतों (क्षत्रियों) में यह जातिभेद प्रवेश करने न पाया। उनमें विवाह-संबंध तो अपनी जाति में ही होता है, परंतु अन्य तीनों वर्णों के हाथ का भोजन करने में उन्हें कुछ भी संकोच नहीं। ब्राह्मण, वैश्य और शूद्रों में तो इतनी जातियां हो गई हैं, कि उनके परस्पर के भेदभाव और रीति रिवाज का सविस्तर वर्णन किया जावे तो कई जिल्दें भर जावें।

हिंदुओं में ब्राह्मण, राजपूत, महाजन, कायस्थ, चारण, भाट, सुनार, दरोगा, दर्जी, लुहार, सुथार (बढ़ई), कुम्हार, माली, नाई, धोबी, जाट, गूजर, मेर, कोली, घांची, कुनबी, बलाई, रेगर, भांबी, महतर आदि अनेक जातियां हैं। जंगली जातियों में मीने, भील, गिरासिये, मोगिये, बावरी, सांसी, सौंदिये आदि हैं। मुसलमानों में मुख्य और खान्दानी शेख़, सैय्यद, मुग़ल और पठान हैं। अन्य मुसलमान जातियों में रंगड़, कायमखानी, मेव, मेरात, खानज़ादे, सिलावट, रंगरेज़, घोसी, भिश्ती, कसाई आदि कई एक हैं। शिया फ़िर्क़े के मुसलमानों में एक क़ौम बोहरों की है जो बहुधा व्यापार करती हैं।

राजपूताना के लोगों में से अधिकतर तो खेती करते और कई गाय, भैंस, भेड़, बकरी आदि जानवरों को पालकर उन्हींसे अपना निर्वाह करते हैं। कई सैनिक या अन्य नौकरी, दस्तकारी व मज़दूरी कर पेट भरते, और कई व्यापार करते हैं। व्यापार करनेवालों में मुख्य महाजन हैं,

पेशा

(१) चाहुआणकुलमोलिमालिआ राजसेहरकइन्दगेहिणी।
भणुणो किइमवन्तिसुन्दरी सा पउञ्जइउमेअमिच्छइ॥ ११॥
राजशेखररचित 'कर्पूरमंजरी सट्टक;' हार्वर्ड-संस्करण, पृ० ७।

जो बंबई, कलकत्ता, मद्रास आदि दूर दूर के अनेक शहरों में जाकर व्यवसाय चलाते हैं। ब्राह्मण विशेष कर पाठपूजन, पुरोहिताई, व्यापार, भिक्षावृत्ति और नौकरी पर निर्वाह करते हैं।

पोशाक

भारतवर्ष के उत्तरी विभाग शीतप्राय और दक्षिणी उष्ण होने के कारण अपनी अपनी आवश्यकता के अनुसार वस्त्र भिन्न भिन्न प्रकार के पहने जाते थे। थोड़ी शीतवाले प्रदेशों में रहनेवाले साधारणतया बिना सिये हुए वस्त्र का उपयोग विशेष करते थे, और शीत प्रदेशवाले सिये हुओं का भी। दक्षिण में अब तक मामूली वस्त्र बिना सिये हुए ही काम में लाए जाते हैं। इन बातों को देख कर कोई कोई यह मानने लग गये हैं, कि भारत के लोग सिये हुए वस्त्र मुसलमानों के इस देश में आने के पीछे पहनना सीखे हैं, परंतु यह भ्रम ही है। वदिक काल से ही यहां कपड़ा बुनने की कला उन्नत दशा में थी और वह काम विशेषकर स्त्रियां ही करती थीं। वस्त्र बुननेवालों के नाम 'वयित्री[1]' 'वाय[2]' और 'सिरी[3]' थे। वस्त्र बुनने की ताने से संबंध रखनेवाली लकड़ी को 'मयूख[4]' (मेख?) और बाने का धागा फेंकनेवाले औज़ार अर्थात् ढरकी को 'वेम[5]' (वेमन्) कहते थे। यही नाम राजपूताने में अब तक प्रचलित हैं। वस्त्र बहुधा रंगे जाते थे और रंगनेवाली स्त्रियां 'रजयित्री[6]' कहलाती थीं। सुई का काम भी उस समय में होता था। वेदों की संहिता तथा ब्राह्मण ग्रंथों में सुई का नाम 'सूची[7]' और 'वेशी[8]' मिलता है। तैत्तिरीय ब्राह्मण में सुई तीन प्रकार की, अर्थात् लोहे, चांदी और सोने की होना बतलाया है[9]। कैंची को 'भुरिज[10]' कहते थे। 'सुश्रुतसंहिता' में "सीव्येत्

(१) पंचविंश ब्राह्मण (१।८।६)
(२) ऋग्वेद (१०।२६।६)
(३) वही (१०।७१।६)
(४) ऋग्वेद (७।६६।३)। तैत्तिरीय संहिता (२।३।१।५)
(५) वाजसनेयि संहिता (१६।८३)
(६) वही (३०।१२)। तैत्तिरीय ब्राह्मण (३।४।७।१)
(७) ऋग्वेद (२।३२।४)। वाजसनेयि संहिता (२३।३३)
(८) ऋग्वेद (७।१८।१४)
(९) तैत्तिरीय ब्राह्मण (३।६।६)
(१०) ऋग्वेद (८।४।१६)

सूक्ष्मेण सूत्रेण" (बारीक डोरे से सीना) लिखा मिलता है। रेशमी चुगे को 'तार्प्य[1]' और ऊनी कुरते को 'शामूल[2]' कहते थे। 'द्रापि[3]' भी एक प्रकार का सिया हुआ वस्त्र था जिसके विषय में सायण लिखता है कि, वह युद्ध के समय पहना जाता था। शिर पर बांधने के वस्त्र को उष्णीष[4] (पगड़ी या साफ़ा) कहते थे। स्त्रियों का मामूली वस्त्र अंतरीय अर्थात् साड़ी थी, जो आधी पहनी और आधी ओढ़ी जाती थी, और बाहर जाने के समय उसपर उत्तरीय (दुपट्टा) रहता था। स्त्रियां नाचने के समय लहंगे जैसा ज़री के काम का वस्त्र पहनती थीं, जिसका नाम 'पेशस्[5]' था; शायद आजकल का पिशवाज़ इसीका अपभ्रंश हो। ऐसे वस्त्रों के बनानेवाली स्त्रियां 'पेशस्कारी[6]' कहलाती थीं। स्त्रियों के पहनने के लहंगे[7] जैसे वस्त्र को, जो नाड़े से कसा जाता था, 'नीवि[8]' कहते थे। विवाह के समय जो जामे जैसा वस्त्र वर पहनता था उसको 'वाधूय[9]' कहते थे। यह प्रथा आज तक भी कुछ रूपांतर के साथ राजपूताने की

---

(१) अथर्ववेद (१८।४।३१)। तैत्तिरीय ब्राह्मण (१।३।७।१)

(२) जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण (१।३८।४)

(३) ऋग्वेद (१।२५।१३)

(४) ऐतरेय ब्राह्मण (६।१)। शतपथ ब्राह्मण (३।३।२।३)। अथर्ववेद (१५।२।१)

(५) ऋग्वेद (२।३।६)

(६) वाजसनेयि संहिता (३०।९)

(७) मथुरा के कंकालीटीले से मिली हुई वि० सं० की पहली शताब्दी के आस-पास के लेखवाली शिला पर एक राणी और उसकी दासियों के चित्र खुदे हुए हैं। राणी लहंगा पहने और ऊपर उत्तरीय धारण किये हुए हैं (स्मिथ; मथुरा ऍंटिक्विटीज़, प्लेट १४)। उसी पुस्तक में एक जैन मूर्ति के नीचे दो श्रावक और तीन श्राविकाओं की खड़ी मूर्तियां हैं। ये तीनों स्त्रियां लहंगे पहने हुई हैं (प्लेट ८५)। उसी पुस्तक में हाथ में डंडा लिये बैल पर बैठे एक पुरुष का चित्र है, जो कमर तक कुरता या अंगरखा पहने हुए है (प्लेट १०२)। ये उदाहरण राजपूताने के ही समझने चाहियें। अजंटा की गुफा में बच्चे को गोद में ली हुई एक स्त्री का सुंदर चित्र बना है, जिसमें वह स्त्री कमर से नीचे तक आधी बांहवाली सुंदर छींट की अंगिया पहने हुए है (स्मिथ; ऑक्सफर्ड हिस्टरी ऑफ इंडिया; पृ० १५६ पर दिया हुआ चित्र)। इससे स्पष्ट है कि दक्षिण में भी सिये हुए वस्त्र पहने जाते थे।

(८) अथर्ववेद (८।२।१६)

(९) ऋग्वेद (१०।८५।३४)

बहुतसी जातियों में प्रचलित है। वस्त्र के नीचे लगनेवाली झालरी या गोट का नाम 'तूष'[1] था। ये सब वैदिक काल के वस्त्रों के नाम आदि हैं। सूती, ऊनी और रेशमी वस्त्रों के अतिरिक्त वृक्ष और पौधों के रेशों के वस्त्र भी बनते थे जो 'वल्कल' कहलाते थे। महाभारत, रामायण आदि में इनका वर्णन मिलता है। ये वस्त्र बहुधा तपस्वी तथा उनकी स्त्रियां पहना करती थीं। सीता ने भी वनवास के समय वल्कल ही धारण किये थे। समय के साथ पोशाक में परिवर्तन होता ही रहता है। पाटलीपुत्र के राजा उदयन की मूर्ति मिली है जिसके बदन पर मिरज़ई है और उसकी कंठी पर बुनगट के काम का हाशिया है[2]। गुप्तों के सिक्कों पर राजा सिये हुए वस्त्र पहने खड़ा दीख पड़ता[3] है।

राजपूताने में पुरुषों की पुरानी मामूली पोशाक धोती, दुपट्टा और पगड़ी थी। शीत काल में ऊनी सिये हुए वस्त्रों का उपयोग भी होता था। उत्सव और राजदरबारों के समय की पोशाक रेशमी ज़री के काम की भी होती थी। कृषिकार या साधारण स्थिति के लोग घुटनों या उनसे नीचे तक की कच्छ या काछनी भी पहना करते थे जिसके चिह्न अबतक कहीं कहीं विद्यमान हैं। स्त्रियों की पोशाक विशेषतः साड़ी, या नीचे लहंगा और ऊपर साड़ी होती थी। प्राचीन काल में स्त्रियों के स्तन या तो खुले रहते थे या उनपर कपड़े की पट्टी बांधी जाती थी, परंतु राजपूताने की स्त्रियों में 'कंचुलिका' (कांचली) पहनने का रिवाज भी पुराना है।

राजपूताने के लोगों की वर्तमान पोशाक विशेषतर पगड़ी, अंगरखा, धोती या पजामा है। बहुतसे लोग पगड़ी के स्थान में साफा या टोपी भी काम में लाते हैं। कोई कोई अंग्रेज़ी ढंग से कोट, पतलून या ब्रीचीज़ और अंग्रेज़ी टोप भी धारण करते हैं। स्त्रियों की पोशाक प्रायः साड़ी, लहंगा और कांचली है, परंतु अब शहर की स्त्रियों में कमीज़ और वास्कट पहनने की चाल बढ़ती जाती है।

---

(१) तैत्तिरीय संहिता (१ । ८ । १ । १)

(२) ना० प्र० पत्रिका; भा० १, पृ० ४७, और उक्त मूर्ति के फोटो।

(३) जॉन् ऐलन्; कॉइन्स ऑफ दी गुप्त डाइनेस्टीज़; प्लेट १–४।

राजपूताने में प्राचीन काल में शिक्षा की वही पद्धति प्रचलित थी जो भारत के अन्य विभागों में थी, परंतु इस प्रदेश में कोई ऐसी नदी नहीं है, जो वर्षभर निरन्तर बहा करती हो। ऐसी दशा में यहां अन्य प्रदेशों के समान नदियों के तट पर बने हुए ऋषियों के आश्रमों में विद्यार्थियों का पठनपाठन होता रहा हो ऐसा पाया नहीं जाता। संभव है कि यहां राजाओं की ओर से स्थापित पाठशालाओं में एवं विद्वानों के घर पर ही विद्याभ्यास होता हो। प्राचीन शैली से बालकों को अक्षरबोध, लिखने पढ़ने तथा सामान्य गणित का बोध हो जाने के पीछे व्याकरण के लिये पाणिनि की अष्टाध्यायी कंठ कराई जाती थी। व्याकरण का ज्ञान हो जाने पर विद्यार्थी को वेद, वेदांग, दर्शनशास्त्र, न्याय, ज्योतिष, अर्थशास्त्र, वैद्यक आदि शास्त्र उसकी रुचि के अनुसार पढ़ाए जाते और उनकी शिक्षा संस्कृत में ही दी जाती थी। जैन और बौद्धों के धर्मग्रन्थ प्राकृत अर्थात् प्रचलित (लौकिक) भाषा में लिखे हुए होने के कारण उनके उपाश्रय (उपासरों) तथा मठों में प्राकृत की पढ़ाई भी होती थी, परंतु विशेष ज्ञान संपादन करनेवाले जैन और बौद्ध विद्यार्थियों के लिये संस्कृत का पठन अनिवार्य था, क्योंकि काव्य, नाटक, तर्क आदि अनेक विषयों के ग्रंथों की रचना संस्कृत में ही हुई थी। इसी तरह नाटक आदि की रुचिवाले संस्कृत के विद्यार्थियों को प्राकृत भी पढ़नी पड़ती थी, क्योंकि नाटकों में विदूषक, स्त्रियों तथा छोटे दर्जे के पात्रों की भाषा प्राकृत होने का नियम था। राजपुत्रों की शिक्षा कभी अन्य विद्यार्थियों के साथ उक्त पाठशालाओं में और कभी नगरों के बाहर उनके लिये स्थापित किये हुए स्वतंत्र विद्यालयों में होती थी। उनको शास्त्रविद्या के साथ साथ शस्त्रविद्या, अर्थशास्त्र तथा अश्वारोहण, गजारोहण आदि विषयों का ज्ञान संपादन कराया जाता था। ब्राह्मणों के समान क्षत्रिय, वैश्य, कायस्थ आदि जातियों में भी संस्कृत के अच्छे विद्वान् यहां हुए हैं, जिनके थोड़े से उदाहरण नीचे लिखे जाते हैं। 'ब्राह्मस्फुटसिद्धान्त' नामक ज्योतिष के ग्रन्थ का रचयिता प्रसिद्ध ज्योतिषी ब्रह्मगुप्त, जिसने शक संवत् ५५० (वि० सं० ६८५=ई० स० ६२८) में अपने ग्रंथ की रचना की, भीनमाल (जोधपुर राज्य में) का निवासी था। 'शिशुपाल-वध महाकाव्य' का कर्त्ता सुप्रसिद्ध माघ कवि भी उसी नगर का रहनेवाला था। 'हरकेलिनाटक' का प्रणेता विग्रहराज (वीसलदेव चौथा) अजमेर का

शिक्षा

चौहान राजा था, जिसकी स्थापित की हुई संस्कृत पाठशाला के भवन को तोड़कर मुसलमानों ने उसके स्थान पर अजमेर में 'ढाई दिन का झोंपड़ा' बनवाया। 'पार्थपराक्रमव्यायोग' का कर्ता प्रल्हादनदेव आबू के परमार राजा धारावर्ष का छोटा भाई था। जालोर (जोधपुर राज्य में) के चौहान राजा उदयसिंह के वैश्य मंत्री यशोवीर को 'कीर्त्तिकौमुदी' के रचयिता गुजरेश्वर-पुरोहित सोमेश्वरदेव ने कालिदास से भी बढ़ कर (?) बतलाया है[1]। 'धर्मामृतशास्त्र' आदि अनेक जैन ग्रंथों का रचयिता बघेरवाल वैश्य आशाधर मंडलकर[2] (मांडलगढ़, उदयपुर राज्य में) का निवासी था। अनेक शिला-लेखों के रचयिता कायस्थ भी पाए जाते हैं[3]। राजपूताने से मिले हुए प्राचीन शिलालेखों से ज्ञात होता है, कि यहां कई अच्छे अच्छे विद्वान् हो गए। यहां विद्या पढ़ाने के लिये किसी प्रकार की फ़ीस नहीं ली जाती थी, परंतु निर्धन विद्यार्थियों को भोजन तथा वस्त्र तक भी गुरु या पाठशाला की तरफ़ से दिये जाते थे।

मुसलमानों के राजपूताने पर हमले होने तथा उनके साथ यहां के राजाओं की लड़ाइयां छिड़ने के समय से यहां पठनपाठन की दशा दिन दिन बिगड़ती ही गई, और क्षत्रिय राजाओं तथा अन्य जातियों में प्राचीन शिक्षा-

---

(१) न माघः श्लाघ्यते कैश्चिन्नाभिनन्दोभिनन्द्यते ।
निष्कलः कालिदासोपि यशोवीरस्य संनिधौ ॥

कीर्त्तिकौमुदी, सर्ग १, श्लो० २६।

(२) श्रीमानस्ति सपादलक्षविषयः शाकंभरीभूषण–
स्तत्र श्रीरतिधाममंडलकरं नामास्ति दुर्गं महत् ।
श्रीरत्न्यामुदपादि तत्र विमलव्याघ्रेरवालान्वया–
च्छ्रीसल्लक्षणतो जिनेंद्रसमयश्रद्धालुराशाधरः ॥

धर्मामृतशास्त्र के अंत की प्रशस्ति, श्लो० १।

(३) इमां प्रशस्तिं नरसिंघनामा चक्रे बुधो गौडमुखाब्जभानुः ।
कायस्थवंशे स्वगुणौघसंपदानंदिताशेषविदग्धलोकः ॥

बांसवाड़ा राज्य के अर्थूणा नामक प्राचीन नगर से मिली हुई परमार राजा चामुंडराज के समय की प्रशस्ति, श्लो० ३७। यह प्रशस्ति अब तक अप्रकाशित है।

प्रणाली का ह्रास होता गया। मुसलमानों के राज्यसमय उनकी राजभाषा फारसी होने के कारण यहां फारसी की पढ़ाई भी कहीं कहीं प्रारंभ हुई, क्योंकि यहां के राजाओं का संबंध शाही दरबार के साथ होने से उनको पत्रव्यवहार फारसी में करना पड़ता था। विशेषकर कायस्थों ने प्रथम संस्कृत पढ़ना छोड़ फारसी पढ़ना प्रारंभ किया।

राजपूताने के साथ अंग्रेज़ों का संबंध होने के पूर्व यहां पर विद्या का प्रचार बहुत ही कम रह गया था। गांवों में पढ़ाई का प्रबंध कुछ भी न था। नगरों में मामूली पढ़ाई जैन यतियों के उपासरों में ही हुआ करती, जहां बाराखरी, पट्टीपहाड़े तथा कुछ हिसाब पढ़ाने के पीछे सिद्धो ('कातंत्र-व्याकरण' का प्रारंभिक संधिप्रकरण) और 'चाणक्य नीति' के श्लोक अशुद्ध रटाए जाते, जिनका आशय विद्यार्थी कुछ भी नहीं समझते थे। ब्राह्मण लोग 'सारस्वत व्याकरण,' कुछ ज्योतिष तथा भागवत आदि पुराण पढ़कर जन्मपत्र, एवं वर्षफल बनाने और कथावाचक का काम चलाते थे। उस समय छापे का प्रचार न होने से धर्मशास्त्र, पुराण, वेद आदि की पुस्तकों का मिलना कठिन था। महाजन लोग अक्षरों का बोध होने और अपने मामूली हिसाब तथा ब्याजबट्टा सीख जाने को ही काफ़ी समझते थे। संयुक्ताक्षर तथा स्वरों की मात्राओं का तो उनको कुछ भी ज्ञान नहीं होता था। वे या तो व्यंजनों को स्वरों की मात्राओं के बिना ही लिखते या बिना आवश्यकता के कोई भी मात्रा चाहे जहां लगा देते, जिससे उनकी लिखावट 'केवळा' (केवल अक्षर-संकेतवाली) कही जाती थी। इसीसे उसमें "काकाजी अजमेर गया" के स्थान में 'काकाजी आज मर गया' पढ़े जाने की लोकोक्ति अब तक प्रसिद्ध है। उनकी १०० वर्ष पूर्व की वहियां इसी तरह लिखी मिलती हैं जिनको पढ़ कर ठीक ठीक अर्थ निकालना कठिन काम है। राजकीय कर्मचारी कुछ शुद्ध हिंदी लिखना अवश्य जानते थे, जैसा कि उनके लिखे हुए तीन सौ वर्ष पूर्व तक के पत्रों से विदित होता है; परंतु उन लोगों को भी ह्रस्व, दीर्घ एवं संयुक्ताक्षरों का यथेष्ट ज्ञान नहीं होता था। राजपूतों में बड़े घरानों के लोग लिखना पढ़ना कुछ सीखते थे। उनमें तथा कितने एक ब्राह्मणों आदि में ब्रजभाषा की कविता पढ़ने और बनाने का शौक़ अवश्य रहा, यही कारण है कि पहले की बनी हुई अनेक कविता की पुस्तकें यहां मिलती हैं। उर्दू

और फारसी की पढ़ाई कहीं कहीं मौलवियों के मक्तबों में हुआ करती थी, और विशेषकर मुसलमान एवं कुछ राजकीय सेवा करनेवाले अहलकार लोग ही उसमें श्रम करते थे। अब तो अंग्रेज़ी राज्य के प्रभाव से नये ढंग की एवं अंग्रेज़ी की पढ़ाई सारे देश में होने लगी है। अजमेर, जयपुर और जोधपुर में कालेज बने कई वर्ष हो चुके। हाईस्कूलें तथा मिडल और प्रारंभिक शिक्षा की पाठशालाएं तो कई चल रही हैं, और कई राज्यों तथा अजमेर के इलाके में लड़कियों की प्रारंभिक शिक्षा भी होती है। उच्च कोटि की विद्या के लिये जयपुर राज्य सर्वोपरि है। वहां के स्वर्गवासी महाराजा रामसिंह ने विद्याप्रेमी होने के कारण अपने राज्य में अंग्रेज़ी, हिंदी, उर्दू एवं संस्कृत की पढ़ाई का उत्तम प्रबंध किया। संस्कृत की आचार्य परीक्षा तक का अध्ययन केवल जयपुर ही में होता है। उक्त महाराजा ने विद्या के साथ कलाकौशल का प्रचार भी अपनी प्रजा में करने के लिये जयपुर में एक अच्छा आर्टस्कूल (कलाभवन) खोला। प्रारंभिक और माध्यमिक शिक्षा के लिये राजपूताने में झालावाड़ राज्य सर्वोपरि है। आमदनी के हिसाब से देखा जाय तो उस राज्य के समान विद्याविभाग में खर्च करनेवाला दूसरा कोई राज्य नहीं है, जिसका एकमात्र कारण वहां के सुयोग्य नरेश महाराजराणा सर भवानीसिंहजी का विद्यानुराग ही है।

भाषा

राजपूताने की प्राचीन राजकीय भाषा संस्कृत थी। विद्वान् लोग अपने ग्रंथों की रचना उसी भाषा में करते और यहां के प्राचीन दानपत्र तथा शिलालेख भी बहुधा उसी भाषा में मिलते हैं, तो भी जनसाधारण की भाषा प्राकृत थी। मौर्यवंशी राजा अशोक का मगध के संघ के नाम का शिला पर खुदा हुआ आदेश जयपुर राज्य के बैराट (? भाब्रू) नगर से मिला है, जो उस समय की प्राकृत में ही है। प्राकृत के एक रूपान्तर से 'अपभ्रंश' भाषा बनी, जिससे हिंदी, गुजराती तथा राजपूताने की भाषाओं की उत्पत्ति हुई। उस भाषा का प्राचीन साहित्य वि० सं० की दसवीं शताब्दी के आसपास से मिलता है। चारण, भाट आदि लोग सर्वसाधारण के लिये अपनी कविता पीछे से उसी भाषा के कुछ परिवर्त्तित रूप में करते रहे, जिसको यहां 'डिंगल' कहते हैं। वि० सं० की १५ वीं शताब्दी के आसपास से यहां व्रजभाषा में भी कविता बनने लग गई थी। वर्तमान समय में यहां बोली जानेवाली

भाषाओं को आधुनिक लेखक 'राजस्थानी' कहते हैं, जो वास्तव में पुरानी हिंदी का ही रूपान्तर है।

यदि राजपूताने के भिन्न भिन्न भागों की भाषाओं के सूक्ष्म विभाग किये जाएं तो उनकी संख्या अनुमान सौ तक पहुंच जाय, परंतु हम उनको निम्न-लिखित मुख्य सात विभागों में ही विभक्त करते हैं—

(१) मारवाड़ी—जोधपुर, जैसलमेर, बीकानेर और शेखावाटी में बोली जाती है।

(२) मेवाड़ी—मेवाड़ के मुख्य हिस्से की भाषा।

(३) वागड़ी—डूंगरपुर, बांसवाड़ा, मेवाड़ के दक्षिणी और दक्षिण-पश्चिमी पहाड़ी प्रदेश (भोमट) तथा सिरोही राज्य के पश्चिमी पहाड़ी विभाग में बोली जाती है। इस भाषा का गुजराती से विशेष संबंध है।

(४) ढूंढाड़ी—जयपुर राज्य के अधिकतर भाग की भाषा है।

(५) हाड़ौती (खैराड़ी)—बूंदी, शाहपुरा और मेवाड़ के पूर्वी हिस्से में बोली जाती है।

(६) मेवाती—अलवर के मेवात प्रदेश की भाषा।

(७) व्रजभाषा—अलवर राज्य के पूर्वी हिस्से, भरतपुर, धौलपुर और करौली में बोली जाती है।

राजपूताने की प्राचीन लिपि ब्राह्मी थी। राजपूताना म्यूज़ियम् (अजमेर) में सुरक्षित वर्ली गांव का शिलालेख जो वीर संवत् ८४ का है, जयपुर राज्य से मिले हुए अशोक के दो लेख, तथा वि० सं० पूर्व की दूसरी शताब्दी के मध्यमिका नगरी (मेवाड़ में) से प्राप्त दो शिलालेख इसी लिपि के हैं।

लिपि

इसी लिपि में परिवर्तन होते होते गुप्तों के समय में जो लिपि प्रचलित हुई उसका नाम गुप्त लिपि हुआ। उसमें परिवर्तन होकर कुटिल लिपि बनी, जिसको केवल चित्रकारी की पूरी निपुणता रखनेवाले ही सुंदरता के साथ लिख सकते थे, क्योंकि उसमें विशेषकर स्वरों की मात्राओं में चित्रकला की आवश्यकता रहती थी। उस लिपि के उदाहरणों में वंसखेड़ा से मिले हुए राजा हर्ष के हर्ष संवत् २२ (वि० सं० ६८५–६ = ई० स० ६२८–६) के दानपत्र के अंत में खुदे हुए राजा के हस्ताक्षर[1], वि० सं० ७१८ (ई० स० ६६१) का मेवाड़ के

(१) ए० इं; जि० ४, पृ० २१० के पास का प्लेट।

राजा अपराजित का शिलालेख[1], वि० सं० ७४६ (ई० स० ६८६) का झालरापाटन से मिला हुआ राजा दुर्गगण का शिलालेख तथा कोटे से कुछ ही मील दूर कणस्वा (कण्वाश्रम) के मंदिर में लगा हुआ वि० सं० ७६५ (ई० स० ७३८) का राजा शिवगण का शिलालेख[2] उल्लेखनीय हैं। वि० सं० की १० वीं शताब्दी के आसपास से उक्त लिपि से नागरी लिपि बनने लगी, जो अब प्रचलित है। मुग़लों के समय में यहां के कितने एक राज्यों के दफ़्तरों में फारसी लिपि का भी प्रवेश हुआ, किंतु प्रजा की जानकारी के संबंध की लिखापढ़ी बहुधा नागरी लिपि में ही होती रही। केवल जयपुर के राजाओं के समय के कुछ शिलालेख तथा पट्टे आदि ऐसे देखने में आए जो फारसी एवं नागरी दोनों लिपियों में लिखे हुए हैं। पीछे से कहीं कहीं उर्दू लिपि में भी लिखापढ़ी होती थी, परंतु प्रजा में तो नागरी का ही प्रचार रहा। इस समय जयपुर, धौलपुर, टोंक और अजमेर-मेरवाड़े की अदालती लिपि उर्दू है, बाक़ी सर्वत्र नागरी का ही प्रचार है। अलवर और झालावाड़ की अदालतों में शुद्ध नागरी और अन्य राज्यों में घसीट नागरी लिखी जाती है।

शिल्प

प्राचीन काल में भारतवर्ष अपने शिल्प के अनुपम सौंदर्य, भव्यता एवं पायदारी के लिये विख्यात था। अशोक के विशाल स्तंभ, उनपर की चमकीली पालिश, उनके सिंहादि आकृतियोंवाले सिरे, एवं सांची और भरहुत आदि के स्तूप, अनुपम सौंदर्य को प्रकट करनेवाले गांधार शैली की तक्षण-कला के भिन्न भिन्न भग्नावशेष पहाड़ों को काट काट कर बनाई हुई कार्ली आदि की अनेक भव्य गुफाएं, अनेक प्राचीन मंदिर तथा मूर्त्तियां आदि शिल्पकला के अनुपम नमूने—जो विधर्मियों के द्वारा नष्ट होने से बच गये या टूटी फूटी दशा में मिले हैं—उनके निर्माताओं के असाधारण शिल्पज्ञान, कार्यकुशलता और खुदाई के काम में सुंदरता एवं बारीकी लाने के अद्भुत हस्तकौशल का परिचय देकर शिल्प के धुरंधर ज्ञाताओं को मुग्ध किये बिना नहीं रहते।

जब से राजपूताने पर मुसलमानों के हमले होने लगे तभी से वे समय समय पर धर्म-द्वेष के कारण यहां के सुंदर मंदिरों आदि को नष्ट करते रहे,

(१) ए० इं०; जि० ४, पृ० ३० के पास का प्लेट।

(२) इं. एं; जि० १६, पृ० ५८ के पास का प्लेट।

इसलिये १२०० वर्ष से अधिक पूर्व के शिल्प के उत्तम नमूने यहां विरले ही रह गये हैं, तिसपर भी इस देश में कई भव्य प्रासाद आदि अब तक ऐसे विद्यमान हैं, जिनकी बनावट और सुंदरता देखने से पाया जाता है कि प्राचीन काल में यहां भी भारत के अन्यान्य प्रदेशों के समान तक्षणकला बहुत उन्नत दशा में थी। महमूद ग़ज़नवी जैसा कट्टर विधर्मी मथुरा के मंदिरों की प्रशंसा किये बिना न रह सका। उसने अपने ग़ज़नी के हाकिम को लिखा कि "यहां (मथुरा में) असंख्य मंदिरों के अतिरिक्त १००० प्रासाद मुसलमानों के ईमान के सदृश दृढ़ हैं। उनमें से कई तो संगमरमर के बने हुए हैं, जिनके बनाने में करोड़ों दीनार खर्च हुए होंगे। ऐसी इमारतें यदि २०० वर्ष लगें तो भी नहीं बन सकतीं[1]"। बाड़ोली (मेवाड़ में) के प्रसिद्ध प्राचीन मंदिर की तक्षणकला की प्रशंसा करते हुए कर्नल टॉड ने लिखा है कि "उसकी विचित्र और भव्य बनावट का यथावत् वर्णन करना लेखनी की शक्ति के बाहर है। यहां मानों हुनर का ख़ज़ाना खाली कर दिया गया है। उसके स्तंभ, छतें और शिखर का एक एक पत्थर छोटे से मंदिर का दृश्य बतलाता है। प्रत्येक स्तंभ पर खुदाई का काम इतना सुंदर और बारीकी के साथ किया गया है कि उसका वर्णन नहीं हो सकता। यह मंदिर सैकड़ों वर्षों का पुराना होने पर भी अब तक अच्छी स्थिति में खड़ा है[2]"। मंत्री विमलशाह और वस्तुपाल के बनवाए हुए आबू पर के मंदिर भी अनुपम हैं। कर्नल टॉड ने, अपनी 'ट्रैवल्स इन् वेस्टर्न इंडिया' नाम की पुस्तक में विमलशाह के मंदिर के विषय में लिखा है कि 'हिंदुस्तान भर में यह मंदिर सर्वोत्तम है और ताजमहल के सिवा कोई दूसरा स्थान इसकी समता नहीं कर सकता'। वस्तुपाल के मंदिर के संबंध में भारतीय शिल्प के प्रसिद्ध ज्ञाता मि० फर्गुसन ने 'पिक्चरस् इलस्ट्रेशन्स् ऑफ् एन्श्यंट आर्किटेक्चर इन् हिंदुस्तान' नामक पुस्तक में लिखा है कि 'इस मंदिर में, जो संगमरमर का बना हुआ है, अत्यंत परिश्रम सहन करनेवाली हिंदुओं की टांकी से फ़ीते जैसी बारीकी के साथ ऐसी मनोहर आकृतियां बनाई गई हैं,

---

(१) ब्रिग; फ़िरिश्ता; जिल्द १, पृ० ५८-५९।

(२) टॉड; राज; जि० ३, पृ० १७५२-५३ (ऑक्सफर्ड संस्करण)। इस मंदिर की कारीगरी के लिये देखो उसी पुस्तक में पृ० १७५२ से १७६० तक दिये हुए चित्र।

कि उनकी नक़ल काग़ज़ पर बनाने में कितने ही समय तथा परिश्रम से भी मैं सफल नहीं हो सकता'। ऐसे ही चित्तोड़ का महाराणा कुंभा का कीर्तिस्तंभ एवं जैन स्तंभ, आबू के नीचे की चंद्रावती और झालरापाटन के मंदिरों के भग्नावशेष भी अपने बनानेवालों का अनुपम शिल्पज्ञान, कौशल, प्राकृतिक सौंदर्य तथा दृश्यों का पूर्ण परिचय और अपने काम में विचित्रता एवं कोमलता लाने की असाधारण योग्यता प्रकट करते हैं, इतना ही नहीं किंतु ये भव्य प्रासाद परम तपस्वी की भांति खड़े रहकर सूर्य का तीक्ष्ण ताप, पवन का प्रचंड वेग और पावस की मूसलधार वृष्टियों को सहते हुए आज भी अपना मस्तक ऊंचा किये, अटल रूप में ध्यानावस्थित खड़े, दर्शकों की बुद्धि को चकित और थकित कर देते हैं। इन थोड़े से उपरोक्त स्थानों के अतिरिक्त राजपूताने में और भी अनेक कलाकौशल के उज्ज्वल उदाहरणरूप स्थान विद्यमान हैं जिनका वर्णन हम आगे यथाप्रसंग करेंगे। इसी तरह मुसलमानों के इस देश पर अधिकार करने के पूर्व की सुंदर खंडित मूर्तियां जो मथुरा, कामां (भरतपुर-राज्य में), राजोरगढ़ (अलवर राज्य में), हर्षनाथ के मंदिर (जयपुर राज्य के शेखावाटी प्रदेश में), हाथमा (जोधपुर राज्य में), बघेरा (अजमेर ज़िले में); नागदा, घौड़, बाड़ोली, मैनाल (चारों उदयपुर राज्य में), वड़ौदा (डूंगरपुर राज्य की पुरानी राजधानी), तलवाड़ा (बांसवाड़ा राज्य में) आदि कई स्थानों से मिली हैं, उनको देखने से यही प्रतीत होता है कि मानों कारीगर ने उनमें जान ही डाल दी हो। मुसलमानों का इस देश पर अधिकार होने के पीछे तक्षण-कला में क्रमशः भद्दापन ही आता गया।

पाषाण की शिल्पकला के समान ही सोने, चांदी, पीतल आदि की ठोस या पोली प्राचीन मूर्त्तियां एवं लोहे के त्रिशूल, स्तंभ आदि जो, पुराने मिल आते हैं, शिल्पकला के उत्तम नमूने हैं। दिल्ली का लोहस्तंभ—जिसको 'कीली' या 'लोह की लाट' कहते हैं और जो वि० सं० की पांचवीं शताब्दी में राजपूताने पर भी राज करनेवाले राजा चंद्र (गुप्तवंशी चंद्रगुप्त द्वितीय) ने विष्णुपद नाम की पहाड़ी पर विष्णु के ध्वज (गरुडध्वज) के निमित्त बनवाकर खड़ा कराया था—इतना सुंदर, विशाल और अनुपम है कि इस बीसवीं शताब्दी में भी दुनिया भर का बड़े से बड़ा कोई भी लोहे का कारखाना ऐसा स्तंभ घड़कर नहीं बना सकता।

शहाबुद्दीन गोरी ने अजमेर पर अधिकार किया उस समय तक तो राजपूताने में शिल्प के काम प्राचीन हिन्दू शैली के ही बनते थे, परंतु पीछे से मुसलमानों के बनवाए हुए मसजिद आदि स्थानों में मुसलमानी (सारसेनिक्) शैली का मिश्रण होने लगा। यह मिश्रण सब से पहले अजमेर की 'ढाई दिन का झोंपड़ा' नाम की मसजिद में, जो वि० सं० १२५६ से १२७० (ई० स० ११९९ से १२१३) तक चौदह वर्षों में बनी थी, पाया जाता है। इसकी पश्चिम की ओर की दीवार में बने हुए संगमरमर के इमामगाह के महराब में, तथा पूर्व की तरफ की सात महराबवाली दीवार में—जहां मध्य के बड़े महराब के किनारों पर कुरान की आयतें, कूफ़ी लिपि के लेख और अन्यत्र सुंदर खुदाई का काम है—मुसलमानी शैली पाई जाती है। इन अंशों को छोड़कर बाकी का बहुधा सारा काम हिन्दू शैली का है, जिसमें हिन्दुओं के मंदिरों के स्तंभ, गुंबज आदि ज्यों के त्यों लगाए गए हैं। अजमेर के 'मेगज़ीन' नामक स्थान के मध्य में पीले पत्थर का सुंदर भवन, जो बादशाह अकबर ने बनवाया था, बहुधा हिन्दू शैली का ही है। उसकी दीवारों के ताकों आदि में मुसलमानी शैली का मिश्रण है। वि० सं० की १८ वीं शताब्दी के आसपास के बने हुए यहां के राजाओं के महलों तथा नगरों में रहनेवाले श्रीमंतों की हवेलियों आदि में भी कहीं कहीं मुसलमानी शैली का कुछ मिश्रण पाया जाता है।

राजपूताने का संबंध अंग्रेज़ों के साथ होने के पीछे यहां पर जो ईसाइयों के गिरजे बने वे अंग्रेज़ी शैली के हैं। अब तो राजाओं के महलों आदि में अंग्रेज़ी शैली भी प्रवेश होने लगी है।

चित्रकला

शिल्प के समान चित्रकला भी प्राचीन भारत में बहुत बढ़ी चढ़ी थी। मिस्टर ई. बी. हैवेल ने, जो भारतीय तक्षण और चित्रकला के असाधारण ज्ञाता हैं, अपनी पुस्तक 'इंडियन स्कल्पचर्स् ऐंड पेंटिंग्ज़' (भारतीय तक्षण और चित्रकला) में लिखा है कि "वन और वृक्षावली में बहते हुए पवन, प्रकृति देवी के बनाए हुए हिमालय के जलप्रपात, उदयास्त होते हुए सूर्यबिंब की शक्ति और सौंदर्य, मध्याह्न के चमकते हुए प्रकाश और उष्णता, पूर्वी देशों की निर्मल चांदनी रातों, पावस ऋतु में छाए हुए घटाटोप बादलों, आंधियों की प्रचंडता, बिजली की चमक, बादल की गरज तथा प्राणप्रद वर्षाकाल की आनंदवर्धक बूंदों के दृश्यों को अपने चित्रों में दरसाना हिंदू

लोग भली भांति जानते थे[1]"।

उन्होंने यह भी लिखा है कि "यूरोपियन चित्र मानो पंख कटे हुए हों ऐसे प्रतीत होते हैं, क्योंकि वे लोग केवल पार्थिव सौंदर्य का चित्रण जानते थे। भारतीय चित्रकला अंतरिक्ष में ऊंचे उठे हुए दृश्यों को नीचे पृथ्वी पर लाने के भाव और सौंदर्य को प्रकट करती है"। बड़े ही भावपूर्ण एवं अनुपम चित्र अनुमान १४०० वर्ष पूर्व के बने हुए अजंटा (हैदराबाद राज्य में) की गुफाओं में अब तक विद्यमान हैं, और इतना समय बीतने पर भी उनके रंग की चमक-दमक आज भी वैसी ही चटकीली होने से बीसवीं शताब्दी के यूरोपियन कला-कौशलधारी चित्रकार भी भारत के इन प्राचीन चित्रों के सम्मुख सिर झुकाते हैं।

यद्यपि राजपूताने में अब तक इस कला को प्रकाशित करनेवाले इतने प्राचीन चित्र नहीं मिले तो भी अनुमान ४०० वर्ष पूर्व तक के बने हुए चित्रों के सौंदर्य को देखते हुए अनुमान हो सकता है कि यह कला भी पहले यहां अच्छी दशा में थी।

राजपूताने में प्राचीन चित्रों के संग्रह राजाओं, सरदारों तथा कई गृहस्थों के यहां विद्यमान हैं। उनमें विशेषकर अनेक देवी-देवताओं, राजाओं, सरदारों वीर एवं धनाढ्य पुरुषों, धर्माचार्यों, राजाओं के दरबारों, सवारियों, तुलादानों, राजमहलों, जलाशयों, उपवनों, रणखेत की लड़ाइयों, शिकार के दृश्यों, पर्वतों की छटाओं; महाभारत, रामायण आदि के कथाप्रसंगों; साहित्य शास्त्र के नायक-नायिकाओं, रसों, ऋतुओं, राग-रागिनियों आदि के चित्रण मुख्य हैं। ये चित्र बहुधा मोटे कागज़ों पर बने हुए मिलते हैं। राजाओं के यहां ऐसे संग्रह छूटे पत्रों की हस्तलिखित पुस्तकों के समान ऊपर नीचे लकड़ी की पाटियां रखकर कपड़े के वेष्टनों में बंधे रहते हैं, जिनको 'जोतदान' कहते हैं। ऐसे छूटे चित्रों के अतिरिक्त कामशास्त्र या नायक-नायिका-भेद के लिखित ग्रंथों, 'गीतगोविंद' आदि पुस्तकों, शृंगार रस आदि की वार्ताओं एवं जैन धर्म की विविध कथाओं की हस्तलिखित पुस्तकों में भी प्रसंग प्रसंग पर उनके भाव-सूचक सुन्दर चित्र मिलते हैं। ऐसे ही राजाओं के महलों, गृहस्थों की हवेलियों आदि में दीवारों पर तथा कई मंदिरों की छतों और गुंबजों में भी समय समय

(१) पृ० ८८।

के भिन्न भिन्न चित्रांकन देखने में आए। देशभेद के अनुसार चित्रशैली में भिन्नता पाई जाती है। राजपूताने में जो प्राचीन चित्र मिलते हैं, वे बहुधा यहां की अर्थात् राजपूत शैली के हैं। आजकल कोई कोई विद्वान् यह भी मानने लग गए हैं कि राजपूत शैली के चित्रों पर मुग़ल शैली का प्रभाव पड़ा है और राग-रागिनियों के चित्रों की कल्पना मुसलमानों की है, परंतु वास्तव में बात इससे उल्टी ही है। अनेक देवी-देवताओं; विष्णु, शिव और देवी के भिन्न भिन्न अवतारों या रूपों, वेद, अग्नि, ऋतु, आयुध[1], ग्रह[2], युग, प्रभात, मध्याह्न आदि समयविभागों तथा नक्षत्रों[3] तक की मूर्त्तियों की कल्पना हिंदुओं ने की, जिसके अनुसार उनकी मूर्तियां या चित्र भी बने। मुसलमानों में उनके धार्मिक सिद्धान्तों के अनुसार मूर्तियों एवं चित्रों का बनाना निषिद्ध था। बादशाह अकबर के धर्मसंबंधी विचार पलटे और उसने इस्लाम के स्थान पर 'दीन-इ-इलाही' नाम का नया धर्म और हिजरी सन् के बदले 'इलाही सन्' चलाने का प्रयत्न किया, तभी से मुग़ल शैली के चित्र यहां बनने लगे हैं। हिन्दुओं में तो चित्रकला बहुत प्राचीन काल से बड़ी उन्नति को पहुंच चुकी थी और ऋतु, रस आदि के चित्र या मूर्तियां बनती थीं। ऐसी दशा में चित्रण की राजपूत शैली पर मुग़ल शैली का प्रभाव पड़ना एवं राग-रागिनियों आदि के चित्रों की कल्पना मुसलमानों की मानना असंगत ही है।

राजपूताने के बने हुए पुराने चित्रों के रंग की चमक भी अब तक वैसी ही है कि मानों वे आज ही खींचे गए हों। अब तो यहां की चित्रकला पर यूरोप की चित्रकला का प्रभाव पड़ने लग गया है। जयपुर के कलाभवन (आर्ट स्कूल) में अन्य विषयों के अतिरिक्त चित्रकला भी सिखाई जाती है,

---

(१) ऋतु और आयुधों की मूर्तियां चित्तोड़ पर के महाराणा कुंभकर्ण (कुंभा) के बनवाए हुए कीर्तिस्तंभ में खुदी हुई हैं और उनके ऊपर या नीचे उनके नाम भी खुदे हैं।

(२) नवग्रहों की मूर्तियां भारत के भिन्न भिन्न विभागों में मिलती हैं और राजपूताना म्यूज़ियम् (अजमेर) में भी रक्खी हुई हैं।

(३) अजमेर के 'ढाई दिन के झोंपड़े' में खुदाई करते समय एक शिलाखंड मिला जिसपर मूर्तियों की दो पंक्तियां बनी हैं। ऊपर की पंक्ति में कलि, प्रभात, प्रात, मध्याह्न, अपराह्ण और संध्या की मूर्तियां हैं और प्रत्येक मूर्ति के ऊपर उसका नाम खुदा हुआ है। नीचे की पंक्ति में मघा, पूर्वफाल्गुन, उत्तरफाल्गुन, हस्त, चित्र, स्वाति और विशाख की मूर्तियां हैं, जिनके नीचे उनके नाम खुदे हुए हैं।

परंतु विशेषकर यूरोप की शैली से। राजपूताने में चित्रकला की शिक्षा का केवल यही एक स्थान है।

यहां के चित्रों के काम में आनेवाले सब प्रकार के रंग पहले यहीं बनते थे, परंतु उनके बनाने में श्रम अधिक होने और यूरोप आदि के बने बनाए रंग, चाहे वे उतने स्थायी न हों, आसानी के साथ मिल जाने के कारण यहां के चित्रकार अब उन्हीं विदेशी रंगों का उपयोग करने लगे हैं, जिससे यहां का रंगसाज़ी का व्यवसाय भी अन्य व्यवसायों की भांति नष्ट हो गया।

संगीत

यों तो प्राचीन भारत सब प्रकार की विद्या एवं कलाकौशल में बड़ी उन्नति कर ही चुका था, परंतु संगीत-कला[1] में तो इस देश ने सब से अधिक कौशल प्राप्त किया था। सामवेद का एक भाग गान है जो 'सामगान' नाम से प्रसिद्ध है और वैदिक यज्ञादि में प्रसंग प्रसंग पर सामगान होता था। अर्वाचीन वैज्ञानिकों ने जिन जिन बातों से संगीत का महत्त्व माना है वे सभी वैदिक काल में यहां विद्यमान थीं। उस समय कई प्रकार की वीणा, झांझ, बंसी, मृदंग आदि वाद्य काम में आते थे। वैदिक साहित्य में भिन्न भिन्न प्रकार की वीणाओं के नाम 'वीणा[2]', 'कांडवीणा[3]' और 'कर्करी[4]' आदि मिलते हैं। झांझ को 'आघाटि[5]' या 'आघाट[6]' कहते थे और इस वाद्य का प्रयोग नृत्य के समय होता था[7]। बंसी के नाम 'तूणव[8]' और 'नाडी[9]' मिलते हैं। मृदंग आदि चमड़े से मढ़े हुए वाद्य 'आडंबर[10]', 'दुंदुभि[11]', 'भूमि-

---

(१) गीत (गाना), वाद्य (बजाना) और नृत्य (नाचना) इन तीनों को संगीत कहते हैं। "गीतं वाद्यं तथा नृत्यं त्रयं संगीतमुच्यते" (संगीतरत्नाकर; अध्याय १, श्लोक २१)

(२) तैत्तिरीय संहिता (६।१।४।१)। काठक संहिता (३४।५)

(३) काठक संहिता (३४।५)

(४) ऋग्वेद (२।४३।३)। अथर्ववेद (४।३७।४)

(५) ऋग्वेद (१०।१४६।२)

(६) अथर्ववेद (४।३७।४)

(७) ए. ए. मैकडॉनल और ए. बी. कीथ; 'वैदिक इंडेक्स'; जि० १, पृ० ५३।

(८) तैत्तिरीय संहिता (६।१।४।१)। मैत्रायणी संहिता (३।६।८)

(९) ऋग्वेद (१०।१३५।७)। काठक संहिता (३३।४; ३४।५)

(१०) वाजसनेयि संहिता (३०।१९)

(११) ऋग्वेद (१।२८।५; ६।४७।२९)। अथर्ववेद (५।२०।१)

दुंदुभि[1] इत्यादि नामों से प्रसिद्ध थे। आधुनिक वैज्ञानिकों का मत है कि भारतीय मृदंग आदि बाजे तक वैज्ञानिक सिद्धान्त पर बनाए जाते थे। पाश्चात्य विद्वानों का मानना है कि तार के वाद्यों का प्रचार उसी जाति में होना संभव है जिसने संगीत में पूर्ण उन्नति कर ली हो। तंतुवाद्यों में वीणा सर्वोत्तम मानी गई है और वैदिक काल में यहां उसका बहुत प्रचार होना यही बतलाता है कि संगीतकला ने उस समय भी बड़ी उन्नति कर ली थी जब कि संसार की बड़ी बड़ी जातियां सभ्यता के निकट भी नहीं पहुंचने पाई थीं।

ऐनी विल्सन साहिबा लिखती हैं कि "हिंदुओं को इस बात का अभिमान करना चाहिये कि उनकी संगीतलेखन-शैली (Notation) संसार भर में सब से पुरानी है[2]"। सर विलियम हंटर का कथन है कि "संगीत-लिपि (Notation) भारत से ही ईरान में, फिर अरब में और वहां से ई० स० की ११ वीं शताब्दी में यूरोप में पहुंची[3]"। यही मत प्रोफ़ेसर वेबर का भी है[4]।

प्राचीन काल में भारत के राजा आदि संगीत के ज्ञान को बड़े गौरव का विषय समझते थे और अपनी संतान को इस कला की शिक्षा दिलाते थे। पांडव वनवास के पीछे एक वर्ष के अज्ञात वास के लिये राजा विराट के यहां भेष बदलकर भिन्न भिन्न नामों से सेवक बनकर रहे थे। उस समय अर्जुन ने अपने को बृहन्नला नामक नपुंसक प्रकट कर राजा विराट की पुत्री उत्तरा को संगीत सिखलाने की सेवा स्वीकार की थी[5]। पांडुवंशी जनमेजय का

---

(१) तैत्तिरीय संहिता (७ । ५ । ६ । ३)। काठक संहिता (३४ । ५)

(२) 'शॉर्ट अकाउंट ऑफ़ दी हिंदू सिस्टम ऑफ़ म्यूज़िक्'; पृ० ५ ।

(३) 'इंडियन गैज़ेटियर; इंडिया, पृ० २२३ ।

(४) 'इंडियन लिटरेचर'; पृ० २७२ ।

(५) *नृत्यामि गायामि च वादयाम्यहं प्रानर्तने कौशलनैपुणं मम ।*
तदुत्तरायाः परिधत्स्व नर्तने भवामि देव्या नरदेव नर्तकी ॥ १८ ॥
संमन्त्र्य राजा विविधैः स्वमन्त्रिभिः परीक्ष्य चैनं प्रमदाभिराशु वै ।
अपुंस्त्वमप्यस्य निशम्य च स्थिरं ततः कुमारीपुरमुत्ससर्ज तं ॥ २२ ॥
स शिक्षयामास च गीतवादनं सुतां विराटस्य धनंजयः प्रभुः ।
सखीश्च तस्याः परिचारिकास्तथा प्रियश्च तस्याः स बभूव पाण्डवः ॥ २३ ॥
महाभारत; विराटपर्व, अध्याय ११ (बंबई का निर्णयसागर संस्करण)

प्रपौत्र उदयन, जिसको वत्सराज भी कहते थे, यौगन्धरायण आदि मंत्रियों पर राज्यभार डालकर वीणा बजाने और मृगयादि विनोद में सदा लगा रहता था। वह अपनी वीणा के मधुर स्वर से हाथियों को वश कर वनों में से उनको पकड़ लाया करता था। एक समय अपने शत्रु उज्जैन के राजा चंडमहासेन (प्रद्योत) के हाथ से वह क़ैद हुआ और संगीत-कला में बड़ा निपुण होने के कारण चंडमहासेन ने उसे अपनी पुत्री वासवदत्ता को संगीत सिखाने के लिये नियत किया। उसी प्रसंग में उनके बीच प्रेमबंधन जुड़ गया जिससे वह वासवदत्ता को लेकर अपनी राजधानी को भाग गया[1]। इन दो ही उदाहरणों से स्पष्ट है कि प्राचीन काल के राजा संगीत-प्रिय होते थे और संगीत-वेत्ताओं को सादर अपने यहां रखकर इस कला की उन्नति करते थे। राजा कनिष्क के दरबार का प्रसिद्ध कवि अश्वघोष धुरंधर गायनाचार्य भी था। गुप्तवंशी राजा समुद्रगुप्त अपने प्रयाग के स्तंभ-लेख में अपने को संगीत में तुंबुरु और नारद से बढ़कर बतलाता है[2], और उसके एक प्रकार के सिक्कों पर वाद्य बजाते हुए उसी राजा की मूर्त्ति बनी है[3]। विक्रम संवत् की ५ वीं शताब्दी में ईरान के बादशाह बहराम गोर का हिंदुस्तान पर आक्रमण करना और यहां से १२००० गवैयों को नौकरी के लिये ईरान भेजना वहां के इतिहास में लिखा मिलता है[4]।

संगीत के विषय के अनेक संस्कृत ग्रंथ उपलब्ध हैं। वि० सं० की १३ वीं शताब्दी के अंत के आसपास देवगिरि के यादव राजा सिंघण के दरबार के प्रसिद्ध संगीताचार्य शार्ङ्गदेव ने 'संगीतरत्नाकर' नामक ग्रंथ लिखा, जिसमें उसने अपने पूर्व के इस विषय के कई आचार्यों का नामोल्लेख किया है, जिनमें भोज (परमार), परमर्दि, सोमेश (सोमेश्वर चौहान) आदि कई राजाओं के भी नाम हैं[5]।

---

(१) गौ. ही. ओ; सो. प्रा. इ; पृ. ४७-४८ के टिप्पण।

(२) *निशितविदग्धमतिगांधर्व्वललितैर्व्रीडितत्रिदशपतिगुरुतुंबुरुनारदादेर्व्विद्वज्जनो°* (फ्ली; गु. इं; पृ० ८)

(३) जॉ. ऐ; कॉ. गु. डा; पृ० १८-२०; और प्लेट ४, संख्या १-८।

(४) माल्कम; 'हिस्टरी ऑफ़ पर्शिया'; पृ० २२०।

(५) *रुद्रटो नान्यभूपालो भोजभूवल्लभस्तथा ।*
परमर्दी च सोमेशो जगदेक(व)महीपतिः ॥ १८ ॥

'संगीतरत्नाकर;' अध्याय १।

कप्तान डे ने लिखा है[1] कि "मुसलमानों के यहां आने से कुछ पूर्व का समय भारतीय संगीत के लिये सर्वोत्तम रहा"। जब से भक्तिमार्ग की उपासना प्रचलित हुई तब से संगीत में और भी उन्नति होती रही।

मुसलमानों के समय से उत्तर भारत के संगीत में परिवर्त्तन होने लगा, गायन-शैली पलटती गई, गान में शृंगार रस प्रधान होने लगा और भिन्न भिन्न स्थानों के रागों का मिश्रण होता गया। ऐसे रागों में राजपूताने के मारव (मारवा) और माड भी मिल गये। ये राग क्रमशः मारवाड़ और जैसलमेर[2] के थे। वीणा में परिवर्तन होकर उसके सूक्ष्म रूप सितार[3] का प्रादुर्भाव हुआ और अन्य वादित्र भी बने। अरब और ईरान के 'दिलरुबा', 'क़ानून' आदि बाजों का भी प्रचार हुआ, परंतु वीणा का महत्त्व सदा सर्वोपरि ही बना रहा।

वि० सं० १४६० (ई० स० १४३३) में मेवाड़ के राज्यसिंहासन पर महाराणा कुंभकर्ण (कुंभा) आरूढ हुए। ये संगीत-शास्त्र के धुरंधर विद्वान् थे। इनके रचे हुए दो ग्रंथ 'संगीतमीमांसा' और 'संगीतराज' उपलब्ध हुए हैं[4]। इनके पौत्र महाराणा संग्रामसिंह (सांगा) के पुत्र भोजराज की स्त्री मीरांबाई, जो भगवद्भक्ति के लिये भारत भर में प्रसिद्ध है, कविता करने एवं गानविद्या में निपुण थी। उसका बनाया हुआ 'मीरांबाई का मलार' नामक राग अब तक प्रचलित है। वि० सं० की १६ वीं शताब्दी के मध्य में ग्वालियर के तोमरवंशी (तंवर) राजा मानसिंह संगीत के लिये प्रसिद्ध हुए। ये संकीर्ण (मिश्र) रागों को अधिक महत्त्व देते थे। इन्होंने अपनी गूजरी राणी (मृगनयनी) के नाम पर 'गूजरी', 'बहुल गूजरी', 'माल गूजरी' और 'मंगल गूजरी' राग बनाए[5]। इनका रचा हुआ 'मानकुतूहल' नामक संगीत का ग्रंथ रामपुर के राजकीय पुस्तकालय में सुरक्षित है। इन्हींके समय में ध्रुपद गाने की शैली प्रचलित हुई जो शीघ्र ही चारों ओर फैल गई।

---

(१) 'म्यूज़िक् ऑफ़ सदर्न इंडिया'; पृ. ३।

(२) प्राचीन शिलालेखों में जैसलमेर राज्य का नाम 'माड' मिलता है और वहां के लोग उसे अभी तक 'माड' ही कहते हैं। वहां की स्त्रियां बहुधा माड ही गाती हैं।

(३) वीणा पर से सितार किस ने बनाई यह अनिश्चित है तो भी अमीर खुसरो इसका निर्माता माना जाता है।

(४) ऑ; कै. कै; भाग १, पृ० १११।

(५) क; आ. स. इं; जि. २, पृ० ६३-६४।

अकबर के दरबार में हिन्दू और मुसलमान गवैयों के जमघट में ध्रुपद ही अधिक गाया जाता था। इस समय तक ईरानी राग भी मुसलमानों में प्रचलित हो गए थे और यहां के कई पुराने रागों के मुसलमानी नाम भी रख लिये गए थे, जैसे कि देवगांधार का नाम 'रहाई', कानड़े का 'निशावर', सारंग का 'माहुर' आदि[1]। मुग़लों के समय में भी राजपूताने के राजाओं में संगीत का प्रेम पूर्ववत् बना रहा जिससे उनके आश्रित विद्वान् गायकों के बनाए हुए संगीत विषयक कई ग्रंथ मिलते हैं। अकबर के समय कछवाहा राजा भगवंतदास के पुत्र माधवसिंह[2] ने खानदेश से पुंडरीक विट्ठल को अपने यहां बुलाया जिसने वहां रहते समय 'रागमंजरी' नामक ग्रंथ लिखा। फिर पुंडरीक का प्रवेश अकबर के दरबार में हुआ जहां उसने 'नृत्यनिर्णय[3]' लिखा। अकबर के दरबार के प्रसिद्ध गायक तानसेन के वंशज अब तक जयपुर राज्य के आश्रित चले आते हैं। बीकानेर के महाराजा अनूपसिंह (अनोपसिंह) के दरबार के पंडित भावभट्ट ने 'अनूपांकुश', 'अनूपसंगीतविलास' और 'अनूपरत्नाकर' नामक संगीत-ग्रंथों की रचना की। भावभट्ट का पिता जनार्दनभट्ट शाहजहां के दरबार का गवैया था। अकबर के पीछे जहांगीर और शाहजहां के दरबार में संगीतवेत्ताओं का आदर रहा, परंतु औरंगज़ेब ने संगीत की चर्चा ही रोक दी, जिससे शाही दरबार के बहुतसे गवैयों ने राजपूताने के राजाओं के यहां आश्रय पाया। संभव है कि भावभट्ट औरंगज़ेब के समय ही बीकानेर में आ

---

(१) *रहायी देवगांधारे कानरे च निशावरः ।*
सारंगे माहुरो नाम जंगूलोऽथ बंगालके ॥

पुंडरीक विट्ठलकृत 'रागमंजरी'; पृ० १६।

'रागमंजरी' में इस प्रकार १५ रागों के मुसलमानी नाम दिये हैं।

(२) *श्रीमन्माधवसिंहराजरुचिदा शृंगारहारा सभा ॥ ६ ॥*
अगणितगणकचिकित्सकवेदान्तन्यायशब्दशास्त्रज्ञाः ।
दृश्यन्ते बहवः संगीती नात्र दृश्यतेऽप्येकः ॥ ७ ॥
इत्युक्ते माधवे सिंहे विट्ठलेन द्विजन्मना ।
नत्वा गणेश्वरं देवं रच्यते रागमंजरी ॥ ८ ॥

'रागमंजरी', पृ. २।

(३) 'रागमंजरी' की मराठी भूमिका, पृ० २।

रहा हो। जयपुर के महाराजा प्रतापसिंह के दरबार में बहुतसे गवैये नौकर थे, और उक्त महाराजा की आज्ञा से 'संगीतसार' नामक बृहत् ग्रंथ लिखा गया था। मुग़ल-साम्राज्य के अस्त होने पर राजपूताने के राजाओं ने संगीत को अपनाया और अनेक गायकों को आश्रय दिया, इसीसे यहां अब तक थोड़ा बहुत संगीत रह गया है।

संगीत का एक अंश नृत्य (नाचना) था, जो भारत में अत्यन्त प्राचीन काल से वैज्ञानिक पद्धति पर किया जाता था। वि० सं० पूर्व की छठी शताब्दी में पाणिनि ने 'अष्टाध्यायी' की रचना की उस समय भी शिलाली और कृशाश्व के 'नटसूत्र' (नाट्यशास्त्र) विद्यमान थे[1]। भरत का 'नाट्यशास्त्र' सुप्रसिद्ध है; उसके अतिरिक्त दंतिल, कोहिल आदि के नाट्य के नियमों के कई ग्रंथ मिलते हैं। नाट्यशास्त्र के नियमों के आधार पर भास, कालिदास आदि अनेक कवियों के सैकड़ों नाटकों की रचना हुई। शिवजी का उद्धत नृत्य 'तांडव' और पार्वती आदि का मधुर एवं सुकुमार नृत्य 'लास्य' कहलाया। स्त्रियों के नृत्य का लास्य में समावेश होता है।

मुग़लों के समय से राजपूताने में परदे का प्रचार बढ़ने से नृत्यकला की अवनति होती गई, तो भी राजा से रंक तक की स्त्रियों में नाचने की प्रथा अब तक चली आती है और विवाह आदि प्रसंगों पर वे नाचती हैं, परंतु नृत्य की प्राचीन शैली तो लुप्तसी हो गई है। अब तो प्राचीन शैली का नृत्य दक्षिण के तंजोर आदि स्थानों में तथा कहीं कहीं अन्यत्र पाया जाता है।

राजपूताने में भारतवर्ष के अन्य प्रदेशों के समान प्राचीन काल में सोने चांदी और तांबे के सिक्के चलते थे। सोने के सिक्कों के प्राचीन नाम सुवर्ण, निष्क, शतमान, पल, दीनार, गद्याणक आदि; चांदी के सिक्कों के पुराण, धरण, पाद, पदिक (फदैया या फदीया), द्रम्म, रूपक, टंक आदि, और तांबे के सिक्कों के नाम कार्षापण, पण, काकिणी आदि मिलते हैं। राजपूताने से मिलनेवाले सबसे पुराने सिक्के चांदी और तांबे के हैं, जो दूसरे प्रदेशों के सिक्कों के समान प्रारंभ में चौकोर और पीछे से गोल भी बनने लगे थे। इन पर कोई लेख नहीं होता, किंतु मनुष्य, पशु, पक्षी, सूर्य, चंद्र, धनुष, बाण, स्तूप, बोधिद्रुम, स्वस्तिक, वज्र, पर्वत (मेरु), नदी (गंगा) आदि धार्मिक

सिक्के

(१) गौ० ही० ओ; भा० प्रा० लि; पृ० ७, टिप्पण ६।

संकेत एवं अनेक अन्य चिह्न अंकित होते थे, जिनमें से कई एक का वास्तविक आशय ज्ञात नहीं होता।

राजपूताने में सब से पुराने लेखवाले तांबे के सिक्के 'मध्यमिका' नामक प्राचीन नगर से मिले हैं, जिनपर "मझमिकाय शिबिजनपदस[1]" (शिबि देश के मध्यमिका नगर का सिक्का) लेख है। ये सिक्के वि० सं० के पूर्व की तीसरी शताब्दी के आस पास के हों ऐसा उनपर के लेख की लिपि से अनुमान होता है। उसी समय के आसपास के मालव जाति के तांबे के सिक्के जयपुर राज्य के 'नगर' (कर्कोटक नगर) से मिले हैं, जिनपर 'मालवानां जय' या 'जय मालवानां[2]' (मालवों की जय) लेख है। ये सिक्के मालव गण या मालव जाति की विजय के स्मारक हैं। इनके पीछे ग्रीक, शक, कुशन और क्षत्रपों के सिक्के मिलते हैं। ग्रीक और क्षत्रपों के सिक्के तो यहां अब तक चांदी और तांबे के ही मिले हैं, परंतु कुशन और शकों के सोने के भी कभी कभी मिल आते हैं। फिर वि० सं० की चौथी शताब्दी से गुप्तवंशी राजाओं के सोने और चांदी के सिक्के विशेष रूप से मिलते हैं। हूणवंशियों के भी चांदी के सिक्के मिले हैं, परंतु संख्या में बहुत कम। हूणों ने अपने सिक्के ईरान के ससानियन्‌वंशी राजाओं के सिक्कों की शैली के बनाये, जिनकी नक़ल वि० सं० की १२ वीं शताब्दी के आस पास तक यहां होती रही। फिर उनमें क्रमशः परिवर्त्तन होता और कारीगरी में भद्दापन आता गया, जिससे उनपर राजा का चहरा यहां तक बिगड़ा कि उसका पहिचानना भी कठिन हो गया और लोग उसे गधे का खुर मानकर उन सिक्कों को 'गधैया' कहने लग गये। वि० सं० की सातवीं शताब्दी से लगाकर तेरहवीं शताब्दी के मध्य तक राजपूताने के प्राचीन हिन्दू राजवंशों में से केवल तीन ही वंशों के चांदी और तांबे के सिक्के प्राप्त हुए हैं। ये सिक्के मेवाड़ के गुहिल, कन्नौज के प्रतिहार, और अजमेर के चौहानों के हैं। इनमें सोने का सिक्का अबतक केवल गुहिलवंशी बप्प (रावल बापा) का[3] ही मिला है। चौहानों के सिक्कों में बहुधा एक ओर नंदी और दूसरी ओर हाथ में भाला लिये सवार होता था, और कभी एक ओर लक्ष्मी और दूसरी ओर केवल लेख रहता था। शहाबुद्दीन

(१) क; आ. स. इं; जि० ६, पृ० २०३।

(२) वही, पृ० १८१।

(३) ना. प्र. प; भाग १, पृ० २४१-२८४।

ग़ोरी के सोने के सिक्कों पर एक ओर लक्ष्मी की मूर्ति और दूसरी ओर नागरी लिपि में 'श्रीमहमदविनिसाम' (मुहम्मद बिन साम) लेख है। इसी तरह उसके तांबे के सिक्कों पर एक ओर नंदी तथा त्रिशूल के साथ 'स्त्रीमहमद साम' और दूसरी तरफ़ चौहानों के सिक्कों के समान सवार और 'स्त्रीहमीर' (अमीर) लेख है। इन दोनों प्रकार के सिक्कों में चौहानों के सिक्कों का अनुकरण स्पष्ट पाया जाता है। इसी अश्वनंदी शैली के तांबे के सिक्के सुलतान अलतमश (शमशुद्दीन), रुकनुद्दीन फीरोज़शाह, मुइज़ुद्दीन कैकोबाद, और अलाउद्दीन ख़िलजी तक के मिलते हैं। अलाउद्दीन ने ही अपने पिछले समय में सिक्कों पर से राजपूत शैली के चिह्नों को बिल्कुल उठा दिया[1]।

वि० सं० की तेरहवीं शताब्दी के पीछे राजपूताने के जिन जिन विभागों पर मुसलमानों का अधिकार होता गया वहां सिक्का उनका ही चलने लगा। फिर तो केवल मेवाड़ के गुहिल (सीसोदिया) वंशियों में से महाराणा कुंभकर्ण, सांगा, रत्नसिंह, विक्रमादित्य और उदयसिंह के सिक्के मिलते हैं। महाराणा अमरसिंह ने बादशाह जहांगीर के साथ सुलह कर शाही अधीनता स्वीकारी तब से मेवाड़ के सिक्के भी अस्त हो गये और सारे देश में सिक्का और खुत्बा (नमाज़ के वक्त बादशाह को दुआ देना) बादशाही प्रचलित हो गया। फिर जब मुहम्मदशाह और उसके पिछले बादशाहों के समय मुगलों का राज्य निर्बल हो गया तब राजपूताने के राजाओं ने अपने अपने राज्यों में बादशाहों की आज्ञा से टकसालें खोलीं; तब भी सिक्कों पर लेख तो बादशाहों के नाम के ही बने रहे। ई० स० १८१८ (वि० सं० १८७५) में सरकार अंग्रेज़ी से संधि होने के बाद मुग़लों का नाम यहां के सिक्कों पर से उठता गया। अब तो कुछ राज्यों को छोड़ कर सर्वत्र सरकार अंग्रेज़ी का सिक्का (कलदार) ही चलता है।

इस प्रकरण में राजपूताने का भूगोलसम्बन्धी वर्णन हमने बहुत संक्षेप के साथ लिखा है, आगे प्रत्येक राज्य के इतिहास के साथ वह विस्तार से लिखा जायगा।

---

(१) ऐच. नेल्सन राइट; 'कैटैलोग ऑफ़ दी कोइन्स इन् दी इंडियन् म्यूज़ियम कलकत्ता'; जि. २, पृ. १७-३०।

दूसरा अध्याय

राजपूत

जैसे 'राजपूताना' नाम अंग्रेज़ों के समय में प्रसिद्ध हुआ वैसे ही 'राजपूत' शब्द भी एक जाति या वर्ण विशेष के लिये मुसलमानों के इस देश में आने के पीछे प्रचलित हुआ है। 'राजपूत' या 'रजपूत' शब्द संस्कृत के 'राजपुत्र' का अपभ्रंश अर्थात् लौकिक रूप है। प्राचीन काल में 'राजपुत्र' शब्द जातिवाचक नहीं, किंतु क्षत्रिय राजकुमारों या राजवंशियों का सूचक था, क्योंकि बहुत प्राचीन काल से प्रायः सारा भारतवर्ष क्षत्रिय वर्ग के अधीन था। कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र'[1], कालिदास के काव्य और नाटकों[2], अश्वघोष के ग्रंथों[3], बाणभट्ट के 'हर्षचरित' तथा 'कादंबरी'[4] आदि पुस्तकों एवं प्राचीन शिलालेखों[5] तथा दानपत्रों[6] में राजकुमारों और राजवंशियों के लिये 'राजपुत्र' शब्द का प्रयोग होना पाया जाता है। चीनी यात्री हुएन्त्संग ने वि० सं० ६८६ से ७०२ (ई० स० ६२९-६४५) तक इस देश में भ्रमण कर अपनी यात्रा का विस्तृत वर्णन लिखा, जो भारतवर्ष के उस समय के भूगोल, इतिहास, धर्म,

---

(१) जन्मप्रभृति राजपुत्राञ्जनत् कर्कटकसधर्माणो हि जनकभक्षाः राजपुत्राः ।

'अर्थशास्त्र;' पृ० ३२ ।

(२) राजसूयदीक्षितेन मया राजपुत्रशतपरिवृतं वसुमित्रं गोप्तारमादिश्य ।

'मालविकाग्निमित्र नाटक'; अंक ५, पृ० १०४ ।

(३) अथ तेजस्विसदनं तपःक्षेत्रं तमाश्रमम् ।

केचिदिक्ष्वाकवो जग्मू राजपुत्रा विवत्सवः ॥ ८ ॥

'सौन्दरानन्द काव्य'; सर्ग १ ।

(४) केसरिकिशोरकैरिव विक्रमैकरसैरपि विनयव्यवहारिभिरात्मनः प्रतिबिम्बैरिव राजपुत्रैः सह रममाणः प्रथमे वयसि सुखमतिचिरमुवास । कादंबरी; पृ० १४-१५ ।

(५) भालिभाडाप्रभृतिग्रामेषु संनिष्ठमानश्रीप्रतीहारवंशीयसर्व्वराजपुत्रैश्च ।

आबू पर तेजपाल के मंदिर का वि० सं० १२८७ का शिलालेख। ए. इं; जि० ८, पृ० २२२।

(६) सर्व्वानेव राजराजनकराजपुत्रराजामात्यसेनापति०

खालिमपुर से मिला हुआ राजा धर्मपाल का दानपत्र। ए. इं; जि० ४; पृ० २४९।

लोगों के रहन सहन आदि जानने के लिये बड़े महत्त्व का है। उक्त पुस्तक में उसने कई राजाओं का नामोल्लेख कर उनको क्षत्रिय[1] ही लिखा है, राजपूत[2] नहीं।

मुसलमानों के राजत्वकाल में क्षत्रियों के राज्य क्रमशः अस्त होते गए और जो बचे उनको मुसलमानों की अधीनता स्वीकार करनी पड़ी, अतएव वे स्वतंत्र राजा न रह कर सामंत से बन गए। ऐसी दशा में मुसलमानों के समय राजवंशी होने के कारण उनके लिये 'राजपूत' नाम का प्रयोग होने लगा। फिर धीरे धीरे यह शब्द जातिसूचक होकर मुग़लों के समय अथवा उससे पूर्व सामान्य रूप से प्रचार में आने लगा।

क्षत्रिय वर्ण वैदिक काल से इस देश पर अधिकार करता रहा और आर्यों[3] की वर्णव्यवस्था के अनुसार प्रजा का रक्षण करना, दान देना, यज्ञ करना, वेदादि शास्त्रों का अध्ययन करना और विषयासक्ति में न पड़ना आदि क्षत्रियों

---

(१) हुएन्त्संग ने महाराष्ट्र के राजा पुलकेशी, वलभी के राजा ध्रुवपट (ध्रुवभट) आदि कई राजाओं को क्षत्रिय ही लिखा है (बी; बु. रे. वे. व; जि० २, पृ० २५६; २६७)

(२) 'पृथ्वीराज रासे' में रजपूत (राजपूत) शब्द मिलता है 'लग्गो सुजाय रजपूत सीस। धायो सु तेग करि करिय रीस' ('पृथ्वीराज रासा', पृ० २५०८; नागरी प्रचारिणी सभा का संस्करण), परंतु यह ग्रंथ वि० सं० की १६ वीं शताब्दी के पूर्व का बना हुआ नहीं है।

(३) इस पुस्तक में 'आर्य्य' शब्द का प्रयोग (सिवा पृ० १२ के) देखकर पाठक यह अनुमान न करें कि यह शब्द आर्यसमाज के अनुयायियों के लिये प्रयोग किया गया है। आजकल 'हिंदू' शब्द का प्रयोग होता है, परंतु उसके स्थान में प्राचीन काल में 'आर्य' शब्द का प्रयोग होता था। हिंदू नाम वि. सं. की ८ वीं शताब्दी से पूर्व के ग्रंथों में नहीं मिलता है। फारस (ईरान) की भाषा में 'स' के स्थान में 'ह' बोला जाता था जैसे कि 'सप्त' को 'हफ़्त' 'सिंधु' को 'हिंदू' आदि। इसीसे ईरानियों ने सिंधु के निकटवर्ती निवासियों को हिंदू कहा। पीछे से सारे भारत के लोग हिंदू और उनका देश हिंदुस्तान कहलाया। सिकंदर के समय के यूनानी लेखकों ने सिंधु को इंडु (इंडज़) और वहां के निवासियों को 'इंडियन्' कहा, इसीसे अंग्रेज़, भारतवासियों को 'इंडियन्' और भारत को 'इंडिया', कहते हैं। प्राचीन काल में आर्य शब्द बड़े गौरव का सूचक था और सम्मान के लिये उसका प्रयोग होता था। राणियां एवं स्त्रियां अपने पति को संबोधन करने में 'आर्यपुत्र,' ऐसे ही सासु और स्वसुर के लिये क्रमशः आर्या और आर्य शब्दों का प्रयोग करती थीं। बौद्धों में भी यह शब्द गौरव का बोधक माना जाता था; इसीसे उनके कई प्रसिद्ध धर्माचार्यों आदि के नाम के साथ आर्य शब्द जुड़ा हुआ मिलता है, जैसे कि आर्यअसंग, आर्यदेव, आर्यपार्श्विक, आर्यसिंह आदि। जैनों में साध्वी अबतक आर्या (आरजा) कहलाती हैं।

के धर्म या कर्म माने जाते थे[1]। मुसलमानों के समय से वही क्षत्रिय जाति 'राजपूत' कहलाने लगी। आजकल के कितने एक यूरोपियन विद्वान् और उनके लेखों की छाया पर निर्भर रहनेवाले कुछ एतद्देशीय विद्वान् भी यही मानने लगे हैं कि राजपूत जाति प्राचीन आर्य क्षत्रिय नहीं, किंतु उत्तर की ओर से आये हुए सीथियन अर्थात् शक हैं। राजपूताने के प्रसिद्ध इतिहास-लेखक कर्नल टॉड ने राजपूतों के शक होने के प्रमाणों में उनके कितने एक प्रचलित रीति-रिवाजों का, जो शक जाति के रिवाजों से मिलते जुलते हैं, उल्लेख किया है। ऐसे प्रमाणों में सूर्य की पूजा या उपासना, तातारी और शक लोगों की पुरानी कथाओं का पुराणों की कथाओं से मिलना, सती होना, अश्वमेध यज्ञ करना, मद्यपान का शौक़ रखना, शस्त्र और घोड़ों का पूजना आदि हैं[2]।

मिस्टर विन्सेंट स्मिथ ने "अर्ली हिस्टरी आफ् इंडिया" (भारत का प्राचीन इतिहास) में लिखा है कि "प्राचीन लेखों में हूणों के साथ गुर्जरों का भी, जो आजकल की गूजर जाति है और हिंदुस्तान के उत्तर-पश्चिम विभागों में फैली हुई है, नाम मिलता है। अनुमान होता है कि पुराने गूजर बाहर से आए हुए थे, उनका श्वेत हूणों के साथ निकट संबंध होना संभव है। उन्होंने राजपूताने में अपना राज्य स्थापित कर भीनमाल (श्रीमाल) को अपनी राजधानी बनाया, जो आबू से अनुमान ५० मील उत्तर-पश्चिम में है। समय पाकर भीनमाल के गुर्जर प्रतिहार राजाओं ने कन्नौज को जीत कर उत्तर भारत में अपने साम्राज्य की स्थापना की। भड़ौच का छोटा गुर्जर राज्य भीनमाल के बड़े राज्य की एक शाखा थी[3]"।

"यहां मैं उस बात की ओर ध्यान दिलाना चाहता हूं, जिसके विषय में बहुत दिनों से संदेह था, परंतु अब प्रमाणोंद्वारा निश्चित हो गया है कि राजपूताने और गंगा नदी के उत्तरी प्रदेशों में, वहां के निवासियों के साथ लड़ाई झगड़े रहने पर भी, गुर्जरों का राज्य बिलकुल नष्ट नहीं हो गया था। यद्यपि बहुतसे नष्ट हुए, परंतु कई बच भी रहे थे जो वहां के निवासियों में

(१) *प्रजानां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च।*
विषयेष्वप्रसक्तिश्च क्षत्रियस्य समासतः॥ 'मनुस्मृति'; १। ८६।

(२) टॉ; रा; जि० १, प्रकरण ६।

(३) स्मि; अ. हि. इं; पृ. ३२१-२२।

मिल गए और अब भी उनकी बहुतसी संतान मौजूद है। अपने से पहले आनेवाले शक और यूची (कुशन) लोगों के समान यह विदेशी जाति भी शीघ्र ही हिंदू धर्म में मिल कर हिंदू बन गई। उसके जिन कुटुंबों या शाखाओं ने कुछ भूमि पर अधिकार प्राप्त कर लिया वे तत्काल क्षत्रिय या राजवर्ण में मिला लिये गए और इसमें संदेह नहीं कि पड़िहार और उत्तर के कई दूसरे प्रसिद्ध राजपूत वंश इन्हीं जंगली समुदायों से निकले हैं, जो ई० स० की पांचवीं या छठी शताब्दी में हिंदुस्तान में आए थे। इन विदेशियों के सैनिक एवं साथियों से गूजर और दूसरी जातियां बनीं जो पद प्रतिष्ठा में राजपूतों से कम हैं। इसके अतिरिक्त दक्षिण में कई मूल निवासियों या जंगली जातियों अथवा वंशों ने भी हिंदू धर्म स्वीकार कर हिंदू समाज में प्रवेश किया, जैसे कि गोंड, भड़, खरवड़ आदि से चंदेल, राठोड़, गहरवार आदि दूसरे प्रसिद्ध राजपूत वंश निकले[1] और उन्होंने अपनी उत्पत्ति सूर्य और चंद्र से जा मिलाई[2]"।

उसी पुस्तक में आगे लिखा है कि "पड़िहार, पँवार (परमार), चंदेल आदि राजपूत जातियां कौन थीं; और हर्षवर्धन तथा मुसलमानों की विजय के बीच की शताब्दियों में उनके (राजपूतों के) कारण गड़बड़ क्यों उत्पन्न हुई? उत्तरी भारत के प्राचीन और मध्ययुगीन इतिहास में अन्तर डालनेवाली मुख्य बात राजपूत वंशों की प्रधानता ही होने से उसके स्पष्टीकरण की इच्छा उत्पन्न होती है। प्रश्न करना सहज है, परंतु उत्तर देना सहज नहीं, और यह विषय भी बिलकुल अनिश्चित होने से उसका सन्तोषजनक निर्णय नहीं किया जा सकता; तो भी कुछ विचार प्रकट करना आवश्यक है, जिससे पाठकों को इन वंशों की भूलभुलैयों में मार्ग ढूंढ निकालने में कुछ सहायता मिले"।

"ई० स० की आठवीं और नवीं शताब्दी में राजपूत राज्यों का एकाएक उद्गम होना एक आश्चर्य की बात है। प्राचीन राजवंशों के वर्ण या जातिविषय में ठीक तौर से कुछ भी ज्ञात नहीं है; अशोक और समुद्रगुप्त के कुटुंब किस हिंदू समाज के थे,

(१) आज तक के प्राचीन शोध से इस बात का नाममात्र को भी पता नहीं चलता कि चंदेल, राठोड़, गहरवार आदि प्रसिद्ध राजवंश गोंड, भड़, खरवड़ आदि जातियों से निकले हों। यह केवल मि० विन्सेंट स्मिथ की कपोलकल्पना मात्र है। यदि उक्त कथन में कुछ भी तथ्य होता तो उसके लिये कोई प्रमाण देने का साहस अवश्य किया जाता।

(२) स्मि; अ. हि. इं; पृ. ३२२।

यह कोई ठीक ठीक नहीं बतला सकता और इसका भी कोई उल्लेख नहीं मिलता कि रंगभूमि पर आये हुए बड़े बड़े राजा महाराजाओं ने केवल अपने पराक्रम ही के द्वारा राज्य प्राप्त किये थे या कहां तक वे बड़े बड़े वंशों के मुखिया थे। पिछले समय के सब राजपूत अपने को प्राचीन क्षत्रिय वर्ण में होना मानते हैं। वास्तव में बहुत प्राचीन काल से, पिछले राजपूत वंशों के समान, क्षत्रिय वंश भी विद्यमान थे और इस माध्यमिक काल के सदृश ही पहले भी नये नये राज्य बराबर स्थापित होते जाते थे, परंतु उनके लिखित प्रमाण नष्ट हो गए और केवल थोड़ेसे नामी नामी वंशों की यादगार मात्र बनी रही। इतिहास में उनका उल्लेख इस ढंग से किया गया है कि उसको बिलकुल सत्य ही नहीं कह सकते। क्षत्रिय शब्द सदा से एक संशयात्मक अर्थ का द्योतक रहा है। उससे केवल राज्य करनेवाली जाति का बोध होता है जो ब्राह्मण कुल की न हो। कभी कभी ब्राह्मण जाति के भी राजा हुए, परंतु राजदरबार में ब्राह्मण विशेष-कर राजा का नहीं किंतु मन्त्री का ही काम करते थे। चंद्रगुप्त मौर्य क्षत्रिय ही अनुमान किया गया है और उसका मंत्री चाणक्य या कौटिल्य निश्चय ब्राह्मण ही था"।

"प्राचीन और माध्यमिक काल में वास्तविक अन्तर यही है कि प्राचीन समय की दंतकथाओं की शृंखला टूट गई और माध्यमिक काल की दंतकथाएं अब तक प्रचलित हैं। मौर्य और गुप्त वंशों की वास्तविकता का पता नहीं चलता केवल पुस्तक, शिलालेख और सिक्कों ही के आधार पर उनकी स्मृतिमात्र स्थिर है। इसके विरुद्ध माध्यमिक काल के राजवंशों की असलियत बहुत कुछ प्राप्त है। टॉड और दूसरे पुराने लेखकों ने लिखा है कि राजपूत विशेषकर शक हैं तथा आजकल की यथेष्ट शोध से उनके कथन की पुष्टि होती है; और यह निश्चयपूर्वक कह सकते हैं, कि कई मुख्य मुख्य राजपूत वंशों में विदेशियों का रुधिर मिल गया है। जो जातियां राजपूतों से कम दर्जे[1] की गिनी जाती थीं उनके साथ राजपूतों का निकट संबंध पाया जाता

(१) राजपूतों का संबंध राजपूतों में ही होता है न कि कम दर्जे की जातियों में। मि० स्मिथ का उपर्युक्त कथन भ्रमपूरित ही है। यह बात अवश्य हुई है कि कुछ राजपूत घराने पहले राज करते थे या उनके पास अच्छी जागीरें थीं, परंतु पीछे से समय के हेर फेर में उनकी जीविका छिन गई और वे लाचार नौकरी या खेती से अपना निर्वाह करने लगे, जिससे

है। भारतवर्ष में सब से प्रथम ई० स० पूर्व की दूसरी शताब्दी में बाहर से आनेवाली जाति, जिसके विषय में इतिहास साक्षी देता है, शक थी। उसके पीछे यूची या कुशन जाति ई० स० की पहली शताब्दी में इधर आई। इन जातियों तक तो वर्तमान राजपूत वंश अपनी ठीक वंशपरंपरा नहीं पहुंचा सकते। निस्संदेह शक और कुशनवंशी राजाओं ने जब हिंदू धर्म स्वीकार कर लिया तब वे हिन्दू जाति की प्रथा के अनुसार क्षत्रियों में मिला लिये गए। जो कुछ अब तक जाना गया उससे यही ज्ञात होता है कि वे बहुत काल पीछे हिंदुओं में मिलाए गए हों, किंतु इसके लिये हमारे पास कोई प्रमाण नहीं है"।

"ऐतिहासिक प्रमाणों से भारत में तीन बाहरी जातियों का आना सिद्ध होता है, जिनमें से शक और कुशन का वर्णन तो ऊपर हो चुका। तीसरी जाति हूण या श्वेतहूण थी, जो ई० स० की पांचवीं या छठी शताब्दी के प्रारंभ में इधर आई। इन तीनों के साथ और भी कई जातियां आई। मनुष्यों की जातियां निर्णय करनेवाली विद्या (Ethnology), पुरातत्त्वविद्या और सिक्कों ने विद्वानों के चित्त पर अंकित कर दिया है कि हूणों ही ने हिंदू संस्थाओं और हिंदू राजनीति को अधिकतर हिला दिया हो[1]"। फिर आगे कुछ और बातें लिखकर उक्त महाशय ने निष्कर्ष यह निकाला है कि "हूण जाति ही

से वे अच्छे राजपूतों की बराबर के नहीं, किंतु कम दर्जे के गिने जाने लगे। मेवाड़ के महाराणा हंमीरसिंह चंदाणा राजपूत की कन्या से उत्पन्न हुए थे यह प्रसिद्ध है। उस समय चंदाणे अच्छे राजपूत माने जाते थे। मुंहणोत नैणसी ने भी उनका चौहानों की सोनगरा शाखा में होना लिखा है ('नैणसी की ख्यात'; पत्रा ४। १)। ऐसे ही नैणसी ने खरवड़ों को पड़िहारों की शाखा होना बतलाया है ('नैणसी की ख्यात'; पत्रा २१। २) और पहले उनके भी जागीरें होने के कारण उनकी गणना अच्छे राजपूतों में होती थी, परंतु अब मेवाड़ के चंदाणों और खरवड़ों का शादी व्यवहार बहुधा अच्छे राजपूतों के साथ नहीं रहा, जिसका कारण उनके पास जागीरों का न रहना और खेती आदि से निर्वाह करना ही हुआ। राजपूताने में एक जाति दरोगा, चाकर या गोला कहलाती है। इस जाति में विधवा स्त्री का नाता (पुनर्विवाह) होता है। जागीरें न रहने पर जब अच्छे राजपूत लाचार खेती या नौकरी से अपना निर्वाह करते हैं और राजपूतों की रीति के अनुसार परदे आदि का अपने यहां प्रबंध नहीं रख सकते तब उनको लाचार दरोगों में मिलना पड़ता है। फिर उनका शादी व्यवहार अच्छे राजपूतों के साथ नहीं होता। राजपूतों के साथ उनके शादी व्यवहार के जो उदाहरण मिलते हैं वे उनकी पूर्व की अच्छी स्थिति के समय के सूचक हैं।

(१) स्मि; अ. हि. इं; पृ ४०७-१०।

विशेष कर राजपूताने और पंजाब में स्थायी रूप से आबाद हुई, जिसका बड़ा विभाग गुर्जर थे जो अब गूजर कहलाते हैं[1]"।

यूरोपियन विद्वानों की शोधक बुद्धि वास्तव में प्रशंसनीय है, परंतु उनमें गतानुगत वृत्ति एवं प्रमाणशून्य मनमानी कल्पना करने की रुचि यहां तक बढ़ गई है कि कभी कभी उनकी शोधक बुद्धि हमारे प्राचीन इतिहास की शृंखला मिलाने में लाभ की अपेक्षा अधिक हानि पहुंचानेवाली हो जाती है। आज तक कोई विद्वान् सप्रमाण यह नहीं बतला सका कि शक, कुशन या हूणों से अमुक अमुक राजपूत वंशों की उत्पत्ति हुई। एक समय राजपूतों को 'गूजर' मानने का प्रवाह ऐसे वेग से चला कि कई विद्वानों ने चावड़ा, पड़िहार (प्रतिहार) परमार, चौहान, तँवर, सोलंकी, कछवाहा आदि राजपूतों का 'गूजर' होना बतलाने के संबंध में कई लेख लिख डाले, परंतु अपनी मनमानी कल्पना की घुड़दौड़ में किसीने इन बातों का तनिक भी विचार न किया कि प्राचीन शिलालेख आदि में उनके वंश-परिचय के विषय में क्या लिखा है, दूसरे समकालीन राजवंश उस विषय में क्या मानते थे, हुएन्त्संग ने उनको किस वंश का बतलाया है, और यही कहते गए कि ये तो पीछे से अपने को क्षत्रिय मानने लग गए हैं। ऐसे प्रमाणरहित काल्पनिक कथन, जब तक सप्रमाण यह न बताया जा सके कि अमुक राजपूत जाति अमुक समय अमुक गूजर वंश से निकली, स्वीकार नहीं किये जा सकते।

कर्नल टॉड ने तो अपना ग्रंथ सौ वर्ष पूर्व रचा, उस समय भारत में प्राचीन शोध का प्रारंभ ही हुआ था, और प्राचीन शिलालेखादि का ठीक ठीक पढ़ा जाना आरंभ भी नहीं हुआ था, अतएव टॉड का कथन तो अधिकतर काल्पनिक ही कहा जा सकता है, परंतु इस बीसवीं शताब्दी के लेखक मि० विन्सेंट स्मिथ ने भी कोई मूल प्रमाण उद्धृत कर यह नहीं बतलाया कि अमुक अमुक राजपूत जातियां अमुक बाहरी जाति से निकली हैं। केवल अनुमान के आधार पर ही अपना लेख लिखा, इतना ही नहीं किंतु यह भी स्पष्ट रूप से नहीं बतलाया जा सका कि राजपूत जाति की उत्पत्ति शक, कुशन और हूण इन तीन में से किससे हुई। उक्त महाशय को साथ साथ यह भी लिखना पड़ा कि "निस्संदेह शक और कुशनवंशी राजाओं ने जब हिंदू धर्म स्वीकार कर लिया तब से

(१) स्मि; अ. हि. इं; पृ. ४११।

हिंदू जाति की प्रथा के अनुसार वे क्षत्रियों में मिला लिये गए, परंतु जो कुछ अब तक जाना गया उससे यही ज्ञात होता है कि वे बहुत काल पीछे हिंदुओं में मिलाए गए हों, लेकिन इसके लिए हमारे पास कोई प्रमाण नहीं है"।

अब हम सबसे पहले राजपूतों को क्षत्रिय न माननेवालों की शक जाति संबंधी मुख्य दलील की जांच करते हैं। 'मनुस्मृति' में लिखा है कि "पौंड्रक, चोड, द्रविड, कांबोज, यवन, शक, पारद, पल्हव, चीन, किरात, दरद और खश ये सब क्षत्रिय जातियां थीं, परंतु शनैः शनैः क्रियालोप होने से वृषल (विधर्मी, धर्मभ्रष्ट) हो गईं"[1]। इस कथन का अभिप्राय यही है कि वैदिक धर्म को छोड़कर अन्य (बौद्ध आदि) धर्मों के अनुयायी हो जाने के कारण वैदिक धर्म के आचार्यों ने उनकी गणना विधर्मियों (धर्मभ्रष्टों) में की।

पुराणों से पाया जाता है कि "इक्ष्वाकुवंशी राजा वृक के पुत्र बाहु (बाहुक) के राज्य पर हैहयों और तालजंघों[2] (तालजंघ के वंशजों) ने आक्रमण किया जिससे वह पराजित होकर अपनी राणियों सहित वन में जा रहा जहां और्व ऋषि के आश्रम में उसका देहान्त हुआ। और्व ने बाहु के पुत्र सगर को वेदादि सब शास्त्र पढ़ाए, अस्त्रविद्या की शिक्षा दी और विशेषकर भार्गव नामक अग्न्यस्त्र का प्रयोग करना सिखलाया। एक दिन उस (सगर) ने अपनी माता से ऋषि के आश्रम में निवास करने का कारण जानने पर क्रुद्ध होकर अपना पैतृक राज्य पीछा लेने और हैहयों तथा तालजंघों को नष्ट करने का प्रण किया। फिर उसने बहुधा सब हैहयों को नष्ट किया और शक, यवन, कांबोज तथा पल्हवों को भी (जो बाहु का राज्य छीनने में हैहय आदि के सहायक हुए थे) नष्ट कर देता, परंतु उन्होंने अपनी रक्षा के लिये उसके कुलगुरु वसिष्ठ की शरण ली, तब गुरु ने उसको रोका और कहा कि अब तू उनका पीछा मत कर; मैंने तेरी

(१) *शनकैस्तु क्रियालोपादिमाः क्षत्रियजातयः ।*
वृषलत्वं गता लोके ब्राह्मणादर्शनेन च ॥
पौण्ड्रकाश्चोडद्रविडाः काम्बोजा यवनाः शकाः ।
पारदाः पल्हवाश्चीनाः किराता दरदाः खशाः ॥

'मनुस्मृति;' १० । ४३-४४ ।

(२) हैहय और तालजंघ यदुवंशी राजा थे। हैहय यदु का चौथा और तालजंघ पंद्रहवां वंशधर था। इनके वंशज हैहय (कलचुरि) और तालजंघ कहलाए।

प्रतिज्ञा-पालन के निमित्त उनको द्विजाति से च्युत कर दिया है। सगर ने गुरु का कथन स्वीकार कर उन जीती हुई जातियों में से यवनों को सारा सिर मुंडवाने, शकों को आधा मुंडवाने, पारदों को केश बढ़ाए रखने और पल्हवों को दाढ़ी रखने की आज्ञा दी। उनको तथा अन्य क्षत्रिय जातियों को वषट्कार (अग्नि में आहुति देने का शब्द) और वेद के पठन से विमुख किया। इस प्रकार धर्म (वैदिक धर्म) से च्युत होने तथा ब्राह्मणों का संसर्ग छूट जाने के कारण ये भिन्न भिन्न जातियां म्लेच्छ हो गई[1] "।

पुराणों के इस कथन से स्पष्ट है कि शक आदि उपर्युक्त जातियां क्षत्रिय थीं और राजा सगर के समय भी वे विद्यमान थीं। पीछे से बौद्ध आदि धर्म स्वीकार करने पर वैदिक मतवालों ने उनकी गणना म्लेच्छों में कर ली। भारतवर्ष में जब बौद्धधर्म की प्रबलता हुई उस समय ब्राह्मणादि अनेक लोग बौद्ध हो गए जिनकी भी गणना धर्मद्वेष के कारण ब्राह्मणों ने अपनी स्मृतियों में शूद्रों में कर दी, इतना ही नहीं किंतु अंग, वंग, कलिङ्ग सुराष्ट्र, मगध आदि बौद्ध-

(१) रुरुकस्य च वृकस्ततो बाहुर्योसौ हैहयतालजंघादिभिरवजितोंतर्वत्न्या महिष्या सह वनं प्रविवेश। स च बाहुर्वृद्धभावादौर्वाश्रमसमीपे ममार। तस्य भार्या अनुमरणनिर्बंधाद्विरराम। तेनैव भगवता स्वाश्रममानीयत''''अति-तेजस्वी बालको जज्ञे। तस्यौर्वो जातकर्मादिकां क्रियां निष्पाद्य सगर इति नाम चकार। कृतोपनयनं चैनमौर्वो वेदान् शास्त्राण्यशेषाणि अस्त्रं चाग्नेयं भार्गवाख्यम-ध्यापयामास। उत्पन्नबुद्धिश्च मातरमपृच्छत्। अंब कथमत्र वयं क्व तातस्ततोस्माकं क्व इत्येवमादिपृच्छतस्तन्माता सर्वमवोचत्। ततः पितृराज्यहरणामर्षितो हैहय-तालजंघादिवधाय प्रतिज्ञामकरोत्। प्रायशश्च हैहयान् जघान शकयवनकांबोज-पारदपल्हवा हन्यमानास्तत्कुलगुरुं वसिष्ठं शरणं ययुः। अथैतान्वसिष्ठो जीवन्मृ-तकान्कृत्वा सगरमाह। वत्स वत्सालमेभिरतिजीवन्मृतकैरनुसृतैः। एते च मयैव त्वत्प्रतिज्ञापरिपालनाय निजधर्मद्विजसंगपरित्यागं कारिताः। स तथेति तद्गुरुवच-नमभिनंद्य तेषां वेषान्यत्वमकारयत्। यवनान्मुंडितशिरसोर्ध्वमुंडाञ्छकान् प्रलंबके-शान्पारदान् पल्हवांश्च श्मश्रुधरान् निःस्वाध्यायवषट्कारान् एतानन्यांश्च क्षत्रियांश्चकार ते च निजधर्मपरित्यागाद्ब्राह्मणैश्च परित्यक्ता म्लेच्छतां ययुः।

'विष्णुपुराण;' अंश ४, अध्याय ३। ऐसा ही 'वायुपुराण' (अध्याय ८८, श्लोक १२१-४३) में लिखा मिलता है।

प्राय देशों में यात्रा के सिवा जाने पर पुनः संस्कार करने का विधान तक किया था[1]। फिर बौद्ध धर्म की अवनति होने पर वे ही बौद्ध पीछे वेदधर्मानुयायियों में मिलते गए।

चंद्र वंश के मूलपुरुष पुरूरवा का चौथा वंशधर ययाति था। उसके पांच पुत्र यदु, तुर्वसु, द्रुह्यु, अनु और पुरु हुए। द्रुह्यु का पांचवां वंशधर गंधार हुआ जिसके नाम से उसका देश गांधार कहलाया, जहां के घोड़े उत्तम होते हैं। गंधार का पांचवां वंशज प्रचेता हुआ। मत्स्य, विष्णु और भागवत पुराणों में लिखा मिलता है कि 'प्रचेता के सौ (बहुत से) पुत्र हुए जो सब उत्तर (भारतवर्ष के उत्तर) के म्लेच्छ देशों के राजा हुए[2]'। पतंजलि

---

(१) *अङ्गवङ्गकलिङ्गेषु सौराष्ट्रमगधेषु च।*
तीर्थयात्रां विना गत्वा पुनः संस्कारमर्हति॥

यह श्लोक 'सिद्धांतकौमुदी' की 'तत्त्वबोधिनी' टीका में 'परोक्षे लिट्' (३।२।११५) सूत्र के वार्तिक के प्रसंग में उद्धृत किया गया है।

सिन्धुसौवीरसौराष्ट्रं तथा प्रत्यंतवासिनः।
कलिङ्गकौङ्कणान्वङ्गान् गत्वा संस्कारमर्हति॥ १६॥

आनंदाश्रम ग्रंथावलि (पूना) के 'स्मृतिनां समुच्चयः' नामक ग्रंथ में प्रकाशित 'देवलस्मृति'; पृ० ८५।

इस प्रकार की कड़ी व्यवस्था ब्राह्मणों ने अपने स्मृतिग्रंथों में अवश्य की थी, परंतु लोगों ने उसका कभी पालन किया हो ऐसा इतिहास से पाया नहीं जाता।

(२) *द्रुह्योस्तु तनयौ शूरौ सेतुः केतुस्तथैव च।*
सेतुपुत्रः शरद्वांस्तु गन्धारस्तस्य चात्मजः॥ ६॥
ख्यायते यस्य नाम्नासौ गन्धारविषयो महान्।
आरट्टदेशजास्तस्य तुरगा वाजिनां वराः॥ ७॥
गन्धारपुत्रो धर्मस्तु घृतस्तस्यात्मजोऽभवत्।
घृताच्च विदुषो जज्ञे प्रचेतास्तस्य चात्मजः॥ ८॥
प्रचेतसः पुत्रशतं राजानः सर्व एव ते।
म्लेच्छराष्ट्राधिपाः सर्वे उदीचीं दिशमाश्रिताः॥ ९॥

'मत्स्य पुराण'; अध्याय ४८।

ऐसा ही 'विष्णुपुराण', अंश ४, अध्याय १७ में और 'भागवत', स्कंध ९, अध्याय २३, श्लो० १४-१५ में लिखा है।

के महाभाष्य से भी आर्यावर्त से बाहर के उत्तरी प्रदेशों में आर्यों की बस्तियां होना पाया जाता है[1]।

ये तो शकादि बाहरी आर्य जातियों में संबंध के हमारे यहां के उल्लेख हैं। अब हमें यह देखना चाहिये कि यूरोप के प्राचीन काल के इतिहास-लेखक शकों के विषय में क्या लिखते हैं। 'एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटानिका' में लिखा है कि "ज्योस नामक विद्वान् का कथन है कि मुझे कई प्रमाण ऐसे मिले जिनसे पाया जाता है कि शक आर्य ही थे। इसकी सत्यता की साक्षी हिरोडॉटस देता है कि सीथियन (शक) और सर्मोटियन एक ही भाषा बोलते थे; और सर्मोटियन के निःसन्देह आर्य होने की साक्षी प्राचीन ग्रंथकार देते हैं। स्टेपी[2] के सारे प्रदेशों पर ऑक्सस् और जेहूं नदियों से हंगेरिया के पुज़्टास् तक पहले आर्यों की एक शाखा का अधिकार था। शकों के देवता भी आर्यों के देवताओं से मिलते हुए थे। उनकी सब से बड़ी देवी तबीनी (अन्नपूर्णा) थी; दूसरा देवता पपीना (पाकशासन, इन्द्र) और उसकी स्त्री अपिया (पृथ्वी) थी। इनके अतिरिक्त सूर्य आदि दूसरे देवता भी पूजे जाते थे। राजवंशी शक समुद्र के देवता (वरुण) की पूजा करते थे। वे ठीक ईरानी प्रथा के अनुसार देवताओं की मूर्त्तियां और मंदिर नहीं बनाते, किंतु एक खड्ग को बड़ी वेदी पर रखकर प्रतिवर्ष उसको भेड़ आदि की बली चढ़ाते थे। शक लोग लड़ाई के समय घोड़े पर सवार होते थे और धनुष बाण रखते थे[3]"।

ऊपर उद्धृत किये हुए मनुस्मृति, पुराण एवं प्राचीन यूरोपियन इतिहास-लेखकों के प्रमाणों से स्पष्ट है कि शक जाति आर्यों से भिन्न नहीं किंतु उन्हीं की एक शाखा थी। यदि यह प्रश्न किया जाय कि वे आर्य थे तो पीछे से वे पुराणों आदि में वृषल (विधर्मी, धर्मभ्रष्ट) क्यों कहलाए? तो इसका उत्तर यही है कि उन्होंने वैदिक धर्म से बाह्य होकर बौद्ध धर्म स्वीकार कर लिया था। धर्मभेद के कारण बौद्धों और ब्राह्मणों में परस्पर परम शत्रुता रही, इसीसे जैसे ईरानियों ने शक शब्द का अर्थ 'सग' (कुत्ता) बतलाया वैसे ही ब्राह्मणों ने उनका क्षत्रिय होना स्वीकार करते हुए भी उनको वृषल (धर्मभ्रष्ट) ठहराया;

(१) ना० प्र० प०; भाग ४, पृ० २१४-२०।

(२) स्टेपी, रूस के दक्षिण और साईबेरिया के पश्चिम का प्रदेश।

(३) 'एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटानिका'; जि० २१, पृ० ४७६;

किंतु शक और कुशनवंशियों के सिक्कों, शिलालेखादि एवं प्राचीन ग्रंथों में मिलनेवाले उनके वर्णन को देखते हुए यही कहना पड़ता है कि वे जंगली और वृषल नहीं किंतु आर्य ही थे और आर्यों की सी सभ्यता रखते थे।

ऊपर हम पुराणों से बतला चुके हैं कि चंद्रवंशी राजा द्रुह्यु के, जो गांधार देश का राजा था, पांचवें वंशधर प्रचेता के अनेक पुत्रों ने भारतवर्ष से उत्तर के म्लेच्छ देशों में अपने राज्य स्थापित किये थे। मुसलमानों के मध्य एशिया विजय करने के पूर्व उक्त सारे देश में भारतीय सभ्यता फैली हुई थी। सुप्रसिद्ध पुरातत्ववेत्ता डॉ. सर ऑरल स्टाइन ने ई. स. १९०१ (वि० सं० १९५८) में चीनी तुर्किस्तान में प्राचीन शोध का काम करते समय रेत के नीचे दबे हुए कई स्थानों से खरोष्ठी लिपि के लेखों का बड़ा संग्रह किया। उक्त लेखों की भाषा वहां की लौकिक(तुर्की)मिश्रित भारतीय प्राकृत है। उनमें से कितने ही का प्रारंभ 'महनुअव महरय लिहति' (महानुभाव महाराजा लिखता है) पद से[1] होता है। कई लेखों में 'महाराज' के अतिरिक्त 'भट्टारक[2]', 'प्रियदर्शन[3]' (प्रियदर्शी) और 'देवपुत्र[4]' भी वहां के राजाओं के खिताब (बिरुद) मिलते

(१) ए० एम० बोयर, ई० जे० राप्सन और ई० सेनार्ट के द्वारा संपादित 'खरोष्ठी इन्स्क्रिप्शन्स डिस्कवर्ड बाइ सर ऑरल स्टाइन इन् चाइनीज़ तुर्किस्तान' नामक पुस्तक, भाग १, लेख-संख्या १, ३-११, १३-१४, १६-२२, २४, २६-३०, ३२, ३३, ३६-४०, ४२, ४३, ४५-४७; ४६, ५२-५७, ६२-६४, ६८, ७०-७२ और कई अनेक। उक्त पुस्तक में चीनी तुर्किस्तान से मिले हुए ४२७ प्राकृत लेखों का अक्षरान्तर छपा है।

(२) *भटरगस(भट्टारकस्य)प्रियदर्शनस प्रियपितु°* (लेखसंख्या १३३)

भटरगनां(भट्टारकाणां) प्रियदेवमनुशसंपुजितनां प्रियदर्शननां योग्यदिव्यवर्षशतअयुप्रमननां (लेखसंख्या १४०)

(३) *प्रियदेवमनुशस प्रियदर्शनस प्रियभ्रतु°* (लेखसंख्या १३६ और १५६)

(४) *संवत्सरे ४ ३(=७) महनुअव महरय जितुघवंशमण देवपुत्रस मसे ४ २ (=६) दिवसे १० ४(=१४) तं कालंमि°* (लेख संख्या ११६)

इस टिप्पण में तथा इसके पीछे के तीन टिप्पणों में जो अवतरण उद्धृत किये गए हैं वे चीनी तुर्किस्तान से मिले हुए खरोष्ठी लेखों से हैं। खरोष्ठी लिपि में बहुधा स्वरों की मात्राओं में ह्स्व-दीर्घ का भेद नहीं रहता। देखो 'भारतीय प्राचीनलिपिमाला'; पृ०३१-३७; और लिपिपत्र ६५-७०।

हैं। 'भट्टारक' (परमभट्टारक) भारत के राजाओं का सामान्य ख़िताब था, 'प्रियदर्शन' ('प्रियदर्शी') मौर्य राजा अशोक का था, और 'देवपुत्र' भारतवर्ष में मिलनेवाले कुशनवंशी राजाओं के शिलालेखों के अनुसार उनकी कई उपाधियों में से एक थी। कई एक लेखों में संवत् भी लिखे हुए हैं जो प्राचीन भारतीय शैली के हैं, अर्थात् उनमें 'संवत्सर', 'मास' और सौर दिवस दिये हुए हैं[1]। ये लेख चीनी तुर्किस्तान में भारतीय सभ्यता के प्रचार की साक्षी दे रहे हैं।

चीनी यात्री फाहियान ई० स० ३९९ (वि० सं० ४५६) में अपने देश से भारत की यात्रा को निकला और ई० स० ४१४ (वि० सं० ४७१) में पीछा समुद्र-मार्ग से स्वदेश में पहुंचा। वह मध्य एशिया के मार्ग से भारत को आया था और अपनी यात्रा के वर्णन में लिखता है कि "गोबी की मरुभूमि को सत्रह दिन में बड़ी कठिनता से पारकर हम शेनशन प्रदेश (चीनी तुर्किस्तान) में पहुंचे। इस देश का राजा बौद्ध है। यहां अनुमान ४००० से अधिक श्रमण (बौद्ध साधु) रहते हैं, जो सब हीनयान[2] संप्रदाय के अनुयायी हैं। यहां के लोग, क्या गृहस्थी क्या श्रमण, सब भारतीय आचार और नियम का पालन करते हैं, अंतर इतना ही है कि गृहस्थी सामान्य रूप से और श्रमण विशेष रूप से। यहां से पश्चिम के सब देशों में भी ऐसा ही पाया गया, केवल लोगों की भाषा में अंतर है, तो भी सब श्रमण भारतीय ग्रंथों और भारतीय भाषा का अध्ययन करते हैं[3]"। यहां से पश्चिम में यात्रा करता हुआ वह खोतान में पहुंचा जहां के

---

(१) *संवत्सरे १० १(=११) मसे ४ १(=५) दिवसे ४ ४(=८) तं कलंमि°* (लेखसंख्या ८)

संवत्सरे २० १०(=३०) मसे ४ १(=५) दिवसे ४ ४(=८) तं कलंमि° (लेखसंख्या ६०)

संवत्सरे २० १०(=३०) मसे १ दिवसे ४ ३(=७) तं कालंमि कल्यन-धम° (लेखसंख्या १२३)।

खरोष्ठी लिपि के अंकों के लिये देखो 'भारतीय प्राचीनलिपिमाला'; पृ० १२८-२९; और लिपिपत्र ७५ वां, खंड तीसरा।

(२) बौद्धों में तीन संप्रदाय 'हीनयान', 'महायान' और 'मध्यमयान' थे जिनमें से पहले दो के ही अनुयायी अधिक थे तीसरे के बहुत कम।

(३) जेम्स लेगे; 'फाहियान्स ट्रैवल्स इन् इंडिया एंड सीलोन'; पृ० १२-१४।

विषय में उसने लिखा है कि "यह देश रम्य और समृद्धिशाली है। यहां की जनसंख्या बहुत बड़ी और संपन्न है। सब लोग बौद्ध धर्म को मानते हैं और एकत्र होकर धार्मिक संगीत का आनंद लूटते हैं। यहां कई अयुत (दस हज़ार) श्रमण रहते जिनमें से अधिक महायान संप्रदाय के अनुयायी हैं। यहां का प्रत्येक कुटुंब अपने घर के द्वार के सामने एक एक स्तूप बनवाता है, जिनमें से छोटे से छोटा स्तूप बीस हाथ से कम ऊंचा न होगा। चारों ओर से आनेवाले श्रमणों के लिये लोग संघारामों (मठों) में कमरे बनाते हैं जहां उन (श्रमणों) की आवश्यकताएं पूरी की जाती हैं। यहां के राजा ने फाहियान और उसके साथियों को गोमती नामक विहार (संघाराम) में, जहां ३००० श्रमण रहते थे, बड़े सत्कार के साथ ठहराया था"। फाहियान अपने कुछ साथियों सहित रथयात्रा का उत्सव देखने के लिये यहां तीन मास ठहर गया। उसने वहां की रथयात्रा का जो वर्णन किया है वह बहुत अंश में जगदीश (पुरी) की वर्तमान रथयात्रा से मिलता जुलता है[1]। इसी तरह हुएन्त्संग ने अपनी भारत की यात्रा करते हुए भारत में प्रवेश करने के पूर्व और लौटते समय मध्य एशिया के देशों के धर्म और सभ्यता आदि का जो वर्णन किया है उससे भी वहां भारतीय सभ्यता का साम्राज्य होना पाया जाता है।

अब हम मध्य एशिया से शक लोग इस देश में आए उस समय उनके धर्मसंबंधी विचारों एवं उनके साथ यहांवालों के वर्त्ताव का कुछ विवेचन करते हैं—

विजयी शक अपना राज्य बढ़ाते हुए शकस्तान[2] (सीस्तान) तक पहुंच गए। फिर वि० सं० की पहली शताब्दी के आसपास उन्होंने अफ़ग़ानिस्तान और हिंदुस्तान में प्रवेश किया। इस देश में उनका एक राज्य पंजाब में, दूसरा मथुरा के आसपास के प्रदेश पर, और तीसरा राजपूताना, मालवा, गुजरात, काठियावाड़ और महाराष्ट्र पर रहा। इन तीन राज्यों में से पहले दो तो शीघ्र ही अस्त हो गए, परंतु तीसरा राज्य समय की प्रगति के साथ घटता बढ़ता लगभग तीन सौ वर्ष तक किसी प्रकार बना रहा जिसका अंत गुप्त वंश के प्रतापी राजा चंद्रगुप्त द्वितीय ने किया। इन शकों के समय के शिलालेख

(१) जेम्स लेगे; 'फाहियान्स ट्रैवल्स इन् इंडिया एंड सीलोन'; पृ० १६-१६।

(२) अफ़ग़ानिस्तान की दक्षिण-पश्चिमी सीमा से मिला हुआ ईरान का एक अंश।

एवं सिक्कों पर के चिह्नों आदि से पाया जाता है कि उनमें से कोई बौद्ध धर्म के अनुयायी थे, तो कोई वैदिक धर्म को मानते थे। उक्त तीसरे शक राज्य के राजाओं (महाक्षत्रपों) के सिक्कों में एक ओर सूर्य-चंद्र के बीच पर्वत (मेरु) का चिह्न और उसके नीचे नदी (गंगा) का चिह्न है[1]। आजकल जैसा ब्राह्मण धर्म और जैन धर्मवालों के बीच बर्ताव है वैसा ही जनता में उस समय वैदिक और बौद्ध धर्मवालों के बीच था। जैसे आजकल ओसवाल तथा अग्रवाल आदि महाजनों में कई कुटुंब वैदिक धर्म के एवं कई जैन धर्म के अनुयायी हैं, कहीं कहीं तो पति वैष्णव है तो स्त्री जैन है, ऐसा ही प्राचीन समय में भी व्यवहार होता था। पश्चिमी क्षत्रप राजा नहपान का दामाद उषवदात (ऋषभदत्त), जो शक दीनीक का पुत्र था, वेदधर्म को माननेवाला था[2], तो उसकी स्त्री दक्षमित्रा बौद्ध मत की पोषक थी[3]। क्षत्रप राजा रुद्रदामा को यहां की कई राजकन्याओं ने अपनी प्राचीन रीति के अनुसार स्वयंवर में वरमालाएं पहनाई थीं[4]। उसी रुद्रदामा की पुत्री का विवाह पुराण-प्रसिद्ध एतद्देशीय आंध्रवंशी राजा वासिष्ठीपुत्र शातकर्णी के साथ हुआ था[5] ऐसा प्राचीन शिलालेखों से स्पष्ट है। इन सब बातों का निष्कर्ष यही है कि उस समय यहांवाले बाहर से आए हुए इन शकों को असभ्य या जंगली नहीं, किंतु अपने जैसे ही सभ्य और आर्य जाति की संतति मानते और उनके साथ विवाह-संबंध जोड़ते थे। यहां के ब्राह्मण आदि लोग धर्म-संबंधी बातों में आज के जैसे संकीर्ण विचार के न थे और अटक से आगे बढ़ने पर अपना धर्म नष्ट होना नहीं मानते थे[6]। अनेक राजाओं ने भारत से उत्तरी देशों के अतिरिक्त कई अन्य देशों पर अपने

(१) प्रोफेसर इ. जे. रापसन् संपादित आंध्र और पश्चिमी क्षत्रपों आदि के सिक्कों की पुस्तक; प्लेट १०–१७।

(२) नासिक के पास की पांडव गुफा का लेख (ए. इं; जि. ८, पृ. ७८, लेखसंख्या १०)

(३) वही; पृ. ८१, ८५; लेखसंख्या ११, १३।

(४) *स्वयमधिगतमहाक्षत्रपनाम्ना नरेंद्रकन्यास्वयंवरानेकमाल्यप्राप्तदाम्ना महाक्षत्रपेण रुद्रदाम्ना।* (ए. इं; जि. ८, पृ० ४४)

(५) ए. इं; जि. १० का परिशिष्ट; पृ० १०३; लेखसंख्या ९९४। स्मि; अ. हि. इं; पृ० २१७।

(६) जब से अफ़ग़ानिस्तान पर मुसलमानों का अधिकार हुआ और वहां के लोग मुसलमान बनाए गए तब से भारतवासियों का अटक से परे जाना रुक गया था, परंतु

राज्य स्थिर किये थे और वहां पर भारतीय सभ्यता का प्रचार किया था। सुमात्रा, जावा आदि द्वीपों में भी उनके राज्य थे। वहां अनेक हिन्दू मंदिर थे, जो अब तक विद्यमान हैं, और उनके संस्कृत शिलालेख भी कई जिल्दों में छप चुके हैं। बोर्नियो के टापू में राजा मूलवर्मा के यज्ञ आदि के लेखवाले कई स्तंभ खड़े हुए हैं[1]। अफ़ग़ानिस्तान पर मुसलमानों के पहले हिन्दू राजाओं का ही राज्य था; ईरान प्राचीन आर्य सभ्यता और अग्नि की उपासना के लिये उधर का केंद्र था। ईरान तक ही नहीं, किंतु वहां से पश्चिम के एशिया माइनर से मिले हुए कीलाक्षर (Cuneiform) लिपि के शिलालेखों से पाया जाता है कि उक्त प्रदेश के मलेटिआ (Malatia) विभाग पर ई० स० पूर्व १५०० और १४०० में राज्य करनेवाले मिटन्नि (Mitanni) के राजा आर्य नाम धारण करते थे और ऋग्वेद के इंद्र, वरुण, मित्र और नासत्य देवताओं के उपासक भी थे[2]।

ऐसी दशा में यदि राजपूतों के प्रचलित रीति रिवाज शकों के रीति रिवाजों से मिलते हुए हों तो उसमें कोई आश्चर्य जैसी बात नहीं है, क्योंकि दोनों ही क्षत्रिय जातियां थीं। सूर्य की उपासना वैदिक काल से आर्य लोगों में प्रचलित थी और जहां जहां आर्य लोग पहुंचे वहां उसका प्रचार हुआ। शकों की पुरानी कथाओं का यहां की प्राचीन कथाओं से मिलना भी यही बतलाता है कि वे कथाएं यहां से ही मध्य एशिया आदि देशों में आर्यों के साथ पहुंची थीं। सती होने की प्रथा भी शकों के इस देश में आने से पूर्व की है। पांडु की दूसरी स्त्री माद्री सती हुई थी। अश्वमेध यज्ञ आर्यों ने शकों से सीखा, यह कथन सर्वथा निर्मूल है, क्योंकि वैदिक काल ही से भारतीय राजा अश्वमेध करते आए हैं। युधिष्ठिर आदि अनेक क्षत्रिय राजाओं ने अश्वमेध किये थे। शस्त्र और घोड़ों की पूजा प्राचीन काल से लगाकर अब तक बराबर होती है। एक दूसरे से बहुत दूर बसने के कारण उनकी भाषा, पोशाक, रहन-

राजपूताने के कई राजा आदि अटक से परे अफ़ग़ानिस्तान, बलख़ आदि प्रदेशों में गये और वहां विजय प्राप्त कर मुग़लों का राज्य सुस्थिर किया। अब तो कई ब्राह्मण, वैश्य, खत्री आदि काबुल में ही नहीं, किंतु दूर दूर के प्रदेशों में जाते हैं और वहां व्यापार करते हैं।

(१) डॉ. वोजेल; 'यूप इन्स्क्रिप्शन्स ऑफ् किंग मूलवर्मन् फ्रॉम कोएटी (ईस्ट बोर्नियो) पृ. १६६-२३२।

(२) प्रोफ़ेसर इ. जे. राप्सन; 'एनश्यंट इंडिया'; पृ. ७६-८०।

सहन में समयानुसार अंतर पड़ना स्वाभाविक है। मध्य एशिया तक के दूरवर्ती देश की बात को जाने दीजिये कश्मीर और पंजाब के वर्तमान हिंदुओं की इन्हीं बातों का बंगाल, राजपूताना, गुजरात और महाराष्ट्र के हिन्दुओं से मिलान करने पर भी परस्पर बड़ा अंतर पाया जाता है।

अब हम कुशन (यूची)वंशियों के विषय का कुछ विवेचन करते हैं—

ये लोग मध्य एशिया के उस प्रदेश से भारतवर्ष में आए जिसको तुर्किस्तान कहते हैं। इनके सिक्कों में से अधिकांश पर एक तरफ़ राजा की खड़ी हुई मूर्त्ति और दूसरी ओर बैल (नंदी) के पास खड़े हुए शिव की मूर्त्ति बनी है[1]। बाकी के सिक्कों पर सूर्य, बुद्ध तथा अन्य देवी देवताओं की मूर्त्तियां हैं। अनेक सिक्कों पर राजा अग्नि में आहुति देता हुआ खड़ा है। हम ऊपर बतला चुके हैं कि तुर्किस्तान में आर्य लोग निवास करते थे और वहां आर्य सभ्यता फैली हुई थी। 'एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटानिका' में लिखा है कि 'जब से इतिहास पता देता है पूर्वी (मध्य एशिया के) तुर्किस्तान में आर्य जाति निवास करती थी[2]'। ऊपर वर्णन किए हुए उनके सिक्कों से भी यही पाया जाता है। उक्त सिक्कों में राजा के सिर पर या तो लंबी टोपी या मुकुट, बदन पर कोट और पैरों में लंबे बूट दीख पड़ते हैं, जो उक्त शीतप्रधान देश के लिये आवश्यक ही हैं। हिन्दुस्तान में आने के पीछे भी वे वैदिक और बौद्ध धर्म के अनुयायी रहे थे।

प्राचीन काल से भारत के क्षत्रिय राजाओं में देवकुल बनाने की प्रथा थी, जहां राजाओं की मृत्यु के पीछे उनकी मूर्त्तियां रक्खी जाती थीं। प्रसिद्ध कवि भास ने, जो कालिदास से भी पूर्व हुआ था, अपने 'प्रतिमा नाटक' में अयोध्या के निकट बने हुए रघुवंशियों के देवकुल का वर्णन किया है, जिसमें राजा दिलीप, रघु, अज और दशरथ की मूर्त्तियां रक्खी हुई थीं[3]। पाटलीपुत्र (पटना) के निकट पुराणप्रसिद्ध शिशुनागवंशी राजाओं का देवकुल था[4],

(१) गार्डनर; 'दी कॉइन्स आफ़ दी ग्रीक ऐंड सीथिक् किंग्ज़ आफ़ बाक्ट्रिया ऐंड इंडिया'; प्लेट २५, संख्या ६–८; १२–१४।

(२) जि० २३, पृ० ६३६।

(३) ना. प्र प; भाग ४, पृ० २६७–७०।

(४) वही; भा. १, पृ० १०१।

जहां से उस नगर के बसानेवाले महाराज उदयन और सम्राट् नंदिवर्द्धन की मूर्त्तियां मिली हैं। कुशनवंशी राजाओं का देवकुल मथुरा से ६ मील माट गांव में था। वहां से एक शिलालेख १४ टुकड़ों में मिला जिसका कुछ अंश नष्ट भी हो गया है। उसका आशय यह है कि "सत्यधर्मस्थित महाराज राजातिराज देवपुत्र हुविष्क के दादा का यहां देवकुल था, जिसको टूटा हुआ देखकर महाराज राजातिराज देवपुत्र हुविष्क की आयु तथा बलवृद्धि की कामना से महादंडनायक.......के पुत्र ब[कन] पति......ने उसकी मरम्मत करवाई[1]"। इससे स्पष्ट है कि कुशनवंशियों में भी रघु और शिशुनागवंशी राजाओं के समान देवकुल बनाने की प्रथा थी। इन बातों को देखने से इनका आर्य होना निश्चित है। इन राजाओं के राजत्वकाल के कई बौद्ध, जैन और ब्राह्मणों के शिलालेख मिले हैं, जिनमें इनके संवत्, नाम तथा खिताब मिलते हैं, परंतु अबतक इनके खुदवाए हुए ऐसे लेख नहीं मिले जिनसे इनकी वंशपरंपरा, विस्तृत वृत्तांत या इनके शादी व्यवहार आदि का पता चलता हो। ऐसी दशा में यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि भारत के प्राचीन क्षत्रिय राजवंशियों के साथ इनके विवाह आदि संबंध कैसे थे, परंतु अनुमान होता है कि इनके आर्य होने और शिव, अग्नि, सूर्य आदि देवताओं के उपासक होने से क्षत्रियों का इनके साथ संबंध रहा हो तो आश्चर्य नहीं।

अब हम हूणों के संबंध का थोड़ा सा परिचय देते हैं—

हूण भी मध्य एशिया में रहनेवाली एक आर्य जाति थी, जिसने बल प्राप्त कर एशिया और यूरोप के कई देश विजय किये और उनपर अपना अधिकार जमा लिया था। चीनी ग्रंथकार उनको 'यूनयून्', 'येथिलेटो' और 'येथ'; यूनानी इतिहास-लेखक 'उन्नोई' (हूण), 'लुकोई उन्नोई' (श्वेत हूण), 'एफ़थेलाइट' या 'नेफ़थेलाइट'; और संस्कृत विद्वान् 'हूण', 'हून', 'श्वेतहूण' या 'सितहूण' कहते थे। महाभारत तथा पुराण आदि ग्रंथों में हूणों का उल्लेख मिलता है उसका संबंध उनके मध्य एशिया में निवास करने के समय से है, क्योंकि भारत में वि० सं० की छठी शताब्दी के पूर्वार्द्ध तक उनका आना पाया नहीं जाता। मध्य एशिया में बौद्ध धर्म का प्राबल्य था और हूणों ने भी उसे स्वीकार किया हो जिससे ब्राह्मण लेखकों ने धर्मद्वेष के कारण मध्य एशिया की अन्य

(१) ज. रॉ. ए. सो; ई. स. १९२४, पृ० ४०२-३।

बतलाए हुए भारतीय ख़िताबों के अतिरिक्त उनका 'षाही' ख़िताब भी होना पाया जाता है। इसपर कई विद्वानों का यह अनुमान करना निर्मूल नहीं है कि हूण कुशनवंशियों की शाखा हों। ऐसे ही मिहिरकुल के अनन्य शिवभक्त और बौद्धों के कट्टर विरोधी होने से, जैसा कि हम आगे हूणों के वृत्तांत में बतलावेंगे, यहां के क्षत्रियों के साथ उक्त वंश के राजाओं का शादी व्यवहार होना कोई आश्चर्य की बात नहीं है, परंतु यह माना नहीं जा सकता कि राजपूत हूणों से निकले हैं।

अब मि० स्मिथ के इस कथन की जांच करना आवश्यक है कि 'हूणों का बड़ा विभाग गुर्जर या गूजर था'। गुजरात के चौलुक्य (सोलंकी) सामंत पुलकेशी के त्रैकूटक (कलचुरि) संवत् ४६० (वि० सं० ७६५-६६=ई० स० ७३८-३९) के दानपत्र से पाया जाता है कि 'चावोटक (चावड़े) और गुर्जर दोनों भिन्न भिन्न वंश थे'[1]। जोधपुर राज्य की उत्तरी सीमा से लगाकर भड़ौंच तक सारा देश एक समय गुर्जरों के अधीन होने से 'गुर्जरत्रा' या गुजरात कहलाया। उक्त देश पर गुर्जरों का अधिकार कब हुआ यह अब तक अनिश्चित है तथापि इतना तो निश्चित है कि शक सं० ५५० (वि० सं० ६८५=ई० स० ६२८) में गुर्जर देश की राजधानी भीनमाल में चाप (चावड़ा) वंश का राजा व्याघ्रमुख राज्य करता था[2]। उससे पूर्व भी वहां उक्त वंश के राजाओं का राज्य रहा हो। उक्त संवत् से बहुत पूर्व गुर्जरों का राज्य वहां से अस्त हो चुका था और उनकी स्मृति का सूचक देश का नाम गुर्जरत्रा (गुजरात) मात्र अवशेष रह गया था। अतएव गुर्जरों का वि० सं० ४०० से भी पूर्व या उसके आसपास भीनमाल पर राज्य रहना संभव हो सकता है। उस समय से अनुमान १६० वर्ष पीछे वि० सं० ५६७ (ई० स० ५१०) के लगभग हूणों का अधिकार राजपूताने पर हुआ; इस अवस्था में गुर्जरों को हूण मानना केवल कपोलकल्पना है। ऐसे ही कन्नौज के प्रतापी प्रतिहारों (पड़िहारों)

(१) ना. प्र. प; भा. १, पृ. २१०-११।

(२) *श्रीचापवंशतिलके श्रीव्याघ्रमुखे नृपे शकनृपाणाम्।*
पंचाशत्संयुक्तैर्वर्षशतैः पंचभिरतीतैः॥ ७॥
ब्राह्मः स्फुटसिद्धांतः सज्जनगणितगोलवित्प्रीत्यै।
त्रिंशद्वर्षेण कृतो जिष्णुसुतब्रह्मगुप्तेन॥ ८॥ ('ब्राह्मस्फुटसिद्धान्त')

का भी गुर्जरों से कोई संबंध नहीं था यह हम आगे प्रतिहारों के वर्णन में बतलावेंगे।

क्या राजपूतों का उदय मि० विन्सेंट स्मिथ के लेखानुसार ई० स० की आठवीं या नवीं शताब्दी में एकाएक हुआ? इसके उत्तर में हम कह सकते हैं कि राजपूताने में ही गुहिल, चावड़े, यादव और मौर्य आदि राजवंश ई० स० की सातवीं शताब्दी में तथा उससे पूर्व भी विद्यमान थे।

गुहिलवंशी राजा शीलादित्य (शील) का सामोली गांव (मेवाड़ के भोमट ज़िले में) से मिला हुआ वि० सं० ७०३ (ई० स० ६४६) का शिलालेख[1] राजपूताना म्यूज़ियम् (अजमेर) में सुरक्षित है। शीलादित्य से पूर्व के चार राजाओं के नाम भी प्राचीन शिलालेखों में मिलते हैं, जिससे उक्त वंश के मूलपुरुष गुहिल का समय वि० सं० ६२५ (ई० स० ५६८) के आसपास स्थिर होता है।

चावड़ावंशी राजा व्याघ्रमुख शक सं० ५५० (वि० सं० ६८५=ई० स० ६२८) में भीनमाल में राज्य करता था ऐसा 'ब्राह्मस्फुटसिद्धान्त' से ऊपर बतलाया जा चुका है।

यादव प्राचीन काल से मथुरा और उसके आसपास के प्रदेश पर राज्य करते रहे। कामां (कामवन, भरतपुर राज्य में) की 'चौरासी खंबा' नाम की मसजिद में, जो हिन्दू मंदिरों को गिराकर उनके पत्थरों से बनाई गई है, एक स्तंभ पर शूरसेनवंशी यादव राजा वत्सदामा[2] का खंडित शिलालेख विद्यमान है, जिसकी लिपि झालरापाटनवाले राजा दुर्गगण के वि० सं० ७४६ (ई० स० ६८९) के शिलालेख की लिपि से मिलती हुई है। यदि कामां का लेख वि० सं० की आठवीं शताब्दी के अंत का भी माना जाय तो भी उसमें लिखे हुए वत्सदामा के पूर्व के सातवें राजा फक्क का समय—प्रत्येक राजा के राज्यसमय की औसत बीस वर्ष मानने से—वि० सं० ६८० (ई० स० ६२३) के आसपास स्थिर होता है।

मौर्य या मोरी वंश के राजा मान का एक शिलालेख वि० सं० ७७० (ई० स० ७१३) का[3] चित्तोड़ के क़िले से ३ मील दूर पूठोली गांव के पास मानसरोवर

(१) ना. प्र. प; भाग १, पृ० ३१२-२४।

(२) इं. ऐं; जि० १०, पृ० ३४-३६।

(३) टॉ; रा; जि. २, पृ० ९१९-२२।

नामक तालाव पर मिला है। उसमें राजा मान के प्रपितामह माहेश्वर से मौर्यों की वंशावली दी है; अतएव माहेश्वर का समय वि० सं० की सातवीं शताब्दी के अंत के आसपास आता है। इन थोड़े से उदाहरणों से स्पष्ट है कि मि० विन्सेंट स्मिथ का उपर्युक्त कथन भी भ्रमपूर्ण ही है।

कुछ विद्वान् वर्तमान राजपूत वंशों को आर्य क्षत्रिय न मानने में यह भी प्रमाण उपस्थित करते हैं कि पुराणों में लिखा है कि 'शिशुनाग वंश के अंतिम राजा महानंदी के पीछे शूद्रप्राय और अधर्मी राजा होंगे'। इस विषय में हम अपना मत प्रकाशित करने के पूर्व इस प्रश्न को पाठकों के ध्यान में सम्यक् प्रकार से जमाने के लिये इतना कहना उचित समझते हैं कि वास्तव में पुराणों में इस विषय में क्या लिखा है, और काल पाकर उस लेख ने कैसा रूप धारण कर लिया है। मत्स्य, वायु, ब्रह्मांड, भागवत और विष्णु पुराण में लिखा है कि "महानंदी का पुत्र महापद्म (नंद) शूद्रा स्त्री से उत्पन्न होकर अपने ८८ वर्ष के शासन-काल में क्षत्रियों को नष्ट करेगा। उस महापद्म के सुमाल्य (सुकल्प) आदि आठ पुत्र १२ वर्ष राज्य करेंगे, तत्पश्चात् कौटिल्य (विष्णुगुप्त, चाणक्य) ब्राह्मण इन (नव नंदों) को नष्ट करेगा और मौर्य (चंद्रगुप्त) राजा होगा[1]।

(१) *महानन्दिसुतश्चापि शूद्रायां कलिकांशजः ।*
उत्पत्स्यते महापद्मः सर्वक्षत्रांतको नृपः ॥
ततः प्रभृति राजानो भविष्याः शूद्रयोनयः ।
एकराट् स महापद्म एकच्छत्रो भविष्यति ॥
अष्टाशीति तु वर्षाणि पृथिव्यां च भविष्यति ।
सर्वक्षत्रमथोद्धृत्य भाविनार्थेन चोदितः ॥
सुकल्पादिसुता ह्यष्टौ समा द्वादश ते नृपाः ।
महापद्मस्य पर्याये भविष्यन्ति नृपाः क्रमात् ॥
उद्धरिष्यति तान् सर्वान् कौटिल्यो वै द्विजर्षभः ।
भुक्त्वा महीं वर्षशतं ततो मौर्यान् गमिष्यति ॥

'मत्स्यपुराण'; अध्याय २७२, श्लो० १७–२२। 'वायुपुराण'; अध्याय ९९, श्लो० ३२६–३१। 'ब्रह्मांडपुराण'; ३। ७४। १३९–४३।

महानंदिसुतः शूद्रागर्भोद्भवोतिलुब्धो महापद्मो नंदः परशुराम इवापरोखिल-

पाश्चात्य पुराने लेखकों में से केवल एक प्लुटार्क नामी यूनानी लेखक ने, जो ई० स० की दूसरी शताब्दी में हुआ, पुरानी जनश्रुति के आधार पर ऐसा लिखा है कि "मगध के राजा (महानंदी) की एक राणी का प्रेम किसी नाई के साथ हो गया। इन दोनों ने राजा को मार डाला और नाई उसके राज्य का स्वामी हो गया। उसीका पुत्र (महापद्म) सिकंदर के समय वहां का राजा था[1]"। महापद्म या उसके पुत्रों को चंद्रगुप्त ने मारकर मगध का राज्य छीन लिया।

बहुत काल पीछे वि० सं० की आठवीं शताब्दी के आसपास विशाखदत्त पंडित ने अपने 'मुद्राराक्षस' नामक नाटक में चाणक्य (कौटिल्य) और चंद्रगुप्त के संवाद में चाणक्य का चंद्रगुप्त को 'वृषल' शब्द से संबोधन करना बतलाया है। उसी मुद्राराक्षस के टीकाकार ढुंढिराज ने, शक संवत् १६३५ (वि० सं० १७७०=ई० स० १७१३) में शायद विशाखदत्त के 'वृषल' शब्द के आधार पर या किसी प्रचलित दंतकथा के अनुसार, अपनी टीका में यह लिख दिया कि "नंद वंश के अंतिम राजा सर्वार्थसिद्धि (नंद) की वृषल (शूद्र) जाति की मुरा नामक राणी से चंद्रगुप्त उत्पन्न हुआ, जो अपनी माता के नाम से 'मौर्य' कहलाया[2]"। इन्हीं ऊटपटांग कथाओं को ध्यान में रखकर आजकल

क्षत्रांतकारी भविता। ततः प्रभृति शूद्रा भूमिपाला भविष्यंति। स चैकच्छत्रामनुल्लंघितशासनो महापद्मः पृथिवीं भोक्ष्यति। तस्याप्यष्टौ सुताः सुमाल्याद्या भवितारस्तस्य च महापद्मस्यानु पृथिवीं भोक्ष्यंति महापद्मस्तत्पुत्राश्च एकं वर्षशतमवनीपतयो भविष्यंति नवैव तान्नंदान्कौटिल्यो ब्राह्मणः समुद्धरिष्यति। तेषामभावे मौर्याश्च पृथिवीं भोक्ष्यंति कौटिल्य एव चंद्रगुप्तं राज्येभिषेक्ष्यति॥

'विष्णुपुराण'; अंश ४, अध्याय २४। ऐसे ही 'श्रीमद्भागवतः'; स्कंध १२, अध्याय १, श्लो. ८-१३।

(१) मैक् क्रिंडल'; 'इन्वेज़न ऑफ् इंडिया बाई अलेक्ज़ैंडर दी ग्रेट'; पृ० २८२।

(२) *कल्यादौ नन्दनामानः केचिदासन्महीभुजः॥ २३॥*
सर्वार्थसिद्धिनामासीत्तेषु विख्यातपौरुषः। .... ॥ २४॥
राज्ञः पत्नी सुनन्दासीज्ज्येष्ठान्या वृषलात्मजा।
मुराख्या सा प्रिया भर्तुः शीललावण्यसंपदा॥ २५॥
मुराप्रसूतं तनयं मौर्याख्यं गुणवत्तरं। .... ॥ ३१॥

मुद्राराक्षस की टीका का उपोद्घात; पृ० ४।

के यूरोपियन तथा अन्य विद्वानों ने यह मान लिया है कि वर्तमान राजपूत आर्य क्षत्रिय नहीं, और चंद्रगुप्त मगध के नंदवंशियों का वंशधर था।

पुराण, बृहत्कथा, कथासरित्सागर और मुद्राराक्षस में तो कहीं इस बात का उल्लेख भी नहीं है कि चंद्रगुप्त नंद वंश में उत्पन्न हुआ था या उसकी माता का नाम मुरा था। उनमें तो केवल उसको मौर्य (मौर्यवंशी) माना है।

यूनानी लेखक प्लुटार्क का ऊपर लिखा हुआ कथन चंद्रगुप्त से अनुमान ४७५ वर्ष पीछे का है और उसमें भी सिकंदर के समय मगध पर राज्य करनेवाले राजा (महापद्म, नंद) को नाई का पुत्र लिखा है। उसने भी चंद्रगुप्त को नंद का पुत्र नहीं माना। मुद्राराक्षस में चंद्रगुप्त को संबोधन करने में कौटिल्य के मुख से 'वृषल' (शूद्र) शब्द का प्रयोग कराना उक्त नाटक के रचयिता की धृष्टता ही है, क्योंकि जब चद्रगुप्त जैसा सम्राट् कौटिल्य को आदर सहित 'आर्य' शब्द से संबोधन कर उसके चरणों के आगे सिर झुकाता है, तो क्या यह संभव है कि कौटिल्य उसका इस प्रकार अनादर करे?

चंद्रगुप्त का नंद वंश के साथ न तो कोई संबंध ही था, और न वह मुरा नाम की शूद्रा स्त्री से उत्पन्न हुआ था। वह तो हिमालय के निकट के एक प्रदेश का, जो मोर पक्षियों की अधिकता के कारण मौर्यराज्य कहलाता था, उच्चकुल का क्षत्रियकुमार था जैसा कि बौद्ध ग्रंथों से पाया जाता है[1]। मौर्य वंश नंद वंश की अपेक्षा प्राचीन था, क्योंकि ई० स० पूर्व ४७७ (वि० सं० पूर्व ४२०) में जब बुद्धदेव का निर्वाण हुआ तो उनकी अस्थियों का विभाग लेने में अन्य क्षत्रियों के समान पिप्पलीवन के मौर्य क्षत्रियों ने भी दावा किया था[2]। बौद्ध लेखक मौर्यों का उसी (सूर्य) वंश में होना बतलाते हैं जिसमें भगवान् बुद्धदेव का जन्म हुआ था। ऐसे ही जैन लेखक भी उनका सूर्यवंशी क्षत्रिय होना मानते हैं[3]। मौर्य राजा अशोक के समय बौद्ध धर्म का प्रचार भारत में बहुत

---

(१) मैक् क्रिंडल; 'इनवेज़न ऑफ़ इंडिया बाई अलेग्ज़ेंडर दी ग्रेट;' पृ० ४०८; और महावंश की टीका।

(२) कर्न; 'मैन्युअल् ऑफ़ इंडियन् बुद्धिज़म्'; पृ० ४६ (एन्साइक्लोपीडिया ऑफ़ इंडो आर्यन् रिसर्च में)

(३) 'कुमारपालप्रबंध' में चित्तोड़ के मौर्यवंशी राजा चित्रांगद को रघुवंशी कहा है। *रामभुनिराह पुरा रघोर्वंशे चित्रांगदो राजा अभिनवैः फलैः....।*

बढ़ गया जिससे ब्राह्मणों का मत निर्बल होता जाता था, अतएव धर्मद्वेष के कारण महापद्म के शूद्रा स्त्री से उत्पन्न होने और मौर्यों के बौद्ध धर्म को अंगीकार कर लेने से ब्राह्मणों ने ऐसा लिख दिया हो कि नंद वंश से राजा शूद्रप्राय और अधर्मी होंगे। पुराणों के इस कथन में उतनी ही सत्यता है जितनी कि परशुराम के २१ बार पृथ्वी को निःक्षत्रिय करने की कथा में है। जैसे ख़ास परशुराम के समय और उनके पीछे भी क्षत्रिय राजा विद्यमान थे वैसे ही नंद वंश के समय तथा उसके पीछे भी अनेक क्षत्रिय वंशों का विद्यमान होना सिद्ध है। यह तो प्रत्यक्ष है कि न तो सारे पुराण एक ही समय में लिखे गए और न उनमें दी हुई वंशावलियां राजवंशों का क्रमवार होना सूचित करती हैं, किंतु वे भिन्न भिन्न प्रदेशों पर राज्य करनेवाले कई समकालीन वंशों की सूचक हैं। उनमें वि० सं० की पांचवीं शताब्दी के आसपास तक होनेवाले राजवंशों का उल्लेख मिलता है। नंद और मौर्य वंशों के पीछे भी क्षत्रिय वंश विद्यमान होने के बहुत से प्रमाण मिलते हैं, जिनमें से थोड़े से हम नीचे उद्धृत करते हैं-

(१) अश्वमेध या राजसूय यज्ञ सार्वभौम क्षत्रिय राजा ही करते थे[1]। यह प्रथा वैदिक काल से चली आती थी। अश्वमेध आदि वैदिक यज्ञों का होना अशोक ने बंद किया, परंतु मौर्यवंश के अंतिम राजा ब्रहद्रथ को मारकर उसका सेनापति पुष्यमित्र उसके साम्राज्य का स्वामी बना। उसने फिर वैदिक धर्म के अनुसार दो अश्वमेध यज्ञ किये[2]। पुष्यमित्र के यज्ञ में महाभाष्य के कर्ता पतंजलि भी विद्यमान थे[3]। यदि वह शूद्र होता तो संभव नहीं कि पतंजलि जैसे विद्वान् ब्राह्मण उसके यज्ञ में संमिलित होते। पुष्यमित्र के पीछे आंध्र[4] (सातवाहन), वाकाटक[5] आदि कई वंश के राजाओं ने अश्वमेध आदि

---

(१) *क्षत्रियस्यापि यो धर्मस्तं ते वक्ष्यामि पार्थिव।*
दद्याद्राजा न याचेत यजेत न च याजयेत् ॥····॥
पालयित्वा प्रजाः सर्वा धर्म्मेण जयताम्वर।
राजसूयाश्वमेधादीन् मखानन्यांस्तथैव च ॥

'पद्मपुराण'; स्वर्गखंड, अध्याय २८; 'शब्दकल्पद्रुम'; कांड २, पृ० २२७।

(२) ना. प्र. प; भाग ५, पृ० ९९-१०४; २०२।

(३) ना. प्र. प; भाग ५, पृ० २०३, टिप्पण †।

(४) खड्गविलास प्रेस (बांकीपुर) का छपा हिंदी 'टॉड राजस्थान'; खंड १, पृ० ५१४।

(५) वही; पृ० ५३१।

यज्ञ किये ऐसा शिलालेखादि से सिद्ध है।

(२) कटक (उड़ीसे में) के पास उदयगिरि की हाथी गुफा में खुदे हुए वि० सं० पूर्व की दूसरी शताब्दी के राजा खारवेल के लेख में कुसंब जाति के क्षत्रियों का उल्लेख है[१]।

(३) शक उपवदात के नासिक के पास की पांडव गुफा के लेख में, जो वि० सं० की दूसरी शताब्दी का है, लिखा है कि 'मैं (उपवदात) भट्टारक (नहपान) की आज्ञा से मालयों (मालवों) से घिरे हुए उत्तमभाद्रों को मुक्त करने को वर्षा ऋतु में गया और मालव मेरे पहुंचने का शोर सुनते ही भागे, परंतु वे सब उत्तमभाद्र क्षत्रियों के बंधुए बनाए गए। वहां से मैंने पुष्कर में जाकर स्नान किया और वहां ३००० गौ और एक गांव दान में दिया[२]।

(४) मथुरा के आसपास के प्रदेश पर महाभारत के युद्ध से पूर्व भी यदुवंशी राज्य करते थे, जो समय के कई हेर फेर सहते हुए अब तक विद्यमान हैं। शूरसेनवंशी यादवों के कई प्राचीन शिलालेख उसी प्रदेश से मिल चुके हैं[३]।

(५) शक सं० ७२ (वि० सं० २०७=ई० स० १५०) के आसपास के गिरनार पर्वत के निकट एक चट्टान पर खुदे हुए, क्षत्रपवंशी राजा रुद्रदामा के लेख में दर्ज है कि "उसने क्षत्रियों में 'वीर' पदवी धारण करनेवाले यौधेयों को नष्ट किया था"। उसमें यौधेयों को स्पष्टरीत्या क्षत्रिय लिखा है[४]। इस विषय का विशेष वर्णन यौधेयों के हाल में लिखा जायगा।

---

(१) *कुसंवानं खतियं च सहायवता पतं मसिकनगरं (कुसंबानां क्षत्रियाणां च सहायवता प्राप्तं मसिकनगरं)* भगवानलाल इंद्रजी; 'दी हाथी गुंफा ऐंड थ्री अदर इन्स्क्रिप्शन्स'; पृ० २४ और ३६।

(२) *भटारका अंञातिया च गतोस्मि वर्षारतुं मालयेहि रुधं उमतभाद्रं मोचयितुं ते च मालया प्रनादेनेव अपयाता उतमभद्रकानं च क्षत्रियानं सर्वे परिग्रहा कृता ततोस्मि गतो पोक्षरानि तत्र च मया अभिसेको कृतो त्रीणि च गोसहस्रानि दतानि ग्रामो च* (ए. इं; जि. ८, पृ० ७८)

(३) देखो ऊपर पृ० ५७।

(४) *सर्व्वक्षत्राविष्कृतवीरशब्दजातोत्सेकाविधेयानां यौधेयानां प्रसह्योत्सादकेन* (ए. इं; जि. ८, पृ० ४४ और ४७)

(६) जग्गयपेट के शिलालेख में जो वि० सं० की तीसरी शताब्दी के आसपास का है, माढरीपुत्र राजा श्रीवीरपुरुषदत्त को इक्ष्वाकुवंशी[1] बतलाया है। इन प्रमाणों से स्पष्ट है कि नंद और मौर्य वंश के पीछे भी क्षत्रिय राजवंश विद्यमान थे।

राजपूतों को क्षत्रिय न माननेवालों की एक दलील यह भी है कि 'राजपूतों में चौहान, सोलंकी, प्रतिहार और परमार ये चार कुल अग्निवंशी हैं और उनके मूल पुरुषों का आबू पर वसिष्ठ के अग्निकुंड से उत्पन्न होना बतलाया जाता है। अग्नि से उत्पत्ति मानने का तात्पर्य यही है कि वे क्षत्रिय नहीं थे जिससे उनको अग्नि की साक्षी से संस्कार कर क्षत्रियों में मिला लिया'। इसका उत्तर यह है कि इन चार राजवंशों का अग्निवंशी होना केवल 'पृथ्वीराजरासे' में लिखा है, परंतु उसके कर्ता को राजपूतों के प्राचीन इतिहास का कुछ भी ज्ञान न था, जिससे उसने मनमाने झूठे संवत् और बहुधा अप्रामाणिक घटनाएं उसमें भर दी हैं। ऐसे ही वह पुस्तक वि० सं० की १६ वीं शताब्दी के पूर्व की बनी हुई भी नहीं है। जो विद्वान् 'पृथ्वीराजरासे' को सम्राट् पृथ्वीराज के समय का बना हुआ मानते हैं उनमें से किसीने भी उसकी पूरी जांच नहीं की। यदि वह प्राचीन शोध की कसौटी पर कसा जाता तो उसकी वास्तविकता प्रकट हो जाती। जब से कश्मीरी पंडित जयानक का बनाया हुआ 'पृथ्वीराजविजय महाकाव्य', जो पृथ्वीराज के समय में ही लिखा गया था, प्रसिद्ध विद्वान् डाक्टर बूलर को कश्मीर से प्राप्त हुआ, तब से शोधक बुद्धि के विद्वानों की श्रद्धा 'पृथ्वीराजरासे' पर से उठ गई है।

अब यह देखना आवश्यक है कि वि० सं० की १६ वीं शताब्दी के पूर्व चौहान आदि राजवंशी अपने को अग्निवंशी मानते थे वा नहीं। वि० सं० ८१३ (ई० स० ७५६) से लगाकर वि० सं० १६०० (ई० स० १५४३) तक के चौहानों के बहुत से शिलालेख, दानपत्र तथा ऐतिहासिक संस्कृत पुस्तक मिले हैं, जिनमें से किसी में उनका अग्निवंशी होना नहीं लिखा। 'पृथ्वीराजविजय' में जगह जगह उनको सूर्यवंशी[2] बतलाया है। पृथ्वीराज से पूर्व अजमेर के चौहानों में

(१) *सिधं । रञे(जो) माढरिपुतस इखाकुना(णं) सिरिविरपुरिसदतस संवछर २०*। ('भारतीय प्राचीनलिपिमाला'; पृ. ४८; लिपिपत्र १२)

(२) *काकुत्स्थमिक्ष्वाकुरघू च यद्दधत्पुराभवत्त्रिप्रवरं रघोः कुलम्*।

विग्रहराज (वीसलदेव चौथा) बड़ा विद्वान् और वीर राजा हुआ जिसने अजमेर में एक सरस्वती मंदिर स्थापित किया था। उसमें उसने अपना रचा हुआ 'हरकेलि नाटक' तथा अपने राजकवि सोमेश्वररचित 'ललितविग्रहराज नाटक' को शिलाओं पर खुदवाकर रखवाया था। वहीं से मिली हुई एक बहुत बड़ी शिला पर किसी अज्ञात कवि के बनाए हुए चौहानों के इतिहास के किसी काव्य का प्रारंभिक अंश खुदा है, जिसमें भी चौहानों को सूर्यवंशी ही लिखा है[१]। वि० सं० १४५० (ई० स० १३६३) के आसपास ग्वालियर के तंवर राजा वीरम के दरबार में प्रतिष्ठा पाए हुए जैन विद्वान् नयचंद्रसूरि ने 'हंमीरमहाकाव्य' नामक चौहानों के इतिहास का ग्रंथ रचा, जिसमें भी चौहानों का सूर्यवंशी होना माना है[२]। अतएव स्पष्ट है कि वि० सं० की १६ वीं शताब्दी के पूर्व चौहान अपने को अग्निवंशी नहीं मानते थे।

शक सं० ३१० (वि० सं० ४४५=ई० स० ३८८) से लगाकर वि० सं०

कलावपि प्राप्य सचाहमानतां प्ररूढतुर्यप्रवरं बभूव तत् ॥ २ । ७१ ॥

.... भानोः प्रतापोन्नति ।

तन्वन्गोलगुरोर्निजेन नृपतेर्जज्ञे सुतो जन्मना ॥ ७ । ५० ॥

सुतोप्यपरगाङ्गेयो निन्ये स्वं रविसूनुना ।

उन्नतिं रविवंशस्य पृथ्वीराजेन पश्यता ॥ ८ । ५४ ॥

'पृथ्वीराजविजय महाकाव्य'।

(१) ....*देवो रविः पातु वः ॥ ३३ ॥*

तस्मात्समालंव(ब)नदंडयोनिरभूज्जनस्य स्खलतः स्वमार्गे ।

वंशः स दैवोढरसो नृपाणामनुद्गतैनोघुणकीटरंध्रः ॥ ३४ ॥

समुत्थितोर्कादनरण्ययोनिरुत्पन्नपुन्नागकदंव(ब)शाखः ।

आश्चर्यमंतःप्रसरत्कुशोयं वंशोर्थिनां श्रीफलतां प्रयाति ॥ ३५ ॥

आधिव्याधिकुवृत्तदुर्गतिपरित्यक्तप्रजास्तत्र ते ।

सप्तद्वीपभुजो नृपाः समभवन्निक्ष्वाकुरामादयः ।....॥ ३६ ॥

तस्मिन्नथारिविजयेन विराजमानो राजानुरंजितजनोजनि चाहमानः ।

....॥३७॥

(२) 'हंमीरमहाकाव्य'; सर्ग १।

की १६ वीं शताब्दी तक सोलंकियों के अनेक दानपत्र, शिलालेख तथा कई ऐतिहासिक संस्कृत ग्रंथ मिले, जिनमें कहीं उनका अग्निवंशी होना नहीं लिखा, किंतु उसके विरुद्ध उनका चंद्रवंशी और पांडवों की संतान होना जगह जगह बतलाया है[1]।

वि० सं० ८७२ (ई० स० ८१५) से लगाकर वि० सं० की १४ वीं शताब्दी के पीछे तक प्रतिहारों (पड़िहारों) के जितने शिलालेख, दानपत्रादि मिले उनमें कहीं भी उनका अग्निवंशी होना नहीं माना। वि० सं० ६०० (ई० स० ८४३) के आस पास की ग्वालियर से मिली हुई प्रतिहार राजा भोजदेव की बड़ी प्रशस्ति में प्रतिहारों को सूर्यवंशी बतलाया है[2]। ऐसे ही वि० सं० की दसवीं शताब्दी के मध्य में होनेवाले प्रसिद्ध कवि राजशेखर ने अपने नाटकों में अपने शिष्य महेंद्रपाल (निर्भयनरेंद्र) को, जो उक्त भोजदेव का पुत्र था, 'रघुकुलतिलक[3]' कहा है।

इन ऊपर उद्धृत किये हुए प्रमाणों से यह तो स्पष्ट है कि चौहान, सोलंकी

---

(१) सोलंकियों की उत्पत्ति के विषय के जो जो प्रमाण उनके शिलालेखों, दानपत्रों और ऐतिहासिक संस्कृत पुस्तकों में मिले वे सब मैंने 'सोलंकियों के प्राचीन इतिहास' के प्रथम भाग में पृ० ३ से १३ तक एकत्रित किये हैं।

(२) *मन्विक्ष्वाकुककुस्थ(त्स्थ)मूलपृथवः क्ष्मापालकल्पद्रुमाः ॥ २ ॥*

तेषां वंशे सुजन्मा क्रमनिहतपदे धाम्नि वज्रेषु घोरं

रामः पौलस्त्यहिन्श्रं(हिंस्रं) क्षतविहितसमित्कर्म्म चक्रे पलाशैः।

श्लाघ्यस्तस्यानुजोसौ मघवमदमुषो मेघनादस्य संख्ये

सौमित्रिस्तीव्रदंडः प्रतिहरणविधेर्यः प्रतीहार आसीत् ॥ ३ ॥

तद्वन्शे प्रतिहारकेतनभृति त्रैलोक्यरक्षास्पदे

देवो नागभटः पुरातनमुनेर्मूर्तिर्ब्बभूवाद्भुतम्।

'आर्कियालॉजिकल् सर्वे ऑफ् इंडिया'; एन्युअल रिपोर्ट; ई० स० १९०३-४; पृ० २८०।

(३) *रघुकुलतिलको महेन्द्रपालः* ('विद्धशालभंजिका'; १। ६)

देवो यस्य महेन्द्रपालनृपतिः शिष्यो रघुग्रामणिः।

'बालभारत'; १। ११।

तेन (=महीपालदेवेन) च रघुवंशमुक्तामणिना (बालभारत)।

महीपाल महेन्द्रपाल का पुत्र था।

और प्रतिहार पहले अपने को अग्निवंशी नहीं मानते थे, केवल 'पृथ्वीराज-रासा' बनने के पीछे उसीके आधार पर वे अपने को अग्निवंशी कहने लग गये हैं।

अब रहे परमार। मालवे के परमार राजा मुंज (वाक्पतिराज, अमोघवर्ष) के समय अर्थात् वि० सं० १०२८ से १०५४ (ई० स० ९७१ से ९९७) के आस-पास होनेवाले उसके दरबार के पंडित हलायुध ने 'पिंगलसूत्रवृत्ति' में मुंज को 'ब्रह्मक्षत्र'[1] कुल का कहा है। ब्रह्मक्षत्र शब्द का प्रयोग प्राचीन काल में उन राजवंशों के लिये होता रहा, जिनमें ब्रह्मत्व और क्षत्रत्व दोनों गुण विद्यमान हों[2], या जिनके वंशज क्षत्रिय से ब्राह्मण हुए हों। मुंज के समय से पीछे के शिलालेखों तथा ऐतिहासिक पुस्तकों में परमारों के मूलपुरुष का आबू पर वसिष्ठ के अग्निकुंड से उत्पन्न होना अवश्य लिखा मिलता है, परंतु यह कल्पना भी इतिहास के अंधकार में पीछे से की हुई प्रतीत होती है। परमारों के

---

(१) *ब्रह्मक्षत्रकुलीनः प्रलीनसामन्तचक्रनुतचरणः ।*

सकलसुकृतैकपुञ्जः श्रीमान्मुञ्जश्चिरं जयति ॥ 'पिंगलसूत्रवृत्ति'।

(२) देवपाड़ा से मिले हुए बंगाल के सेनवंशी राजा विजयसेन के शिलालेख में उक्त राजा के पूर्वजों का चंद्रवंशी होना और राजा सामंतसेन को ब्रह्मवादी और 'ब्रह्मक्षत्रिय-कुल' का शिरोमणि कहा है—

तस्मिन् सेनान्ववाये प्रतिसुभटशतोत्सादनब्र(ब्र)ह्मवादी ।

स ब्र(ब्र)ह्मक्षत्रियाणामजनि कुलशिरोदामसामन्तसेनः ।

ए. इं; जि. १, पृ० ३०७।

मत्स्य, वायु, विष्णु और भागवत पुराणों में पौरव (पांडु) वंश का वर्णन करते हुए अंतिम राजा क्षेमक के प्रसंग में लिखा है कि पुरुवंश में २५ राजा होंगे। इस संबंध में प्राचीन ब्राह्मणों का कथन है कि ब्रह्मक्षत्र (ब्राह्मण और क्षत्रिय) को उत्पन्न करनेवाले तथा देवताओं एवं ऋषियों से सत्कार पाये हुए इस कुल में अंतिम राजा क्षेमक होगा—

ब्रह्मक्षत्रस्य यो योनिर्वंशो देवर्षिसत्कृतः ।

क्षेमकं प्राप्य राजानं संस्थां प्राप्स्यति वै कलौ ॥

'मत्स्यपुराण'; अध्याय ५०, श्लो० ८८। 'वायुपुराण'; अ० ९९, श्लो० २७८-७९। 'विष्णुपुराण'; अंश ४, अध्याय २०। 'भागवत'; सर्ग ९, अ० २२, श्लो० ४४-४५।

यहां ब्रह्मक्षत्र शब्द से यही अभिप्राय है कि 'ब्राह्मण और क्षत्रियगुणयुक्त'; अर्थात् जैसे सूर्य वंश में विष्णुवृद्ध, हरितादि क्षत्रिय, जो मांधाता के वंशज थे, ब्राह्मण हो गये उसी तरह चंद्र वंश में विश्वामित्र, अरिष्टसेन आदि क्षत्रिय भी ब्रह्मत्व को प्राप्त हो गये थे।

शिलालेखों में उक्त वंश के मूल पुरुष का नाम धूमराज[1] मिलता है। धूम अर्थात् धुआं अग्नि से उत्पन्न होता है; शायद इसी पर परमारों के मूलपुरुष का अग्निकुंड से निकलना और उसके अग्निवंशी कहलाने की कथा पीछे से प्रसिद्ध हो गई हो तो आश्चर्य नहीं।

सारांश यह है कि चौहान, सोलंकी और प्रतिहार तो वि० सं० की १६ वीं शताब्दी तक अपने को अग्निवंशी मानते ही नहीं थे और राजा मुंज के समय तक परमार भी ब्रह्मक्षत्र कहे जाते थे, न कि अग्निवंशी। ऐसी दशा में 'पृथ्वीराजरासे' का सहारा लेकर जो विद्वान् इन चार राजपूत वंशों का क्षत्रिय होना नहीं मानते यह उनकी हठधर्मी है, वास्तव में ये राजपूत भी प्राचीन क्षत्रिय जाति के ही वंशधर हैं।

कर्नल टॉड आदि यूरोपियन् विद्वानों ने राजपूतों को शक आदि विदेशी जातियां मानने में जो प्रमाण उनके बहुत से रीति रिवाजों का उन विदेशी जातियों से मिलते हुए होने के बतलाये उनका निराकरण तो हम ऊपर कर चुके; अब हम नीचे महाभारत और कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' से कुछ उदाहरण उस समय के रीति रिवाजों के देते हैं, जब कि शक, कुशन आदि विदेशियों का भारत के किसी विभाग पर राज्य ही नहीं हुआ था। उनमें से कई रीति रिवाज अब तक भी राजपूतों में विद्यमान हैं।

महाभारत के समय राजधानियां तथा अन्य बड़े नगरों के ऐसे ही गढ़ों के चारों ओर ऊंची ऊंची दीवारें बनवाकर उनके गिर्द जल से भरी हुई गहरी खाई बनाई जाती थी। राजाओं के अंतःपुर पुरुषों के निवासस्थानों से अलग बनते थे, जिनमें विस्तीर्ण मैदान, उद्यान और क्रीडास्थान भी होते थे। क्षत्रिय रमणियों के लिये परदे का रिवाज इतना कड़ा न था जितना कि आज है। क्रूरता के साथ पुरुषों का पुरुषत्व नष्ट कर अंतःपुर की रक्षा के निमित्त

(१) *श्रीधूमराजः प्रथमं बभूव भूवासवस्तत्र नरेंद्रवंशे।....॥ ३३ ॥*

आबू पर के तेजपाल के मंदिर के वि० सं० १२८७ के शिलालेख से।

आनीतधेन्वे परनिर्जयेन मुनिः स्वगोत्रं परमारजातिम्।

तस्मै ददावुद्धतभूरिभाग्यं तं धौमराजं च चकार नाम्ना॥

आबू के नीचे के गिरवर गांव के पासवाले पाटनारायण के मंदिर की वि० सं० १३४४ की प्रशस्ति की छाप से।

उनको नपुंसक बनाने की दुष्ट पद्धति भी नहीं थी। मद्य आदि नशीली चीज़ों का निरोध किया जाता और मद्य की दुकानों और वेश्याओं पर कड़ा निरीक्षण रहता था।

कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' से पाया जाता है कि उस समय धूपघड़ी और नालिकाएं रक्खी जाती थीं। रात में पहर रात के आसपास तुरही बजने पर राजा शयनगृह में जाता और प्रातःकाल तुरही का शब्द होने पर उठ जाता था। योगी और जादूगर सदा प्रसन्न रक्खे जाते थे। अंतःपुर के चारों ओर ऊंची ऊंची दीवारें होतीं, दरवाज़ों पर देवताओं की मूर्तियां बनाई जातीं, महलों में सुरंगें होतीं और कितने एक तांत्रिक प्रयोगों पर विश्वास होने से उनपर अमल किया जाता था। शस्त्रधारी स्त्रियां अंतःपुर की रक्षा के लिये रहतीं और स्वयं राजा के शरीर की सेवा भी प्रायः स्त्रियां ही किया करती थीं[1]। अंतःपुर में छल प्रपंच चला करते थे। राजा की सवारी के समय मार्ग में दोनों ओर पुलिस का बंदोबस्त रहता और गौओं के चरने और तपस्वियों के रहने के लिये नगरों और गांवों के आसपास भूमि छोड़ी जाती थी। शिकार के लिये जंगल रक्षित रहते थे। नगरों के चारों ओर पक्के कोट बनवा कर उनके गिर्द खाई खुदवाई जाती थी। मार्गों में पत्थर पाटे जाते थे। गढ़ के दरवाज़ों पर भिन्न भिन्न देवताओं की मूर्त्तियां रहती थीं। वेश्याएं राजा के साथ रहतीं, राजा की वर्षग्रंथी पर क़ैदी छोड़े जाते और भूतप्रेतों की पूजा होती थी। दास दासियों का क्रय विक्रय होता, परंतु आर्य जाति के स्त्री पुरुष दास नहीं बनाये जाते थे[2]।

यहां तक विस्तार के साथ यह बतलाया जा चुका है कि राजपूत प्राचीन

---

(१) मौर्य राजा चंद्रगुप्त के दरबार में रहनेवाला यूनानी राजदूत मेगास्थिनस लिखता है कि 'राजा के शरीर की रक्षा का भार स्त्रियों पर रहता है। जब राजा महल से बाहर जाता तब भी बहुतसी स्त्रियें उसके शरीर के निकट रहतीं और उनके घेरे के बाहर भाला धारण किये पुरुष रहते थे' (इं. ऐं; जि. ६, पृ० १३२)। कालिदास के 'शाकुंतल' नाटक से पाया जाता है कि राजा बाहर जाता उस समय शस्त्रधारी स्त्रियें साथ रहती थीं ('अभिज्ञानशाकुंतल नाटक'; पृ० १७१)। इन कामों के लिये बहुत सी स्त्रियां यवनादि देशों से भी लाई जाती थीं। बाणभट्ट की 'कादंबरी' से भी पाया जाता है कि उस समय भी राजा की सेवा करनेवाली अर्थात् स्नान कराने, पान खिलाने, चंवर करनेवाली स्त्रियां ही होती थीं।

(२) कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' का हिन्दी अनुवाद प्रकाशित होचुका है। पाठक उसमें भिन्न भिन्न स्थलों पर इन बातों को देख लें।

क्षत्रियों के ही वंशधर हैं और जो लेखक ऐसा नहीं मानते उनका कथन प्रमाण-शून्य है। अब महाभारत आदि के समय में क्षत्रियों के राज्यप्रबंध, युद्धप्रणाली, युद्ध के नियम आदि का संक्षेप से उल्लेख कर अन्त में क्षत्रिय जाति की अवनति के कितनेक मुख्य मुख्य कारणों का दिग्दर्शन मात्र कराते हैं।

राज्यप्रबंध व न्याय का काम राजा आठ मुख्य मंत्रियों की सलाह से चलाते थे (वही अठकौंसल अब तक राजपूताने में प्रसिद्ध है)। ये मंत्री प्रधान, सेनापति, पुरोहित, गुप्तचर विभाग का अध्यक्ष, दुर्गाध्यक्ष, न्यायाधीश, आय-व्ययाधिपति (आमद खर्च के विभाग का दरोगा) और महासांधिविग्रहिक (दूसरे राज्यों से संधि या युद्ध करने का अधिकारी) थे। इनके अतिरिक्त ज़िलों के हाकिम तथा प्रजा के सब वर्णों के श्रेष्ठ पुरुष भी राजसभा में संमिलित रहते थे। महाभारत काल में राजा स्वयं प्रतिदिन दर्बार में आकर न्याय करता था और उसकी सहायता के वास्ते एक राजसभा भी रहती थी जिसमें ४ वेदवित्, सदाचारी, गृहस्थ ब्राह्मण; ८ बलवान् एवं शस्त्रकुशल क्षत्रिय; २१ धनवान् वैश्य, और पवित्र तथा विनयसम्पन्न ३ शूद्र सम्मिलित रहते थे[1]। यह केवल न्यायसभा ही नहीं, किंतु देश के प्रबन्ध से संबंध रखनेवाली सभा भी थी। राजा के मुख्य गुण राग द्वेष को छोड़ कर धर्माचरण करना, कार्य में शिथिलता न करना, मदोन्मत्त होकर विषय भोग में न पड़ना, शूरवीर होना, दानशूर बनना परंतु कुपात्र को दान न देना, नीच पुरुषों की संगति न करना, स्त्रीसेवन में सदा नियमित रहना, सदाचारियों का सम्मान करना और दुराचारियों को दंड देना, समय को अमूल्य समझना, प्रजा के कल्याणकारी प्रयत्न सदा सोचना और उनको कार्य में परिणित करना, योग्य और कार्य-कुशल पुरुषों को अधिकार देना, व्यापारी और कारीगरों की सहायता कर व्यापार और कलाकौशल की सदा उन्नति करना, प्रजा पर ऐसे करों का न लगाना जिनसे लोगों को कष्ट हो, आलस्य को पास न फटकने देना एवं विद्या और धर्म की उन्नति करना इत्यादि ३६ माने जाते थे[2]। राजा का अंतिम मुख्य कर्त्तव्य यही था कि वह ईश्वर का भय रखकर सत्यमार्ग से कभी क़दम बाहर न

(१) 'महाभारत'; शांतिपर्व, अध्याय ८५।

(२) इन ३६ गुणों का विवेचन 'महाभारत' के शांतिपर्व में किया है। देखो 'हिंदी महाभारत मीमांसा'; पृ० ३१०।

रक्खे क्योंकि सारी राज्यसत्ता का मुख्य आधारस्तंभ सत्य ही है। यदि राजा सत्यपथ का त्याग कर दे तो अवश्य प्रजा भी उसका अनुकरण करेगी क्योंकि 'यथा राजा तथा प्रजा'।

यह प्राचीन राज्य-व्यवस्था का संक्षिप्त विवेचन है अब सेना और युद्ध संबंधी प्राचीन दशा का भी कुछ दिग्दर्शन कराया जाता है। सेना चार प्रकार की होती थी—पदाति (पैदल), अश्व (घुड़सवार), गज (हाथी सवार), और रथ। इसको चतुरंगिनी सेना कहते थे। हाथी ऐसे सधाये जाते कि उन्हें मतवाला कर उनकी शुंडों में दुधारे खड्ग दे शत्रुओं पर पेल देते थे[1]। प्रत्येक

(१) प्राचीन काल में हाथी सेना का मुख्य अंग समझे जाते थे। अग्रभाग में थोड़े थोड़े अंतर से उनकी पंक्ति बांधकर बीच में और बाज़ू पर पैदल धनुर्धारी रक्खे जाते थे। राजा भी युद्ध के समय प्रायः हाथी पर ही सवार हुआ करते थे। पोरस जब सिकंदर से लड़ा तब उसने अपने हाथियों की पंक्ति आगे की तर्फ लगा कर एक एक सौ फुट के अंतर पर उन्हें खड़े कर उनके पीछे व बीच में पैदलों को रक्खा था। पैदलों के दोनों ओर सवार, और उनके आगे रथ थे। सिकंदर ने पहले शत्रु के बाज़ू पर हमला किया, तीरों की मार से हिन्दू सेना सिमट कर मध्य भाग में आ गई, घुड़सवारों पर धावा होने से वे भी घबराकर हाथियों के पास चले आये। महावतों ने हाथियों को दुश्मन के बढ़ते हुए सवारों पर हूले, परंतु यूनानियों ने उनको तीरों की मार से रोका और सवारों पर भी तीर चलाना शुरू किया। जब हाथियों पर चारों ओर से बाणों की बौछार होने लगी और आगे तो शत्रु की मार और पीछे अपनी सेना का उभार होने से उनको आगे बढ़ने को स्थान न मिला, तब तो भयभीत होकर वे पीछे मुड़े। उन्होंने शत्रुओं की अपेक्षा मित्रों को विशेष हानि पहुंचाई और वे अंधाधुंध उनको गूंधते हटाते और कुचलते हुए पीछे हटने लगे। महावत तीरों की मार से गिरा दिये गये और निरंकुश हाथियों ने पीछे हटकर पोरस की सेना को विचलित कर दिया। उसी वक्त सिकंदर ने आम तौर पर धावा करके विजय प्राप्त करली और हाथी सवार राजा पोरस घायल होकर बंदी बना लिया गया। (मैक्‌क्रिंडल; 'दी इन्वेज़न ऑफ़ इंडिया बाई अलेग्ज़ेंडर दी ग्रेट'; पृ० १०२–३) युद्ध काल में राजा और सेनापतियों का हाथी सवार होकर राजचिह्नों को साथ रखना भी अनेक लड़ाइयों में राजपूतों की हार का कारण बन गया, क्योंकि शत्रु उसको तुरंत पहचान कर अपना लक्ष्य बना लेते, और एक सेनानायक के मारे जाने या उसके वाहन के मुड़ जाने से सारी सेना पीठ दिखा देती थी। सिंध का राजा दाहिर हाथी पर सवार होने ही से घायल हुआ और उसके हाथी के भड़ककर भागने से उसकी सेना भी भाग निकली। महमूद ग़ज़नवी के साथ लाहोर के राजा अनंदपाल के युद्ध में राजा का हाथी भागा जिसपर सारी सेना ने पीठ दिखाई। हाथी सवार होने ही से कन्नौज का राजा जयचंद गहरवार आसानी के साथ शत्रु का लक्ष्य बन गया। बयाने के प्रसिद्ध युद्ध में महाराणा सांगा

सैनिक को अपने अपने कार्य में निपुणता प्राप्त करने के वास्ते वर्षों तक सैनिक शिक्षा दी जाती थी। सेना का वेतन नियत समय पर अन्न तथा रोकड़ के रूप में दिया जाता था। प्रत्येक दस, सौ एवं हज़ार योद्धाओं पर एकएक अफसर अलग अलग रहता था। व्यूहरचना अर्थात् क़वायद भी सिखलाई जाती और चतुरंगिनी सेना के साथ विष्टि (बार बरदारी), नौकर, जासूस, और दैशिक भी रहते थे। पैदल सेना के आयुध धनुष बाण, ढाल तलवार, भाला, फरसी, तोमर (लोहे का डंडा) आदि थे। गदा केवल द्वंद्व युद्ध में काम आती थी। घुड़सवारों के पास तलवार और बरछे रहते थे। रथी और महारथी रथों पर सवार होते और कवच धारण करते थे। उनके धनुष पुरुष नाप के और बाण तीन तीन हाथ लंबे होते थे। बाणों के फल बहुत तीक्ष्ण और भारी होते जो लोहे की मोटी चद्दरों तक को वेध कर पार होजाते थे। अस्त्रों में अग्न्यस्त्र, वायवास्त्र, विद्युतास्त्र आदि के नाम मिलते हैं। अस्त्रविद्या का जाननेवाला अनस्त्रविद् पर अपने अस्त्रों का प्रयोग नहीं करता था। रथ[1] दो पहियों के होते और उनमें चार घोड़े जुतते थे। उनके शिखरों पर भिन्न भिन्न चिह्नोंवाली पताकाएं रहती थीं। रथी के पास बाण, शक्ति आदि आयुधों का संग्रह रहता था। रथी या

भी हाथी सवार थे। शत्रु ने ताक कर तीर मारा जिससे महाराणा घायल हुए और बाबर की फतह हो गई। ऐसे और भी अनेक उदाहरण मिलते हैं। मुसलमान बादशाह भी प्रायः लड़ाई के वक़्त हाथी सवार हुआ करते थे, परंतु अब तो हाथियों का युद्ध में उपयोग ही नहीं रहा।

(१) रथों का युद्ध समभूमि में होता था। सिकंदर के साथ पोरस जब लड़ा तो उसकी सेना में रथ भी थे। "राजा ने यूनानियों को रोकने के वास्ते एक सौ रथ और ४ हज़ार अश्वारोही आगे भेजे। प्रत्येक रथ में ४ घोड़े जुते थे और उसके साथ ६ आदमी थे, जिनमें से दो तो हाथ में ढाल पकड़े, दो दोनों ओर धनुष लिये खड़े थे, और दो सारथी थे। ये सारथी भी लड़नेवाले होते थे। युद्ध आरंभ होने पर वे घोड़ों की बागें छोड़ हाथों से शत्रु पर भाले फेंकने लगे। युद्धकाल के पहले वृष्टि हो जाने से कीचड़ के कारण रथ आसानी के साथ इधर उधर मुड़ नहीं सकते थे आदि" (मैक् क्रिंडल; 'इनवेज़न ऑफ इंडिया बाई अलेक्ज़ैंडर दी ग्रेट'; पृ० २०७-८)

भारत युद्ध में रथ के घोड़े तो ४ ही जुतते, परंतु उसमें एकही धनुर्धर और एक सारथी रहता था। दो चक्ररक्षक अलबत्ता साथ रहते जो महारथी के रथ के साथ साथ दोनों बाज़ू दूसरे दो रथों में बैठे चलते थे। यूनानियों के आने पीछे भारतीय सेना में रथ रखने की रीति लुप्तप्राय होती गई।

महारथी अपने सिर पर लोहे का टोप, शरीर पर कवच, हाथों पर गोधांगुलीत्राण और अंगुलियों की रक्षा के लिये भी आवरण रखता था। सारथी भी कवचादि से सुरक्षित रहता था। रथी या सेनापति सेना के आगे रहता और प्रायः दोनों पक्ष के सेनापतियों में द्वंद्वयुद्ध भी हुआ करता था[1]।

युद्ध के नियम बंधे हुए थे और नियमानुकूल युद्ध धर्मयुद्ध कहलाता था। विषदग्ध और कर्णी (आंकड़ेदार) बाणों का प्रयोग नहीं किया जाता। रथी से रथी, हाथी से हाथी, अश्व से अश्व और पैदल से पैदल लड़ते थे। दोनों योद्धाओं के शस्त्र समान होते। दुःखाकुल स्थिति में शत्रु पर प्रहार नहीं किया जाता; भयभीत, पराजित और पलायन करनेवाले को नहीं मारते थे। प्रतिपक्षी का शस्त्र भंग हो जाय, धनुष की प्रत्यंचा टूट जाय, योद्धा का कवच निकल पड़े अथवा उसका वाहन नष्ट हो जाय तो उसपर शस्त्र नहीं चलाया जाता था। सोते हुए, थके हुए, प्यासे, भोजन या जलपान करते हुए तथा घासदाना खाते समय शत्रु पर वार नहीं किया जाता था। युद्ध के समय कृषिकारों को किसी प्रकार की हानि नहीं पहुंचाई जाती और न प्रजा को दुःख दिया जाता था। युद्ध में घायल हुए शत्रुओं को या तो उनके कटक में पहुंचा देते या विजेता उनको अपने यहां लाकर उनके घावों की मरहमपट्टी करवाता और चंगे होने पर उन्हें मुक्त कर देता। कहीं कहीं इन नियमों का उल्लंघन होना भी पाया जाता है, परंतु ऐसे उदाहरण कम मिलते हैं और वे निंदनीय समझे जाते थे।

इनमें से बहुतेरे नियम राजपूत जाति में मुग़ल राज्य के प्रारंभकाल के आसपास तक पाये जाते थे, जैसे चित्तोड़ के महाराणा सांगा ने मालवे के सुलतान महमूद खिलजी (दूसरे) को युद्ध में परास्त किया, सुलतान घायल हो रणखेत में पड़ा था जिसको उठवा कर वे अपने डेरे में लाये और उसका इलाज करवाया। आराम हो जाने पर पीछा उसे अपने राज्य पर बिठा दिया। जब आंबेर का कुंवर मानसिंह महाराणा प्रतापसिंह पर बादशाह अकबर की तरफ़ से फ़ौज लेकर आया तो उसकी सेना का पड़ाव महाराणा की सेना से कुछ ही कोस के अंतर पर था। युद्ध छिड़ने के पूर्व कुंवर मानसिंह एक दिन

(१) 'हिंदी महाभारत मीमांसा'; पृ० ३४०।

थोड़े साथियों सहित शिकार को गया था जिसकी सूचना गुप्तचरों ने महाराणा के पास पहुंचाई और सामंतों ने निवेदन किया कि अच्छा अवसर हाथ आया है, अवश्य शत्रु को मार लेना चाहिये, परंतु वीर राणा ने यही उत्तर दिया कि 'इस तरह छल और दगा के साथ शत्रु को मारना शूरवीर क्षत्रियों का धर्म नहीं है'।

क्षत्रियों का मुख्य धर्म आपत्काल में राष्ट्र के निमित्त शत्रु से संग्राम कर प्रजा की रक्षा करना और विजय किये हुए देशों का नीतिपूर्वक शासन कर वहां की प्रजा को भी सुखी बनाना था। युद्ध में लड़कर मरने को क्षत्रिय परम सौभाग्य और रणखेत से भागने को अत्यंत निंदनीय समझते थे। इस विषय का महाभारत से एक ही उदाहरण नीचे उद्धृत किया जाता है—

संजय नामक एक राजपुत्र पर सिंधुराज (सिंध के राजा) ने आक्रमण किया। शत्रु की वीरहाक और शस्त्रों की खनखनाहट से भयभीत हो संजय रणभूमि से भागकर घर में आ बैठा और निराशा के पंक में पड़ कर गोते खाने लगा। जब उसकी वीरमाता विदुला ने अपने पुत्र की यह दशा देखी तो उत्साहवर्द्धक और अत्यंत महत्वपूर्ण शब्दों में उसको उपदेश दिया कि 'मनुष्य को अपने वास्तविक धर्म, धैर्य, पुरुषार्थ और दृढ संकल्प से कभी मुख न मोड़ना चाहिये। परतंत्र और दीनहीन बनने के बराबर दूसरा कोई पाप नहीं है। उद्योग पर ही अपने जीवन का आधार रखकर सदा कर्मयोग का ही साधन करता रहे और अभीष्ट सिद्ध करने में प्राणों की भी परवाह न करे। आलसी, कायर और निरुद्यमी अपने मनोरथ के सफल होने की आशा स्वप्न में भी नहीं कर सकता है' इत्यादि[1]।

दक्षिण में बादामी के सोलंकी राजा पुलकेशी के वर्णन में चीनी यात्री हुएन्त्संग लिखता है कि "राजा जाति का क्षत्रिय है, उसका नाम पुलकेशी (पु-लो-कि-शे) है, उसके विचार और कार्य विस्तृत हैं; उसके उपकार के कामों का लाभ दूर दूर तक पहुंचता है और उसकी प्रजा पूर्ण विनय के साथ उसकी आज्ञा का पालन करती है। इस समय शीलादित्य (कन्नौज का राजा श्रीहर्ष, हर्षवर्द्धन) महाराज ने पूर्व से पश्चिम तक के देश विजय कर लिये हैं, और दूर दूर के देशों पर चढ़ाइयां की हैं, परंतु केवल इस देश (महाराष्ट्र) वाले

(१) 'महाभारत'; उद्योगपर्व, अध्याय १३३-३६।

ही उसके अधीन नहीं हुए। यहांवालों को दण्ड देने और अधीन करने के लिये उसने अपने राज्य के पांचों विभागों का सैन्य एकत्र किया, सब राज्यों के बहादुर सेनापतियों को बुलाया और वह स्वयं लश्कर की हरावल में रहा, तो भी यहां के सैन्य को जीत न सका। यहां के लोग सादे, प्रामाणिक, शरीर के ऊंचे, स्वभाव के कठोर बदला लेनेवाले, उपकार करनेवालों का अहसान माननेवाले और शत्रु के लिये निर्दयी हैं। वे अपना अपमान करनेवाले से बदला लेने में अपनी जान तक झोंक देते हैं, परंतु यदि तकलीफ़ के समय उनसे कोई मदद मांगे, तो उसको मदद देने की त्वरा में वे अपने शरीर की कुछ पर्वाह नहीं करते। यदि वे बदला लेना चाहें तो शत्रु को पहिले से सावधान कर देते हैं, फिर दोनों शस्त्र धारण कर एक दूसरे पर भाले से हमला करते हैं। जब एक भाग जाता है तो दूसरा उसका पीछा करता है, परंतु शरण में आ जाने पर मारते नहीं। यदि कोई सेनापति युद्ध में हार जावे तो उसको दंड नहीं देते, किंतु उसको स्त्री की पोशाक भेट करते हैं, जिसपर उसको स्वयं मरना पड़ता है। देश (राज्य) की ओर से कई सौ वीर योद्धा नियत हैं, जो युद्ध के समय प्रथम नशा कर मत्त हो जाते हैं, फिर उनमें से एक एक पुरुष हाथ में भाला लेकर ललकारता हुआ १०००० आदमियों का सामना करता है। यदि उनमें से कोई योद्धा मार्ग में चलता हुआ किसी आदमी को मार डाले तो उसको सज़ा नहीं होती। जब वे बाहिर (लड़ने को) जाते हैं, तब अपने आगे ढोल बजाते जाते हैं, सैंकड़ों हाथियों को नशे से मतवाले कर उनको भी लड़ने के लिये ले जाते हैं। वे लोग पहिले नशा कर लेते हैं, फिर एक साथ आगे बढ़कर हर एक चीज़ को बर्बाद कर देते हैं, जिससे कोई शत्रु उनके आगे नहीं ठहर सकता[1]"।

मुग़ल बादशाहों की अधीनता में राजपूतों ने बलख़, बुख़ारा, काबुल, क़ंदहार आदि दूर दूर के देशों में जाकर फतह के डंके बजाये और बड़े बड़े वीरता के काम किये हैं। सच कहा जावे तो मुग़लिया राज्य का प्रताप बढ़ानेवाले राजपूत राजा ही थे। शाहजहां बादशाह ने ईरानियों से क़ंदहार ख़ाली कराने के वास्ते बड़ी सेना हिन्दुस्तान से भेजी, जिसमें दस्तूर के मुवाफ़िक़ राजपूत हरावल में थे। 'बादशाहनामे' में लिखा है कि 'हरावल को

(१) 'सोलंकियों का प्राचीन इतिहास'; प्रथम भाग, पृ० ३४-३५।

बहादुर राजपूतों के मज़बूत क़दमों से ताक़त दी गई जो घोर संग्राम में जहां बड़े बड़े वीरों के चहरे का रंग फक हो जाता है लड़ाई का रंग जमा ही देते हैं[1]"।

यह तो निर्विवाद है कि प्राचीन काल से ही भारत में अनेक छोटे बड़े राज्य विद्यमान थे और उनमें परस्पर लड़ाई झगड़े चला करते थे, परंतु इतना अवश्य था कि यदि कोई राजा अपना बल बढ़ाकर अन्य राजाओं को विजय करलेता तो भी उनके राज्य नहीं छीनता और न उनकी आभ्यंतरिक स्वतंत्रता में बाधा डालता था, केवल ख़िराज या भेट रूप में विजेता को नियत कर दे-देना ही उनकी आधीनता का सूचक था। इसके अतिरिक्त आपस का वैर विरोध मिटाकर मेल करने के लिये यह रीति भी प्राचीन काल से क्षत्रियों में चली आती है कि वे एक दूसरे के साथ विवाह संबंध जोड़ कर वैरभाव को तोड़ देते थे। यूनानी राजा सेल्युकस ने मौर्यवंशी महाराजा चंद्रगुप्त को अपनी कन्या ब्याहकर वैर मिटाया। जब सिकंदर ने भारतवर्ष पर चढ़ाई की तो उत्तरी भारत की मल्लोई और क्षुद्रक नामकी स्वतंत्र क्षत्रिय जातियों में पहले से विरोध चला आता था, परंतु विदेशी शत्रु के संमुख होने को वे जातियां परस्पर विवाह संबंध जोड़ कर एकता के सूत्र में बंध गईं, अर्थात् हरएक ने दस दस हज़ार कन्या एक दूसरे को ब्याह दीं[2]। परस्पर की घरू लड़ाइयां निरंतर लगी रहने पर भी जब कोई बाहर का शत्रु देश पर या किसी राज्यविशेष पर आक्रमण करता तो छोटे बड़े प्रायः सभी राजा मिलकर उसका सामना करते थे। जब सुलतान महमूद ग़ज़नवी ने लाहोर के राजा अनंदपाल पर चढ़ाई की तो उस वक्त दूर दूर से कई दूसरे राजा भी सेना सहित अनंदपाल की सहायता को आये, इतना ही नहीं, किंतु देशान्तरों की प्रजा और हिन्दू महिलाओं ने भी हिन्दू राज्य की रक्षा के निमित्त अपने वस्त्रालंकार तक बेच धन एकत्र कर सहायतार्थ भेजा था[3]। ऐसे ही सुलतान शहाबुद्दीन ग़ोरी

(१) 'बादशाहनामा'; और मुन्शीदेवीप्रसाद का 'शाहजहांनामा'; भाग २, पृ० १२।

(२) मैक्क्रिंडल; 'दी इन्वेज़न ऑफ इंडिया बाई अलेग्ज़ैंडर दी ग्रेट'; पृ० २८७। राजपूतों में प्राचीन काल से अब तक यह रीति चली आती है कि भिन्न वंश के साथ का वैर लड़कियां ब्याहने से मिटाया जाता है और एक ही वंशवालों का परस्पर अफीम खिलाने से।

(३) ब्रिग; फिरिश्ता; जि० १, पृ० ४६।

और पृथ्वीराज चौहान के युद्ध में पृथ्वीराज की सहायता पर कई हिन्दू राजा महाराजाओं ने मिल कर विधर्मी शत्रु से युद्ध किया था। पठानों की बादशाहत में तो यह प्रथा न्यूनाधिक प्रमाण में बनी रही, परंतु अंत में मुग़ल बादशाह अकबर की भेदनीति ने परस्पर के मेलमिलाप के इस बंधन को तोड़ दिया और शाही दरबार के प्रलोभनों में फंसकर राजपूत मुग़लों की आधीनता में उलटा अपने भाइयों के साथ शत्रुता का वर्ताव कर उन्हींको नष्ट करने लगे। फिर तो उस संगठन का मूलोच्छेदन ही हो गया।

राजपूतों में स्त्रियों का बड़ा आदर होता रहा और वे वीरपत्नी और वीरमाता कहलाने में अपना गौरव मानती थीं। उन वीरांगनाओं का पातिव्रत धर्म, शूरवीरता और साहस भी जगद्विख्यात हैं। इनके अनेक उदाहरण इतिहास में पाये जाते हैं, उनमें से थोड़े से यहां उद्धृत करते हैं—वीरवर दाहिर देशपति की राणी लाडी की वीरता का वर्णन करते हुए फिरिश्ता लिखता है कि 'जब अरब सेनापति मुहम्मद बिन क़ासिम ने युद्ध में सिंध के राजा दाहिर को मारकर उसकी राजधानी पर अधिकार कर लिया और दाहिर का एक पुत्र बिना युद्ध किये भाग निकला, उस समय उस(पुत्र)की वीरमाता लाडी कई हज़ार राजपूत सेना साथ ले पहले तो मुहम्मद क़ासिम से सरे मैदान लड़ी, फिर गढ़ सजकर वह वीरांगना शस्त्र पकड़े शत्रु से युद्ध करती हुई स्वर्गलोक को सिधारी'[1]।

चौहान राजा पृथ्वीराज ने जब महोबा के चंदेल राजा परमर्दिदेव पर चढ़ाई की तो उसके संबंध में यह प्रसिद्ध है कि उस समय उक्त राजा के सामंत आल्हा व ऊदल वहां उपस्थित नहीं थे; वे पहले किसी बात पर स्वामी की अप्रसन्नता हो जाने के कारण कन्नौज के राजा जयचंद के पास जारहे थे। पृथ्वीराज की सेना से अपनी प्रजा का अनिष्ट होता देख चंदेल राजा की राणी ने आल्हा ऊदल को बुलाने के लिये दूत भेजे। उन्होंने अपने साथ किए हुए पूर्व के अपमान का स्मरण कर महोबे जाना नहीं स्वीकारा, उस समय उनकी वीर माता ने जो वचन अपने पुत्रों को कहे उनसे स्पष्ट है कि क्षत्रिय कुलांगना किस प्रकार स्वामी के कार्य और स्वदेशरक्षा के निमित्त अपने प्राणों से प्यारे पति और पुत्रों को भी सहर्ष रणांगण में भेजती थीं। आल्हा ऊदल की

(१) ब्रिग; फिरिश्ता; जि० ४, पृ० ४०१।

माता अपने पुत्रों का हठ छुड़ाने के हेतु बोली कि "हा विधाता! तूने मुझको बांझ ही क्यों न रक्खा। क्षत्रिय धर्म का उल्लंघन करनेवाले इन कुपूतों से तो मेरा बांझ रहना ही अच्छा था। धिक्कार है उन क्षत्रिय पुत्रों को, जिनका स्वामी संकट में पड़ा हो और आप सुख की नींद सोवें। जो राजपूत मरने मारने से डर कर संकट के समय स्वामी की सहायता के लिये सिर देने को प्रस्तुत न हो जाय वह असल का बीज नहीं कहलाता है। हा! तुमने बनाफर वंश की सब कीर्त्ति डुबो दी[1]"।

महाराणा रायमल के पाटवी पुत्र पृथ्वीराज की पत्नी तारादेवी का अपने पति के साथ टोडे जाकर पठानों के साथ युद्ध में पति की सहायता करना सुप्रसिद्ध ही है।

रायसेन का राजा सलहदी पूरबिया (तंवर) जब सुलतान बहादुरशाह गुजराती से परास्त हो मुसलमान हो गया और सुलतान सुरंगें लगाकर उसके गढ़ को तोड़ने लगा, तोपों की मार से दो बुर्जें भी उड़ गईं, तब सलहदी ने सुलतान को कहा कि आप मेरे बालबच्चों और स्त्रियों को न सताइये, मैं गढ़ पर जाकर लड़ाई बंद करवा दूंगा। सुलतान ने मलिक अली शेर नामक अफसर के साथ उसको गढ़ पर भेजा। उसकी राणी दुर्गावती ने, जो राणा सांगा की पुत्री थी, अपने पति को देखते ही धिक्कारना शुरू किया और कहा कि 'ऐसी निर्लज्जता से तो मरजाना ही अच्छा है, मैं अपने प्राण तजती हूं, यदि तुमको राजपूती का दावा हो तो हमारा वैर शत्रुओं से लेना'। राणी के इन वचनबाणों ने सलहदी के चित्त पर इतना गहरा घाव लगाया कि वह तुरंत अपने भाई लोकमन (लोकमणि) और १०० संबंधियों समेत खड्ग खोलकर शत्रुओं से जूझमरा। राणी ने भी सातसौ राजपूत रमणियों और अपने दो बच्चों सहित प्रचंड अग्निज्वाला में प्रवेश कर तन त्याग दिया[2]।

मारवाड़ के महाराजा जसवंतसिंह जब औरंगज़ेब से युद्ध हारकर उज्जैन के रणखेत से अपनी राजधानी जोधपुर को लौटे तब उनकी पटराणी ने गढ़ के द्वार बंद करवाकर पति को भीतर पैठने से रोका था[3]।

(१) नागरीप्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित, 'रासोसार; पृ० ४६१।

(२) ब्रिग; फिरिश्ता; जि० ४, पृ० १२२।

(३) टॉड; 'राजस्थान'; जि० २, पृ० ७२४; ६८२।

इसी प्रकार शत्रु से अपने सतीत्व की रक्षा के निमित्त हज़ारों राजपूत महिलाएं निर्भयता के साथ जौहर की धधकती हुई आग में जलकर भस्मीभूत हो गई, जिनके ज्वलंत उदाहरण चित्तोड़ की राणी पद्मिनी और कर्मवती, चांपानेर के पताई रावल (जयसिंह) की राणियां[1], जेसलमेर के रावल दूदा की रमणियां[2] आदि अनेक हैं जो आगे इस इतिहास में प्रसंग प्रसंग पर बतलाये जाएंगे।

परदे की रीति भी राजपूतों में पहले इतनी कड़ी नहीं थी जैसी कि आज है। धर्मोत्सवों और युद्ध व शिकार के समय में भी राणियां राजा के साथ रहती थीं और राज्याभिषेक आदि अवसरों पर पति के साथ दरबार आम में बैठती थीं। पीछे से मुसलमानों की देखा देखी परदे का इतना कड़ा प्रबंध राजपूतों में होना पाया जाता है, और उन्हीं का अनुकरण पीछे से राजकीय पुरुषों तथा धनाढ्य वैश्य आदि जातियों में भी होने लगा।

राजपूत मात्र में स्वदेशभक्ति और स्वामिधर्म ये दो उत्कृष्ट गुण प्राचीन काल से चले आते हैं। राजपूताने के इतिहास में ऐसे सैंकड़ों उदाहरण पाये जाते हैं कि तन, मन और धन से अपने स्वामी का साथ देने और अपने देश की रक्षा करने में हज़ारों राजपूत सर्दारों ने अपने प्राण न्यौछावर कर दिये हैं। स्वामी का सामना करने या उसके साथ छल करनेवाले के मस्तक पर हरामखोरी के अटल कलंक का टीका लग जाता जिसको राजपूत मात्र बड़ी गाली और भारी ऐब समझते हैं। स्वामी की आज्ञा का पालन करते हुए मेवाड़ में प्रसिद्ध चूंडावत वंश के सलूंबर के रावत जोधसिंह ने विष मिला हुआ पान अपने मालिक के हाथ से विना किसी आपत्ति के खाकर प्राण त्याग दिया। स्वामिधर्म में बंधे हुए सुप्रसिद्ध राठोड़ सर्दार दुर्गादास आदि ने अनेक आपत्तियां सहकर भी अपने स्वामी महाराजा अजीतसिंह की रक्षा की। शेरशाह सूर के भय से मारवाड़ के राव मालदेव के रणभूमि से हटजाने पर भी उनके सामंत जैता व कूंपा आदि राठोड़ सर्दारों ने सहस्रों राजपूतों सहित समरांगण में वीरगति पाई।

इसके साथ यह भी अवश्य था कि स्वामी का प्रेम, एवं मानमर्यादा आदि का

(१) 'मुंहणोत नेणसी की ख्यात'; पत्र १४३। १-२।

(२) वही; पत्र ६३। २ और ६४। १।

संबंध भी अपने सामंतों के प्रति अद्वितीय रहता था, अतः परस्पर के प्रीतिपूर्ण बर्ताव और सेवा से यह बंधन दृढ़ बना रहा, परंतु अकबर बादशाह की भेद-नीति ने उसको ढीला कर दिया, फिर तो शनैः शनैः वह प्रथा शिथिल होती गई जिससे प्रेम, श्रद्धा, भक्ति और विश्वास का पुल टूट गया। राजा लोग समयानुकूल अपना स्वार्थ साधने लगे और सामंतगण खुल्लम् खुल्ला राज्य की छत्रछाया से छूटकर स्वतंत्र होने की चेष्टा करने लगे। नीतिशास्त्रों में राज्य को एक शरीर कल्पना करके राजा, प्रजा, अमात्य और सामंतगण आदि को इसके अंग बतलाये हैं। यदि इनमें से एक भी अंग रोगी, निर्बल या कर्त्तव्यहीन हो जाय तो वह राज्यरूपी सारे शरीर को निर्बल बना देता है। निःसंदेह राज्य ही की ठंडी छाया में उसके सामंत दूसरे प्रबल विपक्षियों के उत्ताप, आतंक और आपत्तियों से बचे रहते हैं। जब राज्य ही की जड़ हिल जाय तो क्या उससे पृथक् पड़े हुए अंगोपांग अपनी कुशलता की आशा रख सकते हैं? उदाहरण के लिये मुसलमानों के भारतीय महाराज्य ही को लीजिये; अवध, अरकाट, बंगाल और सिंध आदि के नवाब अब कहां हैं? जो दिल्ली के साम्राज्य से स्वतंत्र बन बैठे थे। शिवाजी के वंशधर, एवं पेशवा की संतान और नागपुर के भोंसले आदि का क्या हुआ? जिन्होंने आपस के द्वेष से मरहटों के महाराज्य को ढीला किया था। प्राचीन और अर्वाचीन अनेक उदाहरणों को सामने रखकर इतिहास इसकी साक्षी दे रहा है कि बल परस्पर के समुदाय में हैं न कि पृथक्ता में।

भारत में जब तक प्राचीन आचार विचार, रीति रिवाज, राज्यपद्धति और शिक्षाप्रचार का क्रम बना रहा तब तक क्षत्रिय वर्ण ने भारतवर्ष ही का नहीं बरन् दूर दूर के बाहरी देशों का राज्य भी अपने हस्तगत किया। उनकी सभ्यता, शिष्टता और प्रताप के सामने अन्यान्य जातियों ने सिर झुकाया और वे महाराज्य का आनंद लूटते रहे, परंतु पीछे से ज्यों ज्यों इस वर्ण में शिक्षा का अभाव होकर स्वार्थपरायणता का मूल घुसा, देश में नाना धर्म और नाना जातियां बन गईं, एक सूत्र में बंधी हुई प्रजा जात पांत और मत मतांतरों के झगड़ों से पृथक् पृथक् होकर एक दूसरे को वैरविरोध की दृष्टि से देखने लगी; राजा भी स्वधर्म का पक्ष लेकर कभी कभी अन्यधर्मावलंबियों पर अत्याचार करने और अपनी प्रजा को तुच्छ दृष्टि से देखने लगे एवं नीति और धर्म की मर्यादा का उल्लंघन कर उनके स्वेच्छाचारी बनने से आपस की फूट फैल कर

रातदिन के लड़ाई झगड़ों से उनका बल पराक्रम क्षीण होता गया।

इसी तरह बहुविवाह की रीति भी क्षत्रिय वर्ण की क्षति का एक मुख्य कारण हुई। इस इतिहास में बहुविवाह से होनेवाली हानियों का उल्लेख अनेक स्थलों में मिलेगा। यहां इतना ही कहना पर्याप्त है कि अनेक पत्नियां होने से ही रामचंद्र को बनवास हुआ और दशरथ के प्राण गये। महाराज अशोक के अधिक राणियां होने से मौर्य वंश के प्रतापी साम्राज्य की अवनति की जड़ जमी, कन्नौज के प्रबल गाहडवाल (गहरवार) राज्य के विनाश का कारण भी महाराज जयचंद की पत्नियां होना माना जाता है। मारवाड़ के राव चूंडा के राज्य में अनेक राणियों के कारण ही झगड़ा फैला, मेवाड़ के प्रतापी राणा सांगा के महाराज्य की क्षति का कारण भी बहुविवाह ही हुआ। कहां तक गिनावें राजपूत जाति का इतिहास ऐसी घटनाओं से रंगा पड़ा है। इसीके कारण कई राजाओं के प्राण गये, कई निरपराधी बालक सौतिया डाह के शिकार बने और कई राज्य नष्ट भ्रष्ट हुए। एकपत्नीव्रत के धारण करने से ही रामचंद्र 'मर्यादा पुरुषोत्तम' कहलाये थे। गृहस्थाश्रम का सच्चा सुख एक ही पत्नी से मिलता है, चाहे राजा हो या रंक। अनेक पत्नियां होने पर प्राकृतिक नियम के अनुसार सौतिया डाह का कुठार चला, चलता है और चलता रहेगा, जब तक कि राजपूत जाति इस कुरीति का मूलोच्छेदन न कर देगी।

राजपूतों में दूसरी बड़ी हानिकारक प्रथा मद्यपान की अधिकता है। प्राचीन काल के धर्मनिष्ठ क्षत्रिय मद्यपान केवल खास खास प्रसंगों पर[1] या युद्ध के समय ही करते थे, परंतु इस बला में वे इतने फंसे हुए नहीं थे जैसे कि आजकल के। इस वारुणी देवी की कृपा से ही यादवास्थली में यादवों का संहार हुआ, अनेक राजा, महाराजा, सामंत एवं अन्य राजपूत अकाल कालकवलित हो गये, और अब तक होते जाते हैं। बल, वीर्य, शौर्य और साहस का भक्षण करनेवाली इस राक्षसी का क्रूर कर्म और भयानक परिणाम देखते हुए भी उसको छोड़ने के बदले वे उसपर अधिक आसक्त होते जाते हैं। पहले उनके पीने के भिन्न भिन्न प्रकार के मद्य जैसे कि गौड़ी, माध्वी, माक्षिक, द्राक्ष, ताड़ी, आसव आदि यहीं बनते थे, परंतु अब तो उनका स्थान बहुधा शेरी, शांपीन,

(१) मैगास्थिनस लिखता है कि भारत के लोग यज्ञयागादि के सिवा मद्यपान कभी नहीं करते। इं. ऐं; जि. ६, पृ० १३१।

पोर्ट, ओल्ड टॉम, विस्की और ब्रांडी आदि विदेशी मद्यों ने बहुधा ले लिया है।

सारांश कि स्वार्थपरायणता, अविद्या, आलस्य, बहुविवाह, मद्य-पान और परस्पर की फूट तथा द्वेष के कारण जातिमात्र का लक्ष्य एक न होने से राजपूत निर्बल होते गये जिससे मुसलमानों ने आकर उनको पददलित कर कई एक के राज्य तो छीन लिये और शेष को अपनी अधीनता स्वीकार कराई, तब से उनकी दशा और भी गिरती गई।

तीसरा अध्याय

राजपूताने से संबंध रखनेवाले

प्राचीन राजवंश

प्राचीन काल से ही राजपूताना भारतवर्ष के इतिहास में केंद्र रूप रहा है। समय समय पर अनेक राजवंशों ने इस देश पर अपना आधिपत्य जमाया जिनका लिखित इतिहास नहीं रहा और प्राचीन शोध का काम भी यहां अब तक नाममात्र को ही हुआ है जिससे सैकड़ों नहीं, किंतु हज़ारों ऐसे प्राचीन स्थल इस देश में विद्यमान हैं, जहां किसी पुरातत्त्ववेत्ता का कभी पदार्पण भी नहीं हुआ। ऐसी दशा में भी अनेक विद्वानों के श्रम से जो कुछ प्राचीन इतिवृत्त आज तक ज्ञात हुए वे भी हमारे लिये तो बड़े महत्व के हैं। यदि उन्हीं के आधार पर मुसलमानों के समय से पूर्व इस देश अथवा इसके किसी विभाग पर राज्य करनेवाले प्राचीन राजवंशों का इतिहास लिखने का यत्न किया जाय तो कुछ सफलता अवश्य हो सकती है, परंतु जब तक यहां प्राचीन शोध का कार्य पूर्णरूप से न हो तब तक उसको अपूर्ण ही समझना चाहिये। राजपूताने का प्राचीन इतिहास लिखना असाधारण योग्यता और भगीरथ प्रयत्न का काम है जो किसी भावी विद्वान् को ही श्रेयस्कर होगा, तथापि यदि यहां के प्राचीन राजवंशों का कुछ भी परिचय न दिया जाय तो पाठक कैसे जान सकते हैं कि वर्तमान हिन्दू राजवंशों[1] अर्थात् गुहिल (गुहिलोत, सीसोदिया), राठोड़, चौहान, कछवाहा, यादव, झाला और जाटवंशों के अतिरिक्त किन किन राजवंशों का संबंध इस विस्तीर्ण देश के किस किस विभाग के साथ पहले कब

---

(१) इस अध्याय में यहां के वर्तमान हिन्दू राजवंशों अर्थात् गुहिल, राठोड़, कछवाहा, चौहान, यादव, झालों और जाटों का इतिहास छोड़ दिया गया है। गुहिल (गुहिलोत, सीसोदिया) वंशियों का प्राचीन इतिहास उदयपुर (मेवाड़) राज्य के इतिहास के प्रारभं में, राठोड़ों का जोधपुर राज्य के, कछवाहों का जयपुर राज्य के, यादवों का करौली राज्य के, झालों का झालावाड़ राज्य के और जाटों का भरतपुर राज्य के इतिहास के प्रारम्भ में लिखा जायगा।

कब रहा था। इस त्रुटि को मिटाने के विचार से ही इस प्रकरण में केवल उक्त वंशों के राजाओं के नाम तथा किसी किसी के कुछ काम एवं निश्चित संवत्, जो अबतक के शोध से ज्ञात हुए, बहुत ही संक्षेप रूप में देने का यत्न किया जाता है।

रामायण और राजपूताना

राजपूताने में जहां अब रेगिस्तान है वहां पहले समुद्र लहराता था, परंतु भूकंप आदि प्राकृतिक कारणों से उस भूमि के ऊंची हो जाने पर समुद्र का जल दक्षिण में हट कर रेते का पुंजमात्र रह गया जिसको पहले मरुकांतार भी कहते थे। अब भी वहां सीप, शंख, कौड़ी आदि का परिवर्तित पाषाणरूप (Fossils) में मिलना इस कल्पना को पुष्ट करता है। रामायण से पाया जाता है कि दक्षिण सागर ने जब सेतु बंधवाना स्वीकारा तब रामचंद्र ने उसको भय-भीत करने के लिये खैंचा हुआ अपना अमोघ बाण इधर फैंका जिससे समुद्र के स्थान में मरुकांतार हो गया[1]। इससे अधिक रामायण में राजपूताने के संबंध का और कोई उल्लेख नहीं मिलता है।

महाभारत और राजपूताना

महाभारत से पाया जाता है कि राजपूताने का जांगल देश कुरु (पांडवों के) राज्य के अंतर्गत[2] था और मत्स्यदेश उनके अधीन या उनका मित्रराज्य था। पांडव बारह वर्ष के वनवास के पीछे एक वर्ष के अज्ञानवास में भेष बदले और कृत्रिम नाम धारण किये मत्स्यदेश के राजा विराट के यहां रहे थे। जब विराट के सेनापति और साले कीचक ने द्रौपदी का, जो मालिनी (सैरंध्री) के नाम से विराट की राणी सुदेष्णा की सेवा में रहती थी, अपमान किया, तो भीम

(१) *तस्य तद्वचनं श्रुत्वा सगरस्य महात्मनः।*
मुमोच तं शरं दीप्तं परं सागरदर्शनात् ॥ ३२ ॥
तेन तन्मरुकांतारं पृथिव्यां किल विश्रुतम्।
निपातितः शरो यत्र वज्राशनिसमप्रभः ॥ ३३ ॥

वाल्मीकीय 'रामायण'; युद्धकांड, सर्ग २२।

(२) *पैत्र्यं राज्यं महाराज कुरवस्ते सजांगलाः ॥*

'महाभारत' उद्योगपर्व, अध्याय ५४, श्लो० ७।

ने, जो वलल नाम से रसोइया और पहलवान बनकर वहां रहता था, कीचक और उसके भाई बन्धुओं को मार डाला[१]।

जब पांडवों के अज्ञातवास की अवधि समाप्त होने आई, उस समय उनके संबंध में विचार होने लगा तब त्रिगर्त (कांगड़ा) देश के राजा सुशर्म्मा ने, जिसको कीचक ने कई वार परास्त किया था, अपना बदला लेने के विचार से कहा कि मत्स्यराज पर चढ़ाई कर वहां का गोधन आदि छीन उसे अधीन कर लेने से अपना बल बढ़ जायगा। कर्ण ने इस कथन का अनुमोदन किया और दुर्योधन ने त्रिगर्त्तराजा को राजा विराट पर सैन्यसहित भेज दिया जिसने वहां पहुंचकर बहुतसी गायें हरण कर लीं। विराटराज अपने दलबल सहित उनको छुड़ाने चला, परंतु शत्रु के हाथ कैद हो गया तो गुप्त वेशधारी भीमसेन युद्ध कर उसको छुड़ा लाया और सुशर्म्मा को भी उसने पकड़ लिया, परंतु पीछा छोड़ दिया। सुशर्म्मा तो लज्जित होकर लौटा ही था[२], व राजा विराट पीछे आने भी नहीं पाया था कि इतने में दुर्योधन, भीष्म, द्रोण, कर्ण आदि ने विराट की नगरी को घेर ली और वे साठ हज़ार गौ हरण कर ले चले। यह समाचार पाते ही विराट का कुमार उत्तर उनको छुड़ाने के लिये चढ़ा। अपने को नपुंसक बतलाकर बृहन्नला के नाम से रणवास में रहनेवाला अर्जुन, कुमार उत्तर का सारथी बना। कौरव सेना को देखते ही उत्तर के तो प्राण सूख गये और उसने घबराकर भागने का विचार किया, परंतु स्त्रीवेशधारी अर्जुन (बृहन्नला) ने उसे धैर्य्य बंधाया और उसे अपना सारथी बना कर स्वयं लड़ने को उद्यत हुआ। शमीवृक्ष पर धरे हुए अपने आयुध लेकर उसने स्त्रीवेश को त्याग वीरवेष धारण किया, अपने धनुष गांडीव की टंकार की, जिसको सुनते ही कौरव पक्ष के योद्धा ताड़ गये कि यह अर्जुन है। गणना करने से उन्हें ज्ञात हुआ कि वनवास के समय से लगाकर अब तक तेरह वर्ष के ऊपर कुछ मास व्यतीत हो चुके हैं इसीसे अब पाण्डव प्रकट हुए हैं।

फिर भीष्म की सम्मति से यह स्थिर हुआ कि ग्रहण की हुई गौओं और दुर्योधन को तो (कौरवों की) राजधानी को भेज दिया जाय और शेष योद्धा लड़ने की तय्यारी करें। अर्जुन ने अपना रथ दुर्योधन के पीछे दौड़ाया, परंतु

---

(१) 'महाभारत' विराटपर्व, अध्याय १६-२८।

(२) वही; विराटपर्व, अध्याय ३४-३५।

कौरवपक्ष के योद्धा उसको रोकने के लिये आन पहुंचे, तब उसने अपने बल से उन सब को परास्त कर गौओं को छुड़ा लिया। लौटते समय उसने कुमार उत्तर से कहा कि यह बात केवल तुम ही जानते हो कि हम पांडव तुम्हारे पिता के आश्रय में रहते हैं, अतः इस गुप्तभेद को उचित समय आने तक किसी पर प्रकट मत करना। फिर अर्जुन ने अपना स्त्रीवेश धारण कर उत्तर का रथ हांकते हुए विजय के साथ विराट की राजधानी में प्रवेश किया। कौरवों को हराने के समाचार जब राजा विराट के पास पहुंचे उस समय वह कंक नामधारी युधिष्ठिर के साथ पासा खेल रहा था। अपने पुत्र की विजय के समाचार सुनकर राजा विराट को बड़ा हर्ष हुआ और वह उसकी प्रशंसा करने लगा, जिसको सुनकर कंकरूपी युधिष्ठिर ने कहा कि बृहन्नला जिसकी सहायता करे उसके विजय में संदेह ही क्या है? इसपर राजा ने क्रुद्ध होकर हाथ में धरा हुआ पासा युधिष्ठिर के नाक पर मार दिया जिससे उसके नाक से रुधिर बहने लगा। इतने में कुमार उत्तर वहां आन पहुंचा और युधिष्ठिर की ऐसी दशा देखकर पूछने लगा कि यह क्या बात है? कारण जानने पर उसको बड़ा खेद हुआ और उसने पिता से निवेदन किया कि महाराज आपने यह अनुचित कार्य किया, क्योंकि मुझे जो विजय प्राप्त हुई है वह मेरे बाहुबल से नहीं, किंतु एक दिव्य पुरुष के पराक्रम का फल है, उक्त पुरुष के दर्शन आप शीघ्र ही करेंगे। फिर पांडवों और द्रौपदी ने अपने नाम प्रकट कर अपना परिचय दिया तब तो राजा विराट को अपनी चेष्टा पर बड़ा शोक हुआ और साथ ही उनको पाण्डव जानकर हर्ष भी मनाया। राजा ताड़ गया कि वह दिव्य पुरुष और कोई नहीं किंतु अर्जुन ही था जिसके बाहुबल से उत्तर को विजय मिली है। तत्पश्चात् विराट ने अपनी पुत्री उत्तरा का विवाह अर्जुन के साथ करने की इच्छा प्रकट की, परंतु जब अर्जुन ने इसे नहीं स्वीकारा तब राजा ने उसका विवाह अर्जुन के पुत्र अभिमन्यु के साथ कर दिया[1]। उत्तरा ही से परीक्षित का जन्म हुआ।

पांडवों के प्रकट होने के पीछे उनका राज्य-विभाग उनको देने से दुर्योधन ने इन्कार किया इसीसे महाभारत के घोर संग्राम का बीजारोपण हुआ। भिन्न भिन्न प्रदेश के राजाओं में से कोई कौरव-पक्ष और कोई पांडव-पक्ष में सम्मिलित हुए, राजा विराट एक अक्षौहिणी सेना सहित युधिष्ठिर के पक्ष में लड़ने

(१) 'महाभारत'; विराटपर्व, अ० ३७–७८।

को गया। वह उस (युधिष्ठिर) के महारथियों में से एक था और शिखंडी की सहायता पर बड़ी वीरता से युद्ध कर द्रोणाचार्य के हाथ से ५०० वीरों सहित वीरगति को प्राप्त हुआ[१]। द्रोणाचार्य के पुत्र अश्वत्थामा ने मत्स्यराज के बचे हुए सैन्य का संहार किया। विराट के ग्यारह भाई शतानीक, मदिराक्ष (मदिराश्व), सूर्यदत्त, श्रुतानीक, श्रुतध्वज, बलानीक, जयानीक, जयाश्व, रथवाहन, चंद्रोदय और समरथ[२], तथा दो राणियां सुरथा और सुदेष्णा और तीन पुत्र उत्तर, शंख और श्वेत नाम के थे जिनमें से शंख और श्वेत सुरथा से और उत्तर कीचक की बहन सुदेष्णा से उत्पन्न हुआ था[३]। शंख भारत-युद्ध में लड़कर द्रोणाचार्य के हाथ से मारा गया था[४]। श्वेत भी उसी युद्ध में भीष्म-पितामह के हाथ से मारा गया[५] और उत्तर ने भी शल्य के हाथ से वीरगति प्राप्त[६] की।

यहां तक का राजपूताने के मत्स्यदेश के राजा विराट[७] तथा उसके पुत्रों का वृत्तांत महाभारत से बहुत ही संक्षिप्तरूप से उद्धृत किया है।

जैसे मत्स्यदेशवालों का वृत्तांत महाभारत में मिलता है वैसे ही शूरसेन देश के यादवों का वर्णन भी मिलता है, परंतु हम ऊपर लिख आये हैं कि यादव वंश का वर्णन करौली के इतिहास में करेंगे इसी लिये यहां उसका उल्लेख नहीं किया है।

महाभारत के युद्ध से लगाकर वि० सं० पूर्व २६४ (ई० स० पूर्व ३२१) में चंद्रगुप्त द्वारा मौर्य साम्राज्य की स्थापना होने तक का राजपूताने का प्राचीन

---

(१) 'महाभारत' द्रोणपर्व, अध्याय १८७ । ४२ ।

(२) वही; विराटपर्व, अध्याय, ३३ । १६–२१ ।

(३) वही; विराटपर्व, अध्याय २१ । १७–१८ ।

(४) वही; भीष्मपर्व, अध्याय ८२ । २३ ।

(५) वही; भीष्मपर्व, अध्याय ४८ । ११ ।

(६) वही; भीष्मपर्व, अध्याय ४७ । ३५ ।

(७) जयपुर राज्य का विराट (वैराट) नगर, राजा विराट का बसाया हुआ और मत्स्यदेश की राजधानी माना जाता है। विराट या वैराट नाम के कई स्थान भारतवर्ष में हैं, जैसे कि बदनोर (मेवाड़ में) का पुराना नाम वैराट, बंबई इहाते के हांगल तालुके में वैराट नगर आदि। भिन्न भिन्न स्थानों के लोग पांडवों का अज्ञात वास में उक्त स्थानों में रहना प्रकट करते हैं, परंतु मत्स्यराज का विराट या वैराट नगर जयपुर राज्य का ही वैराट है।

इतिहास अब तक बिलकुल अंधकार में ही है, अतएव उसको छोड़ कर मौर्य वंश से ही प्राचीन राजवंशों का वर्णन किया जाता है।

मौर्य वंश

मौर्य (मोरी) वंश की उत्पत्ति के विषय में हम ऊपर (पृ० ५८-६१) विस्तार के साथ लिख चुके हैं कि वे सूर्यवंशी क्षत्रिय हैं। भाटों की ख्यातों में कहीं उनको परमार और कहीं चौहान बतलाया है जो विश्वास के योग्य नहीं है, क्योंकि मौर्य राज्य की स्थापना के समय तक न तो परमार और न चौहानों का उक्त नामों से प्रसिद्ध होने का कहीं उल्लेख मिलता है। मौर्य वंश का प्रताप बहुत बढ़ा और उस वंश के राजा चंद्रगुप्त और अशोक के नाम द्वीपांतर में भी प्रसिद्ध हुए। वायु, मत्स्य, ब्रह्मांड, विष्णु तथा भागवत पुराणों में इस वंश के राजाओं की नामावली मिलती है।

(१) चंद्रगुप्त—मौर्य वंश के प्रतापी राज्य का संस्थापक हुआ और नंद वंश का राज्य छीनकर विक्रम संवत् से २६४ वर्ष पूर्व (ई० स० से ३२१ वर्ष पूर्व) पाटलीपुत्र (पटना, विहार में) के राज्य सिंहासन पर बैठा। इसने क्रमशः सिंधु से गंगा के मुख तक और हिमालय से विंध्याचल के दक्षिण तक के देश अर्थात् सारा उत्तरी हिन्दुस्तान अपने अधीन किया, जिससे राजपूताना भी इसके राज्य के अंतर्गत रहा[1]। जिस समय यूनान (ग्रीस) का बादशाह सिकंदर हिन्दुस्तान (पंजाब और सिंध) में था, तब से ही चंद्रगुप्त अपने राज्य की नींव डाल रहा था और सिकंदर के यहां से लौटते ही उसने पंजाब से यूनानियों को निकाल कर उधर के प्रदेश भी अपने अधीन किये। उसका मुख्य सहायक प्रसिद्ध नीतिज्ञ विद्वान् चाणक्य (कौटिल्य, विष्णुगुप्त) ब्राह्मण था। सिकंदर का देहांत होने पीछे वि० सं० से २४८ वर्ष पूर्व (ई० स० से ३०५ वर्ष पूर्व) सीरिया का यूनानी बादशाह सेल्युकस निकेटार सिकंदर का विजय किया हुआ हिन्दुस्तान का प्रदेश पीछा लेने की

---

(१) राजपूताने में जयपुर राज्य के वैराट नामक प्राचीन नगर में चंद्रगुप्त के पौत्र अशोक के लेख मिले हैं। जूनागढ़ (काठियावाड़ में) के निकट अशोक के लेखवाले चट्टान पर खुदे हुए महाक्षत्रप रुद्रदामा के समय के शक संवत् ७२ (वि० सं० २०७=ई० स० १५०) से कुछ पीछे के लेख से पाया जाता है कि वहां का सुदर्शन नामक तालाव मौर्य चंद्रगुप्त के राज्य में बना था।

इच्छा से सिंधु को पारकर चढ़ आया; परंतु चंद्रगुप्त से हार जाने पर काबुल हिरात, क़ंदहार और बलूचिस्तान (पूर्वी अंश) के प्रदेश उसको देकर अपनी पुत्री[1] का विवाह भी उस (चंद्रगुप्त) के साथ कर दिया। इस प्रकार संधि हो जाने पर चंद्रगुप्त ने अपने श्वसुर को ५०० हाथी देकर उसका सम्मान किया। फिर सेल्युकस ने मैगास्थिनीज़ नामक पुरुष को अपना राजदूत बनाकर चंद्रगुप्त के दरबार में भेजा, जिसने 'इंडिका' नामकी पुस्तक में उस समय का इस देश का बहुतसा हाल लिखा था, परंतु खेद की बात है कि वह अमूल्य ग्रंथ नष्ट हो गया, अब तो केवल उसमें से जो अंश स्ट्रैबो, आर्यन, प्लीनी आदि ग्रंथकारों ने प्रसंगवशात् अपनी पुस्तकों में उद्धृत किये वे ही मिलते हैं। उनमें से कुछ बातें पाठकों को उक्त महाराजा का बल, वैभव, नीति, रीति आदि का अनुभव कराने को नीचे लिखी जाती हैं—

चंद्रगुप्त की राजधानी पाटलीपुत्र (पटना) बड़ा सुन्दर, अनुमान ६ मील लंबा और डेढ़ मील चौड़ा नगर है, जिसकी चारों ओर लकड़ी का विशाल प्राकार (परकोटा) बना है। उसमें ६४ दरवाज़े और ५७० बुर्जें हैं। प्राकार

---

(१) पहले भारत में विवाह-संबंध प्राचीन प्रणाली के अनुसार होता था अर्थात् प्रत्येक वर्णवाले अपने तथा अपनेसे नीचे के वर्णों में विवाह कर सकते थे। राजा शांतनु ने धीवर की पुत्री योजनगंधा से और भीम ने दानव कुल की हिडिंबा से विवाह किया था। ऐसे और भी अनेक उदाहरण मिलते हैं। चंद्रगुप्त ने यूनानी राजा सेल्युकस की पुत्री के साथ विवाह किया इस बात के सुनने से कदाचित् हमारे पाठक चौंक जायंगे, परंतु वास्तव में चौंकने की कोई बात नहीं है, क्योंकि उस समय तक तो ईसाई या मुसलमान धर्म का प्रादुर्भाव भी नहीं हुआ था और आर्य जाति सारे पश्चिमी एशिया से आगे बढ़कर यूनान या उससे भी परे तक फैल गई थी और उस समय वहां भी भारतवासियों के समान सूर्य तथा अनेक देवी देवताओं की मूर्त्तियां पूजी जाती थीं। चंद्रगुप्त ने एक वैश्य कन्या से भी विवाह किया था और उसका साला वैश्य पुष्यमित्र सुराष्ट्र (सोरठ) देश का शासक था, जिसने गिरनार के निकट का प्रसिद्ध सुदर्शन तालाब बनवाया था (इं० ऐं; जि० ७, पृ० २६०; २६२)। क्षत्रियों का वैश्यों के साथ विवाह-संबंध बहुत पीछे तक भी होता रहा। वि. सं. की ८ वीं शताब्दी के आस पास होनेवाले प्रसिद्ध कवि दंडी के 'दशकुमारचरित' से पाया जाता है कि पाटलीपुत्र (पटना) के वैश्य वैश्रवण की पुत्री सागरदत्ता का विवाह कोसल के राजा कुसुमधन्वा के साथ हुआ था। सागरदत्ता से वसुंधरा नाम की पुत्री का जन्म हुआ जो विदर्भ के भोजवंशी राजा अनंतवर्मा को ब्याही गई, जिसका पुत्र भास्करवर्मा था ('दशकुमारचरित' में विश्रुत का वृत्तान्त)।

की चारों ओर २०० गज चौड़ी और ३० हाथ गहरी खाई सदा जल से भरी रहती है। चंद्रगुप्त की सेना में ६००००० पैदल, ३०००० सवार, ६००० हाथी और हज़ारों रथ हैं। राजमहल सुंदरता में संसार में सब से बढ़कर हैं, जहां रमणीय और चित्त को मोहित करनेवाले नाना प्रकार के वृक्ष, बेलि आदि लगे हैं। राजा प्रतिदिन राजसभा में उपस्थित होकर प्रजा की फर्याद सुनता और उनका न्याय करता है। राज्यशासन का सब कार्य भिन्न भिन्न समितियों के द्वारा होता है। कारीगरों का पूरा सम्मान है। यदि कोई किसी कारीगर का हाथ या पांव तोड़ डाले या आंख फोड़ डाले तो उसको प्राणदंड दिया जाता है। मुसाफिरों के आराम पर ध्यान दिया जाता है और बीमारों की सेवा शुश्रूषा के लिये औषधालय बने हुए हैं। प्रवासियों के अंतिम संस्कार का अच्छा प्रबंध ही नहीं, किंतु उनकी संपत्ति भी उनके वारिसों के पास पहुंचा दी जाती है। नये वर्ष के प्रारंभ के दिन विद्वानों की सभा राजा के सन्मुख होती है जहां जो लोग कृषि, पशु और प्रजा की उन्नति के विषयों पर अपनी उत्तम संमति प्रकट करते उनको पुरस्कार मिलता है। कृषि के लाभ के लिये जगह जगह नहरें बनी हुई हैं और कृषक सुख शांति के साथ खेती बाड़ी का काम करते हैं। सड़कों पर कोस कोस के अंतर पर स्तंभ खड़े हुए हैं, जिनसे स्थानों की दूरी और मार्गों का पता लगता है। चोरी बहुत कम होती है। ४००००० सेना के पड़ाव में २०० द्रम्म (५० रुपये) से अधिक की चोरी कभी सुनी नहीं गई। लोग विश्वास पर ही कारोबार करते और आपस में मेलजोल के साथ आनंद से रहते हैं'[1]।

चंद्रगुप्त के मंत्री कौटिल्य (चाणक्य) के लिखे हुए 'अर्थशास्त्र' से उस समय की थोड़ी सी बातों का उल्लेख यहां इसलिये किया जाता है कि पाठकों को उस समय एवं उसके पूर्व की राजनीति का कुछ ज्ञान हो जावे—

राजा का विद्वान्, प्रजापालक पुरुषार्थी, परिश्रमी और न्यायशील होना आवश्यक था। योग्य पुरुषों को ही राज्य के अधिकार दिये जाते और उनपर भी गुप्तचरों द्वारा पूरा निरीक्षण रक्खा जाता था। गुप्तचर स्त्री और पुरुष दोनों प्रकार के होते जो भेष बदले विद्यार्थी, गृहस्थी, किसान, संन्यासी, जटाधारी, व्यापारी, तपस्वी आदि अनेक रूप में जहां तहां विचर कर सब प्रकार की

(१) इं० ऐं; जि० ६, पृ० २३६–४०।

ठीक ठीक खबरें राजा के पास पहुंचाया करते थे। वे लोग भिन्न भिन्न देशों की भाषा, पोशाक, रीतिरिवाज और रहन सहन को जाननेवाले होते थे। राजकुमारों पर पूरी दृष्टि रक्खी जाती और यदि वे पितृद्वेषी होते तो किसी दूर के सुरक्षित स्थान में क़ैद कर दिये जाते या कभी कभी मार भी डाले जाते थे। राजसेवकों को वेतन रोकड़रूप में दिया जाता और भूमि भी दी जाती थी जिसको न तो वे बेच सकते और न गिरवी रख सकते थे। किसानों को भूमि पक्की नहीं, किंतु खेती के लिये दी जाती थी। कृषि की उन्नति का पूरा प्रबंध था। उसके लिये एक विभाग बना हुआ था जिसका प्रबंधकर्ता 'सीताध्यक्ष' कहलाता था। भूमि की उपज का छठा भाग राजा लेता था। भूमि की सिंचाई के लिये नहरें, तालाव, कुएं आदि बनवाये जाते, खानों से धातुएं आदि निकाली जातीं, कारखाने चलते, जंगल सुरक्षित रक्खे जाते और लकड़ी तथा सब प्रकार की जंगल की पैदाइश से व्यवसायिक द्रव्य तय्यार किये जाते थे। स्थल और जल के व्यापार के मार्ग सुरक्षित रहते; अनाथ बालक, वृद्ध, बीमार, आपद्ग्रस्त तथा अपाहिजों का भरण पोषण राज की तरफ़ से किया जाता था। राज्य की सीमा पर के जंगलों से हाथी पकड़े जाते थे। कोष्ठागार (कोठार) में एक अरत्नि (२४ अंगुल) के मुखवाला वृष्टि नापने का पात्र रक्खा जाता था। व्यापारी आदि को सदा शुद्ध पदार्थ बेचना पड़ता था। राज्य की आय व्यय का हिसाब ब्यौरेवार उत्तम रीति से रखने की व्यवस्था थी। हिसाब के काम का अधिकारी 'गणनिक्य' और उस विभाग का नाम 'अक्षपटल' था। रत्नपरीक्षा का ज्ञान बहुत बढ़ा चढ़ा था; लोहा, तांबा, सोना, चांदी आदि सभी प्रकार के खनिज द्रव्य खानों से निकाले जाते; सिक्के सोने, चांदी और तांबे के बनते थे। सुनारों के बनाये हुए आभूषणों की जांच राज की कसौटीद्वारा की जाती और उनमें खाद डालने के नियम भी बंधे हुए थे। बाट और नाप राज की ओर से दिये जाते थे। कृत्रिम सुवर्ण बनाने की विद्या भी ज्ञात थी। दाण (चुंगी) आयात (प्रवेश) और निर्यात (निकास) माल पर बंधा हुआ लिया जाता था। नाना प्रकार की मदिरा बनती और आबकारी के विभाग का भी योग्य प्रबंध था। पशुविद्या (शालिहोत्र) का अर्थात् गाय, बैल, भैंस, घोड़े, हाथी, ऊंट आदि जानवरों की जातियों, लक्षण, खानपान, एवं स्थान आदि जानने और उनके रोगों की चिकित्सा करने का पूर्ण ज्ञान था और उनपर सवारी करने या बोझा लादने

आदि के नियम भी बंधे हुए थे। पशु चुरानेवाले को प्राणदंड तक दिया जाता था। न्याय के लिये दीवानी और फौजदारी अदालतें खुली हुई थीं और उनके क़ानून भी बने हुए थे। दुर्भिक्ष-निवारण के लिये स्थल स्थल पर अन्न के भंडार सुरक्षित रहते थे। चर्म, वल्कल, ऊन, सूत आदि के वस्त्र स्थान स्थान पर बनते और वृद्ध, विधवा, लूली, लंगड़ी आदि स्त्रियें भी सूत काता करती थीं। मरे हुए पशुओं के चर्म, हड्डी, दांत, सींग, खुर, पूंछ आदि काम में लाये जाते थे। नाना प्रकार के अस्त्र, जैसे कि स्थितियंत्र, सर्वतोभद्र (सब तरफ मार करनेवाला), जामदग्न्य, बहुमुख, विश्वासघाती, संघाटी, आग लगाने और बुझाने आदि के यंत्र बनाने की विद्या उन्नत दशा में थी। उपदंश (गर्मी) और सुज़ाक के रोगियों की चिकित्सा करनेवाले वैद्यों को पुलिस में उनकी इत्तिला करनी पड़ती थी, यदि वे ऐसी सूचना न देते तो दंड के भागी होते थे। मज़दूर और कारीगरों की रक्षा की जाती और इस विषय के भिन्न भिन्न कामों के लिये भिन्न भिन्न नियम बने हुए थे। ज़िले व परगनेवार ग्रामों की संख्या रहती और मनुष्यगणना तथा पशुगणना भी समय समय पर हुआ करती थी। सारांश कि सभ्य और सुशिक्षित राज्य और प्रजा के हित के लिये जितनी उत्तम बातों का प्रबंध होना चाहिये वह सब उस समय बराबर होता था। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में जो जो बातें लिखी हैं उनका विशेष वर्णन करने के लिये यहां स्थान नहीं है, जिनको विशेष जिज्ञासा हो वे उस पुस्तक का हिंदी अनुवाद देख लेवें।

चंद्रगुप्त का २४ वर्ष राज्य करना पुराणों से पाया जाता है। उसने अपने राज्याभिषेक के वर्ष से 'मौर्य संवत्' चलाया, परंतु उसका विशेष प्रचार न हुआ। उसका उत्तराधिकारी उसका पुत्र बिंदुसार हुआ।

(२) बिंदुसार का नाम पुराणों में भद्रसार (वारिसार) भी लिखा मिलता है। ग्रीक (यूनानी) लेखकों ने उसका नाम 'अमिट्रोचेटि' लिखा है जो संस्कृत 'अमित्रघाती' (शत्रुओं को नष्ट करनेवाला) से मिलता हुआ है। शायद यह उसका बिरुद (ख़िताब) हो। उसने अपने पिता के स्थापित किये हुए महाराज्य को यथावत् बना रक्खा और यूनानियों के साथ भी उसका संबंध पूर्ववत् बना रहा। सीरिआ के बादशाह ऐंटिऑकस् सोटर ने अपने राजदूत डिमैकस् को, और मिसर के पादशाह टालमी फिलाडेल्फस् ने अपने राजदूत डायोनिसिअस् को उसके दरबार में भेजा था। बिन्दुसार ने २५ वर्ष राज्य

किया। उसके कई राणियां और कुंवर थे जिनमें से अशोक उसका उत्तराधिकारी हुआ।

(३) अशोक मौर्यों में सब से अधिक प्रतापी और क़रीब क़रीब सारे हिंदुस्तान का स्वामी हुआ। वि० सं० २१५ वर्ष पूर्व (ई० स० से २७२ वर्ष पूर्व) वह सिंहासन पर बैठा और वि० सं० से २१२ वर्ष पूर्व (ई० स० से २६६ वर्ष पूर्व) उसके राज्याभिषेक का उत्सव मनाया गया। उसने अपने राज्याभिषेक के आठ वर्ष पीछे कालिंग (उड़ीसा) देश विजय किया, जिसमें लाखों मनुष्यों का संहार हुआ देखकर उसकी रुचि बौद्ध धर्म की ओर झुकी हो ऐसा प्रतीत होता है। बौद्ध धर्म ग्रहण कर उसके प्रचार के लिये उसने तन, मन और धन से पूरा प्रयत्न किया, अपनी धर्माज्ञा प्रजा की जानकारी के निमित्त पहाड़ी चटानों तथा पाषाण के विशाल स्तंभों पर कई स्थानों में खुदवाईं, जो शहबाज़गढ़ी (पेशावर ज़िले में), कालसी (संयुक्त प्रदेश के देहरादून ज़िले में), रुम्मिनदेई और निग्लिवा (दोनों नेपाल की तराई में), देहली, इलाहाबाद, सारनाथ (बनारस के पास), वैराट (राजपूताना के जयपुर राज्य में), लोरिया अरराज अथवा रधिया, लोरिया नवंदगढ़ अथवा मथिया, रामपुरवा (तीनों बिहार के चंपारन ज़िले में), सहसराम (बिहार के शाहाबाद ज़िले में), बराबर (बिहार में गया के निकट), रूपनाथ (मध्यप्रदेश के जबलपुर ज़िले में), सांची (भोपाल राज्य में), गिरनार काठियावाड़ में), सोपारा (बंबई से ३७ मील उत्तर में), धौली (उड़ीसे के पुरी ज़िले में), जौगड़ (मदरास इहाते के गंजाम ज़िले में), ब्रह्मगिरि, सिद्धापुर और जतिंगरामेश्वर (तीनों माइसोर राज्य के चितलदुर्ग ज़िले में) और मास्की (निज़ाम राज्य के रायचूर ज़िले में) में मिल चुकी हैं। इन स्थानों से उसके राज्य के विस्तार का अनुमान हो सकता है। उन आज्ञाओं से पाया जाता है कि अशोक ने अपने रसोई घर में, जहां प्रतिदिन हज़ारों जीव भोजनार्थ मारे जाते थे उनको जीवदान देकर केवल दो मोर और एक हिरन प्रतिदिन मारने की आज्ञा दी, इतना ही नहीं, किंतु पीछे से उन्हें भी जीवदान देने की इच्छा प्रकट की। अपने राज्य में मनुष्य और पशुओं के लिये औषधालय स्थापित किये। सड़कों पर जगह जगह कूएं खुदवाये, वृक्ष लगवाये और धर्मशालाएं बनवाईं। अपनी प्रजा में माता पिता की सेवा करने; मित्र, परिचित, संबंधी,

ब्राह्मण तथा श्रमणों (बौद्ध साधुओं) का सम्मान करने; जीवहिंसा, व्यर्थव्यय, एवं परनिंदा को रोकने; दया, सत्यता, पवित्रता, आध्यात्मिक ज्ञान तथा धर्म का उपदेश करने का प्रबंध किया, तथा धर्ममहामात्र नामक अधिकारी नियत किये जो प्रजा के हित तथा सुख का यत्न करते; शहर, गांव, राजमहल, अंतःपुर आदि सब स्थानों में जाकर धर्मोपदेश करते तथा धर्मसंबंधी सब कामों को देखते रहते थे। कई एक दूत (प्रतिवेदिक) भी नियत किये जो प्रजासंबंधी खबरें राजा के पास पहुंचाया करते थे, जिनको सुनकर प्रजा के सुख के लिये योग्य प्रबंध किया जाता था। पशुओं को मारकर यज्ञ करने की राज्य भर में मनाई करदी गई थी; चौपाये, पक्षी तथा जलचरों एवं बच्चेवाली भेड़ बकरी तथा शूकरी को, ऐसे ही छः मास से कम अवस्थावाले उनके बच्चों को मारने की रोक की गई। अष्टमी, चतुर्दशी, अमावास्या, पूर्णिमा तथा अन्य नियत दिनों में सब प्रकार की जीवहिंसा रोक दी गई। बैलों को आंकने तथा बैल, बकरे, मेंढे या सूअरों को अख्ता करने, जंगलों में आग लगाने तथा जीवहिंसा से संबंध रखनेवाले बहुधा सब काम बंद कर दिये गये थे। वह सब धर्मवालों का सम्मान करता; मनुष्य के लिये सृष्टि का उपकार करने से बढ़कर अन्य कोई धर्म नहीं है ऐसा मानता हुआ उसीके लिये यत्न करता; क्रोध, निर्दयता, अभिमान तथा ईर्षा को पाप मानता; ब्राह्मणों तथा श्रमणों के दर्शनों को लाभदायक समझता; प्रजा की भलाई में दत्तचित्त रहता और दंड देने में दया करता था।

वह अपने दादा चंद्रगुप्त से भी अधिक प्रतापी हुआ। उसकी मैत्री भारतवर्ष से बाहर दूर दूर के विदेशी राजाओं से थी, जिनमें से ऐंटिऑकस दूसरा (सीरिआ का), टॉलमी फिलाडेल्फ़स (मिसर का), ऐंटिगॉनस (मक़दूनिया का), मेगस (सीरीन का) और अलेग्ज़ैंडर (इपीरस का) के नाम इसके मुख्य पहाड़ी चटानों की धर्माज्ञाओं में मिलते हैं। जीवहिंसा को रोकने तथा बौद्ध धर्म के प्रचार के लिये दूर देशान्तरों में उसने उपदेशक भेजे थे और असंख्य बौद्ध स्तूप भी बनवाये जिनका उल्लेख चीनी यात्री फाहियान और हुएन्त्संग की यात्रा की पुस्तकों में मिलता है। पुराणों में अशोक का ३६ वर्ष राज्य करना लिखा है। उसका उत्तराधिकारी उसका पुत्र कुनाल हुआ और दूसरे पुत्र जलौक को कश्मीर का राज्य मिला[१]।

(१) इं. ऍ. जि० १८, पृ० ६८।

(४) कुनाल के स्थान में सुयशा नाम भी पुराणों में मिलता है जो उसका बिरुद होना चाहिये। उसका पुराणों में आठ वर्ष राज्य करना लिखा है। उसके पीछे उसका पुत्र दशरथ राज्य पाया।

(५) दशरथ के शिलालेख नागार्जुनी गुफा (गया के निकट) में खुदे हुए हैं जिनसे पाया जाता है कि वे गुफाएं आजीवकों को दी गई थीं[1]। बौद्धों के दिव्यावदान नामक पुस्तक में तथा जैनों के परिशिष्टपर्व, विचारश्रेणी तथा तीर्थकल्प से पाया जाता है कि कुनाल का पुत्र संप्रति[2] था। इससे अनुमान होता है कि मौर्य राज्य कुनाल के दो पुत्रों (दशरथ और संप्रति) में बंटकर पूर्वी विभाग दशरथ के और पश्चिमी संप्रति के अधिकार में रहा हो। संप्रति की राजधानी कहीं पाटलीपुत्र और कहीं उज्जैन लिखी मिलती है। राजपूताना, मालवा, गुजरात तथा काठियावाड़ के कई प्राचीन मंदिरों को, जिनके बनानेवालों का पता नहीं चलता, जैन लोग राजा संप्रति के बनाये हुए मान लेते हैं। यद्यपि वे मंदिर इतने प्राचीन नहीं कि उनको संप्रति के समय के बने हुए कह सकें, तो भी इतना माना जा सकता है कि इन देशों पर संप्रति का राज्य रहा हो और कितने एक जैन मंदिर उसने अपने समय में बनवाये हों। तीर्थ कल्प में यह भी लिखा है कि परमार्हत संप्रति ने अनार्य देशों में भी विहार (मंदिर) बनवाये थे[3]।

पुराणों के अनुसार दशरथ के पीछे पाटलीपुत्र की गद्दी पर संगत (इंद्रपालित), सोमशर्मा (देववर्मा), शतधन्वा (शतधर) और बृहद्रथ राजा हुए।

(१) आजीवक भगवान् बुद्ध और जैनों के २४ वें तीर्थंकर महावीर स्वामी के समकालीन मक्खलीपुत्र गोशाल के मतावलम्बियों को कहते थे। कई विद्वान् उनको वैष्णव (भागवत) सम्प्रदाय के और कई दिगंबर जैन सम्प्रदाय के साधु बतलाते हैं, यद्यपि गोशाल के पूर्व भी इस सम्प्रदाय के दो और गुरुओं के नाम मिलते हैं। जैन कल्पसूत्र के अनुसार गोशाल पहले महावीरस्वामी का शिष्य था, परंतु फिर उनसे पृथक् होकर उसने अपना अलग पंथ चलाया। वही आजीवक सम्प्रदाय का आचार्य भी बना। इस सम्प्रदाय के साधु नग्न रहते और बस्ती के बाहर निवास करते थे।

(२) पुराणों की हस्तलिखित पुस्तकों में बहुधा संप्रति का नाम नहीं मिलता तो भी वायुपुराण की एक हस्तलिखित प्रति में दशरथ के पुत्र का नाम संप्रति दिया है और मत्स्यपुराण में 'सप्तति' पाठ मिलता है जो संप्रति का ही अशुद्ध रूप है (पार्जिटर; 'दी पुरान टेक्स्ट ऑफ दी डाइनेस्टीज़ ऑफ दी कलि एज;' पृ० २८ और टिप्पण १।

(३) 'बंबई गैज़ेटियर; जि० १, भाग १, पृ० १५ और टिप्पण २।

बृहद्रथ के सेनापति सुंगवंशी पुष्यमित्र ने उसे मारकर उसका राज्य छीन लिया।

संप्रति के वंश का राजपूताने से संबंध रखनेवाला शृंखलाबद्ध कुछ भी इतिहास नहीं मिलता, तो भी राजपूताने में विक्रम की आठवीं शताब्दी तक मौर्यों का कुछ कुछ अधिकार रहने का पता लगता है।

चित्तोड़ का क़िला मौर्य राजा चित्रांग (चित्रांगद) ने बनाया ऐसा प्रसिद्ध है और जैन ग्रंथों में लिखा भी मिलता है[1]। चित्तोड़ पर का एक तालाव चित्रांग (चित्रांगद) मोरी का बनवाया हुआ माना जाता है और उसको चत्रंग कहते हैं। मेवाड़ के राजा समरसिंह के समय के वि. सं. १३४४ (ई. स. १२८७) के चित्तोड़ के शिलालेख में 'चित्रंग तड़ाग' नाम से उसका उल्लेख है। चित्तोड़गढ़ से कुछ दूर मानसरोवर नामक तालाव पर राजा मान का, जो मौर्यवंशी माना जाता है, एक शिलालेख वि० सं. ७७० (ई. स० ७१३) का कर्नल् टॉड को मिला[2] जिसमें माहेश्वर, भीम, भोज और मान ये चार नाम क्रमशः दिए हैं। राजा मान वि० सं० ७७० (ई० स० ७१३) में विद्यमान था और उसीने वह तालाव बनवाया था। राजपूताने में ऐसी प्रसिद्धि है कि मेवाड़ के गुहिलवंशी राजा बापा (कालभोज) ने मान मोरी से चित्तोड़गढ़ लिया था।

राजपूताने के पिछले मौर्यवंशी राजा

कोटे के निकट कणसवा (कण्वाश्रम) के शिवालय में एक शिलालेख मालव (विक्रम) सं० ७९५ (ई० स० ७३८) का[3] लगा हुआ है जिसमें मौर्यवंशी राजा धवल का नाम है। उसके पीछे राजपूताना के मौर्यों का कुछ भी वृत्तांत नहीं मिलता। अब तो राजपूताने में कोई मौर्यवंशी (मोरी) रहा ही नहीं है। पिछले समय में राजपूताने के समान बंबई इहाते के खानदेश पर भी मौर्यों का अधिकार रहा था। वाघली गांव से मिले हुए शक संवत् ९९१ (वि० सं० ११२६ ई० स० १०६९) के शिलालेख में वहां के २० मौर्य राजाओं के नाम मिलते हैं, जिनके वंशज अब तक दक्षिण में पाये जाते और मोरे कहलाते हैं।

---

(१) *तत्र चित्राङ्गदश्चक्रे दुर्गं चित्रनगोपरि ॥ १० ॥*

नगरं चित्रकूटाख्यं देवेनतदधिष्ठितम्....॥ ११ ॥

कुमारपालप्रबंध, पत्र ३०। २।

(२) टॉ; रा; जि० १, पृ० ९१९-२२।

(३) इं० ऐं० जि० १९, पृ० ५५-५७।

मालव

जैसे यौधेय, अर्जुनायन आदि प्राचीन जातियां थीं वैसे ही मालव नाम की भी एक प्राचीन जाति थी, जिसका अधिकार अवंती (पश्चिमी मालवा) और आकर (पूर्वी मालवा) पर रहने से उन देशों का नाम मालव (मालवा) हुआ। मालवों का अधिकार राजपूताने में जयपुर राज्य के दक्षिणी अंश, कोटा तथा झालावाड़ राज्यों पर, जो मालवे से मिले हुए हैं, रहा हो ऐसा अनुमान होता है। वि० सं० पूर्व की तीसरी शताब्दी के आस पास की लिपि के कितने एक तांबे के सिक्के जयपुर राज्य के उणियारा के निकट प्राचीन 'नगर' (कर्कोटक नगर) के खंडहर से मिले हैं, जिनपर 'मालवानां जय' (मालव जाति की विजय) लेख है[1]। कितने एक बहुत छोटे छोटे उनके तांबे के सिक्के भी मिले हैं जिनमें से कई एक को पास पास रखने से उनपर का पूरा लेख 'जय मालवगणस्य[2]' (मालवगण की विजय) पढ़ा जाता है। ये सिक्के मालवगण या मालव जाति की विजय के स्मारक हैं। ऐसे ही कितने एक छोटे छोटे सिक्कों पर उक्त गण या जाति के राजाओं के नाम भी अंकित किये गये हों ऐसा अनुमान होता है, परंतु ऐसे छोटे सिक्कों पर उनके नाम और विरुद का अंशमात्र ही आने से उन नामों का स्पष्टीकरण नहीं हो सकता। कुछ विद्वानों ने उनके नाम पढ़ने का यत्न किया है और २० नाम प्रकट भी किये हैं[3] जो विलक्षण एवं अस्पष्ट हैं। उन्हीं अस्पष्ट पढ़े हुए नामों पर से कुछ विद्वानों ने यह भी कल्पना कर डाली है कि मालव एक विदेशी जाति थी, परंतु हम उसे स्वीकार नहीं कर सकते, क्योंकि ऐसा मानने के लिये कोई प्रमाण नहीं है। अब तो मालव जाति का नाम निशान भी नहीं रहा है।

---

(१) स्मि; कै० कॉ० इं० म्यू० ३ पृ० १७०-७३।

(२) वही, पृ० १७३-७४।

(३) ये नाम इस तरह पढ़े गये हैं—भपंयन, यम (या मय) मजुप, मपोजय, मपय, मगजश, मगज, मगोजय, गोजर, माशप, मपक, यम, पछ, मगच्छ (?), गजव, जामक, जमपय, पय, महराय और मरज, (वही, पृ० १७४-१७८)। इनमें से महाराय तो ख़िताब है और बाकी के नाम सिक्कों पर लेख के दो या चार अक्षर चाहे जहां के पाये उनको असंबद्ध जोड़कर ये नाम अटकलपच्चू धर दिये गये हैं। जब तक ख़िताब और पूरे नाम सहित स्पष्ट सिक्के न मिल आवें तब तक हम इन नामों में से एक को भी शुद्ध नहीं कह सकते।

यूनानी या यवन (ग्रीक) राजा

अशोक के लेखों में यूनानी (ग्रीक) राजाओं को 'योनराज' कहा है। 'योन' संस्कृत के 'यवन'[1] शब्द का प्राकृत रूप ही है। पाणिनि की अष्टाध्यायी में 'यवनानी' शब्द मिलता है जिसका आशय 'यवनों की लिपि' है। पीछे से यवन शब्द भारतवर्ष के बाहर की ईरानी, मुसलमान आदि सब जातियों के लिये व्यवहार में आने लगा। यूनान के बादशाह सिकंदर ने पंजाब तथा सिंध के जो अंश अपने अधीन किये थे वे तो पांच वर्ष भी यूनानियों के अधिकार में रहने न पाये, परंतु हिन्दुकुश पर्वत के उत्तर में बाक्ट्रिया (बलख) में उनका राज्य जम गया था। वहां के राजा डेमिट्रियस ने, जो युथीडिमस् का पुत्र था, हिंदुकुश को पारकर अफ़ग़ानिस्तान और पंजाब पर वि० सं० पूर्व १३३=ई० स० पूर्व १९० के आसपास अपना अधिकार जमाया। उन प्रदेशों पर यूनानियों के एक से अधिक स्वतंत्र राज्य स्थापित हुए, जहां २५ से अधिक राजाओं ने[2] राज किया, परंतु उनका शृंखलाबद्ध इतिहास नहीं मिलता है। उनके अधिकतर सिक्के ही मिले हैं, जिनकी एक ओर प्राचीन ग्रीक लिपि और ग्रीक भाषा का लेख, और दूसरी तरफ़ उसी आशय का खरोष्ठी लिपि और प्राकृत भाषा का लेख है, जिसमें राजा का नाम और खिताब मात्र दिये हैं; जिनसे न तो उनका क्रम, न परस्पर का संबंध और न ठीक समय नियत हो सकता है। उनमें मिनेंडर नामक राजा अधिक प्रतापी हुआ और उसने दूर दूर तक अपना राज्य जमाया। मिनेंडर (और ऍपोलोडॉटस) के सिवाय किसी यूनानी राजा का संबंध राजपूताने के साथ नहीं रहा। पतंजलि

---

(१) मत्स्यपुराण में लिखा है कि यदु के वंशज यादव, तुर्वसु के यवन, द्रुह्यु के भोजवंशी और अनु के वंशज म्लेच्छ हुए—

यदोस्तु यादवा जाता तुर्वसोर्यवनाः सुताः ।
द्रुह्योश्चैव सुता भोजा अनोस्तु म्लेच्छजातयः ॥ ३१ ॥

मत्स्यपुराण, अध्याय ३४।

ऐसा ही महाभारत (१ । ८५ । ३५३३) और पद्मपुराण (१२ । १०६) में लिखा है। यदु, तुर्वसु आदि राजा ययाति के पुत्र थे (देखो ऊपर पृ० ४५)।

(२) इन राजाओं की नामावली आदि के लिये देखो हिं० टा० रा०; पृ० ५६२-६८।

ने अपने महाभाष्य में अपने समय की भूतकालिक घटनाओं के उदाहरणों में 'यवन' (यवन राजा) का मध्यमिका पर आक्रमण करना लिखा है[1]। मध्यमिका नामक प्राचीन नगर मेवाड़ में चित्तोड़ के प्रसिद्ध क़िले से ७ मील उत्तर में था, जिसको अब 'नगरी' कहते हैं और जिसके खंडहर दूर दूर तक विद्यमान हैं। महाकवि कालिदास के 'मालविकाग्निमित्र' नाटक से पाया जाता है कि 'सुंग वंश' के संस्थापक पुष्यमित्र के अश्वमेध के घोड़े को सिंधु के दक्षिणी तट पर यवनों के रिसाले ने पकड़ लिया था, जिसको कुमार वसुमित्र लड़कर छुड़ा लाया[2]। यह सिंधु नदी राजपूताने की सिंध (कालीसिंध) प्रतीत होती है। ऊपर लिखी हुई राजपूताने की दोनों घटनाएं किस यूनानी राजा के समय हुईं इसका कोई लिखित प्रमाण तो अब तक नहीं मिला, परंतु संभव यही है कि वे मिनेंडर के समय की हों। मिनेंडर के दो चांदी के सिक्के मुझे नगरी (मध्यमिका) से मिले जो इस अनुमान की पुष्टि करते हैं। ऐसे ही काठियावाड़ और गुजरात से मिलनेवाले उसके सिक्के भी इसकी पुष्टि करते हैं। मिनेंडर के विषय में स्ट्रेबो ने लिखा है कि 'उसने पातालन् (सिंध), सुरास्ट्रस् (सोरठ, दक्षिणी काठियावाड़) तथा सागरडिस् (सागरद्वीप, यह कच्छ हो) को विजय किया था[3]'। वह राजा स्थविर नागसेन के उपदेश से बौद्ध हो गया था। मिलिंदपन्हो (मिलिंदप्रश्न) नामक पाली भाषा के ग्रंथ में मिनेंडर और नागसेन के निर्वाण संबंधी प्रश्नोत्तर हैं। उक्त ग्रंथ से पाया जाता है कि मिलिंद (मिनेंडर) यवन (यूनानी) था, उसका जन्म अलसंद (अलेग्ज़ैंड्रिया, हिन्दुकुश के निकट का) में हुआ था, उसकी राजधानी साकल (पंजाब) में बड़ा समृद्धिवाला नगर था[4]। प्लुटार्क लिखता है कि 'वह ऐसा न्यायी और लोकप्रिय राजा था कि उसका देहान्त होने पर अनेक शहरों के लोगों ने उसकी राख आपस में बांट ली और अपने अपने स्थानों में ले जाकर उसपर स्तूप बनवाये[5]'। इससे भी उसका बौद्ध होना स्थिर होता है।

---

(१) ना० प्र० प; भाग ५, पृ० २०३, टिप्पण †।

(२) वही पृ० २०३।

(३) बंबई गैज़ेटियर; जिल्द १, भाग १, पृ० १६।

(४) 'सेक्रेड बुक्स ऑफ दी ईस्ट'; जि० ३५-३६।

(५) 'न्युमिस्मैटिक क्रॉनिकल'; ई० स० १८६६, पृ० २२१।

मिनेंडर का नाम उसके सिक्कों पर 'मेनंद्र' लिखा मिलता है जो मिनेंडर से बहुत मिलता जुलता है। उसका समय ई० स० पू० १५० (वि० सं० पूर्व ९३) के आसपास होना अनुमान किया जाता है। ग्रीक राजाओं में इसीका संबंध राजपूताने से रहना पाया जाता है। पेरिप्लस का कर्त्ता यह भी लिखता है कि 'ऍपोलोडॉटस् और मिनेंडर के सिक्के अब तक (ई० स० २४०=वि० सं० २९७ के आसपास तक) बरुगज़ (भृगुकच्छ, भड़ौच) में चलते हैं'[1], इससे संभव है कि मिनेंडर के पीछे ऍपोलोडॉटस् का संबंध गुजरात, राजपूताना आदि के साथ रहा हो, परंतु ऐसा मानने के लिये कोई निश्चित प्रमाण नहीं है।

अर्जुनायन

अर्जुनायन जाति के थोड़े से सिक्के मथुरा से मिले हैं जिनपर वि० सं० के प्रारंभ काल के आसपास की लिपि में "अर्जुनायनानां जय" (अर्जुनायनों की विजय) लेख है[2]। इस जाति का अधिकार आगरा तथा मथुरा से पश्चिम के प्रदेश अर्थात् भरतपुर और अलवर राज्यों अथवा उनके कितने एक अंश पर कुछ समय तक रहना अनुमान किया जा सकता है[3]। प्रयाग के क़िले में राजा अशोक के विशाल स्तंभ पर गुप्तवंशी राजा समुद्रगुप्त का बड़ा लेख खुदा हुआ है जिसमें उक्त राजा का कई अन्य जातियों के साथ अर्जुनायनों को भी अपने अधीन करना लिखा है[4]। इसके सिवाय इस जाति का कोई उल्लेख नहीं मिलता है।

क्षत्रप

क्षत्रप शब्द हिन्दुस्तान के क्षत्रप राजाओं के संस्कृत शिलालेखों में और उसका प्राकृत रूप खतप, छत्रप अथवा छत्रव उनके प्राकृत लेखों में मिलता है। क्षत्रपों के शिलालेखों तथा सिक्कों के अतिरिक्त क्षत्रप शब्द संस्कृत साहित्य में

(१) 'बंबई गैज़ेटियर'; जि० १, भाग १, पृ० १७-१८।

(२) स्मि; कै० कॉ० इं० म्यु; जि० १, पृ० १६१, १६६ और प्लेट २०, संख्या १०,

(३) वही, पृ० १६१।

(४) *नेपालकर्तृपुरादिप्रत्यन्तनृपतिभिर्म्मालवार्जुनायनयौधेयमाद्रकाभीरप्रार्जुनसनकानिककाकखरपरिकादिभिश्च सर्वकरदानाज्ञाकरणप्रणामागमनपरितोषितप्रचण्डशासनस्य* (फ्ली; गु. इं; पृ. ८)

कहीं नहीं पाया जाता। संस्कृत शब्दरचना के अनुसार उक्त शब्द का अर्थ 'क्षत्रिय जाति का रक्षण करनेवाला' (क्षत्रं पातीति क्षत्रपः) होता, परंतु वास्तव में यह शब्द संस्कृत भाषा का नहीं, किंतु प्राचीन ईरानी भाषा का है जिसमें क्षत्रप (क्षत्रपावन) शब्द का अर्थ देश का स्वामी या ज़िले का हाकिम है।

हिंदुस्तान में प्रथम शक राजाओं की तरफ से रहनेवाले ज़िलों के हाकिम 'क्षत्रप' कहलाये। उस समय तो उक्त शब्द का अर्थ राजा का प्रतिनिधि या ज़िले का हाकिम ही था, परंतु पीछे से जब वे लोग स्वतंत्र बन बैठे तब वह शब्द उनके वंश का सूचक हो गया। उनका राज्य प्रथम पंजाब तथा मथुरा आदि में, और पीछे से राजपूताना, गुजरात, काठियावाड़, कच्छ तथा दक्षिण के कितने एक अंश पर रहा। इनमें से पहले दो का उत्तरी क्षत्रप और पिछले का पश्चिमी क्षत्रप नाम से विद्वानों ने परिचय दिया है। उत्तरी क्षत्रपों में से पंजाब के क्षत्रपों का राजपूताने से कोई संबंध नहीं रहा। मथुरावालों का अधिकार राजपूताने के उत्तर के थोड़े से अंश पर थोड़े समय तक ही रहा, परंतु पश्चिमी क्षत्रपों का राज्य राजपूताने के अधिक अंश पर बहुत अर्से तक बना रहा था। मथुरा के क्षत्रपों का वृत्तान्त नीचे लिखे अनुसार मिलता है—

(१) मथुरा के क्षत्रपों में से सब से प्रथम नाम राजुल का मिलता है, और कहीं कहीं उसके स्थान में रजुवुल, राजुवुल और राजुवुल भी लिखा है। यह प्रारंभ में किसी शक महाराजा के अधीनस्थ मथुरा के आसपास के प्रदेश का क्षत्रप होना चाहिये, परंतु उसके कितने एक सिक्कों पर महाक्षत्रप की पदवी लिखी रहने से यह अनुमान हो सकता है कि पीछे से वह स्वतंत्र हो गया हो। उसकी अग्रमहिषी (पटराणी) 'नदसी अकसा' ने मथुरा में एक बौद्ध स्तूप और मठ बनवाया, जिससे संबंध रखनेवाले प्राकृत लेख से ज्ञात हुआ कि उस (राणी) के पिता का नाम 'अयसिअ कुमुसअ' और माता का नाम 'अबुहोला' था। उसका पुत्र खरोस्ट उस समय युवराज था। स्तूप के उत्सव में राजा और राणी के संबंधी आदि कई लोग उपस्थित थे जिनके नाम वहां के स्तंभ के सिंहाकृतिवाले सिरे पर के खरोष्ठी लिपि के लेखों में खुदे हुए हैं। उनमें से एक छोटासा लेख, "सारे शकस्तान के सम्मान के लिये" इस आशय का होने से अनुमान होता है कि ये शक जाति के क्षत्रप हों। पुराणों से पाया जाता है कि शक भी क्षत्रिय (आर्य) जाति के लोग थे, परंतु ब्राह्मणों का संबंध छूट जाने से उनकी

गणना वृषलों (पतितों) में हुई (देखो ऊपर पृ० ४३-४४)। युवराज खरोष्ट का न तो कोई शिलालेख और न कोई सिक्का अब तक मिला जिससे संभव है कि वह राजुल की जीवित दशा में ही मर गया हो। जिससे राजुल का उत्तराधिकारी उसका पुत्र सोडास हुआ।

(२) महाक्षत्रप सोडास का एक शिलालेख संवत् ७२ का मथुरा से मिला है, परंतु वह कौनसा संवत् है यह अनिश्चित है; कदाच वह विक्रम संवत् हो। उक्त दो महाक्षत्रपों के अतिरिक्त मथुरा से कुछ ऐसे सिक्के भी मिले हैं जिनमें एक ही सिक्के पर 'हगान' और 'हगामाश' दोनों नाम हैं; और कुछ सिक्कों पर केवल 'हगामाश' का ही नाम है, इसलिये ये दोनों क्षत्रप भी एक दूसरे के बाद होने चाहिये (शायद भाई हों)। ऐसे ही कुछ सिक्कों पर क्षत्रप 'शकमित्र' के पुत्र क्षत्रप 'मेवक' का नाम मिलता है। वे सिक्के महाक्षत्रप सोडास के सिक्कों की शैली के हैं।

मथुरा के उपर्युक्त महाक्षत्रपों और क्षत्रपों का समय, क्रम, तथा परस्पर का संबंध ठीक निश्चय करने के लिये अब तक साधन उपस्थित नहीं हुए। अनुमान होता है कि वे विक्रम संवत् के पूर्व की पहिली शताब्दी और वि. सं. की पहिली शताब्दी के बीच में हुए हों और उनका राज्य कुशन वंशियों ने छीना हो।

पश्चिमी क्षत्रप भी जाति के शक होने चाहिये क्योंकि महाक्षत्रप नहपान की पुत्री दक्षमित्रा का विवाह शक 'दीनीक' के पुत्र उषवदात के साथ हुआ था।

पश्चिमी क्षत्रप

इनके वंशवृक्ष से इन पश्चिमी क्षत्रपों में एक ऐसी रीति का होना पाया जाता है कि एक राजा के जितने पुत्र हों वे अपने पिता के पीछे क्रमशः राज्य के मालिक होते थे। उनके पीछे यदि ज्येष्ठ पुत्र का बेटा विद्यमान होता तो उसको राज्य मिलता था। राजपूतों की नांई सदा ज्येष्ठ पुत्र के वंश में ही राज्य रहने नहीं पाता था। स्वतंत्र राज्य करनेवाला 'महाक्षत्रप' की पदवी धारण करता, और जो ज़िलों का शासक होता वह 'क्षत्रप' कहलाता था, परंतु अपने नाम के सिक्के महाक्षत्रप और क्षत्रप दोनों चलाते थे। उन्होंने महाराजाधिराज, परमभट्टारक, परमेश्वर आदि खिताब कभी धारण नहीं किये, परंतु क्षत्रप शब्द के पूर्व राजा पद सब लिखते रहे (राज्ञो महाक्षत्रपस्य। राज्ञः क्षत्रपस्य)। उनके शिलालेख थोड़े हो मिले हैं, परंतु सिक्के हज़ारों मिलते हैं

जिनपर बहुधा संवत् और महाक्षत्रप या क्षत्रप के नाम के साथ उसके पिता का नाम रहता है जिससे उनका वंशक्रम स्थिर हो जाता है[1]। राजपूताने में उनके सिक्के पुष्कर, चित्तोड़, नगरी (मध्यमिका) आदि प्राचीन स्थानों में कभी कभी मिल आते हैं, परंतु अधिक संख्या में नहीं। उनके सिक्कों का बड़ा संग्रह बांसवाड़ा राज्य के सिरवाणिया गांव से वि० सं० १९६९ (ई० स० १९१२) में मिला जिसमें २४०० सिक्के केवल उसी वंश के २१ महाक्षत्रपों या क्षत्रपों के थे, जिनपर शक संवत् १०३ से २७५ (वि० सं० २३८ से ४१०=ई० स० १८१ से ३५३) तक के अंक स्पष्ट थे। उन सिक्कों से इस बात की पुष्टि होती है कि राजपूताने के बड़े विभाग पर उनका राज्य रहा था। इस वंश के राजाओं का परिचय नीचे दिया जाता है।

भूमक के तांबे के ही सिक्के पुष्कर आदि से मिले हैं जिनपर के लेखों में उसको क्षहरात क्षत्रप कहा है। क्षहरात (छहरात, खहरात, खखरात) उसके वंश का नाम होना चाहिये। उसके सिक्कों पर कोई संवत् नहीं है और यह भी अब तक पाया नहीं गया कि उसने महाक्षत्रप पद धारण किया या नहीं। इसीसे हमने उसको महाक्षत्रपों में स्थान नहीं दिया है।

(१) नहपान[2] के राज्य-समय के शक सं० ४१ से ४५ (वि० सं०१७६-१८०=ई० स० ११९-१२३) तक के शिलालेखों[3] में उसको क्षत्रप लिखा है, परंतु उसके मंत्री अयम (अर्यमन्) के शक सं० ४६ (वि० सं० १८१=ई० स० १२४) के लेख में उसके नाम के साथ 'महाक्षत्रप[4]' शब्द जुड़ा है। नहपान का राज्य दक्षिण में नासिक और पूना के ज़िलों से लगाकर गुजरात, काठियावाड़, मालवा और राजपूताने में पुष्कर से उत्तर तक था। उसका जामाता शक उषवदात उसका सेनापति हो ऐसा प्रतीत होता है। वह उसके राज्य में दौरा करता

(१) लंडन नगर के ब्रिटिश म्यूज़ियम् में क्षत्रपों के सिक्कों का बड़ा संग्रह है जिसकी विस्तृत सूची प्रसिद्ध विद्वान् प्रॉफेसर इ० जे० राप्सन ने प्रकाशित की है। सिरवाणिया से मिले हुए २४०० सिक्कों का विवेचन मैंने राजपूताना म्यूज़ियम् (अजमेर) की ई० स० १९१२-१३ की रिपोर्ट में किया है।

(२) नहपान का भूमक के साथ क्या संबंध था यह अब तक ज्ञात नहीं हुआ तो भी यह निश्चित है कि नहपान भी क्षहरातवंशी था।

(३) ए० इं०; जि० १० का परिशिष्ट; लेखसंख्या ११३३-३५।

(४) वही; लेखसंख्या ११७४।

और जगह जगह दान दिया करता था। उसके लेख से पाया जाता है कि राजपूताने में उसने बार्णासा (बनास) नदी पर तीर्थ (घाट) बनवाया और सुवर्ण का दान किया। भट्टारक (नहपान) की आज्ञा से चौमासे में ही मालयों (मालवों) से घिरे हुए उत्तमभाद्र क्षत्रियों को छुड़ाने के वास्ते वह गया। मालव उसके आने की ध्वनि होते ही भाग निकले, परंतु वे उत्तमभाद्र क्षत्रियों के बन्धुए बनाये गये। फिर उसने पुष्कर जाकर स्नान किया और वहां ३००० गौ और एक गांव दान में दिया [1]। अन्त में आंध्र (सातवाहन) वंश के राजा गौतमीपुत्र शातकर्णी ने क्षहरात वंश को नष्ट कर नहपान के राज्य का बड़ा हिस्सा अपने राज्य में मिला लिया [2]।

(२) चष्टन—घ्सामोतिक[3] (ज़ामोतिक) का पुत्र था। उसके कुछ सिक्के क्षत्रप और कुछ महाक्षत्रप पदवीवाले मिले हैं। नहपान के वंश से उसका क्या संबंध था यह पाया नहीं जाता। उसने नहपान का खोया हुआ बहुतसा राज्य अपने अधीन किया। उसका पुत्र जयदामा उसकी विद्यमानता में ही मर गया जिससे जयदामा का पुत्र रुद्रदामा उसका उत्तराधिकारी हुआ।

(३) रुद्रदामा—पश्चिमी क्षत्रपों में सब से प्रतापी राजा हुआ। कच्छ राज्य के अंधौ गांव से उसके ४ शिलालेख शक संवत् ५२ (वि० सं० १८७=ई० स० १३०) के मिले हैं [4] जिनमें 'क्षत्रप' शब्द के स्थान पर 'राज्ञः' शब्द का प्रयोग चष्टन और रुद्रदामा के नामों के साथ किया है, परंतु घ्सामोतिक तथा जयदामा के नामों के साथ उस शब्द का प्रयोग नहीं है। ऐसी दशा में यह मानना युक्तिसंगत है कि उक्त संवत् से पूर्व वह स्वतंत्र राजा हो गया हो। गिरनार के पास अशोक के १४ प्रज्ञापनवाले चटान पर रुद्रदामा के समय का एक शिलालेख खुदा है जिससे पाया जाता है कि उसने युद्ध के सिवा मनुष्य वध

(१) ए. इं; जि. ८, पृ० ७८।

(२) वही; जि. ८; पृ० ६०।

(३) कोई कोई विद्वान् घ्सामोतिक को 'य्सामोतिक' पढ़ते हैं। क्षत्रपों के समय की ब्राह्मी लिपि में 'घ' और 'य' अक्षर कभी कभी मिलते जुलते होते हैं, परंतु यहां य्सामोतिक पढ़ना असंगत है। ज़ामोतिक को ब्राह्मी लिपि में घ्सामोतिक लिखा है और वैसा ही पढ़ना ठीक प्रतीत होता है।

(४) ए. इं; जि० १६ पृ० २३-२५।

न करने की प्रतिज्ञा की थी। वह पूर्वी और पश्चिमी आकरावंती[1], अनूप[2], आनर्त[3], सुराष्ट्र[4], श्वभ्र[5], मरु[6], कच्छ[7], सिंधुसौवीर[8], कुकुर[9], अपरांत[10], निषाद[11] आदि देशों का राजा था। उसके राज्य में चोर आदि का भय न था, सारी प्रजा उसकी ओर अनुरक्त थी, क्षत्रियों में 'वीर' का खिताब धारण करनेवाले यौधेयों को उसने नष्ट किया था; दक्षिणापथ (दक्षिण) के स्वामी सातकर्णी को दो बार परास्त किया, परंतु निकट का संबंधी होने से उसको मारा नहीं, और पदच्युत किये हुए राजाओं को फिर अपने अपने राज्यों पर स्थापित किया। धर्म पर उसे रुचि थी। वह व्याकरण, संगीत, तर्क आदि शास्त्रों का प्रसिद्ध ज्ञाता; अश्व, रथ और हाथी का चढ़ैया, तलवार और ढाल से लड़ने में कुशल और शत्रुसैन्य को सहज में जीतनेवाला था। उसका कोष सोना, चांदी, हीरे और रत्नों से भरा हुआ था, वह गद्य और पद्य का लेखक था, महाक्षत्रप पद उसने स्वयं धारण किया था और अनेक स्वयंवरों में राजकन्याओं ने उसे वरमालाएं पहिनाई थीं। उसके समय में शक संवत् ७२ (वि० सं० २०७=ई० स० १५०) मार्गशीर्ष कृष्णा १ को अतिवृष्टि के कारण ऊर्जयंत (गिरनार) पर्वत से निकलनेवाली सुवर्णसिकता, पलाशिनी आदि नदियों की बाढ़ से सुदर्शन

(१) आकरावंती (आकर और अवंती) अर्थात् पूर्वी और पश्चिमी मालवा (सारा मालवा)।

(२) जल की बहुतायतवाला देश, शायद यह मालवे से दक्षिण के प्रदेश का सूचक हो।

(३) उत्तरी काठियावाड़।

(४) दक्षिणी काठियावाड़ (सोरठ)।

(५) साबरमती के तटों पर का देश अर्थात् उत्तरी गुजरात।

(६) मारवाड़।

(७) कच्छ देश प्रसिद्ध है।

(८) सिंध और सौवीर। सौवीर सिंध से मिला हुआ देश होना चाहिये। चाहे वह सिंध के उत्तरी हिस्से का सूचक हो चाहे सिंध से मिले हुए जोधपुर राज्य के पश्चिमी हिस्से का।

(९) कुकुर का स्थान अनिश्चित है। शायद वह इंदोर राज्य का कुकरेश्वर नामक ज़िला हो, जो मंदसौर से उत्तर पूर्व में है और जहां पान अधिकता से होते हैं।

(१०) उत्तरी कोंकण।

(११) निषाद का स्थान भी अनिश्चित है। शायद यह निषाद अर्थात् भील आदि जंगली जातियों से बसे हुए किसी प्रदेश का सूचक हो।

तालाव का बंद ४२० हाथ लंबा, उतना ही चौड़ा और ७५ हाथ गहरा बह गया था। इतना बड़ा बंद फिर बनवाना कठिन काम था, परंतु प्रजा के आराम के लिये उस(रुद्रदामा)की आज्ञा से आनर्त और सुराष्ट्र के शासक सुविशाख ने, जो पल्हव कुलेप का पुत्र था, उस बंद को पहले से तिगुना मज़बूत बनवा दिया, जिसका कुल खर्च राज के खज़ाने से दिया गया। उसके निमित्त न तो प्रजा पर कोई कर लगाया और न बेगार में काम कराया गया' "[1]। इस लेख से पाया जाता है कि रुद्रदामा की राजधानी काठियावाड़ में न थी, वह उज्जैन होनी चाहिये, जो उसके दादा की राजधानी थी। उसके दो पुत्र दामघ्सद (दामजदश्री) और रुद्रसिंह थे। जिनमें से ज्येष्ठ पुत्र दामघ्सद उसके राज्य का स्वामी हुआ।

(४) दामघ्सद के दो पुत्र सत्यदामा और जीवदामा थे जिनमें से जीवदामा अपने चचा रुद्रसिंह का उत्तराधिकारी हुआ। सत्यदामा अपने छोटे भाई के महाक्षत्रप होने के पूर्व ही मर गया हो ऐसा पाया जाता है, क्योंकि उसको महाक्षत्रप नहीं लिखा।

(५) रुद्रसिंह (संख्या ४ का छोटा भाई)–उसके समय के चांदी के सिक्के शक सं० १०३ से ११० (वि० सं० २३८ से २४५=ई० स० १८१ से१८८) तक के मिले हैं। फिर श० सं० ११० से ११२ (वि० सं० २४५ से २४७=ई० स० १८८ से १९०) तक के सिक्कों में उसको क्षत्रप ही लिखा है जिससे अनुमान होता है कि दो वर्ष तक वह किसी के अधीन रहा हो। संभव है कि उसको दो वर्ष तक अपने अधीन रखनेवाला महाक्षत्रप ईश्वरदत्त हो जिसके सिक्के केवल पहले और दूसरे राज्यवर्ष के ही मिलते हैं। श० सं० ११३ से ११८ तक (वि० सं० २४८ से २५३=ई० स० १९१ से १९६) के सिक्कों में उसकी पदवी फिर महाक्षत्रप होने से अनुमान होता है कि दो वर्ष पीछे वह पुनः स्वतंत्र हो गया था। उसके समय का एक शिलालेख गुंदा गांव (जामनगर राज्य में) से शक सं० १०३ (वि० सं० २३८=ई० स० १८१) वैशाख सुदि ५ का मिला जिसमें आभीर (अहीर) जाति के सेनापति बाहक के पुत्र सेनापति रुद्रभूति के एक ह्रद (तालाव) बनाने का उल्लेख है[2]। रुद्रसिंह के तीन पुत्र रुद्रसेन, संघदामा

(१) ए. इं; जि. ८, पृ० ४२–४५। इं. एं; जि० ७, पृ० २५९-६१।

(२) 'भावनगर इंस्क्रिपशन्स'; पृ० २२।

और दामसेन थे जो जीवदामा के पीछे क्रमशः राजा हुए।

(६) ईश्वरदत्त के पहले और दूसरे राज्यवर्ष के सिक्के मिलते हैं जिनपर न तो उसके पिता का नाम है और न संवत्, जिससे उसका पूर्व के राजाओं के साथ का संबंध निश्चय नहीं हो सकता। उसने रुद्रसिंह को दो वर्ष तक अपने अधीन किया हो ऐसा अनुमान होता है।

(७) जीवदामा (संख्या ४ वाले दामजदश्री का दूसरा पुत्र)—उसके समय के सिक्के श० सं० ११६ और १२० (वि० सं० २५४ और २५५=ई० स० १६७ और १६८) के मिले हैं। उसके पीछे उसके चचा रुद्रसिंह का ज्येष्ठ पुत्र रुद्रसेन राजा हुआ।

(८) रुद्रसेन के समय के चांदी के सिक्के श० सं० १२२ से १४४ (वि० सं० २५७ से २७६=ई० सन् २०० से २२२) तक के मिले हैं। उसके राज्य-समय का एक शिलालेख गढ़ा गांव (काठियावाड़ के जसदण राज्य में) से मिला जो शक सं० १२७ (वि० सं० २६२=ई० स० २०५) भाद्रपद बहुल (कृष्ण) ५ का है[1] और उसमें मानस गोत्र के प्रथानक के पुत्रों और खर के पौत्रों का एक सत्र (अन्न-क्षेत्र) बनाने का उल्लेख है। उस (रुद्रसेन) के दो पुत्र पृथिवीसेन और दामजदश्री थे जो क्षत्रप ही रहे। कुल-मर्यादा के अनुसार रुद्रसेन का उत्तराधिकारी उसका छोटा भाई संघदामा हुआ।

(९) संघदामा के समय के चांदी के सिक्के शक सं० १४४ और १४५ (वि० सं० २७९ और २८०=ई० स० २२२ और २२३) के मिले हैं। उसने दो वर्ष से कम ही राज्य किया। उसका क्रमानुयायी उसका छोटा भाई दामसेन हुआ।

(१०) दामसेन के चांदी के सिक्के श० सं० १४५ से १५८ (वि० सं० २८० से २९३=ई० स० २२३ से २३६) तक के मिले हैं। उसके ४ पुत्र वीरदामा, यशोदामा, विजयसेन, और दामजदश्री (दूसरा) थे, जिनमें से वीरदामा क्षत्रप ही रहा और संभवतः वह अपने पिता की विद्यमानता में ही मर गया हो जिससे दामसेन का उत्तराधिकारी उसका दूसरा पुत्र यशोदामा हुआ।

(११) यशोदामा के समय के चांदी के सिक्के श० सं० १६१ (वि० सं० २९६= ई० स० २३९) के मिले हैं। उसके पीछे उसका छोटा भाई विजयसेन क्षत्रप राज्य का स्वामी हुआ।

(१) 'भावनगर इन्स्क्रिप्शन्स;' पृ० २२-२३।

(१२) विजयसेन के सिक्के श० सं० १६१ से १७२ (वि० सं० २६६ से ३०७=ई० स० २३६ से २५०) तक के मिले हैं। उसका उत्तराधिकारी उसका छोटा भाई दामजदश्री हुआ।

(१३) दामजदश्री (दूसरे) के सिक्के श० सं० १७२ से १७६ (वि० सं० ३०७ से ३११=ई० स० २५० से २५४) तक मिले हैं।

(१४) रुद्रसेन दूसरा (संख्या १० के ज्येष्ठ पुत्र क्षत्रप वीरदामा का बेटा)-उसके सिक्के श० सं० १७८ से १९६ (वि० सं० ३१३ से ३३१=ई० स० २५६ से २७४) तक के हैं। उसके दो पुत्र विश्वसिंह और भर्तृदामा थे जो उसके पीछे क्रमशः राजा हुए।

(१५) विश्वसिंह के सिक्कों पर संवत् के अंक अस्पष्ट हैं।

(१६) भर्तृदामा (संख्या १५ का छोटा भाई)-उसके सिक्के श० सं० २०६ से २१७ (वि० सं० ३४१ से ३५२=ई० स० २८४ से २९५) तक के मिले हैं। उसके पुत्र विश्वसेन के सिक्के मिलते हैं।जिनमें उसको क्षत्रप लिखा है। संख्या ३ से १६ तक (संख्या ६ को छोड़कर) महाक्षत्रपों की वंशावली शृंखलाबद्ध मिलती है, फिर स्वामी रुद्रदामा (दूसरे) से वंशावली शुरू होती है।

(१७) स्वामिरुद्रदामा किसका पुत्र था यह जाना नहीं गया, क्योंकि उसका कोई सिक्का अब तक नहीं मिला है। उसका नाम और महाक्षत्रप की पदवी उसके पुत्र स्वामिरुद्रसेन (दूसरे) के सिक्कों पर मिलती है। स्वामिजीवदामा का उसके समय के निकट ही होना अनुमान किया जाता है। जीवदामा के पुत्र रुद्रसिंह और पौत्र यशोदामा के सिक्के मिलते हैं जिनमें उनको क्षत्रप कहा है। संभव है कि स्वामिरुद्रदामा, स्वामिजीवदामा का पुत्र या उसका निकट संबंधी हो।

(१८) स्वामिरुद्रसेन (संख्या १७ का पुत्र)-के सिक्के श० सं० २७० से ३०० (वि० सं० ४०५ से ४३५=ई० स० ३४८ से ३७८) तक के मिलते हैं।

(१९) स्वामिसिंहसेन (संख्या १८ का भानजा)—उसके सिक्के श० सं० ३०४ (वि० सं० ४३९=ई० स० ३८२) के मिले हैं।

(२०) स्वामि[रुद्र]सेन दूसरा (संख्या १९ का पुत्र)-उसके सिक्के बहुत कम मिलते हैं और उनपर संवत् नहीं है।

(२१) स्वामिसत्यसिंह-का कोई सिक्का नहीं मिला जिससे उसके

पिता के नाम का पता नहीं चलता। उसके नाम और महाक्षत्रप के ख़िताब का पता उसके पुत्र महाक्षत्रप स्वामिरुद्रसिंह के सिक्कों से लगता है।

(२२) स्वामिरुद्रसिंह (सं० २१ का पुत्र)–उसके सिक्के श० सं० ३१० (वि० सं० ४४५=ई० स० ३८८) और कुछ उसके बाद के भी मिले हैं, परंतु उन पिछले सिक्कों पर संवत् का तीसरा अंक अस्पष्ट है। गुप्त वंश के महाप्रतापी राजा चंद्रगुप्त (दूसरे) ने, जिसका विरुद विक्रमादित्य था, स्वामिरुद्रसिंह का सारा राज्य छीनकर क्षत्रपों के राज्य की समाप्ति कर दी, जिससे राजपूताने पर से उनका अधिकार उठ गया।

क्षत्रपों का वंशवृक्ष
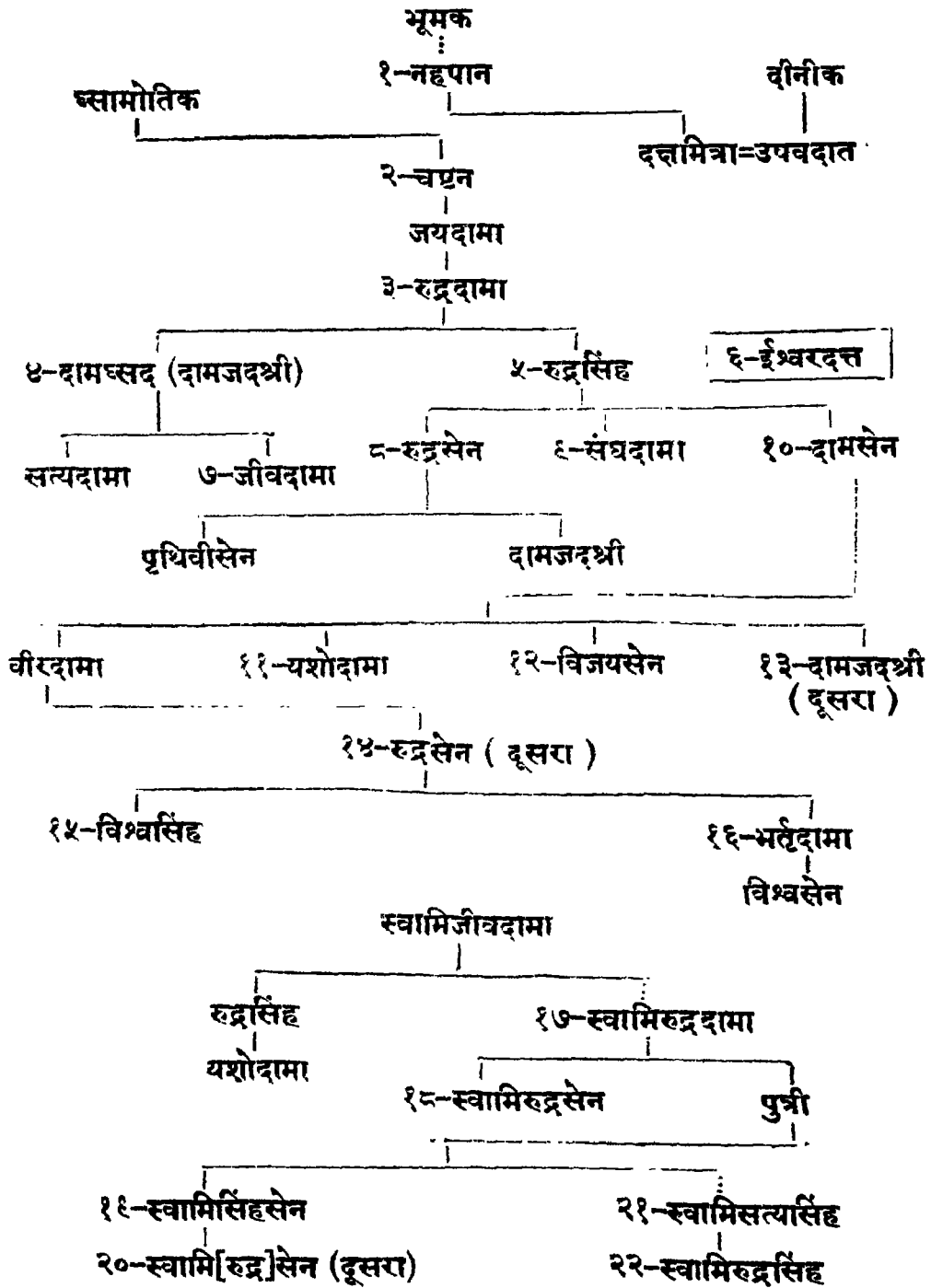
(१) इस वंशवृक्ष में महाक्षत्रपों के नाम और उनका क्रम अंकों से बतलाये गये हैं। जिन नामों के पूर्व अंक नहीं हैं वे क्षत्रप ही रहे थे।

पश्चिमी क्षत्रपों और महाक्षत्रपों की नामावली संवत् सहित।

संख्या	नाम क्षत्रप	ज्ञात समय		संख्या	नाम महाक्षत्रप	ज्ञात समय	
		शक सं०	वि० सं०			शक सं०	वि० सं०
१	भूमक						
२	नहपान	४१-४५	१७६-१८०	१	नहपान	४६	१८१
३	चष्टन			२	चष्टन		
४	जयदामा			३	रुद्रदामा	५२-७२	१८७-२०७
५	दामघ्सद } दामजदश्री			४	दामघ्सद } दामजदश्री		
				५	रुद्रसिंह	१०३-११०	२३८-२४५
६	सत्यदामा			६	ईश्वरदत्त	दो वर्ष	दो वर्ष
७	रुद्रसिंह	१०२-१०३	२३७-२३८		रुद्रसिंह } दूसरीवार	११३-११८	२४८-२५३
	रुद्रसिंह } दूसरीवार	११०-११२	२४५-२४७	७	जीवदामा	११६-१२०	२५४-२५५
८	रुद्रसेन	१२१	२५६	८	रुद्रसेन	१२२-१४४	२५७-२७९
९	पृथिवीसेन	१४४	२७९	९	संघदामा	१४४-१४५	२७९-२८०
१०	दामजदश्री	१५४-१५५	२८९-२९०	१०	दामसेन	१४५-१५८	२८०-२९३
११	वीरदामा	१५६-१६०	२९१-२९५				
१२	यशोदामा	१६०	२९५	११	यशोदामा	१६१	२९६
१३	विजयसेन	१६०	२९५	१२	विजयसेन	१६१-१७२	२९६-३०७
				१३	दामजदश्री	१७२-१७६	३०७-३११
				१४	रुद्रसेन	१७८-१९६	३१३-३३१
१४	विश्वसिंह	१९८-२००	३३३-३३५	१५	विश्वसिंह		
१५	भर्तृदामा	२००-२०४	३३५-३३९	१६	भर्तृदामा	२०६-२१७	३४१-३५२
१६	विश्वसेन	२१५-२२६	३५०-३६१				
१७	रुद्रसिंह	२२६-२३६	३६१-३७१	१७	स्वा. रुद्रदामा		
१८	यशोदामा	२३९-२५४	३७४-३८९	१८	„ रुद्रसेन	२७०-३००	४०५-४३५
				१९	„ सिंहसेन	३०४	४३९
				२०	„ रुद्रसेन		
				२१	„ सत्यसिंह		
				२२	„ रुद्रसिंह	३१०	४४५

कुशनवंश

कुशनवंश का परिचय हम ऊपर (पृ० ५२-५३ में) दे चुके हैं। मथुरा के निकटवर्ती राजपूताने के प्रदेश पर इस वंश का अधिकार कनिष्क के पिता वाझेष्क के समय से हुआ हो ऐसा प्रतीत होता है। इन राजाओं के समय के कई शिलालेख मथुरा तथा उसके आसपास के प्रदेशों से मिले हैं। उन शिलालेखों के संवतों के विषय में विद्वानों में मतभेद है; कोई उनको विक्रम संवत्, कोई शक संवत् और कोई शताब्दी के अंक छोड़कर ऊपर के ही वर्ष मानते हैं। हमारा अनुमान है कि उनके संवत् शक संवत् हैं। कनिष्क तथा उसके पीछे के तीन राजाओं के सिक्कों पर दोनों ओर प्राचीन ग्रीक लिपि के लेख हैं [1]।

(१) वाझेष्क के विषय में कुछ भी ज्ञात नहीं हुआ। आरा से मिले हुए खरोष्ठी लिपि के कनिष्क के समय के शक सं० ४१ (वि० सं० १७६=ई० स० ११९) के लेख में कनिष्क को वाझेष्क का पुत्र कहा है।

(२) कनिष्क के समय के शिलालेख श० सं० ५ से ४१ (वि० सं० १४० से १७६=ई० स० ८३ से ११९) तक के मिले हैं [2]। हिन्दुस्तान में उसका राज्य पंजाब और कश्मीर से लगाकर पूर्व में काशी से परे तक; दक्षिण में सिंध, और राजपूताने में मथुरा से दक्षिण के प्रदेशों पर होना पाया जाता है। उसने हिन्दुकुश पर्वत से उत्तर में बढ़कर खोतान, यारकंद तथा काशगर तक के प्रदेशों पर भी अपना अधिकार जमाया था। बौद्ध धर्म की ओर उसका झुकाव अधिक होने पर भी वह हिंदुओं के शिव आदि देवताओं का पूजक था और होम करता था, ऐसा उसके

---

(१) कनिष्क के पहले कुशनवंशी राजा 'कुजुलकडफिसेस' (कुजुल कस) और 'वेमकडफिसेस' (विम कटफिस) के सिक्के मिले हैं जिनकी एक तरफ प्राचीन ग्रीक भाषा व लिपि के और दूसरी ओर खरोष्ठी लिपि में भारतीय प्राकृत भाषा के लेख हैं। कनिष्क और उसके पिछले राजाओं के सिक्कों पर दोनों ओर ग्रीक लिपि के ही लेख हैं। 'कुजुलकडफिसेस' और 'वेमकडफिसेस' के साथ कनिष्क का क्या संबंध था यह अनिश्चित है। संभव है कि वे दोनों राजा कनिष्क से बहुत पहले हुए हों और कुशन वंश की अन्य शाखा से संबंध रखते हों।

(२) कनिष्क के समय के शिलालेखों के लिये देखो ए. इं; जि० १० का परिशिष्ट; लेखसंख्या १८, २१, २२ और २३। ज० रॉ. ए. सो; ई. स. १९२४, पृ० ४००; और आरा के लेख के लिये देखो ए. इं; जि० १४, पृ० १४३।

सिक्कों पर मिलनेवाली शिव की मूर्ति आदि से पाया जाता है। उसके बनवाये हुए पेशावर के बौद्ध स्तूप का पता लग गया है। बौद्ध ग्रंथों में उल्लेख है कि उसने अपनी कश्मीर की राजधानी में बौद्ध धर्म के पुराने सिद्धांतों का निर्णय करने के लिये बौद्ध संघ एकत्रित किया था, उसमें जो त्रिपिटिक माना गया उसको उसने तांबे के पत्रों पर खुदवाकर पत्थर की संदूक में रखवाया और उसपर एक स्तूप बनवाया था [1]। उस स्तूप तथा उन पत्रों का अब तक पता नहीं लगा है। वास्तव में वह संघ बौद्धों के हीनयान पंथ (प्राचीन मतावलंबियों) का था जिनकी संख्या इस देश में बहुत थोड़ी थी। दूसरा पंथ महायान कहलाता था जिसके अनुयायी विशेष थे। कनिष्क के समय में शिल्प और विद्या की बड़ी उन्नति रही, प्रसिद्ध बौद्ध विद्वान् नागार्जुन, अश्वघोष और वसुमित्र तथा सुप्रसिद्ध वैद्य चरक उस राजा के सम्मानपात्र हुए थे।

(३) वासिष्क के शिलालेख श० सं० २४ और २८ (वि० सं० १५६ और १६३=ई० स० १०२ और १०६) के मिले हैं [2]। कनिष्क के साथ उसका क्या सम्बन्ध था इसका कुछ पता नहीं चलता (शायद वह कनिष्क का पुत्र हो)। अनुमान होता है कि जिस समय कनिष्क मध्य एशिया की लड़ाइयों में लगा था उस समय वह (वासिष्क) मथुरा आदि के इलाक़ों का शासक रहा हो (स्वतन्त्र राजा नहीं था)।

(४) हुविष्क—राजतरंगिणी में उसका नाम हुष्क मिलता है। उसके समय के शिलालेख श० सं० ३३ से ६० (वि० सं० १६८ से १९५=ई० स० १११ से १३८) तक के मिले हैं [3]। कनिष्क या वासिष्क के साथ उसका क्या संबंध था यह निश्चयरूप से जाना नहीं गया, शायद वह भी कनिष्क का पुत्र हो और प्रारंभ में अपने पिता की ओर से इधर का शासक रहा और उसकी मृत्यु के पीछे स्वतंत्र राजा हुआ हो।

(५) वासुदेव के समय के शिलालेख श० सं० ७४ से ९८ (वि० सं०

---

(१) 'भारतीय प्राचीनलिपिमाला'; पृ० १२४, टिप्पण १। बी; बु० रे० वे० व; जि० १, पृ० १५५।

(२) आर्कियालोजिकल सर्वे की रिपोर्ट; ई० स० १९१०-११, पृ० ४१-४२।

(३) ए० इं; जि० १० का परिशिष्ट; लेखसंख्या ३५, ३८, ४१, ४६, ५१, ५२, ५६, ६२ और ८०।

२०६ से २३३=ई० स० १५२ से १७६) तक के मिले हैं [1]। उसका हुविष्क के साथ क्या संबंध था यह भी अब तक ज्ञात नहीं हुआ।

वासुदेव के पीछे भी कुशनवंशियों का राज्य मथुरा आदि प्रदेशों पर रहा हो, परंतु उसका कुछ भी पता नहीं चलता है।

गुप्तवंश

गुप्तवंशी राजा किस वंश के थे इसका कुछ भी स्पष्ट उल्लेख उनके पहले के शिलालेखादि में तो नहीं मिलता, परंतु उक्त वंश के पिछले समय के राजाओं के लेखों में उनका चन्द्रवंशी होना लिखा है [2]। उनके नामों के अन्त में गुप्त पद देखकर कोई कोई यह अनुमान कर बैठते हैं कि वे राजा वैश्य हों, परंतु ऐसा मानना भ्रम ही है। पुराणों में सूर्य वंश के एक राजा का भी नाम उपगुप्त मिलता है [3]। ऐसे ही प्रसिद्ध ज्योतिषी वराहमिहिर के पिता का नाम आदित्यदास था [4], तो क्या अन्त में केवल 'गुप्त' और 'दास' पदों [5] के आने से ही यह कहा जा सकता है

---

(१) ए० इं० जि० १० का परिशिष्ट, लेखसंख्या ६०, ६६, ६८, ७२ और ७६।

(२) गुप्तों का महाराज्य नष्ट होने बाद भी उनके वंशजों का राज्य मगध, मध्यप्रदेश और गुत्तल (बंबई इहाते के धारवाड़ ज़िले में) आदि पर रहा था। गुत्तल के गुप्तवंशी अपने को उज्जैन के महाप्रतापी राजा चंद्रगुप्त (विक्रमादित्य) के वंशज और सोमवंशी मानते थे (बंबई गॅज़ेटियर; जि० १, भाग २, पृ० ५७८; टिप्पण ३। 'पाली, संस्कृत ऐंड ओल्ड कैनेरीज़ इन्स्क्रिप्शन्स'; संख्या १०८)। सिरपुर (मध्यप्रदेश की रायपुर तहसील में) से मिले हुए महाशिवगुप्त के शिलालेख में वहां के गुप्तवंशी राजाओं को चंद्रवंशी बतलाया है—

[आसीच्छशी]व भुवनाद्भुतभूतभूतिरुद्भूतभूतपति[भक्तिसम]प्रभावः।
चन्द्रान्वयैकतिलकः खलु चन्द्रगुप्तराजाख्यया पृथुगुणः प्रथितः पृथिव्याम् ॥

ए० इं०; जि० ११, पृ० १९०।

(३) उपगुप्त सूर्यवंशी इक्ष्वाकु के पुत्र निमि (विदेह) का वंशधर था—

तस्मात्समरथस्तस्य सुतः सत्यरथस्ततः।
आसीदुपगुरुस्तस्मादुपगुप्तोऽग्निसंभवः ॥ २४ ॥

'भागवत'; स्कंध ६, अध्याय १४।

(४) आदित्यदासतनयस्तदवाप्तबोधः कापित्थके सवितृलब्धवरप्रसादः।
आवंतिको मुनिमतान्यवलोक्य सम्यग्घोरां वराहमिहिरो रुचिरां चकार ॥६॥

'बृहज्जातक'; उपसंहाराध्याय।

(५) ब्राह्मण के नाम के अंत में शर्मा, क्षत्रिय के वर्मा, वैश्य के गुप्त और शूद्र के

कि सूर्यवंशी उपगुप्त वैश्य और वराहमिहिर का पिता आदित्यदास शूद्र था ? गुप्तवंशियों का विवाह-संबंध लिच्छिवि[1] और वाकाटक आदि क्षत्रिय वंशों के साथ होने के प्रमाण मिलते हैं जो उनका क्षत्रिय होना ही बतलाते हैं। गुप्तवंशी राजाओं का प्रताप बहुत ही बढ़ा, एक समय ऐसा था कि द्वारिका से आसाम

नाम के अंत में दास पद लगाने की शैली प्राचीन नहीं है और न उसका कभी पालन होना पाया जाता है। रामायण, महाभारत और पुराणों में इसका अनुकरण पाया नहीं जाता।

(१) आधुनिक प्राचीन शोधक अपनी मनमानी अनेक कल्पनाएं कर डालते हैं उनमें से एक लिच्छिवियों के संबंध की भी है। विन्सेंट स्मिथ का मानना है कि लिच्छिविवंशी तिब्बती थे (इं. ऍ; जि. ३२, पृ. २३३-३६)। सतीशचंद्र विद्याभूषण का कथन है कि वे ईरानी थे (इं. ऍ; जि. ३७, पृ. ७८-८०) और मि० हॉगसन् ने उनको सीथियन् (शक) बतलाया है ('हॉगसन्स ऐसेज़'; पृ. १७)। इनमें से किसका कथन ठीक कहा जाय ? बॉथलिंग और रॉथ उनको क्षत्रिय मानते हैं (बॉथलिंग और रॉथ के 'वार्टेबुख्' नामक महान् 'संस्कृत-जर्मन कोष में 'लिच्छिवि' शब्द)। यही मत मोनियर विलियम का है (मोनियर विलियम का संस्कृत-अंग्रेज़ी कोश, दूसरा संस्करण, पृ. ९०२)। तिब्बती भाषा के प्राचीन ग्रंथ 'दुल्व' में उनको वसिष्ठगोत्री क्षत्रिय माना है (रॉकहिल; 'लाइफ़ ऑफ़ दी बुद्ध'; पृ. ९७ का टिप्पण)। बौद्धों के 'दीघनिकाय', (दीर्घनिकाय) के 'महापरिनिब्बाणसूत्र' में लिखा है कि लिच्छिविवंशियों ने भगवान् बुद्ध की अस्थि का विभाग यह कहकर मांगा था कि 'भगवान् भी क्षत्रिय थे और हम भी क्षत्रिय हैं' ('दीघनिकाय'; जि. २, पृ. १६४)। जैनों के 'कल्पसूत्र' से पाया जाता है कि 'महावीर स्वामी' लिच्छिवियों के मामा थे और उनके निर्वाण के स्मरणार्थ उन्होंने(लिच्छिवियों)ने अपने नगर में रोशनी की थी ('सेक्रेड बुक्स ऑफ़ दी ईस्ट'; जि. २२, पृ. २६६। हर्मन जैकोबी का 'कल्पसूत्र' का अंग्रेज़ी अनुवाद)। विन्सेंट स्मिथ ने 'अर्ली हिस्टरी ऑफ़ इंडिया' (भारत के प्राचीन इतिहास) में लिखा है कि 'ई० स० की छठी और सातवीं शताब्दी के प्रारंभ काल में नेपाल में लिच्छिवि वंश का राज्य था। वैशाली के लिच्छिवियों के साथ उनका क्या संबंध था इसका पता नहीं चलता, नेपाल के लिच्छिवियों के विषय में हुएन्त्संग लिखता है कि वे बड़े विद्वान् थे और बौद्ध धर्मावलंबी तथा क्षत्रिय जाति के थे' (पृ० ३६६; और थामस् वॉटर्स; 'ऑन युवन् च्वांग'; जि. २, पृ. ८४)। इन प्रमाणों से निश्चित है कि लिच्छिविवंशी क्षत्रिय ही थे। लिच्छिवियों ने बौद्ध धर्म स्वीकार कर लिया था, जिससे ब्राह्मणों ने उन (लिच्छिवियों)की गणना व्रात्यों की संतति में की है (मनुस्मृति; १०। २२), किंतु यह कथन धर्म-द्वेष से खाली नहीं है। बौद्ध धर्म के ग्रहण करने से क्षत्रिय व्रात्य (धर्मभ्रष्ट; संस्कारहीन) नहीं माने जा सकते। गुजरात के सोलंकी राजा कुमारपाल ने जैन धर्म स्वीकार कर लिया था, परंतु उसके पुरोहितों ने, जो नागर ब्राह्मण थे, उसको व्रात्य मानकर उसकी पुरोहिताई छोड़ी नहीं थी, ऐसा गुर्जरेश्वरपुरोहित सोमेश्वरदेव के 'सुरथोत्सव' काव्य से पाया जाता है। कुमारपाल के साथ अन्य राजवंशों का संबंध भी पूर्ववत् बना रहा था।

तक और पंजाब से नर्मदा तक का सारा देश उनके अधीन था, और नर्मदा से दक्षिण के देशों में भी उन्होंने विजय का डंका बजाया था। उन्होंने वि० सं० ३७६=ई० स० ३१९ से अपना संवत् चलाया जो गुप्त संवत् के नाम से अनुमान ६५० वर्ष तक चलता रहा। पीछे से वही संवत् वलभी संवत् के नाम से भी प्रसिद्ध हुआ[1]। मौर्यवंशी राजा अशोक के समय से ही वैदिक धर्म की अवनति और बौद्ध धर्म की उन्नति होने लगी थी, परंतु गुप्तवंशियों ने वैदिक धर्म की जड़ पीछी जमा दी और बौद्ध धर्म अवनत होता गया। चिरकाल से न होनेवाला अश्वमेध यज्ञ भी उनके समय में फिर से आरम्भ हुआ। उनके कई शिलालेख, ताम्रपत्र और सोने चांदी तथा तांबे के जो सिक्के मिले उनके आधार पर उनका थोड़ासा सारभूत वृत्तान्त नीचे लिखा जाता है—

श्रीगुप्त या गुप्त इस वंश का संस्थापक था जिसके नाम पर यह वंश गुप्त नाम से प्रसिद्ध हुआ। गुप्त का पुत्र घटोत्कच था, इन दोनों का ख़िताब 'महाराज' मिलने से अनुमान होता है कि ये दोनों (गुप्त और घटोत्कच) किसी बड़े राजा के सामंत हों। घटोत्कच का पुत्र चंद्रगुप्त इस वंश में पहला प्रतापी राजा हुआ जिसने 'महाराजाधिराज' की पदवी धारण की और अपने नाम के सोने के सिक्के चलाये जिससे उसका स्वतन्त्र राजा होना अनुमान किया जा सकता है। गुप्त संवत् भी उसी के राज्याभिषेक के वर्ष से चला हुआ माना जाता है। चन्द्रगुप्त का विवाह लिच्छिवि वंश के किसी राजा की पुत्री कुमारदेवी के साथ हुआ था जिससे महाप्रतापी समुद्रगुप्त का जन्म हुआ। चंद्रगुप्त के सिक्कों पर उसकी और उसकी राणी की मूर्तियां होने से कितने एक विद्वानों का यह अनुमान है कि उसको अपने श्वसुर का राज्य मिला हो, परन्तु ऐसा मानने के लिये कोई प्रमाण नहीं है। उसका राज्य बिहार, संयुक्त प्रान्त के पूर्वी विभाग और अवध के अधिकांश पर होना चाहिये। पुराणों में गुप्तवंशियों के अधीन गंगातट का प्रदेश, प्रयाग, अयोध्या तथा मगध का होना लिखा है[2] जो चंद्रगुप्त

---

(१) गुप्त संवत् के लिये देखो 'भारतीय प्राचीनलिपिमाला'; पृ. १७४-७६।

(२) अनुगांगं प्रयागं च साकेतं मगधांस्तथा।
एतान् जनपदान् सर्वान् भोक्ष्यन्ते गुप्तवंशजाः॥
'वायुपुराण'; अध्याय ९९, श्लो. ३८३। 'ब्रह्मांडपुराण'; ३। ७४। १९५।

के समय की राज्यस्थिति प्रकट करता है। उसकी राजधानी पाटलीपुत्र (पटना) थी। चंद्रगुप्त का उत्तराधिकारी उसका पुत्र समुद्रगुप्त हुआ। ऊपर लिखे हुए तीनों राजाओं का कुछ भी संबंध राजपूताने के साथ नहीं था।

(४) समुद्रगुप्त गुप्तवंशी राजाओं में बड़ा ही प्रतापी हुआ। प्रयाग के क़िले में अशोक के लेखवाले विशाल स्तंभ पर उसका भी एक लेख खुदा है जिससे पाया जाता है कि "वह विद्वान् और कवि था, तथा विद्वानों के साथ रहने में आनंद मानता था। उसने अपने बाहुबल से अच्युत और नागसेन नामक राजाओं को पराजित किया, सैंकड़ों युद्धों में विजय प्राप्त की और उसका शरीर सैंकड़ों घावों से सुशोभित था। कोसल[1] के राजा महेंद्र, महाकांतार[2] के व्याघ्रराज, कौराळ के[3] मंत्रराज, पिष्टपुर[4] के महेंद्र, गिरिकोट्टूर[5] के स्वामिदत्त, एरंडपल्ल[6] के दमन, कांची[7] के विष्णुगोप, अवमुक्त[8] के नीलराज,

(१) यहां कोसल नाम 'दक्षिण कोसल' का सूचक है, जिसमें मध्यप्रदेश की महानदी और गोदावरी की उत्तरी शाखाओं के बीच के प्रदेश का समावेश होता है (सिरपुर और सोंबलपुर के निकट का प्रदेश)।

(२) दक्षिण कोसल के पश्चिम का मध्यप्रदेश का जंगलवाला हिस्सा जो सोनपुर से दक्षिण में है।

(३) कौराळ राज्य उड़ीसे के समुद्रतट पर के कौराळ के आसपास के प्रदेश का सूचक होना चाहिये (न कि केरल का)।

(४) मद्रास इहाते के गोदावरी ज़िले में पिठापुर की ज़मींदारी के आसपास का प्रदेश, जहां पीछे से सोलंकियों का राज्य भी रहा था (देखो 'सोलंकियों का प्राचीन इतिहास' प्रथम भाग में पिठापुर के सोलंकियों का वृत्तांत, पृ० १६७-६६)।

(५) गिरिकोट्टूर अर्थात् पर्वती (क़िला) कोट्टूर। कोट्टूर का राज्य मद्रास इहाते के गंजाम ज़िले में था, जिसकी राजधानी कोट्टूर वर्तमान कोठूर होना चाहिये।

(६) एरंडपल्ल मद्रास इहाते के चिकाकोल ज़िले के मुख्य स्थान चिकाकोल के निकट एरंडपालि के आसपास का प्रदेश होना चाहिये।

(७) मद्रास इहाते का प्रसिद्ध नगर कांची (कांजीवरम्)। समुद्रगुप्त के समय कांची का पल्लववंशी राजा विष्णुगोप प्रबल राजा था। उसके साथ समुद्रगुप्त की लड़ाई कृष्णा नदी के निकट होनी चाहिये। संभव है कि अवमुक्त, वेंगी, पालक, देवराष्ट्र और कुस्थलपुर आदि के राजा समुद्रगुप्त को कृष्णा नदी से दक्षिण में आगे बढ़ते हुए रोकने के लिये विष्णुगोप से मिलकर लड़ने को आये हों और वहीं परास्त हुए हों।

(८) अवमुक्त राज्य का ठीक पता नहीं चला।

वेंगी[1] के हस्तिवर्म्मा, पालक[2] के उग्रसेन, देवराष्ट्र के[3] कुबेर और कुस्थलपुर के धनंजय आदि दक्षिणापथ[4] के सब राजाओं को उसने क़ैद किया परंतु फिर अनुग्रह के साथ उन्हें मुक्त कर अपनी कीर्त्ति बढ़ाई। रुद्रदेव[5], मतिल[6], नागदत्त[7], चंद्रवर्मा, गणपतिनाग[8], नागसेन, अच्युत, नंदी, बलवर्मा[9] आदि आर्यावर्त्त[10] के अनेक राजाओं को नष्ट कर अपना प्रभाव बढ़ाया; सब आटविक[11] (जंगल के स्वामी) राजाओं को अपना सेवक बनाया, समतट[12], डवाक, कामरूप[13], नेपाल, कर्तृपुर[14] आदि सीमांत प्रदेश के राजाओं को तथा मालव, अर्जुनायन, यौधेय, माद्रक, अभीर, प्रार्जुन, सनकानिक, काक, खर्परिक आदि जातियों को अपने अधीन कर उनसे कर लिया और राज्यच्युत राजवंशियों को फिर राजा बनाया। देवपुत्र शाही शहानुशाही[15], शक, मुरुंड तथा

---

(१) पूर्वी समुद्र-तट का गोदावरी और कृष्णा नदियों के बीच का प्रदेश वेंगिराज्य कहलाता था, जहां पीछे से सोलंकियों का राज्य बहुत बरसों तक रहा था (देखो—'सोलंकियों का प्राचीन इतिहास'; प्रथम भाग, पृ० १३५)।

(२) पालक राज्य कृष्णानदी के दक्षिण में पालक के आसपास के प्रदेश का सूचक है।

(३) देवराष्ट्र राज्य मद्रास इहाते के विज़ागापट्टम् ज़िले के एक विभाग का नाम था।

(४) दक्षिणापथ—सारा दक्षिण देश। प्राचीन शिलालेखादि में उत्तरापथ और दक्षिणापथ नाम मिलते हैं। नर्मदा से उत्तर का सारा भारत उत्तरापथ और उक्त नदी से दक्षिण का दक्षिणापथ कहलाता था।

(५) यह राजा संभवतः वाकाटक वंशी रुद्रसेन (प्रथम) हो।

(६-७) आधुनिक विद्वान् मतिल और नागदत्त को पूर्वी मालवे और राजपूताने के राजा अनुमान करते हैं, परंतु ऐसा मानने के लिये कोई निश्चित प्रमाण नहीं है।

(८) यह शायद पद्मावती (पेहोआ, ग्वालियर राज्य में) का उक्त नामवाला नागवंशी राजा हो।

(९) आसाम के राजा भास्करवर्मा का पूर्वज।

(१०) विंध्याचल तथा हिमालय के बीच का देश।

(११) विंध्याचल के उत्तर का जंगलवाला देश।

(१२) गंगा और ब्रह्मपुत्र की धाराओं के बीच का समुद्र से मिला हुआ प्रदेश जिसमें ज़िला जस्सोर, कलकत्ता आदि हैं।

(१३) आसाम का कितना एक हिस्सा।

(१४) इसमें गढ़वाल, कमाऊं और अलमोड़ा ज़िलों का समावेश होता है।

(१५) देवपुत्र, शाही और शहानुशाही ये तीनों कुशनवंशी राजाओं के खिताब होने से उनके वंशजों के सूचक हों।

सिंहल आदि सब द्वीपनिवासी उसके पास उपस्थित होते और लड़कियां भेट करते थे। राजा समुद्रगुप्त दयालु था, हज़ारों गोदान करता था और उसका समय कंगाल, दीन, अनाथ और दुखियों की सहायता करने में व्यतीत होता था। वह गांधर्व (संगीत) विद्या में बड़ा निपुण[1] और काव्य रचने में 'कविराज' कहलाता था[2]। दूसरे शिलालेखादि से पाया जाता है कि उसके अनेक पुत्र और पौत्र थे, चिरकाल से न होनेवाला अश्वमेध यज्ञ भी उसने किया था। उसके कई प्रकार के सोने के सिक्के मिलते हैं जिनसे उसके अनेक कामों का पता लगता है[3]। उन सिक्कों की शैली में कुशनवंशी राजाओं के सिक्कों का कुछ अनुकरण पाया जाता है। उसकी राणी दत्तदेवी से चंद्रगुप्त (दूसरे) ने जन्म लिया जो उसका उत्तराधिकारी हुआ था।

(५) चंद्रगुप्त (दूसरे) को देवगुप्त और देवराज भी कहते थे। उसने कई ख़िताब धारण किये थे जिनमें विक्रमांक, विक्रमादित्य, श्रीविक्रम, अजित-विक्रम, सिंहविक्रम और महाराजाधिराज मुख्य थे। बंगाल से लगाकर बलूचिस्तान तक के देश उसने विजय किये,[4] तथा गुजरात, काठियावाड़, कच्छ, मालवा, राजपूताना आदि पर राज्य करनेवाले शक जाति के क्षत्रपों (पश्चिमी क्षत्रपों) का राज्य छीनकर वि० सं० ४५० (ई० स० ३९३) के आसपास उनके राज्य की समाप्ति कर दी। उसने अपने पिता से भी अधिक देश अपने राज्य में मिलाये और अपने राज्य के पश्चिमी विभाग की राजधानी उज्जैन स्थिर की। वह विद्वानों का आश्रयदाता और विष्णु का परमभक्त था।

---

(१) देखो ऊपर पृ. ३० और टिप्पण २।

(२) फ्ली; गु. इं; पृ. ६-१०।

(३) जॉ. ऐ; कॉ. गु. डा; पृ. १-३७; और प्लेट १-५। समुद्रगुप्त और उसके उत्तराधिकारियों के कई सिक्कों पर छंदोबद्ध लेख मिलते हैं। इतने प्राचीन काल के संसार की किसी अन्य जाति के सिक्कों पर छंदोबद्ध लेख नहीं मिलते।

(४) *यस्योद्वर्त्तयतः प्रतीपमुरसा शत्रून्समेत्यागता-*
न्वङ्गेष्वाहववर्त्तिनोभिलिखिता खड्गेन कीर्त्तिर्भुजे।
तीर्त्वा सप्त मुखानि येन समरे सिन्धोर्ज्जिता वाह्लिका
यस्याद्याप्यधिवास्यते जलनिधिर्व्वीर्य्यानिलैर्द्दक्षिणः॥

दिल्ली की लोह की लाट पर का लेख (फ्ली; गु. इ; पृ. १४१)

पुरानी दिल्ली की प्रसिद्ध लोह की लाट (कीली, जो मेहरोली गांव में कुतुब-मीनार के पास एक प्राचीन मंदिर के बीच खड़ी हुई है) चंद्रगुप्त ने बनवाकर विष्णुपद नाम की पहाड़ी पर किसी विष्णु-मंदिर के आगे ध्वजस्तंभ के तौर खड़ी करवाई थी। तंवर अनंगपाल ने उसे वहां से उखड़वाकर वर्तमान स्थान में स्थापन कराई ऐसी प्रसिद्धि है। चंद्रगुप्त के सोने, चांदी और तांबे के कई प्रकार के सिक्के मिलते हैं[1] जिनमें सोने के अधिक हैं। उसके समय के जो शिलालेख मिले उनमें संवत्वाले तीन लेख गुप्त संवत् ८२ से ९३ (वि० सं० ४५८ से ४६९=ई० स० ४०१ से ४१२) तक के हैं[2]। उसकी दो राणियों के नामों का पता लगता है, एक तो कुबेरनागा जिससे एक पुत्री प्रभावती का जन्म हुआ और उसका विवाह वाकाटक वंश के राजा रुद्रसेन के साथ हुआ था। प्रभावती के उदर से युवराज दिवाकरसेन ने जन्म लिया[3]। दूसरी राणी ध्रुवदेवी (ध्रुवस्वामिनी ?) से दो पुत्र कुमारगुप्त और गोविंदगुप्त उत्पन्न हुए जिनमें से कुमारगुप्त अपने पिता का उत्तराधिकारी हुआ।

चीनी यात्री फाहियान चंद्रगुप्त के राजत्व काल में मध्य एशिया के मार्ग से हिंदुस्तान में आया था। उसका उद्देश्य संस्कृत पढ़ना और महायान पंथ के विनयपिटक आदि के ग्रंथों को संग्रह करना था। वह स्वात, गांधार, तक्षशिला, पेशावर, मथुरा, कन्नौज, श्रावस्ती, कपिलवस्तु, कुशीनगर, वैशाली आदि में होता हुआ पाटलीपुत्र में पहुंचा, जहां अशोक के बनाये हुए महलों की कारीगरी को देखकर उसने यही माना कि ऐसे महल मनुष्य नहीं बना सकते, वे असुरों के बनाये हुए होने चाहियें। तीन वर्ष पाटलीपुत्र में रहकर उसने संस्कृत का अध्ययन किया, फिर वहां से कई स्थानों में होता हुआ

(१) जॉ. ऐ; कॉ. गु. डा; पृ. २४-६०, प्लेट ६-११।

(२) गुप्त सं. ८२ का उदयगिरि (ग्वालियर राज्य के भेलसा से २ मील) की गुफा में (फ्ली; गु. इं; लेखसंख्या ३) और गु. सं. ९३ का सांची (भोपाल राज्य में) से (वही; लेखसंख्या ५)।

(३) *महाराजाधिराजश्रीसमुद्रगुप्तस्तत्प(त्स)त्पुत्रः……महाराजाधिराजश्रीचंद्रगुप्तस्तस्य दुहिता धारणसगोत्रा नागकुलसम्भूतायां श्रीमहादेव्यां कुबेरनागायामुत्पन्नोभयकुलालङ्कारभूतात्यन्तभगवद्भक्ता वाकाटकानां महाराजश्रीरुद्रसेनस्याग्रमहिषी युवराजश्रीदिवाकरसेनजननी श्रीप्रभावतिगुप्ता* (ए. इं; जि. १५, पृ० ४१)

ताम्रलिप्ति (तमलुक, बंगाल के मेदिनीपुर ज़िले में) में पहुंचा, वहां दो वर्ष तक रहा। इस तरह अपनी यात्रा में कई पुस्तकों की नक़लें तथा चित्र आदि का संग्रह कर समुद्र-मार्ग से पीछा चीन पहुंचा। उसकी यात्रा की पुस्तक से पाया जाता है कि चंद्रगुप्त की प्रजा धनधान्यसंपन्न और सुखी थी, लोग स्वतंत्र थे, प्राणदंड किसी को नहीं दिया जाता था, अधिक बार अपराध करनेवाले का एक हाथ काट डाला जाता था, देश में मद्य और मांस का प्रचार न था, मांस चांडाल ही बेचते थे जो शहरों से बाहर रहते थे, धर्मशालाओं तथा औषधालयों का प्रबंध उत्तम था और विद्या का अच्छा प्रचार था।

(६) कुमारगुप्त ने भी कई ख़िताब धारण किये थे, जिनमें मुख्य महाराजाधिराज, परमराजाधिराज, महेंद्र, अजितमहेंद्र, महेंद्रसिंह और महेंद्रादित्य हैं। उसने भी अश्वमेध यज्ञ किया जिसके स्मारक सोने के सिक्के मिलते हैं। अपने पिता की नाईं वह भी परम भागवत (वैष्णव) था। उसके समय के संवत् वाले ६ शिलालेख मिले हैं, जिनमें से ५ गुप्त संवत् ९६ से १२९ (वि० सं० ४७२ से ५०५=ई० स० ४१५ से ४४८) तक के[1] और एक मालव (विक्रम) संवत् ४९३=ई० स० ४३६) का है[2]। उसके कई प्रकार के सोने, चांदी और तांबे के सिक्के भी मिले[3] जिनमें चांदी के कितने एक सिक्कों पर संवत् भी दिया है। ऐसे सिक्के गुप्त संवत् ११९ से १३६ (वि० सं० ४९५ से ५१२=ई० स० ४३८ से ४५५) तक[4] के हैं। वि० सं० ५१२ (ई० स० ४५५) में उसके राज्य पर शत्रुओं (हूणों) का हमला हुआ जिनके साथ की लड़ाई में वह मारा गया। उसके तीन पुत्र घटोत्कच, स्कंदगुप्त और पुरगुप्त थे। घटोत्कच की माता का नाम जाना नहीं गया, स्कंदगुप्त और पुरगुप्त अनंतदेवी से उत्पन्न हुए थे। घटोत्कच अपने पिता की विद्यमानता में गुप्त संवत् ११६ (वि० सं० ४९२=ई० स० ४३५)

(१) गुप्त सं० ९६ का बिलसड या बिलसंड (पश्चिमोत्तर प्रदेश के एटा ज़िले में) के स्तंभ पर का (फ्ली; गु; इं; लेखसंख्या १०) और गु. सं. १२९ का मनकुवार गांव (पश्चिमोत्तर प्रदेश के इलाहाबाद ज़िले में) से मिली हुई बौद्ध मूर्ति के आसन पर खुदा है (वही; लेखसंख्या ११)।

(२) मालव सं० (वि० सं०) ४९३ का मंदसोर (वही; लेखसंख्या १८) से मिला है।

(३) जॉ. ऐ; कॉ. गु. डा; पृ. ६१-११३; प्लेट १२-१८।

(४) जॉ. ऐ; कॉ. गु. डा; सिक्का संख्या ३८४-८८; ३९४; ३९८; और ज. ए. सो. बंगा; ई. स. १८९४, पृ. १७५।

में मालव का शासन करता हो ऐसा कुमारगुप्त के उक्त संवत् के तुमैन (तुंबवन) गांव (ग्वालियर राज्य में) से मिले हुए शिलालेख से पाया जाता है[1]। वह (घटोत्कच) कुमारगुप्त का ज्येष्ठ पुत्र था वा अन्य, यह ज्ञात नहीं हुआ। कुमारगुप्त का क्रमानुयायी स्कंदगुप्त हुआ।

(७) स्कंदगुप्त ने अपने पिता के मारे जाने पर वीरता के साथ तीन मास तक लड़कर शत्रुओं (हूणों) के राजा को परास्त किया और अपनी कुलश्री को, जो कुमारगुप्त के मारे जाने के कारण विचलित हो रही थी, स्थिर की[2]। उसके खिताब क्रमादित्य या विक्रमादित्य, राजाधिराज और महाराजाधिराज मिलते हैं। वह भी परम वैष्णव था, उसके समय के संवत् वाले दो शिलालेख गुप्त संवत् १३६ और १४१ (वि० सं० ५१२ और ५१७=ई० स० ४५५ और ४६०) के[3]

(१) इं. एँ; जि. ४१, पृ. ११४-१५।

(२) *जगति भुजबलाड्यो(ढ्यो) गुप्तवंशैकवीरः*
प्रथितविपुलधामा नामतः स्कंदगुप्तः।.... ॥
विचलितकुललक्ष्मीस्तंभनायोद्यतेन
क्षितितलशयनीये येन नीतास्त्रिमासाः।
समुदितबलकोशान्पुष्यमित्रांश्च जित्वा
क्षितिपचरणपीठे स्थापितो वामपादः ॥.... ॥
पितरि दिवमुपेते विप्लुतां वंशलक्ष्मीं
भुजबलविजितारिर्यः प्रतिष्ठाप्य भूयः।
जितमिति परितोषान्मातरं सास्रनेत्रां
हतरिपुरिव कृष्णो देवकीमभ्युपेतः ॥.... ॥
हूणैर्यस्य समागतस्य समरे दोर्भ्यां धरा कंपिता
भीमावर्त्तकरस्य शत्रुषु शरा....................।

भिटारी के स्तंभ पर स्कंदगुप्त का लेख (ज. बंब. ए. सो; जि. १६. पृ. ३४६-५०। फ्ली; गु. इं; पृ. ५३-५४)

(३) गु. सं. १३६ (और १३७, १३८) का जूनागढ़ का लेख (फ्ली; गु. इं; लेखसंख्या १४) और गु. सं. १४१ का काहाऊं (संयुक्त प्रदेश के गोरखपुर ज़िले में) का लेख (फ्ली; गु. इं; लेखसंख्या १५)

और एक दानपत्र गु० सं० १४६ (वि० सं० ५२२=ई० स० ४६५) का[1] मिला है। गढ़वा (इलाहाबाद ज़िले में) के विष्णुमंदिर के संबंध का एक टूटा हुआ शिलालेख गु० सं० १४८ (वि० सं० ५२४=ई० स० ४६७) का[2] मिला जिसमें राजा का नाम टूट गया है, परंतु वह उसी राजा के समय का होना चाहिये, क्योंकि वहां पर चंद्रगुप्त (दूसरे) और कुमारगुप्त के शिलालेख विद्यमान हैं, और उसके चांदी के सिक्कों पर गु० सं० १४१ से १४८ (वि० सं० ५१७ से ५२४=ई० स० ४६० से ४६७) तक[3] के वर्ष अंकित हैं। उसके सोने और चांदी के कई प्रकार के सिक्के मिले हैं[4]।

(८) कुमारगुप्त (दूसरा)—संभव है कि वह स्कंदगुप्त का उत्तराधिकारी हो। उसके समय का एक शिलालेख सारनाथ (काशी के निकट) से मिली हुई एक मूर्ति के नीचे खुदा है जो गु० सं० १५४ (वि० सं० ५३०=ई० स० ४७३) का है[5]।

(९) बुधगुप्त, कुमारगुप्त (दूसरे) का उत्तराधिकारी हुआ। उसके समय का एक लेख सारनाथ से मिली हुई एक मूर्ति के आसन पर खुदा है जो गु० सं० १५७ (वि० सं० ५३३=ई० स० ४७६) का है[6], और दूसरा एरण (मध्य प्रदेश के सागर ज़िले में) गांव से गु० सं० १६५ (वि० सं० ५४१=ई० स० ४८४) का मिला है। उसका आशय यह है कि "बुधगुप्त के राज्य-समय, जब कि महाराज सुरश्मिचंद्र कालिंदी (यमुना) और नर्मदा नदियों के बीच के प्रदेश

---

(१) फ्लीं; गु. इं; लेखसंख्या १६।

(२) वहीं; लेखसंख्या ६६।

(३) जॉ. ऐ; कॉ. गु. डा; सिक्का संख्या ५२३-३०; और ज. ए. सो. बंगा; ई. स. १८८१, पृ. १३४।

(४) जॉ. ऐ; कॉ. गु. डा; पृ. ११४-३४; प्लेट; १६-२१।

(५) *वर्षशते गुप्तानां सचतुःपंचाशदुत्तरे भूमिन् ।*
शासति कुमारगुप्ते मासे ज्येष्ठे द्वितीयायाम् ॥
'भारतीय प्राचीनलिपिमाला'; पृ. १७४, टिप्पण ६।

(६) *गुप्तानां समतिक्रांते सप्तपंचाशदुत्तरे ।*
शते समानां पृथिवीं बुधगुप्ते प्रशासति ॥
'भारतीय प्राचीनलिपिमाला'; पृ. १७५, टिप्पण ६।

का पालन कर रहा था, (गुप्त) सं० १६५ (वि० सं० ५४१=ई० स० ४८४) आषाढ़ सुदि १२ के दिन महाराज मातृविष्णु और उसके छोटे भाई धन्यविष्णु ने विष्णु का यह ध्वजस्तंभ बनवाया[1]"। उक्त राजा के चांदी के सिक्के मिले हैं जिनपर गु० सं० १७४, १७५[2] और १८० (वि० सं० ५५०, ५५१ और ५५६= ई० स० ४९३, ४९४ और ४९९) के अंक हैं। उसके अंतिम समय में गुप्त राज्य के पश्चिमी विभाग पर हूणों का अधिकार हो गया और केवल पूर्वी विभाग गुप्तों के अधिकार में रहा था, क्योंकि एरण गांव से एक और लेख मिला जिससे पाया जाता है कि "महाराजाधिराज तोरमाण के राज्य के पहले वर्ष फाल्गुन मास के १० वें दिन मृत महाराज मातृविष्णु के छोटे भाई धन्यविष्णु ने अपने राज्य के एरिकेण (एरण) स्थान में भगवान् वराह का मंदिर बनवाया"। हम ऊपर बतला चुके हैं कि गुप्त सं० १६५ (वि० सं० ५४१ ई० स० ४८४) में मातृविष्णु एवं धन्यविष्णु दोनों जीवित थे और बुधगुप्त के आश्रितों में से थे, और गुप्त सं० १८० (वि० सं० ५५६=ई० स० ४९९) तक बुधगुप्त भी राज्य कर रहा था ऐसा उसके सिक्कों से पाया जाता है, जिसके पीछे हूणों के राजा तोरमाण ने गुप्त राज्य का पश्चिमी प्रदेश अपने अधीन किया और धन्यविष्णु को उसका सामंत बनना पड़ा। इस प्रकार वि० सं० ५५६ और ५६७ (ई० स० ४९९ और ५१०) के बीच राजपूताना, गुजरात, मालवा तथा मध्य प्रदेश पर से गुप्तों का अधिकार उठकर वहां हूणों का राज्य स्थापित हो गया। बुधगुप्त के बचे हुए राज्य का उत्तराधिकारी भानुगुप्त हुआ।

(१०) भानुगुप्त ने हूणों के हाथ में गये हुए गुप्त राज्य के पश्चिमी विभाग को पीछा लेने के लिये चढ़ाई की, परंतु उसमें उसको सफलता प्राप्त हुई हो ऐसा पाया नहीं जाता। एरण के एक शिलालेख से सूचित होता है कि गुप्त सं० १९१ (वि० सं० ५६७=ई० स० ५१०) में "पार्थ (अर्जुन) के समान पराक्रमी वीर श्रीभानुगुप्त के साथ राजा गोपराज यहां (एरण में) आया और वीरता से लड़कर स्वर्ग को सिधारा। उसकी पतिव्रता स्त्री उसके साथ सती हुई[3]। यह युद्ध तोरमाण के साथ होना चाहिये। तोरमाण तथा उसके पुत्र मिहिरकुल का

(१) फ्ली; गु. इं; लेखसंख्या १९।
(२) जॉ. ऐ; कॉ. गु. डा; सिक्का संख्या ६१७।
(३) फ्ली; गु. इं; लेख-संख्या २०।

राज्य उक्त प्रदेशों पर हो गया जिससे बचे हुए गुप्त राज्य की भी समाप्ति हो गई।

इन गुप्तवंशी राजाओं का कोई लेख अब तक राजपूताने में नहीं मिला, जिसका कारण यही है कि यहां पर प्राचीन शोध का काम विशेष रूप से नहीं हुआ, तो भी गुप्त संवत् वाले कुछ शिलालेख मिले हैं[1] जो उनका यहां राज्य होना प्रकट करते हैं। राजपूताने में गुप्तों के विशेषकर सोने के और कुछ चांदी के सिक्के मिलते हैं। अजमेर में ही मुझे उनके २० से अधिक सोने के और ५ चांदी के सिक्के मिले। गुप्त राजाओं के समय में विद्या और शिल्प की बहुत कुछ उन्नति हुई, प्रजा सुख चैन से रही, बौद्ध धर्म की अवनति और वैदिक (ब्राह्मण) धर्म की फिर उन्नति हुई थी।

गुप्तों का वंशवृक्ष
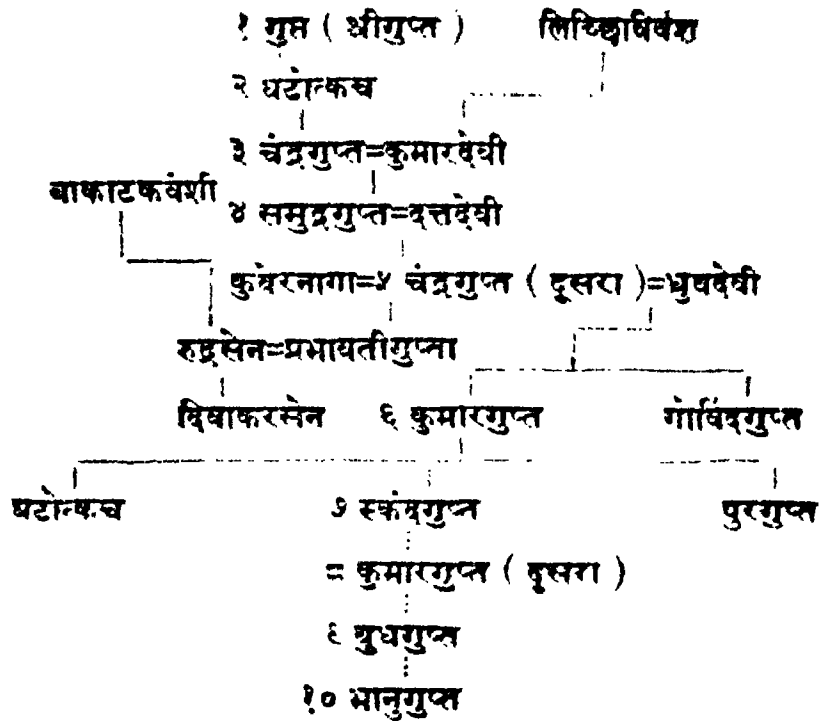
(१) गुप्त संवत् २८१ का शिलालेख जोधपुर राज्य में नागोर से २४ मील उत्तर-पश्चिम के गोठ और मांगलोद गांवों की सीमा पर के दधिमती माता के मंदिर से मिला है (ए. इं; जि. ११, पृ० ३०३-४)

गुप्तवंशी राजाओं की नामावली (ज्ञात समय सहित)

१-गुप्त (श्रीगुप्त)

२-घटोत्कच

३-चंद्रगुप्त

४-समुद्रगुप्त

५-चंद्रगुप्त (दूसरा)—गु० सं० ८२ से ९३ तक (वि० सं० ४५८ से ४६९ तक)

६-कुमारगुप्त—गु० सं० ९६ से १३६ तक (वि० सं० ४७२ से ५१२ तक)

७-स्कंदगुप्त—गु० सं० १३६ से १४८ तक (वि० सं० ५१२ से ५२४ तक)

८-कुमारगुप्त (दूसरा) गु० सं० १५४ (वि० सं० ५३०)

९-बुधगुप्त—गु० सं० १५७ से १८० (वि० सं० ५३३ से ५५६ तक)

१०-भानुगुप्त—गु० सं० १९१ (वि० सं० ५६७)

वरीक वंश

वरीकवंशियों का राज्य भरतपुर राज्य में बयाना के आसपास के प्रदेश पर था। बयाने के क़िले विजयगढ़ में इस वंश के राजा विष्णुवर्धन ने पुंडरीक नामक यज्ञ किया जिसका यूप (यज्ञस्तंभ) वहां खड़ा है। उसपर के लेख से पाया जाता है कि व्याघ्ररात के प्रपौत्र, यशोरात के पौत्र और यशोवर्धन के पुत्र वरीक राजा विष्णुवर्धन ने पुंडरीक यज्ञ का यह यूप संवत् वि० सं० ४२८ (ई० स० ३७२) फाल्गुन बहुल (वदि) ५ को स्थापित किया। इस वंश का केवल यही लेख[1] अब तक मिला है।

वर्मांत नामवाले राजा

मंदसोर (ग्वालियर राज्य में) और गंगधार (झालावाड़ राज्य में) से इन राजाओं के अब तक तीन शिलालेख मिले हैं जिनसे उनके वंश का कुछ भी परिचय नहीं मिलता। उनके नामों के अंत में वर्मन् (वर्मा) पद लगा रहने से हमने उनको 'वर्मांत नामवाले राजा' कहकर उनका परिचय दिया है। राजपूताने में गंगधार के आसपास का कुछ प्रदेश उनके अधीन अवश्य

(१) फ्ली; गु. इ; पृ. २५२-५३।

रहा, जहां से इस अज्ञात वंश के राजा विश्ववर्मा का मालव (विक्रम) सं० ४८० (ई० स० ४२३) का शिलालेख[1] मिला है। इस वंश के राजाओं की नामावली इस तरह मिलती है—

१—जयवर्मा—मालव (विक्रम) सं० ४६१ (ई० स० ४०४) के मंदसोर से मिले हुए नरवर्मा के शिलालेख में उसको नरेंद्र (राजा) कहा है।

२—सिंहवर्मा (संख्या १ का पुत्र)—उसको उपर्युक्त लेख में क्षितीश (पृथ्वीपति) कहा है।

३—नरवर्मा (संख्या २ का पुत्र)—उसके समय के मालव (विक्रम) सं० ४६१ के शिलालेख[2] में उसको 'महाराज' लिखा है जिससे अनुमान होता है कि वह किसी राजा का सामंत (सरदार) हो। उसका पौत्र बंधुवर्मा गुप्तवंशी राजा कुमारगुप्त (प्रथम) का सामंत था अतएव वह चंद्रगुप्त (दूसरे) का सामंत हो तो आश्चर्य नहीं।

४—विश्ववर्मा (संख्या ३ का पुत्र)—उसके समय का गंगधार का शिलालेख मालव (विक्रम) सं० ४८० (ई० स० ४२३) का[3] है। उसका पुत्र बंधुवर्मा कुमारगुप्त (प्रथम) का सामंत हो, क्योंकि वि० सं० ४८० में कुमारगुप्त ही उत्तरी भारत का सम्राट् था। गंगधार के शिलालेख से पाया जाता है कि विश्ववर्मा के मंत्री मयूराक्ष ने विष्णु का मंदिर, तांत्रिक शैली का मातृका-गृह और एक बावड़ी बनवाई थी।

५ बंधुवर्मा (संख्या ४ का पुत्र)—उसके समय का मंदसोर का शिलालेख मालव (विक्रम) संवत् ४९३ (ई० स० ४३६) का[4] है। उक्त लेख से स्पष्ट है कि वह कुमारगुप्त (प्रथम) का सामंत था। बंधुवर्मा के पीछे इस वंश के राजाओं का कोई लेख अब तक नहीं मिला है।

हूण वंश

मध्य एशिया में रहनेवाली एक आर्यजाति का नाम हूण था। हूणों के विषय में हम ऊपर (पृ० ५३-५६) लिख चुके हैं और यह भी बतलाया जा चुका है कि हूण कुशनवंशियों की शाखा हो (पृ० ५६)। अलबेरूनी अपनी

(१) फ्ली; गु. इं; पृ. ७४-७६।
(२) ए. इं; जि. १२ पृ. ३२०-२१।
(३) फ्ली; गु. इं; पृ. ७४-७६।
(४) वही, पृ. ८१-८४।

पुस्तक 'तहक़ीक़े हिंद'[1] में काबुल (उद्भांडपुर[2]) के शाहिवंशी हिंदू राजाओं के वर्णन में लिखता है कि 'इस वंश का मूलपुरुष बर्हतकीन था। इसी वंश में कनिक (कनिष्क) राजा हुआ जिसने पुरुषावर (पुरुषपुर, पेशावर) में एक विहार[3] (बौद्ध मठ) बनवाया, जो उसके नाम से कनिक चैत्य (कनिष्क चैत्य) कहलाया। उक्त वंश में ६० राजा हुए। अंतिम राजा लगतूरमान (लघु तोरमाण[4]) को मारकर उसके वज़ीर (मंत्री) ब्राह्मण[5] (?) कल्लर

---

(१) अलबेरूनी ने ई० स० १०३० (वि० सं० १०८७) के आसपास अपनी अरबी पुस्तक लिखी, जिसका एक उत्तम संस्करण, और दो जिल्दों में उसका अंग्रेज़ी अनुवाद डॉ० एडवर्ड साचू ने प्रकाशित किया है।

(२) उद्भांडपुर काबुल के हिंदू शाहिवंशी राजाओं की राजधानी थी। कल्हण पंडित ने अपनी 'राजतरंगिणी' में उक्त नगर का उल्लेख किया है (*उदभाण्डपुरे तेन शाहिराज्ये ऽर्जीयत*—५। २३२। *उदभाण्डपुरे····भीमशाहिरभूत्पुरा*—७। १०८१) अलबेरूनी उसका नाम 'वेहंद' लिखता है और उसे कंदहार (गांधार) की राजधानी बतलाता है (एडवर्ड साचू: 'अलबेरूनीज़ इंडिया'; जि० १, पृ० २०६)। चीनी यात्री हुएन्त्संग उसका नाम उ तो-किआ-हां-चा (उद्भांड) देता है और उसके दक्षिण में सिंधु नदी बतलाता है (बील: बु. रे. वे. व; जि. १, पृ० ११४)। हुएन्त्संग के जीवनचरित में लिखा है कि 'कपिश (काबुल) का राजा पहले उ तो-किआ हां-चा (उद्भांड) में रहता था (श्रमण हुली के चीनी पुस्तक का अंग्रेज़ी अनुवाद, सेम्युल बीलकृत, पृ० १९२)। इस समय उद्भांडपुर को उंद (हुंद, ओहिंद, या उहंद) कहते हैं और सिंधु और काबुल नदियों के संगम से कुछ दूर सिंधु से पश्चिम में है।

(३) हुएन्त्संग ने भी कुशनवंशी राजा कनिष्क के बनाये हुए इस विहार (संघाराम) का वर्णन किया है (बी; बु. रे. वे. व; जि. १; पृ० १०३)।

(४) एक ही राजवंश में एक ही नाम के दो राजा होते हैं तो दूसरे को 'लघु' (छोटा) कहते हैं, जैसे गुजरात के सोलंकियों में भीमदेव नाम के दो राजा हुए तो दूसरे को 'लघु भीमदेव' कहा है। ऐसे ही मेवाड़ में अमरसिंह नाम के दो राजा हुए जिनसे पहले को 'बड़े अमरसिंह' और दूसरे को 'छोटे अमरसिंह' कहते हैं। इसी तरह हूण वंश में दो तोरमाण हुए हों, जिनमें से पहला तो मिहिरकुल का पिता और दूसरा उद्भांडपुर का उक्त वंश का लघु तोरमाण। राजतरंगिणी में भी दो तोरमाणों के नाम मिलते हैं जिनमें से एक तो कश्मीर का राजा (३। १०३। जो मिहिरकुल का पिता था) और दूसरा उद्भांडपुर का शाहिवंशी (५। २३३), परंतु उक्त पुस्तक में दोनों का वृत्तांत असंबद्ध है।

(५) अलबेरूनी ने कल्लर के पीछे क्रमशः समंद (सामंत), कमलु, भीम, जेपाल, अनंदपाल, नरोजनपाल (त्रिलोचनपाल) और भीमपाल के नाम दिये हैं, और त्रिलोचनपाल

(लल्लिय) ने उसका राज्य छीन लिया। अलबेरूनी शाहिवंशी राजाओं को तुर्क (तुर्किस्तान के मूल निवासी) बतलाता है और उनका उद्गम तिब्बत से मानता है। अलबेरूनी का कनिक अवश्य कुशनवंशी राजा कनिष्क था और लगतूरमान हूणवंशी तोरमाण (दूसरा) होना चाहिये; अतएव हमारे अनुमान के अनुसार कुशन और हूण दोनों एक ही वंश की भिन्न शाखाओं के नाम होने चाहिये। भूटान के लोग अब तक तिब्बतवालों को 'हूणिया' कहते हैं जिससे अनुमान होता है कि कुशन और हूणवंशियों के पूर्वज तिब्बत से विजय करते हुए मध्य एशिया में पहुंचे और वहां उन्होंने अपना आधिपत्य जमाया हो। वहां से फिर उन्होंने भिन्न भिन्न समय में हिन्दुस्तान में आकर अपने राज्य स्थापित किये।

हूणों के पंजाब से दक्षिण में बढ़ने पर गुप्तवंशी राजा कुमारगुप्त से उनका युद्ध हुआ, जिसमें कुमारगुप्त मारा गया, परंतु उसके पुत्र स्कंदगुप्त ने वीरता से लड़कर हूण राजा को परास्त किया। फिर राजा बुधगुप्त के समय वि० सं० ५५६ (ई० स० ४९९) से कुछ पीछे हूण राजा तोरमाण ने गुप्त साम्राज्य का पश्चिमी भाग, अर्थात् गुजरात, काठियावाड़ राजपूताना मालवा आदि छीन लिया और वहां पर अपना राज्य स्थिर किया। हूण वंश में दो ही राजा हुए हैं जिनका संक्षिप्त वृत्तान्त नीचे लिखा जाता है।

१—तोरमाण हूणों में प्रतापी राजा हुआ। उसने गुप्तसाम्राज्य का पश्चिमी भाग ही अपने अधीन किया हो इतना ही नहीं, किंतु गांधार, पंजाब, कश्मीर आदि पर भी उसका राज्य था। राजपूताना आदि देशों को विजय करने के थोड़े ही समय पीछे उसका देहांत हो गया और उसका पुत्र मिहिरकुल (मिहिरगुप्त) उसका उत्तराधिकारी हुआ।

की मृत्यु हि० स० ४१२ (ई० स० १०२१=वि० सं० १०७८) में और भीमपाल की पांच बरस पीछे (ई० स० १०२६=वि० सं० १०८३) होना लिखा है (एडवर्ड साचू; 'अलबेरूनीज़ इंडिया;' जि. २, पृ. १३)। वह इन राजाओं को ब्राह्मण बतलाता है, परंतु जैसलमेर की ख्यात से कर्नल टॉड ने सलभन (शालिवाहन) के पुत्र बालंद का विवाह दिल्ली के राजा जयपाल तंवर की पुत्री के साथ होना लिखा है (टॉ. रा; जि. २, पृ. ११८१) यदि अलबेरूनी का जयपाल और जैसलमेर की ख्यात का जयपाल एक ही हो तो यह अनुमान हो सकता है कि उद्भांडपुर के राजा ब्राह्मण नहीं, किंतु तंवर राजपूत हों। महमूद ग़ज़नवी से लड़नेवाले जयपाल का राज्य इधर दिल्ली तक और उधर काबुल तक होने का पता फारसी तवारीख़ों से लगता है।

२—मिहिरकुल (मिहिरगुल) का वृत्तांत हुएन्त्संग की यात्रा की पुस्तक[१], कल्हण पंडित की 'राजतरंगिणी'[२] तथा कुछ शिलालेखों[३] में मिलता है, जिससे ज्ञात होता है कि उसकी राजधानी शाकलनगर (पंजाब में) थी। वह बड़ा वीर राजा था और सिंध आदि देश उसने विजय कर लिये थे। पहले तो उसकी रुचि बौद्ध धर्म पर थी, परंतु पीछे बौद्धों से अप्रसन्न होकर उनके उपदेशकों को सर्वत्र मारने तथा बौद्ध धर्म को नष्ट करने की आज्ञा उसने दी थी। गांधार देश में बौद्धों के १६०० स्तूप और मठ तुड़वाए और कई लाख मनुष्यों को मरवा डाला। उसमें दया का लेश भी न था। शिव का परम भक्त होने से वह शिव को छोड़कर और किसी के आगे सिर नहीं झुकाता था, परंतु राजा यशोधर्म ने वि० सं० ५८६ (ई० स० ५३२) के आसपास उसको अपने पैरों पर झुकाया अर्थात् जीत लिया। इधर तो उसे यशोधर्म ने हराया और उधर मगध के गुप्तवंशी राजा नरसिंहगुप्त ने पराजित किया[४], जिससे मिहिरकुल के अधिकार से राजपूताना, मालवा आदि देश निकल गये थे, परंतु कश्मीर, गांधार आदि की ओर उसका अधिकार बना रहा। मिहिरकुल का एक शिलालेख ग्वालियर से मिला है जो उसके राज्य-वर्ष १५ वें का है[५]। उसके सिक्कों में ईरानियों के ससानियन् शैली के सिक्कों का अनुकरण पाया जाता है. उनपर एक तरफ़ उसका नाम और दूसरी ओर बहुधा 'जयतु वृषध्वज' लेख है जो उसका शिवभक्त होना प्रकट करता है[६]।

यशोधर्म से हार खाने पर भी हूण लोग अपना अधिकार बना रखने के

(१) बी; बु. रे. वे. व; जि० १, पृ० १६६–१७१।

(२) कल्हण; 'राजतरंगिणी' तरंग १, श्लो. २८६–३२४।

(३) मंदसोर से मिला हुआ राजा यशोधर्म का शिलालेख; (फ्लीट; गु. इं. पृ० १४६–४७। देखो ऊपर पृ० ५४–५५ और पृ० ५४ का टिप्पण २।

(४) राजा यशोधर्म के मंदसोर के शिलालेख से पाया जाता है कि उसने लौहित्य (ब्रह्मपुत्र) से लगाकर महेंद्राचल तक और हिमालय से पश्चिमी समुद्र तक के देश विजय किये थे (देखो ऊपर पृ० ५४), ऐसी दशा में नरसिंहगुप्त राजा यशोधर्म का सामंत होना चाहिये, और संभव है कि वह मिहिरकुल से यशोधर्म के पक्ष में रहकर लड़ा हो।

(५) फ्लीट; गु. इं; लेखसंख्या ३७।

(६) देखो ऊपर पृ० ५४, और स्मिथ; कै. कॉ. इं. म्यू; जि० १, पृ० २३६।

लिये लड़ते रहे हों ऐसा पिछले राजाओं के साथ उनकी जो लड़ाइयां हुई उनसे प्रकट होता है। थाणेश्वर और कन्नौज के बैसवंशी राजा प्रभाकरवर्द्धन[१] और राज्यवर्द्धन[२] हूणों से लड़े थे; ऐसे ही मालवे का परमार राजा हर्षदेव[३] (सीयक), हैहय (कलचुरि) वंशी राजा कर्ण[४], परमार राजा सिंधुराज[५] और राष्ट्रकूट (राठोड़) राजा कक्कल[६] (कर्कराज) आदि का हूणों से युद्ध करना उनके शिलालेखादि से प्रगट होता है। अब तो हूणों का कोई राज्य नहीं रहा। राजपूताना, गुजरात आदि के कुनबी लोग, जिनकी गिनती अच्छे कृषिकारों में है, हूण जाति के अनुमान किये जाते हैं।

हूणों ने हिंदुस्तान में आने के पूर्व ईरान का ख़ज़ाना लूटा और वे उसे यहां ले आये, इसीसे ईरान के ससानियन्‌वंशी राजाओं के सिक्के राजपूताना आदि देशों के अनेक स्थानों में गड़े हुए मिल आते हैं। मिहिरकुल ने भी उससे मिलती हुई शैली के अपने सिक्के बनाए। हूणों का राज्य नष्ट होने के पीछे भी गुजरात, मालवा, राजपूताना आदि में विक्रम संवत् की १२ वीं शताब्दी के आसपास तक बहुधा उसी शैली के चांदी और तांबे के सिक्के बनते और चलते रहे, परंतु क्रमशः उनका आकार घटने के साथ उनकी कारीगरी में भी यहां तक भद्दापन आ गया कि उनपर राजा के चेहरे का पहचानना भी कठिन हो गया। उसकी आकृति इतनी पलट गई कि लोगों ने उसको गधे का खुर मानकर उन सिक्कों को गधिया या गदिया[७] नाम से प्रसिद्ध किया, परंतु उनका गधे से कोई संबंध नहीं है।

गुर्जर (गूजर) वंश

इस समय गुर्जर अर्थात् गूजर जाति के लोग विशेषकर खेती या पशुपालन से अपना निर्वाह करते हैं, परंतु पहले उनकी गणना राजवंशियों में थी।

(१) ए. इं; जि० १, पृ० ६१।

(२) वही; जि० १, पृ० ६१।

(३) वही; जि० १, पृ० २२५।

(४) वही; जि० २, पृ० ६।

(५) वही; जि० १, पृ० २२८।

(६) इं. ऐं; जि० १२, पृ० २६८।

(७) गधिया सिक्कों के लिये देखो स्मि; कै. कॉ. इं. म्यू; जि० १, प्लेट २५, संख्या ८, ११-१५।

अब तो केवल उनका एक राज्य समथर (बुंदेलखंड में) और कुछ ज़मींदारियां संयुक्त प्रदेश आदि में रह गई हैं । पहले पंजाब, राजपूताने तथा गुजरात में उनके राज्य थे। चीनी यात्री हुएन्त्संग वि० सं० की सातवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में हिन्दुस्तान में आया। वह अपनी यात्रा की पुस्तक में गुर्जर देश का वर्णन करता और उसकी राजधानी भीनमाल (भिल्लमाल, श्रीमाल, जोधपुर राज्य के दक्षिणी विभाग में) बतलाता है। हुएन्त्संग का बतलाया हुआ गुर्जर देश महाक्षत्रप रुद्रदामा के राज्य के अंतर्गत था तो भी उक्त राजा के गिरनार के शक सं० ७२ (वि० सं० २०७=ई० स० १५०) से कुछ ही पीछे के लेख में उसके अधीनस्थ देशों के जो नाम दिये हैं उनमें गुर्जर नाम नहीं, किंतु उसके स्थान में श्वभ्र और मरु नाम दिये हैं, जिससे अनुमान होता है कि उक्त लेख के खुदे जाने तक गुर्जर देश (गुजरात) नाम प्रसिद्धि में नहीं आया था। क्षत्रपों के राज्य के पीछे किसी समय गुर्जर (गूजर) जाति के आधीन जो देश रहा वह गुर्जर देश या 'गुर्जरत्रा' (गुजरात) कहलाया। हुएन्त्संग गुर्जर देश की परिधि ८३३ मील बतलाता है[1], इससे पाया जाता है कि वह देश बहुत बड़ा था, और उसकी लंबाई अनुमान ३०० मील या उससे भी अधिक होनी चाहिये। प्रतिहार (पड़िहार) राजा भोजदेव (प्रथम) के वि० सं० ९०० के दानपत्र में लिखा है कि 'उसने गुर्जरत्रा (गुजरात) भूमि (देश) के डेंड्वानक विषय (ज़िले) का सिवा गांव दान किया'[2]। वह दानपत्र जोधपुर राज्य में डीडवाना ज़िले के सिवा गांव के एक टूटे हुए मंदिर से मिला था। उसमें लिखा हुआ डेंड्वानक ज़िला जोधपुर राज्य के उत्तर-पूर्वी हिस्से का डीडवाना ही है, और सिवा गांव डीडवाने से ७ मील पर का सेवा गांव है जहां से वह ताम्रपत्र मिला है। कालिंजर से मिले हुए वि० सं० की नवीं शताब्दी के आसपास के एक शिलालेख में[3] गुर्जरत्रा मंडल (देश) के मंगलानक गांव से आगे हुए जेडुक के बेटे देहुक की बनाई हुई मंडपिका के

(१) ना. प्र. प; भाग २, पृ० ३४२।

(२) गुर्ज्जरत्राभूमौ डेएड्वानकविषयसम्ब(म्ब)द्ध सिवाग्रामाग्रहारे

(ए. इं; जि. ५, पृ० २११)

(३) श्रीमद्गुर्ज्जरत्रामण्डलान्तःपाति मंगलानकविनिर्गत०

(वही; जि: ५, पृ० २१०, टिप्पण ३)

प्रसंग में उसकी स्त्री लक्ष्मी के द्वारा उमामहेश्वर के पट्ट की प्रतिष्ठा किये जाने का उल्लेख है। मंगलानक जोधपुर राज्य के उत्तरी विभाग का मंगलाना गांव है, जो मारोठ से १६ मील पश्चिम और डीडवाने से थोड़े ही अंतर पर है। हुएन्त्संग के कथन और इन दोनों लेखों से पाया जाता है कि वि० सं० की ७ वीं से ६ वीं शताब्दी तक जोधपुर राज्य का उत्तर से दक्षिण तक का सारा पूर्वी हिस्सा गुर्जर देश (गुर्जरत्रा, गुजरात) के अंतर्गत था। इसी तरह दक्षिण और लाट के राठोड़ों तथा प्रतिहारों के बीच की लड़ाइयों के वृत्तांत से जाना जाता है कि गुर्जर देश की दक्षिणी सीमा लाट देश[1] से जा मिलती थी। अतएव जोधपुर राज्य का सारा पूर्वी हिस्सा तथा उससे दक्षिण लाट देश तक का वर्तमान गुजरात देश भी उस समय गुर्जर देश के अंतर्गत था। अब तो केवल राजपूताने से दक्षिण का हिस्सा ही गुजरात कहलाता है। देशों के नाम बहुधा उनपर अधिकार करनेवाली जातियों के नाम से प्रसिद्ध होते रहे हैं, जैसे कि मालवों से मालवा, शेखावतों से शेखावाटी, राजपूतों से राजपूताना आदि, ऐसे ही गुर्जरों (गूजरों) का अधिकार होने से गुर्जरत्रा (गुजरात) नाम प्रसिद्ध हुआ। गुर्जरदेश पर गुर्जरों (गूजरों) का अधिकार कब हुआ और कब तक रहा यह ठीक निश्चित नहीं, तो भी इतना तो निश्चित है कि रुद्रदामा के समय अर्थात् वि० सं० २०७ (ई० स० १५०) तक गुर्जरों का राज्य भीनमाल में नहीं हुआ था। संभव है कि क्षत्रपों का राज्य नष्ट होने पर गुर्जरों का अधिकार वहां हुआ हो। वि० सं० ६८५ (ई० स० ६२८) के पूर्व उनका राज्य वहां से उठ चुका था, क्योंकि उक्त संवत् में वहां चाप (चावड़ा)-वंशी राजा व्याघ्रमुख का राज्य होना भीनमाल के ही रहनेवाले (भिल्लमालकाचार्य) प्रसिद्ध ज्योतिषी ब्रह्मगुप्त के 'ब्राह्मस्फुटसिद्धांत' से पाया जाता है[2]। लाट देश के चालुक्य (सोलंकी) सामंत पुलकेशी (अवनिजनाश्रय) के कलचुरि संवत् ४९० (वि० सं० ७९६=ई० स० ७३९) के दानपत्र से जान पड़ता है कि चावोटक (चाप, चावड़ा) वंश गुर्जर वंश से भिन्न था[3]।

(१) लाटदेश की सीमा के लिये देखो ना. प्र. प; भाग २, पृ० ३४६, टिप्पण ३।

(२) देखो ऊपर पृ० २६ और टिप्पण २।

(३) *तरलतरतारतरवारिदारितोदितसैन्धवकच्छेल्लसौराष्ट्रचावोटकमौर्यगुर्जरादिराज्ये* (ना. प्र. प; भाग १, पृ० २१० और पृ० २११ का टिप्पण २३।

भीनमाल का गुर्जर-राज्य चावड़ों के हस्तगत होने के पीछे वि० सं० की ११ वीं शताब्दी के प्रारंभ में अलवर राज्य के पश्चिमी विभाग तथा उसके निकटवर्त्ती प्रदेशों पर गुर्जरों का एक और राज्य होने का भी पता चलता है। अलवर राज्य के राजोरगढ़ नामक प्राचीन क़िले से मिले हुए वि० सं० १०१६ (ई० स० ६६०) माघ सुदि १३ के शिलालेख से पाया जाता है कि उस समय राज्यपुर (राजोरगढ़) पर प्रतिहार गोत्र का गुर्जर महाराजाधिराज सावट का पुत्र, महाराजाधिराज परमेश्वर मथनदेव राज्य करता था और वह परमभट्टारक महाराजाधिराज परमेश्वर क्षितिपालदेव (महीपाल) का सामंत था[1]। यह क्षितिपाल कन्नौज का रघुवंशी प्रतिहार राजा था। उस शिलालेख में मथनदेव को महाराजाधिराज परमेश्वर लिखा है जिससे अनुमान होता है कि वह क्षितिपालदेव (महीपाल) के बड़े सामंतों में से हो। उसी लेख से यह भी जाना जाता है कि उस समय वहां गुर्जर (गूजर) जाति के किसान भी थे[2]।

वर्तमान गुजरात के भड़ौच नगर पर भी गुर्जरों का राज्य वि० सं० की सातवीं और आठवीं शताब्दी में रहने का पता उनके दानपत्रों से लगता है। संभव है कि उक्त संवतों के पहले और पीछे भी उनका राज्य वहां रहा हो, और आश्चर्य नहीं कि भीनमाल के गुर्जरों (गूजरों) का राज्य ही भड़ौच तक फैल गया हो और भीनमाल का राज्य उनके हाथ से निकल जाने पर भी भड़ौच के राज्य पर उनका या उनके कुटुंबियों का अधिकार बना रहा हो। भड़ौच के गुर्जर राजाओं के दानपत्रों से प्रकट होता है कि उस गुर्जर राज्य के अंतर्गत भड़ौच ज़िला: सूरत ज़िले के ओरपाड, चौरासी और बारडोली के परगने तथा उनके पासवाले बड़ौदा राज्य, रेवाकांठा और सचीन राज्य के इलाक़े भी थे।

गुर्जर जाति की उत्पत्ति के विषय में आधुनिक प्राचीन शोधकों ने अनेक कल्पनाएं की हैं। जनरल कनिंगहाम ने उनका यूची अर्थात् कुशनवंशी होना अनुमान किया है[3], वी० ए० स्मिथ ने उनकी गणना हूणों में की है[4], सर

(१) ए. इं; जि० ३, पृ० २६६।

(२) वही; जि० ३, पृ० २६६।

(३) क; आ. स. रि; जि० २, पृ० ७०।

(४) देखो ऊपर पृ० ५१-५२।

जेम्स कैंपबेल का कथन है कि ईसवी सन् की छठी शताब्दी में ख़ज़र नाम की एक जाति, जहां यूरोप और एशिया की सीमा मिलती है, वहां रहती थी; उसी जाति के लोग गुर्जर या गूजर हैं[1] और मि० देवदत्त रामकृष्ण भंडारकर ने[2] कैंपबेल का कथन स्वीकार किया है[3]; परन्तु ये सब कल्पनामात्र हैं क्योंकि उनमें से कोई भी यह सप्रमाण नहीं बतला सका कि अमुक समय में अमुक कारण से यह जाति बाहर से यहां आई। ख़ज़र से गुर्जर या गूजर जाति की उत्पत्ति मानना

---

(१) इं. ऐं; जि० ४०, पृ० ३०।

(२) श्रीयुत भंडारकर ने तो साथ में यह भी लिखा है कि "बंबई इहाते में गूजर (गुर्जर) नहीं हैं; ज्ञात होता है कि वह जाति हिन्दुओं में मिल गई। वहां गूजर (गुर्जर) बाणिये (बनिये, महाजन), गूजर (गुर्जर) कुंभार और गूजर (गुर्जर) सिलावट हैं। खानदेश में देशी कुनबी और गूजर (गुर्जर) कुनबी हैं। एक मराठा कुटुंब गुर्जर कहलाता है जो महाराष्ट्र के आधुनिक इतिहास में प्रसिद्ध रहा है। करहाडा ब्राह्मणों में भी गुर्जर नाम मिलता है। राजपूताने में गूजरगौड़ (गुर्जरगौड़) ब्राह्मण हैं। ये सब गूजर (गुर्जर) जाति के हैं" (इं. ऐं; जि० ४०, पृ० २२)। भंडारकर महाशय को इन नामों की मामूली उत्पत्ति जानने में भी भारी भ्रम हुआ और उसीसे इन सबको गूजर ठहरा दिया है, परंतु वास्तव में ऐसी बात नहीं हैं। जैसे श्रीमाल नगर (भिनमाल, जोधपुर राज्य में) के ब्राह्मण, महाजन, अड़िये आदि बाहर जाने पर अपने मूल निवासस्थान के नाम से अन्य ब्राह्मणों आदि से अपने को भिन्न बतलाने के लिये श्रीमाली ब्राह्मण, श्रीमाली महाजन आदि कहलाए; इसी तरह मारवाड़ में दधिमती (दाहिम) क्षेत्र के रहनेवाले ब्राह्मण, राजपूत, जाट आदि दाहिमे ब्राह्मण, दाहिमे राजपूत, दाहिमे जाट आदि कहलाए; और गौड़ देश के ब्राह्मण, राजपूत, कायस्थ आदि बाहर जाने पर गौड़ ब्राह्मण, गौड़ राजपूत, गौड़ कायस्थ आदि प्रसिद्ध हुए; वैसे ही प्राचीन गुर्जर देश के रहनेवाले ब्राह्मण, महाजन, कुंभार, सिलावट आदि गुर्जर ब्राह्मण, गुर्जर (गूजर) बनिये, गुर्जर (गूजर) कुंभार तथा गुर्जर (गूजर) सिलावट कहलाए हैं। अतएव गुर्जर ब्राह्मण आदि का अभिप्राय यह नहीं है कि गुर्जर (गूजर) जाति के ब्राह्मण आदि। उनके नाम के पूर्व लगनेवाला गुर्जर (गूजर) शब्द उनके आदि निवास का सूचक है, न कि जाति का। उक्त महाशय ने एक करहाड़ा ब्राह्मण कुटुंब के यहां के ई० स० ११९१ (वि० सं० १२४८) के दानपत्र से थोड़ासा अवतरण भी दिया है जिसमें दान लेनेवाले गोविंद ब्राह्मण को काश्यप, अवत्सार और नैध्रुव, इन तीन प्रवरवाले नैध्रुव गोत्र का, और गुर्जर उपनामवाला (गुर्जर-समुपाभिधान) कहा है। यदि गूजर जाति को एशिया की ख़ज़र जाति होना माना जाय तो क्या उनके यहां भी गोत्र और प्रवर का प्रचार था? उन्होंने गूजरगौड़ों की उत्पत्ति के विषय में भी लिखा है कि 'इस नाम का तात्पर्य गूजर जाति के गौड़ ब्राह्मण हैं', परंतु वास्तव में गुर्जरगौड़ का अर्थ यही है कि गुर्जर देश के रहने वाले गौड़ ब्राह्मण, न कि गूजर जाति के गौड़ ब्राह्मण।

(३) इं. ऐं; जि० ४०, पृ० ३०।

वैसी ही कपोलकल्पना है जैसा कि कोई यह कहे कि सकसेने कायस्थ यूरोप की सैक्सन् जाति से निकले हैं। नवसारी से मिले हुए भड़ौंच के गुर्जरवंशी राजा जयभट (तीसरे) के कलचुरि संवत् ४५६ (वि० सं० ७६२) के दानपत्र में गुर्जरों का महाराज कर्ण (भारतप्रसिद्ध) के वंश में होना लिखा है।

बड़गूजर

कर्नल टॉड ने लिखा है कि "बड़गूजर सूर्यवंशी हैं और गुहिलोतों को छोड़कर केवल यही एक वंश ऐसा है जो अपने को रामचंद्र के बड़े बेटे लव[1] से निकलना बतलाता है। बड़गूजर लोगों के बड़े बड़े इलाके ढूंढाड़ (जयपुर राज्य) में थे, और माचेड़ी (अलवर के राजाओं का मूलस्थान) के राज्य में राजोर (राजोरगढ़) का पहाड़ी क़िला उनकी राजधानी था। राजगढ़ और अलवर भी उनके अधिकार में थे। जब बड़गूजरों को कछवाहों ने उनके निवासस्थानों से निकाल दिया तो उस वंश के एक दल ने गंगा किनारे जाकर शरण ली और वहां पर नया निवासस्थान अनूपशहर बसाया[2]"। कर्नल टॉड ने बड़गूजरों की राजधानी राजोरगढ़ बतलाई है। हम ऊपर वि० सं० १०१६ के शिलालेख से बतला चुके हैं कि प्रतिहार गोत्र के गुर्जर राजा मथनदेव की राजधानी राजोरगढ़ ही थी। बड़गूजरों का राज्य उस प्रदेश पर बहलोल लोदी के समय तक रहना तो उनके शिलालेखों से निश्चित है, जिसके पीछे कछवाहों ने उनकी जागीरें छीनी हों। लेखों में बड़गूजर नाम पहले पहल माचेड़ी की बावड़ीवाले वि० सं० १४३९ (ई० स० १३८२) के शिलालेख में देखने में आया। उस लेख से पाया जाता है कि उक्त संवत् में वैशाख सुदि ६ को सुरताण (सुलतान) पेरोजसाहि (फ़ीरोज़शाह तुग़लक) के राज्य-समय, जब कि माचाड़ी (माचेड़ी) पर बड़गूजर वंश के राजा आसलदेव के पुत्र महाराजाधिराज गोगदेव का राज्य था, वह बावड़ी खंडेलवाल महाजन कुटुंब ने बनवाई[3]। उसी गोगदेव के समय के वि० सं० १४२१ और १४२६ (ई० स० १३६४ और १३६९) के शिला-

---

(१) गुहिलोतवंशी राजा अपने को रामचंद्र के पुत्र लव के वंश में नहीं, किंतु कुश के वंश में मानते हैं। कर्नल टॉड ने यह भ्रम से लिखा है।

(२) टॉ; रा; जि० १, पृ० १४०-४१।

(३) राजपूताना म्यूज़ियम् (अजमेर) की ई० स० १९१८-१९ की रिपोर्ट; पृ० २, लेखसंख्या ८।

लेख भी देखने में आए हैं[1]। गोगदेव फ़ीरोज़शाह तुग़लक का सामंत था। वहीं दूसरी बावड़ी में एक शिलालेख वि० सं० १५१५, शाके १३८० (ई० स० १४५८) का सुरताण (सुल्तान) बहलोलसाहि (बहलोल लोदी) के समय का बिगड़ी हुई दशा में है। उस समय माचेड़ी में बड़गूजरवंशी महाराज रामसिंह के पुत्र महाराज रजपालदेव (राज्यपालदेव) का राज्य होना लिखा है[2]। उक्त लेख का महाराज रामसिंह गोगदेव का पुत्र या पौत्र होना चाहिये।

गुर्जरों (गूजरों) के साथ इस समय राजपूतों का शादी व्यवहार नहीं है, किंतु बड़गूजरों के साथ है। जयपुर के राजाओं की कितनी एक राणियां इस वंश की थीं। ग्वालियर के तंवर राजा मानसिंह की गूजरी राणी के नाम पर उसने गूजरी, बहुलगूजरी, मालगूजरी और मंगलगूजरी नाम की चार रागनियां बनाईं ऐसा जनरल कनिंगहाम का कथन है[3]।

राजा यशोधर्म

यशोधर्म, जिसको विष्णुवर्द्धन भी कहते थे, बड़ा ही प्रतापी राजा हुआ, परंतु उसके वंश या पिता आदि का अब तक कुछ भी हाल जाना नहीं गया। उसके शिलालेख मंदसोर और वहां से दो मील पर के सौंदणी नामक स्थान में मिले हैं जिनसे अनुमान होता है कि उस प्रतापी राजा की राजधानी मंदसोर हो। सौंदणी में ही उसने अपने दो विजयस्तंभ खड़े करवाए, जो बड़े विशाल हैं, परंतु अब तो धराशायी हो रहे हैं। इन दोनों विजयस्तंभों पर एक ही लेख खुदवाया गया था, जो इस समय एक पर तो पूर्णतया सुरक्षित है, परंतु दूसरे पर का आधा अंश नष्ट हो गया है। उक्त पूरे लेख का आशय यह है कि "जो देश गुप्त राजाओं तथा हूणों के अधिकार में नहीं आये थे उनको भी उसने अपने अधीन किया; लौहित्य (ब्रह्मपुत्र) नदी से महेंद्र पर्वत (हिन्दुस्तान के पूर्वी विभाग का पूर्वी घाट) और हिमालय से पश्चिमी समुद्र तट तक के स्वामियों को अपना सामंत बनाया[4], और राजा मिहिरकुल ने भी, जिसने शंभु (शिव)

---

(१) राजपूताना म्यूज़ियम् (अजमेर) की ई० स० १९१८-१९ की रिपोर्ट; पृ० २, लेखसंख्या ६-७।

(२) वही; पृ० ३, लेखसंख्या ११।

(३) देखो ऊपर पृ. ३१ और टिप्पण २।

(४) ये भुक्ता गुप्तनाथैर्न सकलवसुधाक्रान्तिदृष्टप्रतापै-
र्नाज्ञा हूणाधिपानां क्षितिपतिमुकुटाध्यासिनी यान्प्रविष्टा।

के सिवा किसी के आगे सिर नहीं झुकाया था, उसके चरणों में अपना मस्तक नमाया अर्थात् उससे हारा[1]"। विजयस्तंभ पर के दोनों लेखों में संवत् नहीं है, परंतु मंदसोरवाला उसका शिलालेख मालव (विक्रम) संवत् ५८६ (ई० स० ५३२) का है[2]। उसमें पूर्व और उत्तर के बहुतसे राजाओं को वश करने का कथन तो है, परंतु मिहिरकुल को हराने का उल्लेख नहीं है, जिससे अनुमान होता है कि विजयस्तंभ वि० सं० ५८६ के पीछे खड़े किये गए होंगे।

बैस वंश

बैसवंशी राजपूत सूर्यवंशी माने जाते हैं। बाणभट्ट ने अपने 'हर्षचरित' में बैसवंशी राजा प्रभाकरवर्द्धन की पुत्री राज्यश्री का विवाह कन्नौज के मुखर-(मोखरी) वंशी राजा अवंतिवर्मा के पुत्र ग्रहवर्मा के साथ होने को सूर्य और चंद्रवंशों का मिलाप बतलाया है[3]। इस वंश का इतिहास बाणभट्ट के 'हर्षचरित', राजा हर्ष के दानपत्र, चीनी यात्री हुएन्त्संग की यात्रा की पुस्तक तथा दक्षिण के सोलंकियों के शिलालेखादि से मिलता है जिसका सारांशमात्र नीचे लिखा जाता है।

पुष्यभूति श्रीकंठ प्रदेश (थाणेश्वर) का[4] स्वामी और परम शिवभक्त

देशांस्तान्धन्वशैलद्रुमश(ग)हनसरिद्वीरबाहूपगूढा-
न्वीर्यावस्कन्नराज्ञः स्वगृहपरिसरावज्ञया यो भुनक्ति ॥
आलौहित्योपकण्ठात्तलवनगहनोपत्यकादामहेन्द्रा-
दागङ्गाश्लिष्टसानोस्तुहिनशिखरिणः पश्चिमादापयोधेः ।
सामन्तैर्यस्य बाहुद्रविणहृतमदैः पादयोरानमद्भि-
श्चूडारत्नांशुराजिव्यतिकरशबला भूमिभागाः क्रियन्ते ॥

मंदसोर का शिलालेख (फ्लीट; गु. इं; पृ० १४६)

(१) देखो ऊपर पृ० ५४, टिप्पण २।

(२) फ्लीट; गु. इं; पृ० १५२-५४।

(३) *तात त्वां प्राप्य चिरात्खलु राज(ज्य)श्रिया घटितौ तेजोमयौ सकलजगद्गीयमानबुधकर्णानंदकारिगुणगणौ सोमसूर्यवंशाविव पुष्प(ष्य)भूतिमुखरवंशौ* (हर्षचरित, उच्छ्वास ४, पृ० १४६; निर्णयसागर-संस्करण)।

(४) *अस्ति पुण्यकृतामधिवासो वासवावास इव वसुधामवतीर्णः*········*श्रीकण्ठो नाम जनपदः* (वही; पृ० ६५-६६)

था। उसके पुत्र नरवर्द्धन की राणी वज्रिणीदेवी से राज्यवर्द्धन उत्पन्न हुआ जो सूर्य का परम उपासक था। राज्यवर्द्धन की राणी अप्सरादेवी से आदित्यवर्द्धन का जन्म हुआ, वह भी सूर्य का भक्त था। उसकी राणी महासेनगुप्ता से प्रभाकरवर्द्धन ने जन्म लिया, जिसको प्रतापशील भी कहते थे। आदित्यवर्द्धन तक के नामों के साथ केवल 'महाराज'[1] पद मिलता है, अतएव वे स्वतंत्र राजा नहीं, किंतु दूसरों (गुप्तों) के सामंत हों। उनका राजपूताने के साथ कुछ भी संबंध नहीं रहा।

प्रभाकरवर्द्धन की पदवियां 'परमभट्टारक' और 'महाराजाधिराज' मिलती हैं, जो उसका स्वतंत्र राजा होना प्रकट करती हैं[2]। हर्ष के ताम्रपत्रों में उसको अनेक राजाओं को नमानेवाला, तथा 'हर्षचरित' में हूणों एवं गांधार, सिंधु, गुर्जर और लाट देशों को विजय करनेवाला लिखा है[3] (गुर्जर देश ऊपर बतलाया हुआ प्राचीन गुर्जर देश होना चाहिये)। वह भी सूर्य का परम भक्त था और प्रतिदिन 'आदित्यहृदय' का पाठ किया करता था। उसकी राणी यशोमती से दो पुत्र राज्यवर्द्धन और हर्षवर्द्धन, तथा एक पुत्री राज्यश्री उत्पन्न हुई जिसका विवाह कन्नौज के मोखरीवंशी राजा अवंतिवर्मा के पुत्र ग्रहवर्मा के साथ हुआ था। मालवे के राजा ने ग्रहवर्मा को मारा और उसकी राणी राज्यश्री के पैरों में बेड़ियां डालकर उसे कन्नौज के क़ैदखाने में रक्खा[4]। उसी समय प्रभाकरवर्द्धन का देहांत हुआ और उसका बड़ा पुत्र राज्यवर्द्धन थाणेश्वर के राज्य-सिंहासन पर बैठा।

राज्यवर्द्धन अपने पिता के देहांत-समय उत्तर में हूणों से लड़ने को गया हुआ था; उनके साथ के युद्ध में वह घायल हुआ, परंतु विजय प्राप्त कर उसी दशा में थाणेश्वर पहुंचा। अपने पिता के असाधारण प्रेम का स्मरण कर उसने राज्यसिंहासन पर आरूढ होना पसंद न किया, किंतु भदंत (बौद्ध साधु) होने के विचार से अपने

(१) ए. इं; जि० ४, पृ० २१०।

(२) वही; जि० ४, पृ० २१०।

(३) *हूणहरिणकेसरी सिंधुराजज्वरो गुर्जरप्रजागरो गान्धाराधिपगन्धद्विपकूटपालको लाटपाटवपाटच्चरो मालवलक्ष्मीलतापरशुः प्रतापशील इति प्रथितापरनामा प्रभाकरवर्द्धनो नाम राजाधिराजः।* ('हर्षचरित'; पृ० १२०)

(४) वही; उच्छ्वास ६, पृ० १८२-८३।

छोटे भाई हर्षवर्द्धन (हर्ष) को राज्यसिंहासन पर बिठाना चाहा। हर्ष ने भी भदंत होने की इच्छा प्रकट की और राज्य की उपाधि को स्वीकारना न चाहा। इतने में राज्यश्री के क़ैद होने की खबर मिली जिससे राज्यवर्द्धन ने भदंत होने का विचार छोड़ दिया और १०००० सवारों को साथ ले मालवे के राजा पर चढ़ाई कर दी। संग्राम में विजय पाकर उसने उसके बहुत से हाथी, घोड़े, रत्न, राणियों के आभूषण, छत्र, चंवर, सिंहासन आदि राज्यचिह्न छीन लिये, तथा उसके अंतःपुर की बहुतसी सुंदर स्त्रियों, और मालवे के सब राजाओं (सामंतों) को क़ैद कर लिया। लौटते समय गौड़ (बंगाल) के राजा नरेंद्रगुप्त (शशांक) ने अपने महलों में लेजाकर उस (राज्यवर्द्धन)को विश्वासघात से मार डाला[1]। यह घटना वि० सं० ६६३ (ई० स० ६०६) में हुई। हर्षवर्द्धन के दानपत्र में राज्यवर्द्धन का परम सौगत (बौद्ध) होना, देवगुप्त आदि अनेक राजाओं को जीतना तथा सत्य के अनुरोध से शत्रु के घर में प्राण देना लिखा है[2]। उसका उत्तराधिकारी उसका छोटा भाई हर्षवर्द्धन हुआ।

हर्षवर्द्धन को श्रीहर्ष, हर्ष और शीलादित्य भी कहते थे। राज्यसिंहासन पर बैठते ही गौड़ के राजा को, जिसने उसके बड़े भाई को विश्वासघात कर मारा था, नष्ट करने का संकल्प किया और अपने सेनापति सिंहनाद तथा स्कंदगुप्त की संमति से सब ही राजाओं के नाम इस अभिप्राय के पत्र भेजे कि 'या तो तुम मेरी अधीनता स्वीकार कर लो या मुझसे लड़ने को तैयार हो जाओ'। फिर दिग्विजय के लिये प्रस्थान कर पहला मुक़ाम राजधानी से थोड़ी दूर सरस्वती के तट पर किया। वहां प्राग्ज्योतिष (बंगाल के राजशाही ज़िले का नगर) के राजा भास्करवर्मा (कुमार) के दूत हंसवेग ने उपस्थित होकर अपने स्वामी का भेजा हुआ छत्र भेट कर प्रार्थना की कि 'भास्करवर्मा आपसे

(१) 'हर्षचरित': उच्छ्वास ६, पृ० १८६।

(२) *राजानो युधि दुष्टवाजिन इव श्रीदेवगुप्तादयः*
कृत्वा येन कशाप्रहारविमुखास्सर्वे समं संयताः ॥
उत्खाय द्विषतो विजित्य वसुधाङ्कृत्वा प्रजानां प्रियं
प्राणानुज्झितवानरातिभवने सत्यानुरोधेन यः ॥

हर्ष का दानपत्र (ए. इं; जि० ४, पृ० २१०)

मैत्री चाहता है' । उसने दूत का निवेदन स्वीकार कर उसके राजा को अपने पास उपस्थित होने के लिये कहलाया । वहां से कई मंज़िल आगे चलने पर मंत्री भंडि भी उससे आ मिला और उसने मालवराज के यहां से लाया हुआ लूट का माल नज़र कर निवेदन किया कि राज्यश्री कन्नौज के क़ैदखाने से भागकर विंध्याटवी में पहुंच गई है । यह समाचार पाते ही उस (हर्ष) ने भंडि को तो गौड़ के राजा को दंड देने के लिये भेजा और स्वयं विंध्याटवी की ओर चला और अपनी बहिन को लेकर यष्टिग्रह स्थान में पहुंचा[1] । अनुमान ३० वर्ष तक लगातार युद्ध कर उसने कश्मीर से आसाम तक और नेपाल से नर्मदा तक के सब देश अपने अधीन कर बड़ा राज्य स्थापित किया। उसने दक्षिण को भी अपने अधीन करना चाहा था, परंतु बादामी (वातापी, बंबई इहाते के बीजापुर ज़िले के बादामी विभाग का मुख्य स्थान) के चालुक्य (सोलंकी) राजा पुलकेशी (दूसरे) से हार जाने[2] पर उसका वह मनोरथ सफल न हुआ । उसकी राजधानी थाणेश्वर और कन्नौज दोनों थीं । चीनी यात्री हुएन्त्संग, जो इस प्रतापी राजा के साथ रहा था, लिखता है कि हर्षवर्द्धन ने अपने भाई के शत्रुओं को दंड देने तथा आसपास के सब देशों को अपने अधीन करने तक दाहिने हाथ से भोजन न करने का प्रण किया था। ५००० हाथी, २०००० सवार और ५०००० पैदल सेना सहित उसने निरंतर युद्ध किया और पूर्व से पश्चिम तक अपनी अधीनता स्वीकार न करनेवाले सब राजाओं को जीतकर ६ वर्ष में हिंदुस्तान (नर्मदा से उत्तर के सारे देश)

(१) 'हर्षचरित'; उच्छ्वास ६-७ ।

(२) *अपरिमितविभूतिस्फीतसामन्तसेना-*
मकुटमणिमयूखाक्रान्तपादारविन्दः ।
युधि पतितगज(जे)न्द्रानीकबी(बी)भत्सभूतो-
भयविगलितहर्षो येन चाकारि हर्षः ॥ [२३] ॥

पुलकेशी (दूसरे) के आहोळे के शिलालेख से (ए. इं; जि० ६, पृ० ६)

समरसंसक्तसकलोत्तरापथेश्वरश्रीहर्षवर्द्धनपराजयोपलब्धपरमेश्वरनामधेयस्य ·······

(पुलकेशी के ज्येष्ठ पुत्र चंद्रादित्य की राणी विजयभट्टारिका के दानपत्र से)
(इं. ऍ; जि. ७, पृ० १६३)

हुएन्त्संग ने भी हर्ष के इस पराजय का उल्लेख किया है (देखो ऊपर पृ० ७२-७३)

के पांचों प्रदेशों (पंजाब, सिंध, मध्यप्रदेश, बंगाल, गुजरात और राजपूताना आदि) को अपने अधीन किया। इस प्रकार राज्य बढ़ जाने पर अपनी सेना में भी वृद्धि कर लड़ाई के हाथियों की संख्या ६०००० और सवारों की १००००० तक पहुंचा दी। तीस वर्ष के बाद उसके शस्त्रों ने विश्राम पाया, फिर उसने शांतिपूर्वक राज्य किया। उस समय वह धर्म-प्रचार के कामों में निरंतर लगा रहता था। अपने राज्यभर में जीवहिंसा तथा मांसभक्षण की मनाई कर दी थी, इसके प्रतिकूल चलनेवाले को प्राणदंड होता था। तमाम बड़े मार्गों पर यात्रियों तथा ग़रीबों के लिये पुण्यशालाएं बनवाई थीं जहां पर खाने पीने के अतिरिक्त रोगियों को औषधि भी मिला करती थी। प्रति पांचवें वर्ष वह 'मोक्षमहापरिषद्' नामक सभा कर अपना ख़ज़ाना दान से ख़ाली कर देता, धर्मगुरुओं में परस्पर विवाद करवाकर उनके प्रमाणों की स्वयं परीक्षा करता, सदाचारियों का सम्मान करता, दुष्टों को दंड देता, बुद्धिमानों का उदय करता, सदाचारी धर्मवेत्ताओं से धर्म श्रवण करता और दुराचारियों को दूर ताड़ता था। वि० सं० ७०१ (ई० स० ६४४) के आसपास उसने प्रयाग में धर्ममहोत्सव किया जिसमें बड़े बड़े २० राजा उसके साथ थे[1]। रणरसिक होने के अतिरिक्त वह राजा विद्वान् भी था। उसके रचे हुए 'रत्नावली', 'प्रियदर्शिका' और 'नागानंद' नाटक उसकी विद्वत्ता के उज्वल रत्न हैं[2]। जैसा वह विद्वान् था वैसा ही चित्रविद्या

(१) बी; बु. रे. वे. व; जि. १, पृ. २१३-१६।

(२) 'काव्यप्रकाश' की किसी हस्तलिखित प्रति में 'यथा श्रीहर्षादेर्धावकादीनां धनं' (श्रीहर्ष आदि से धावक आदि को धन मिला) पाठ देखकर कुछ विद्वानों की यह कल्पना है कि 'रत्नावली' आदि नाटक श्रीहर्ष (हर्षवर्द्धन) ने नहीं लिखे, किंतु धावक पंडित ने लिखकर धन के लालच से श्रीहर्ष को उनका रचयिता बतलाया और उससे धन लिया। प्रथम तो उक्त कथन का अर्थ यही है कि 'काव्यरचना से प्रसन्न होने पर राजा लोग विद्वानों को धन देते हैं जैसे कि श्रीहर्ष ने धावक को दिया था'। दूसरी बात यह है कि 'धावक' पाठ ही अशुद्ध है। डाक्टर बूलर को कश्मीर की प्राचीन प्रतियों में उपर्युक्त पाठ के स्थान में 'यथा श्रीहर्षादेर्बाणादीनां धनं' पाठ मिला, जिसको उसने शुद्ध पाठ माना इतना ही नहीं, किंतु यह भी लिखा कि 'धावक' का नाम कश्मीर में अज्ञात है, इसलिये उसे भारत के कवियों की नामावली में से निकाल देना चाहिये (डा० बूलर की कश्मीर, राजपूताना और मध्यभारत की संस्कृत हस्तलिखित पुस्तकों की खोज की रिपोर्ट; पृ. ६९)। काव्यप्रकाश (उल्लास १) के उक्त कथन का आशय यही है कि बाण कवि ने हर्ष का चरित लिखा जिसपर राजा ने उसको बहुतसा द्रव्य दिया था जैसा कि बाण ने स्वयं लिखा है। श्रीहर्ष स्वयं

में भी बड़ा ही निपुण था, क्योंकि बंसखेड़ा से मिले हुए उसके दानपत्र में उसने अपने हस्ताक्षर चित्रलिपि में किये हैं, जो उसकी चित्रनिपुणता की साक्षी दे रहे हैं[1]। विद्वानों का बड़ा सम्मान करनेवाला होने से उसके समय में कई बड़े बड़े विद्वान् हुए। सुप्रसिद्ध बाणभट्ट उसका आश्रित था जिसने 'हर्षचरित' नामक गद्य काव्य में उसका चरित लिखकर उसका नाम अमर कर दिया, और कादंबरी नामक अपूर्व गद्य कथा का पूर्वार्द्ध रचा। इस ग्रंथ का उत्तरार्द्ध उसके पुत्र पुलिंद(पुलिन)भट्ट ने अपने पिता का देहांत होने पीछे लिखकर उक्त पुस्तक को पूर्ण किया था। बाणभट्ट को हर्ष ने बड़ी समृद्धि दी थी ऐसा स्वयं उसके[2] (बाण के) तथा पिछले विद्वानों के कथन[3] से पाया जाता है। बाणभट्ट और पुलिंदभट्ट के अतिरिक्त मयूर (सूर्यशतक का कर्ता) और दिवाकर (मातंग दिवाकर) भी उसी राजा के दरबार के पंडित थे[4], ऐसा राजशेखर कवि की 'सूक्तिमुक्तावली' नामक पुस्तक में लिखा है। सुबंधु ('वासवदत्ता' का कर्ता) का उसीके समय होना माना जाता है। जैन विद्वान् मानतुंगाचार्य ('भक्तामरस्तोत्र' का कर्त्ता) भी उसी राजा के समय में हुआ ऐसा जैनों का कथन है।

बड़ा ही विद्वान् था यह बाण आदि के लेखों से सिद्ध है।

(१) ए. इं; जि. ४, पृ. २१० के पास के फोटो में राजा हर्ष के हस्ताक्षर देखिये।

(२) *प्रविश्य पुनरपि नरपतिभवनम् । स्वल्पैरेव चाहोभिः परमप्रीतेन प्रसादजन्मनो मानस्य प्रेम्णो विस्रम्भस्य द्रविणस्य नर्मणः प्रभावस्य च परां कोटिमानीयत नरेन्द्रेणेति* ('हर्षचरित'; उच्छ्वास २ का अंत, पृ. ८२।

(३) 'सारसमुच्चय' नामकी पुस्तक में 'काव्यप्रकाश' के उपर्युक्त कथन के उदाहरण में नीचे लिखा हुआ श्लोक दिया है—

हेम्नो भारशतानि वा मदमुचां वृन्दानि वा दन्तिनां
श्रीहर्षेण समर्पितानि कवये बाणाय कुत्राद्य तत् ।
या बाणेन तु तस्य सूक्तिनिकरैरुट्टङ्किताः कीर्तय-
स्ताः कल्पप्रलयेपि यान्ति न मनाङ्मन्ये परिम्लानताम् ॥

(पीटर्सन की पहली रिपोर्ट; पृ. २१)

(४) *अहो प्रभावो वाग्देव्या यन्मातंगदिवाकरः ।*
श्रीहर्षस्याभवत्सभ्यः समो बाणमयूरयोः ॥

'सुभाषितावलि' की अंग्रेज़ी भूमिका; पृ. ८६।

हर्षवर्द्धन की पुत्री का विवाह वलभीपुर (वळा, काठियावाड़ में) के राजा ध्रुवभट (ध्रुवसेन दूसरे) के साथ होना चीनी यात्री हुएन्त्संग लिखता है[1]। राजा हर्षवर्द्धन ने चीन के बादशाह से मैत्री कर अपने एक ब्राह्मण राजदूत को उसके पास भेजा जहां से वह वि० सं० ७०० (ई० स० ६४३) में लौटा। उसीके साथ चीन के बादशाह ने भी अपना दूतदल हर्षवर्द्धन के दरबार में भेजा था। वि० सं० ७०४ (ई० स० ६४७) में चीन के बादशाह ने दूसरी बार अपने दूतदल को, जिसका मुखिया वंगहुएन्त्से था, हर्षवर्द्धन के दरबार में भेजा, परंतु उसके मगध में पहुंचने से पूर्व ही वि० सं० ७०५ (ई० स० ६४८) के आसपास उसका देहांत हो गया और उसके सेनापति अर्जुन ने राज्यसिंहासन छीनकर चीनी दूतदल को लूट लिया, और कई चीनी सिपाही मारे गये। इसपर उक्त दूतदल का मुखिया (वंगहुएन्त्से) अपने साथियों सहित नेपाल में भाग गया, किंतु थोड़े ही दिनों बाद वह नेपाल तथा तिब्बत की सेना को साथ लेकर पीछा आया तो अर्जुन भागा, परंतु पराजित होकर क़ैद हुआ और वंगहुएन्त्से उसको चीन ले गया[2]। इस प्रकार हर्षवर्द्धन के स्थापित किये हुए महाराज्य की समाप्ति उसीके देहांत के साथ हो गई और उसके अधीन किये हुए सब राजा फिर स्वतंत्र बन बैठे।

वि० सं० ६६४ में हर्षवर्धन का राज्याभिषेक हुआ था उस समय से उसने अपने नाम का संवत्[3] चलाया, जो हर्ष या श्रीहर्ष संवत् नाम से प्रसिद्ध हुआ, और अनुमान ३०० वर्ष तक चलकर अस्त हो गया। राजपूताने में हर्ष संवत्वाले शिलालेख मिले हैं[4]। हर्षवर्द्धन पहले शिव का भक्त था, परंतु बौद्ध धर्म

(१) चीनी यात्री हुएन्त्संग की भारतयात्रा की पुस्तक 'सीयुकि' के अंग्रेज़ी अनुवाद में बील ने शीलादित्य (हर्षवर्द्धन) के पुत्र की राजकन्या का विवाह वलभी के राजा ध्रुवभट के साथ होना लिखा है (बी; बु. रे. वे. व; जि. २, पृ. २६७) और ऐसा ही अनुवाद जुलियन ने किया है, परंतु थॉमस वॉटर्स उक्त पुस्तक के अनुवाद एवं उसकी विस्तृत टिप्पणी में शीलादित्य (हर्षवर्द्धन) ही की पुत्री का विवाह ध्रुवभट के साथ होना बतलाता है (वॉटर्स; ऑन युअन् च्वांग'; जि. २, पृ. २४७) जो अधिक विश्वास के योग्य है।

(२) चवब्रेज़; 'मेमॉयर;' पृ. ११, टिप्पण २।

(३) हर्ष संवत् के लिये देखो 'भारतीय प्राचीनलिपिमाला'; पृ. १७७।

(४) भरतपुर राज्य के कोट नामक गांव से मिले हुए एक कुटिलाक्षरवाले शिलालेख में, जो इस समय भरतपुर की राजकीय लाइब्रेरी (पुस्तकालय) में रक्खा हुआ है, संवत्

की तरफ श्रद्धा अधिक होने के कारण सम्भव है कि पीछे से वह बौद्ध हो गया हो। श्रीहर्ष के पीछे उसके वंश का शृंखलाबद्ध इतिहास नहीं मिलता है। अवध में बैसवाड़े का इलाक़ा बैसवंशी राजपूतों का मुख्य स्थान है और उनमें तिलकचंदी बैस अपने को मुख्य मानते हैं।

चावड़ा वंश

संस्कृत लेखों में उक्त वंश का नाम चाप, चापोत्कट या चावोटक लिखा मिलता है और भाषा में उसको चावड़ा कहते हैं। अब तक चावड़ों के राज्य तीन जगह होने का पता लगा है। सब से पुराना राज्य राजपूताने में भीनमाल पर था; दूसरा काठियावाड़ में वढ़वाण पर रहा जैसा कि वहां के राजा धरणीवराह के श० सं० ८३६ (वि० सं० ६७१=ई० स० ६१४) के दानपत्र से पाया जाता है[1] और तीसरा राज्य चावड़े वनराज ने वि० सं० ८२१ (ई० स० ७६४) में अणहिलवाड़ा (पाटन) बसाकर वहां स्थापित किया। इनमें से राजपूताने का संबंध केवल भीनमाल के चावड़ों के राज्य से ही है।

चावड़ा वंश की उत्पत्ति के विषय में हड्डाला (काठियावाड़ में) से मिले हुए वढ़वाण के चाप(चावड़ा)वंशी राजा धरणीवराह के वि० सं० ६७१

---

४८ दिया हुआ है। लिपि के आधार पर यह संवत् भी हर्ष संवत् ही हो सकता है (अजमेर के राजपूताना म्यूज़ियम् की ई. स. १९१६–१७ की रिपोर्ट; पृ. २, लेखसंख्या १)

अलवर राज्य के तसई गांव में एक शिवालय के बाहर की दीवार में कुटिल लिपि में खुदी हुई एक प्रशस्ति का नीचे का अंश लगा हुआ है जिसमें संवत् १८२ दिया है। लिपि के आधार पर वह हर्ष संवत् ही माना जा सकता है (अजमेर के राजपूताना म्यूज़ियम् की ई. स. १९१९–२० की रिपोर्ट; पृ. २, लेखसंख्या १)।

उदयपुर के विक्टोरियाहॉल के म्यूज़ियम् में एक शिलालेख रक्खा हुआ है, जो राजा धवलप्पदेव के समय का संवत् २०७ का है और ३० वर्ष पूर्व मुझको डभोक गांव में कर्नल जेम्स टॉड के बंगले के पीछे खेत में पड़ा हुआ मिला था। उसकी लिपि के आधार पर उसका संवत् हर्ष संवत् ही माना जा सकता है। मैंने उसकी एक छाप प्रसिद्ध विद्वान् डॉ० बूलर के पास सम्मति के लिये भेजी तो उक्त विद्वान् ने भी उसके संवत् को हर्ष संवत् ही स्वीकारा। श्रीयुत देवदत्त रामकृष्ण भंडारकर ने उक्त लेख के संवत् को ८०७ पढ़कर उसको विक्रम संवत् माना है (प्रोग्रेस रिपोर्ट ऑफ़ दी आर्कियालॉजिकल सर्वे ऑफ़ इंडिया, वेस्टर्न सर्कल; ई. स. १९०५–६ पृ. ६१), परंतु यह सही नहीं क्योंकि उक्त लेख में ८ के अंक का कहीं नामनिशान भी नहीं है।

(१) इं. ऐं; जि० १२, पृ० १९३–४।

(ई० स० ६१४) के दानपत्र में लिखा है कि "पृथ्वी ने शंकर से प्रणाम कर निवेदन किया कि हे प्रभो ! आप जब ध्यान में मग्न होते हैं उस समय असुर मुझको दुःख देते हैं, यह मुझसे सहन नहीं हो सकता। इसपर शंकर ने अपने चाप (धनुष) से पृथ्वी की रक्षा करने के योग्य एक पुरुष[1] उत्पन्न किया जो 'चाप' कहलाया और उसका वंश उसी नाम से प्रसिद्ध हुआ"। यह कथन वैसा ही कल्पित और चाप नाम का संबंध मिलाने के लिये गढ़ा गया है जैसा कि किसीने चौलुक्य नाम की उत्पत्ति बतलाने के वास्ते ब्रह्मा के चुलुक (चुल्लू) से चौलुक्यों के मूल पुरुष चालुक्य के उत्पन्न होने की कल्पना की है। चावड़ों के पुराने दोहों आदि से उनका परमारों के अंतर्गत होना पाया जाता है। आधुनिक विद्वानों ने उनकी उत्पत्ति के विषय में भिन्न भिन्न कल्पनाएं की हैं। कर्नल टॉड ने उनका सीथियन अर्थात् शक होना अनुमान किया है। कोई कोई विद्वान् उनकी गणना गुर्जरों (गूजरों) में करते हैं, परंतु लाट देश के चालुक्य(सोलंकी)वंशी सामंत पुलकेशी (अवनिजनाश्रय) के कलचुरि संवत् ४६० (वि० सं० ७६६=ई० स० ७३६) के दानपत्र में ताज़िकों (अरबों) की चढ़ाई के प्रसंग में चावोटक (चापोत्कट, चावड़ा) और गुर्जर दो भिन्न भिन्न वंश बतलाये हैं[2], और भीनमाल के चावड़ों ने गुर्जरों (गूजरों) से ही वहां का राज्य लिया था, इसलिये उक्त विद्वानों का कथन विश्वास के योग्य नहीं है। चीनी यात्री हुएन्त्संग वि० सं० ६६७ (ई० स० ६४१) के आसपास भीनमाल आया था। वह वहां के राजा को क्षत्रिय बतलाता है जो अधिक विश्वास के योग्य है। उस समय भीनमाल पर चावड़ों का ही राज्य था। हमारा अनुमान है कि चाप (चांपा, चंपक) नामक किसी मूल पुरुष के नाम से उसके वंशज चावड़े कहलाये हों। संस्कृत के विद्वान् लौकिक नामों को संस्कृत शैली के बना देते हैं इसीसे चावड़ा नाम के ऊपर लिखे हुए भिन्न भिन्न रूप संस्कृत में मिलते हैं।

भीनमाल के चावड़ों का शृंखलाबद्ध इतिहास अब तक नहीं मिला। वसंतगढ़ (सिरोही राज्य में) से एक शिलालेख राजा वर्मलात के समय का वि० सं० ६८२ (ई० स० ६२५) का मिला है, उससे पाया जाता है कि उक्त संवत्

(१) इं. ऐं; जि. १२, पृ० १६३।

(२) ना. प्र. प; भाग १, पृ० २१०, और पृ० २११ का टिप्पण २३।

में उक्त राजा का सामंत राज्जिल, जो वज्रभट (सत्याश्रय) का पुत्र था, अर्बुद देश (आबू और उसके आसपास के प्रदेश) का स्वामी था[1]। भीनमाल के रहनेवाले प्रसिद्ध माघ कवि ने, अपने रचे हुए 'शिशुपालवध' (माघ काव्य) में अपने दादा सुप्रभदेव को वर्मलात राजा का सर्वाधिकारी (मुख्य मंत्री) बतलाया है[2], अतएव वर्मलात भीनमाल का राजा होना चाहिये। वसंतगढ़ के शिलालेख तथा 'शिशुपालवध' में राजा वर्मलात के वंश का परिचय नहीं दिया, परंतु भीनमाल के रहनेवाले ब्रह्मगुप्त ज्योतिषी ने शक सं० ५५० (वि० सं० ६८५=ई० स० ६२८) में, अर्थात् वर्मलात के समय के शिलालेख से केवल तीन वर्ष पीछे, 'ब्राह्मस्फुटसिद्धांत' नामक ग्रंथ रचा जिसमें वह लिखता है कि उस समय वहां का राजा चाप(चावड़ा)वंशी व्याघ्रमुख था[3], अतएव या तो व्याघ्रमुख वर्मलात का उत्तराधिकारी हो, या वर्मलात और व्याघ्रमुख दोनों एक ही राजा के नाम हों, अथवा व्याघ्रमुख उसका बिरुद हो। भीनमाल के चावड़ों का अब तक तो इतना ही पता चला है, तो भी उनका राज्य वहां पर वि० सं० ७९६ (ई० स० ७३९) तक रहना तो निश्चित है, क्योंकि लाट देश के सोलंकी सामंत पुलकेशी (अवनिजनाश्रय) के कलचुरि सं० ४९० (वि० सं० ७९६=ई० स० ७३९) के दानपत्र में अरबों की चढ़ाई का वर्णन है और वहां उनका चावोटकों (चावड़ों) के राज्य को नष्ट करना भी लिखा है[4]। उस समय चावड़ों का राज्य भीनमाल पर ही था, वढ़वाण और पाटण (अणहिलवाड़े) में तो चावड़ों के राज्यों की स्थापना भी नहीं हुई थी। 'फतूहुल वलदान' नामक फारसी तवारीख़ से पाया जाता है कि वह चढ़ाई खलीफा हशाम के समय सिंध के हाकिम जुनैद ने की थी और उसने मरुमाड़ (मारवाड़) के अतिरिक्त अल् बेलमाल (भीनमाल) पर भी हमला किया था[5]। चावड़ों से भीनमाल का राज्य रघुवंशी प्रतिहारों (पड़िहारों) ने छीन लिया।

---

(१) ए. इं; जि० ९, पृ० १९१-९२।

(२) 'शिशुपालवध काव्य'; सर्ग. २० के अंत में कविवंशवर्णन, श्लो० १।

(३) देखो ऊपर पृ० ५६ और उसीका टिप्पण २।

(४) *तरलतरतारतरवारिदारितोदितसैन्धवकच्छेल्लसौराष्ट्रचावोटकमौर्यगुर्जरादिराज्ये।*

(ना. प्र. प; भाग १, पृ० २११, टिप्पण २३)।

(५) इलियट: 'हिस्टरी ऑफ इंडिया;' जि० १, पृ० ४४१-४२।

प्रतिहार वंश

जैसे गुहिल, चौलुक्य (सोलंकी), चाहमान (चौहान) आदि राजवंश उनके मूल पुरुषों के नाम से प्रचलित हुए हैं वैसे प्रतिहार नाम वंशकर्त्ता के नाम से चला हुआ नहीं, किंतु राज्याधिकार के पद से बना हुआ है। राज्य के भिन्न भिन्न अधिकारियों में एक प्रतिहार भी था जिसका काम राजा के बैठने के स्थान या रहने के महल के द्वार (ड्योढ़ी) पर रहकर उसकी रक्षा करना था। इस पद के लिये किसी खास जाति या वर्ण का विचार नहीं रहता था, किंतु राजा के विश्वासपात्र पुरुष ही इस पद पर नियुक्त होते थे। प्राचीन शिलालेखादि में प्रतिहार या महाप्रतिहार नाम मिलता है और भाषा में उसे पड़िहार कहते हैं। प्रतिहार नाम वैसा ही है जैसा कि पंचकुल (पंचोली)। पंचकुल राजकर वसूल करनेवाले राजसेवकों की एक संस्था थी, जिसका प्रत्येक व्यक्ति पंचकुल कहलाता था। प्राचीन दानपत्रों, शिलालेखों तथा प्रबंध-चिंतामणि आदि पुस्तकों में पंचकुल का उल्लेख मिलता है। राजपूताने में ब्राह्मण पंचोली, कायस्थ पंचोली, महाजन पंचोली और गूजर पंचोली हैं, जिनमें अधिकतर कायस्थ पंचोली हैं, जिसका कारण यह है कि ये लोग विशेषकर राजाओं के यहां अहलकारी का पेशा ही करते थे। पंचकुल का पंचउल (पंचोल) और उससे पंचोली शब्द बना है। जैसे पंचोली नाम किसी जाति का सूचक नहीं, किंतु पद का सूचक है, वैसे ही प्रतिहार शब्द भी जाति का नहीं किंतु पद का सूचक है। इसी कारण शिलालेखादि में ब्राह्मण प्रतिहार, क्षत्रिय (रघुवंशी) प्रतिहार, और गुर्जर (गूजर) प्रतिहारों का उल्लेख मिलता है। आधुनिक शोधकों ने प्रतिहार मात्र को गूजर मान लिया है जो उनका भ्रम ही है।

मंडोर (जोधपुर से ४ मील) के प्रतिहारों के कितने एक शिलालेख मिले हैं जिनमें से तीन में उनके वंश की उत्पत्ति तथा वंशावली दी है। उनमें से एक

मंडोर के प्रतिहार

जोधपुर शहर के कोट (शहरपनाह) में लगा हुआ मिला, जो मूल में मंडोर के किसी विष्णुमंदिर में लगा था। यह शिलालेख वि० सं० ८९४ (ई० स० ८३७) चैत्र सुदि ५ का है[1]। दूसरे दो शिलालेख

(१) ज. रॉ. ए. सो; ई. स. १८९४, पृ० ४-९। इसके संवत् में सैकड़े और दहाई के अंक प्राचीन अक्षरप्रणाली से दिये हैं जिससे पढ़ने में भ्रम होकर ८९४ के स्थान में केवल ४ छपा है। वास्तव में इसका संवत् ८९० ही है।

घटिश्राले (जोधपुर से २० मील उत्तर में) से मिले हैं जिनमें से एक प्राकृत (महाराष्ट्री) भाषा का श्लोकबद्ध[1] और दूसरा उसीका आशयरूप संस्कृत में है[2]। ये दोनों शिलालेख वि० सं० ६१८ (ई० स० ८६१) चैत्र सुदि २ के हैं। इन तीनों लेखों से पाया जाता है कि 'हरिश्चंद्र' नामक विप्र (ब्राह्मण), जिसको रोहिल्लाद्धि भी कहते थे, वेद और शास्त्रों का अर्थ जानने में पारंगत था। उसके दो स्त्रियां थीं, एक द्विज (ब्राह्मण) वंश की और दूसरी क्षत्रिय कुल की बड़ी गुणवती थी। ब्राह्मणी से जो पुत्र उत्पन्न हुए वे ब्राह्मण प्रतिहार कहलाये और क्षत्रिय वर्ण की राज्ञी (राणी) भद्रा से जो पुत्र जन्मे वे मद्य पीनेवाले हुए[3]। इस प्रकार मंडोर के प्रतिहारों के उन तीनों शिलालेखों से हरिश्चंद्र का ब्राह्मण एवं किसी राजा का प्रतिहार होना पाया जाता है। उसकी दूसरी स्त्री भद्रा को राज्ञी लिखा है, जिससे संभव है कि हरिश्चंद्र के पास जागीर भी हो। उसकी ब्राह्मण वंश की स्त्री के पुत्र ब्राह्मण प्रतिहार कहलाये। जोधपुर राज्य में अब तक प्रतिहार ब्राह्मण हैं[4] जो उसी हरिश्चंद्र प्रतिहार के वंशज होने चाहियें। उसकी क्षत्रिय वर्णवाली स्त्री भद्रा के पुत्रों की गणना उस समय की प्रथा के अनुसार मद्य पीनेवालों अर्थात् क्षत्रियों में हुई[5]। मंडोर के प्रतिहारों की नामावली उनके उपर्युक्त शिलालेखों में नीचे लिखे अनुसार मिलती है —

---

(१) ज. रॉ. ए. सो; ई. स. १८६५, पृ० ५१६–१८।

(२) ए. इं; जि. ६, पृ० २७६–८०।

(३) देखो ऊपर पृ० १२ का टिप्पण २।

(४) देखो ई० स० १६११ की जोधपुर राज्य की मनुष्यगणना की हिंदी रिपोर्ट, हिस्सा तीसरा, जिल्द पहली, पृष्ठ १६०।

(५) प्राचीन काल में प्रत्येक वर्ण का पुरुष अपने तथा अपने से नीचे के वर्णों में विवाह कर सकता और ब्राह्मण पति का अन्य वर्ण की स्त्री से उत्पन्न हुआ पुत्र ब्राह्मण ही माना जाता था। ऋषि पराशर के पुत्र वेदव्यास की, जो धीवरी सत्यवती (योजनगंधा) से उत्पन्न हुए थे, गणना ब्राह्मणों में हुई। ऋषि जमदग्नि ने इक्ष्वाकुवंशी (सूर्यवंशी) क्षत्रिय रेणु की पुत्री रेणुका से विवाह किया जिससे परशुराम का जन्म हुआ और उनकी भी गणना ब्राह्मणों में हुई। मनु के समय कामवश ब्राह्मण चारों वर्णों में विवाह कर सकता था। क्षत्रिय जाति की स्त्री से उत्पन्न ब्राह्मणपुत्र ब्राह्मण के समान माना जाता, परन्तु वैश्यजाति की स्त्री से उत्पन्न होनेवाला अंबष्ठ, और शूद्रा से उत्पन्न होनेवाला निषाद कहलाता था।

स्त्रीष्वनन्तरजातासु द्विजैरुत्पादितान्सुतान्।

(१) हरिश्चंद्र (रोहिल्लाद्धि) प्रारंभ में किसी राजा का प्रतिहार था। उसकी राणी भद्रा से, जो क्षत्रिय वंश की थी, चार पुत्र भोगभट, कक्क, रज्जिल और दह हुए; उन्होंने अपने बाहुबल से मांडव्यपुर (मंडोर) का दुर्ग (क़िला) लेकर वहां ऊंचा प्राकार (कोट) बनवाया।

(२) रज्जिल (सं० १ का ज्येष्ठ पुत्र)।

(३) नरभट (सं० २ का पुत्र)—उसकी वीरता के कारण उसको 'पेल्ला-पेल्लि' कहते थे।

(४) नागभट (सं० ३ का पुत्र)—उसको नाहड़ भी कहते थे। उसने मेडंतकपुर (मेड़ता, जोधपुर राज्य में) में अपनी राजधानी स्थिर की। उसकी राणी जज्जिकादेवी से दो पुत्र तात और भोज हुए।

सदृशानेव तानाहुर्मातृदोषविगर्हितान् ॥ ६ ॥
अनन्तरासु जातानां विधिरेष सनातनः।
द्व्येकान्तरासु जातानां धर्म्यं विद्यादिमं विधिम् ॥ ७ ॥
ब्राह्मणाद्वैश्यकन्यायामम्बष्ठो नाम जायते।
निषादः शूद्रकन्यायां यः पारशव उच्यते ॥ ८ ॥

मनुस्मृति, अध्याय १०।

पीछे से याज्ञवल्क्य ने द्विजों के लिये शूद्रवर्ण की कन्या से विवाह करने का निषेध किया—

यदुच्यते द्विजातीनां शूद्राद्दारोपसंग्रहः।
नैतन्मम मतं यस्मात्तत्रायं जायते स्वयम् ॥ ५६ ॥

याज्ञवल्क्यस्मृति, आचाराध्याय।

फिर तो क्षत्रिय वर्ण की स्त्री से उत्पन्न होनेवाले ब्राह्मण के पुत्र की गणना क्षत्रिय वर्ण में होने लगी जैसा कि शंख और औशनस आदि स्मृतियों से पाया जाता है।

यत्तु ब्राह्मणेन क्षत्रियायामुत्पादितः क्षत्रिय एव भवति क्षत्रियेण वैश्यायामुत्पादितो वैश्य एव भवति वैश्येन शूद्रायामुत्पादितः शूद्र एव भवतीति शंखस्मरणम्।

'याज्ञवल्क्यस्मृति'; आचाराध्याय, श्लोक ६१ पर मिताक्षरा टीका।

नृपायां विधिना विप्राज्जातो नृप इति स्मृतः।

पूना की आनंदाश्रम ग्रंथावली में प्रकाशित 'स्मृतीनां समुच्चय' में औशनस स्मृति, पृ० ४७, श्लोक २८।

(५) तात (सं० ४ का पुत्र)—उसने जीवन को बिजली के समान चंचल जानकर अपना राज्य अपने छोटे भाई को दे दिया और आप मांडव्य के पवित्र आश्रम में जाकर धर्माचरण में प्रवृत्त हुआ।

(६) भोज (सं० ५ का छोटा भाई)

(७) यशोवर्द्धन (सं० ६ का पुत्र)

(८) चंदुक (सं० ७ का पुत्र)

(९) शीलुक (सं० ८ का पुत्र)—उसने त्रवणी और वल्ल[1] देशों में अपनी सीमा स्थिर की अर्थात् उनको अपने राज्य में मिलाया, और वल्लमंडल (वल्ल-देश) के स्वामी भट्टिक (भाटी) देवराज को पृथ्वी पर पछाड़कर उसका छत्र छीन लिया[2]।

(१०) झोट (सं० ९ का पुत्र) उसने राज्य-सुख भोगने के पीछे गंगा में मुक्ति पाई।

(११) भिल्लादित्य (सं० १० का पुत्र) उसने युवावस्था में राज्य किया, फिर अपने पुत्र को राज्यभार सौंपकर वह गंगाद्वार (हरिद्वार) को चला गया जहां १८ वर्ष रहा और अंत में उसने अनशन व्रत से शरीर छोड़ा।

(१२) कक्क (सं० ११ का पुत्र)—उसने मुद्गगिरि (मुंगेर, बिहार में) में गौड़ों के साथ की लड़ाई में यश पाया। वह व्याकरण, ज्योतिष, तर्क (न्याय) और सर्व भाषाओं के कवित्व में निपुण था। उसकी भट्टि (भाटी) वंश की महाराणी पद्मिनी से बाउक, और दूसरी राणी दुर्लभदेवी से कक्कुक का जन्म हुआ। उसका उत्तराधिकारी बाउक हुआ। कक्क रघुवंशी प्रतिहार राजा वत्सराज का सामंत होना चाहिये, क्योंकि गौड़ों के साथ की लड़ाई में उसके यश पाने के उल्लेख से यही पाया जाता है कि जब वत्सराज ने गौड़ देश के राजा को परास्त कर उसकी राज्यलक्ष्मी और दो श्वेत छत्र छीने, उस समय कक्क उसका सामंत

(१) इन देशों के लिये देखो ऊपर पृ० २, टिप्पण १।

(२) *ततः श्रीशिलुको जातः पुत्रो दुर्व्वारविक्रमः।*
येन सीमा कृता नित्यास्त्व(त्र)वर्णीवल्लदेशयोः॥
भट्टिकं देवराजं यो वल्लमण्डलपालकं।
निपात्य तत्क्षणं भूमौ प्राप्तवान् छ(च्छ)त्रचिह्नकं॥

(ज. रॉ. ए. सो; ई० स० १८९४, पृ० ६)

होने से उसके साथ लड़ने को गया होगा।

(१३) बाउक (सं० १२ का पुत्र)—जब शत्रुओं का अतुल सैन्य नंदावल्ल को मारकर भूअकूप में आ गया और अपने पक्षवाले द्विजनृपकुल के प्रतिहार भाग निकले, तथा अपना मंत्री एवं अपना छोटा भाई भी छोड़ भागा, उस समय उस राण (राणा, बाउक) ने घोड़े से उतरकर अपनी तलवार उठाई। फिर जब नवों मंडलों के सभी समुदाय भाग निकले और अपने शत्रु राजा मयूर को एवं उसके मनुष्य (सैनिक) रूपी मृगों को मार गिराया तब उसने अपनी तलवार म्यान में की[1]। वि० सं० ८९४ की ऊपर लिखी हुई जोधपुर की प्रशस्ति उसीने खुदवाई थी।

(१४) कक्कुक (सं० १३ का भाई)—घटियाले से मिले हुए वि० सं० ९१८ के दोनों शिलालेख उसीके हैं, जिनसे पाया जाता है कि उसने अपने सच्चरित्र से मरु, माड, वल्ल, तमणी (त्रवणी), अज्ज (आर्य) एवं गुर्ज्जरत्रा के लोगों का अनुराग प्राप्त किया; वडणाणय मंडल में पहाड़ पर की पल्लियों (पालों, भीलों के गांवों) को जलाया; रोहिन्सकूप (घटियाले) के निकट गांव में हट्ट (हाट, बाज़ार) बनवाकर महाजनों को बसाया, और मड्डोअर (मंडोर) तथा रोहिन्सकूप गांवों में जयस्तंभ स्थापित किये[2]। कक्कुक न्यायी, प्रजापालक एवं विद्वान् था,

(१) *नन्दावल्लं प्रहत्वा रिपुबलमतुलं भूअकूपप्रयातं*
दृष्ट्वा भग्नां(न्) स्वपक्षां(न्) द्विजनृपकुलजां(न्) सत्प्रतीहारभूपां(न्)।
धिग्भूतेकेन तस्मिन्प्रकटितयशसा श्रीमता बाउकेन
स्फूर्जन्हत्वा मयूरं तदनु नरमृगा घातिता हेतिनेव ॥
कस्यान्यस्य प्रभग्नः ससचिवमनुजं त्यज्य राण(णः) सुतंत्रः
केनैकेनातिभीते दशदिशितु बले(बले ?) स्तम्भ्य चात्मानमेकं।
धैर्यान्मुक्त्वाश्वपृष्ठं क्षितिगतचरणेनासिहस्तेन शत्रूं
छित्वा(त्वा) भित्वा(त्वा) श्मशानं कृतमतिभयदं बाउकान्येन तस्मिन् ॥
नवमंडलनवनिचये भग्ने हत्वा मयूरमतिगहने।
तदनु [ह]तासितरंगा श्रीमद्बाउकनृसिंघे(हे)न ॥
ज. रॉ. ए. सो; ई० स० १८९४, पृ० ७-८।

(२) ज. रॉ. ए. सो; ई० स० १८९५, पृ० ५१७-१८।

और संस्कृत में काव्यरचना भी करता था। घटियाले के वि० सं० ६१८ के संस्कृत शिलालेख के अंत में एक श्लोक उसका बनाया हुआ खुदा है और साथ में यह भी लिखा है कि यह श्लोक स्वयं कक्कुक का बनाया हुआ है[1]।

मंडोर के प्रतिहारों की कक्कुक तक की शृंखलाबद्ध वंशावली उपर्युक्त तीन शिलालेखों से मिलती है। संवत् केवल बाउक और कक्कुक के ही मालूम हुए हैं जो ऊपर दिये गये हैं। इस वंश का मूल पुरुष हरिश्चंद्र कब हुआ यह निश्चित रूप से ज्ञात नहीं, किंतु बाउक के निश्चित संवत् ८६४ से प्रत्येक का राज्य-समय औसत हिसाब से २० वर्ष मानकर पीछे हटते जावें तो हरिश्चंद्र का वि० सं० ६५४ (ई० स० ५६७) के आसपास विद्यमान होना स्थिर होता है। विक्रम सं० ६१८ के पीछे भी मंडोर के राज्य पर प्रतिहारों का अधिकार रहा, परन्तु उस समय की शृंखलाबद्ध नामावलीवाला कोई शिलालेख अब तक प्राप्त नहीं हुआ। एक लेख जोधपुर राज्य के चेराई गांव से प्रतिहार दुर्लभराज के पुत्र जसकरण का (? यह नाम छाप में कुछ संदिग्ध है) वि० सं० ६६३ (ई० स० ६३६) ज्येष्ठ सुदि १० का मिला है। दुर्लभराज और जसकरण शायद बाउक और कक्कुक के वंशधर हों। वि० सं० १२०० के आसपास नाडौल के चौहान रायपाल ने, जिसके शिलालेख वि० सं० ११८६ से १२०२ तक के मिले हैं, मंडोर पडिहारों से छीन लिया; उसके पुत्र सहजपाल का एक शिलालेख (११ टुकड़ों में) मंडोर से मिला है जिससे पाया जाता है कि वि० सं० १२०२ के आसपास सहजपाल वहां का राजा था[2]।

वंशभास्कर में प्रतिहार से लगाकर कृपाल तक की प्रतिहारों की नामावली में १६५ नाम दिये हैं, परंतु बहुधा पुराने सब नाम कल्पित हैं और भाटों की ख्यातों से लिये हैं। उनमें से १४५वें राजा अनुपमपाल का समय संवत् ३५० दिया है, और १७१ वें अर्थात् अनुपमपाल से २६वें राजा नाहरराज की पुत्री पिंगला

---

(१) यौवनं विविधैर्भोगैर्म्मध्यमं च वयः श्रिया ।
वृद्धभावश्च धर्म्मेण यस्य याति स पुण्यवान् ॥
अयं श्लोकः श्रीकक्कुकेन स्वयं कृतः ॥
(ए. इं; जि० ६, पृ० २८०)।

(२) आर्कियालॉजिकल सर्वे ऑफ इंडिया; एन्युअल रिपोर्ट, ई० स० १६०६-१०; पृ० १०२-३।

का विवाह चित्तोड़ के राजा तेजसिंह से होना, तथा उस समय कन्नौज पर राठोड़ (गहरवार) जयचंद का, चित्तोड़ पर सीसोदिये (गुहिल) समरसिंह रावल का, दिल्ली पर अनंगपाल तंवर का, अजमेर पर सोमेश्वर चौहान का, गुजरात पर भोलाराय भीम (भोला भीम) सोलंकी का तथा दूसरे स्थानों पर अन्य अन्य राजाओं का राज्य करना लिखा है। यह सब पृथ्वीराज रासे से ही लिया है और सारा मनगढ़ंत है। न तो रावल समरसिंह, जिसका वि० सं० १३३० से १३५८ तक विद्यमान होना शिलालेखादि से निश्चित है[1], नाहरराव का समकालीन था, और न जयचंद, अनंगपाल, सोमेश्वर, भोला भीम आदि उसके (नाहरराव के) समकालीन थे। प्रायः उस सारी वंशावली के कृत्रिम होने से हमने उसको इतिहास के लिये निरुपयोगी समझकर पुराना वृत्तांत उससे कुछ भी उद्धृत नहीं किया है। मंडोर के प्रतिहारों के जो नाम उनके शिलालेखों में मिलते हैं वे भाटों की ख्यातों में मिलते ही नहीं।

रघुवंशी प्रतिहारों (पड़िहारों) ने चावड़ों से प्राचीन गुर्जर देश छीन लिया। उनकी राजधानी भी भीनमाल होनी चाहिये। उनकी उत्पत्ति के विषय में ग्वालियर से मिली हुई प्रतिहार राजा भोज (प्रथम) के समय की प्रशस्ति में लिखा है कि 'सूर्य वंश में मनु, इक्ष्वाकु, ककुत्स्थ आदि राजा हुए, उनके वंश में पौलस्त्य (रावण) को मारनेवाले राम हुए, जिनका प्रतिहार (ड्योढ़ीदार) उनका छोटा भाई सौमित्रि (लक्ष्मण) था, जो इन्द्र का मानमर्दन करनेवाले मेघनाद आदि को हरानेवाला था। उसके वंश में नागभट हुआ[2]। आगे चलकर उसी प्रशस्ति में वत्सराज को इक्ष्वाकु वंश को उन्नत करनेवाला कहा है। उस प्रशस्ति में संवत् नहीं है, परंतु भोज (प्रथम) के शिलालेखादि वि० सं० ९०० से ९३८ (ई० स० ८४३ से ८८१) तक के, और उसके पुत्र और उत्तराधिकारी महेन्द्रपाल (प्रथम) का सब से पहला लेख वि० सं० ९५० (ई० स० ८९३) का है, अतएव भोज की ग्वालियर की प्रशस्ति वि० सं० ९०० और ९५० के बीच के किसी संवत् की होनी चाहिये।

रघुवंशी प्रतिहार

काव्यमीमांसा आदि अनेक ग्रंथों के कर्त्ता प्रसिद्ध कवि राजशेखर ने, जो कन्नौज के प्रतिहार राजा भोज (प्रथम) के पुत्र महेंद्रपाल (प्रथम) का गुरु

(१) ना. प्र. प; भाग १, पृ० ३२; और पृ० ४१३ का टिप्पण ४७।

(२) देखो ऊपर पृ० ६५ का टिप्पण २।

(उपाध्याय) था और महेंद्रपाल तथा उसके पुत्र महीपाल के समय में भी कन्नौज में रहा था, अपनी 'विद्धशालभंजिका' नाटिका में अपने शिष्य महेन्द्रपाल (निर्भयनरेंद्र) को रघुकुलतिलक और 'बालभारत' में रघुग्रामणी (रघुवंशियों में अग्रणी) कहा है। उसी कवि ने 'बालभारत' नाटक में महेन्द्रपाल के पुत्र महीपाल को 'रघुवंशमुक्तामणि' (रघुवंशरूपी मोतियों में मणि के समान) एवं आर्यावर्त का महाराजाधिराज लिखा है[1]। राजशेखर के ये सब कथन ग्वालियर की प्रशस्ति के कथन की पुष्टि करते हैं।

शेखावाटी (जयपुर राज्य में) के प्रसिद्ध हर्षनाथ के मंदिर की प्रशस्ति में, जो वि० सं० १०३० (ई० स० ९७३) आषाढ सुदि १५ की सांभर के चौहान राजा विग्रहराज के समय की है, उक्त विग्रहराज के पिता सिंहराज के वर्णन में लिखा है कि 'उस विजयी राजा ने, सेनापति होने के कारण उद्धत बने हुए तोमर (तंवर) नायक सलवण को मारा (या हराया, मूल लेख में 'हत्वा' या 'जित्वा' शब्द होगा जो जाता रहा है, केवल 'आ' की मात्रा बची है) और चारों ओर युद्ध में राजाओं को मारकर बहुतेरों को उस समय तक कैद में रक्खा जब तक कि उनको छुड़ाने के लिये पृथ्वी पर का चक्रवर्ती रघुवंशी (राजा) स्वयं उसके यहां न आया[2]।

इससे स्पष्ट है कि सांभर का चौहान राजा सिंहराज किसी चक्रवर्ती अर्थात् बड़े राजा का सामंत था। उस समय उत्तरी भारत में प्रबल राज्य प्रतिहारों का ही था जिसके अधीन राजपूताने का बड़ा अंश ही नहीं, किंतु गुजरात, काठियावाड़, मध्यभारत (मालवा) एवं सतलज से लगाकर बिहार तक के प्रदेश थे। सांभर के चौहान भी पहले कन्नौज के प्रतिहारों के अधीन थे, क्योंकि उसी हर्षनाथ की प्रशस्ति में सिंहराज के पूर्वज गूवक (प्रथम) के संबंध में लिखा है कि उसने बड़े राजा नागावलोक (कन्नौज का राज्य छीननेवाला प्रतिहार

---

(१) देखो ऊपर पृ० ६५, टिप्पण ३।

(२) ········ा तोमरनायकं सलवणं सैन्याधिपत्योद्धतं
युद्धे येन नरेश्वराः प्रतिदिशं निर्ना(र्णा)शिता जिष्णुना।
कारावेश्मनि भूरयश्च विधृतास्तावद्धि यावद्गृहे
तन्मुक्त्यर्थमुपागतो रघुकुले भूचक्रवर्ती स्वयम्॥

ए. इं; जि० २, पृ० १२१-२२।

राजा नागभट-दूसरा) की सभा में 'वीर' कहलाने की प्रतिष्ठा पाई थी[1]। ऐसी दशा में सिंहराज की क़ैद से उन राजाओं को छुड़ानेवाला रघुवंशी राजा कन्नौज का प्रतिहार राजा ही हो सकता है। सिंहराज का समकालीन कन्नौज का प्रतिहार राजा देवपाल था उसका छोटा भाई विजयपाल होना चाहिये। उक्त प्रशस्ति से स्पष्ट है कि वि० सं० १०३० में सांभर के चौहान भी कन्नौज के प्रतिहारों को रघुवंशी मानते थे।

आधुनिक विद्वान् कन्नौज के रघुवंशी प्रतिहार राजाओं को गुर्जर या गूजर मानते हैं, जिसका संक्षिप्त वृत्तान्त हम पाठकों के संमुख इस अभिप्राय से रखना चाहते हैं कि उसके द्वारा वे स्वयं निर्णय कर सकें कि प्रतिहारों को गूजर ठहराना केवल उनकी कल्पना और भ्रममूलक अनुमान ही है या वास्तव में वह अनुमान ठीक है।

पहले पहल डा० भगवानलाल इन्द्रजी जब गुजरात देश का प्राचीन इतिहास लिखने लगे तो गुजरात नाम वहां गुर्जर जाति के बसने या राज करने से पड़ा, ऐसा निश्चय कर उन्होंने लिखा कि "गूजर भारतवर्ष के पश्चिमोत्तर मार्गद्वारा बाहरी प्रदेश से आई हुई एक विदेशी जाति है, जो प्रथम पंजाब में आबाद होकर शनैः शनैः दक्षिण में गुजरात, खानदेश, राजपूताना, मालवा आदि देशों में बढ़ती गई। गूजरों का मुख्य धंधा पशुपालन, कृषि और सिपाहीगिरी था; यद्यपि यह मानने के लिये कोई प्रमाण नहीं मिलता, परंतु संभव है कि गूजर कुशनवंशी राजा कनिष्क के राज्य में (ई० स० ७८-१०६) इधर आये हों। फिर दो सौ वर्ष पीछे जब गुप्तवंशियों का प्रताप बढ़ा तब पूर्वी राजपूताना, गुजरात और मालवे में गुप्त राजाओं की तरफ़ से उनको जागीरें मिली हों। सातवीं शताब्दी (ईसवी) में चीनी यात्री हुएन्त्संग उत्तरी गुर्जर राज्य की राजधानी भीनमाल होना लिखता है। दक्षिणी गुर्जरों के प्राचीन शिलालेखों में उनका परिचय गुर्जर वंश करके दिया है, परंतु फिर उन्होंने इसको बदलकर अपनी वंश-परम्परा पौराणिक राजा कर्ण से जा मिलाई। चौथी शताब्दी से आठवीं शताब्दी तक मध्य गुजरात में शक्तिशाली राज्य वलभी का था, परंतु वहां के दानपत्रों

(१) आद्यः *श्रीगूवकाख्याप्रथितनरपतिश्चाहमानान्वयोभूत्*
श्रीमन्नागावलोकप्रवरनृपसभालब्ध(ब्धा)वीरप्रतिष्ठः।
ए. इं; जि० २, पृ० १२१।

आदि से यह नहीं पाया जाता कि वलभी के राजा किस वंश के थे। हुएन्त्संग उनका क्षत्रिय होना लिखता तथा उनका विवाह-संबंध मालवे और कन्नौज के राजाओं के साथ बतलाता है तथापि संभव है कि वे गुर्जर वंश के हों। हुएन्त्संग उस समय आया था जब कि वलभीवालों का प्रताप बहुत बढ़ चुका था; आश्चर्य नहीं कि काल बीतने पर वे अपने मूल वंश को भूलकर पीछे से क्षत्रिय बन गए हों और विवाह-संबंध तो राजपूत सदा अपने से बड़े चढ़े कुल में करने से नहीं चूकते हैं। गुजरात में गूजरों की कई जातियां हैं जैसे गूजर बनिये, गूजर सुतार (सूत्रधार), गूजर सोनी, गूजर कुम्भार, गूजर सिलावट आदि। गूजर जाति के लोगों के पृथक् पृथक् धन्धे स्वीकार कर लेने ही से उनमें ये जातिभेद हुए। गूजरों की बड़ी संख्या में कुनबी लोग हैं[1]"।

मिस्टर ए० एम० टी० जैक्सन ने बॉम्बे गैज़ेटियर में भीनमाल पर जो निबन्ध लिखा उसमें गुर्जर जाति के ऐतिहासिक वृत्त देते हुए लिखा है कि "वे लोग पांचवीं शताब्दी (ईसवी) में भारतवर्ष में आये, क्योंकि पहले पहल सातवीं शताब्दी में लिखे हुए श्रीहर्षचरित में उनका उल्लेख मिलता है। भीनमाल में उनके बसने का समय अनिश्चित है, परंतु हुएन्त्संग ने वहां के राजा को क्षत्रिय लिखा है। उन्होंने वलभी के राजा को उनकी सत्ता स्वीकारने के लिये बाध्य किया। कवि पंप ने ई० स० ९४१ (वि० सं० ९९८) में 'पंपभारत' नामक काव्य लिखा जिसमें वह लिखता है कि 'अरिकेसरी सोलंकी के पिता ने गुर्जरराज[2] महीपाल को पराजित किया'। यह महीपाल धरणीवराह (चावड़े) के ई० स० ९१४ के दानपत्र का महीपाल हो सकता है, क्योंकि चावड़ों में तो कोई महीपाल हुआ ही नहीं। अतः वह गुर्जर देश (भीनमाल) का राजा होना चाहिये[3]"।

श्रीयुत देवदत्त भंडारकर ने गुर्जर (जाति) पर एक निबन्ध छपवाया जिसमें वे मिस्टर जैक्सन के लेख की पुष्टि करते हुए लिखते हैं कि "राजोर (अलवर राज्य में) के प्रतिहार मथनदेव का ई० स० ९६० का लेख स्पष्ट कह देता

(१) बंब. गै; जि० १, भाग १, पृ० २-४।

(२) 'सोलंकियों का प्राचीन इतिहास'; प्रथम भाग, पृ० २०७ और उसी पृष्ठ का टिप्पण †।

(३) बंब. गै; जि० १, भाग १, पृ० ४६५-६६।

है कि वह (मथनदेव) प्रतिहार वंश का गूजर था, अतएव कन्नौज के प्रतिहार राजा भी गूजर वंश के थे [1]" ।

कुशनवंशी राजा कनिष्क के समय में गुर्जरों का भारतवर्ष में आना प्रमाण-शून्य बात है जिसको स्वयं डाक्टर भगवानलाल इन्द्रजी स्वीकार करते हैं; और गुप्तवंशियों के समय में गूजरों को राजपूताना, गुजरात और मालवे में जागिर मिलने के विषय में भी वे कोई प्रमाण न दे सके। न तो गुप्त राजाओं के लेखों में और न भड़ौच के गूजरों के दानपत्रों में इसका कहीं उल्लेख है। यह केवल उक्त पंडितजी का अनुमानमात्र है। चीनी यात्री हुएन्त्संग ने गुर्जर जाति का नहीं किंतु गुर्जर देश का वर्णन कर अपने समय के भीनमाल के राजा को क्षत्रिय जाति का बतलाया है और उस देश की परिधि तक भी दी है। ऐसे ही वलभी के राजाओं को हुएन्त्संग ने क्षत्रिय बतलाया और आजकल के विद्वान् उनको मैत्रक (सूर्य-वंशी) मानते हैं। उनको केवल अपनी कल्पना के आधार पर गुर्जरवंशी कहने और पीछे से वे क्षत्रिय बन गये हों ऐसा निर्मूल अनुमान करने एवं उनके विवाह-संबंध के विषय में ऐसे खयाली घोड़े दौड़ाने को इतिहास कब स्वीकार कर सकता है।

इसी प्रकार मिस्टर जैक्सन ने हर्षचरित के वर्णन से भीनमाल के राजा को गुर्जरवंशी कहा, यह भी उनका भ्रममात्र ही है, क्योंकि हर्षचरित के रच-यिता का अभिप्राय वहां गुर्जरदेश (या वहां के राजा) से है न कि गुर्जर जाति के राजा से। बड़ोदे के जिस दानपत्र की साक्षी मिस्टर जैक्सन ने दी है उसमें राजा का नाम तो नहीं दिया, किंतु स्पष्ट शब्दों में उसको "गुर्जरेश्वर[2]" कहा

---

(१) बंब. ए. सो. ज; ई. स. १९०४ (एक्स्ट्रा नंबर), पृ० ४१३-३३ ।

(२) *गौडेन्द्रवंगपतिनिर्ज्जयदुर्व्विदग्धसद्गूर्ज्जरेश्वरदिगर्ग्गलतां च यस्य ।*

नीत्वा भुजं विहतमालवरक्षणार्थं स्वामी तथान्यमपि राज्यंछ(फ)लानि भुंक्ते ॥

बड़ोदे का दानपत्र; इं. ऐं; जि. १२, पृ० १६०; और ना. प्र. प; भाग २, पृ० ३४५ का टिप्पण १ ।

उक्त ताम्रपत्र के 'गुर्जरेश्वर' पद का अर्थ 'गुर्जर (गुजरात) देश का राजा' स्पष्ट है, जिसको खींच तान कर गुर्जर जाति वा वंश का राजा मानना सर्वथा असंगत है। संस्कृत साहित्य में ऐसे हज़ारों उदाहरण मिलते हैं जिनमें से कुछ नीचे दिये जाते हैं—

लाटेश्वरस्य सेनान्यमसामान्यपराक्रमः ।

है। फिर न मालूम उक्त महाशय ने इसपर से गुर्जर जाति का अनुमान कैसे कर लिया। दक्षिण के राष्ट्रकूट राजा गोविन्दराज तीसरे के शक संवत् ७३० (वि० सं० ८६५=ई० स० ८०८) के वणी और राधनपुर से मिले हुए दानपत्रों में उसी (गुर्जरेश्वर) का नाम वत्सराज दिया है जिसका रघुवंशी होना हम सप्रमाण आगे बतलाते हैं। 'पम्पभारत' काव्य में भी राजा महीपाल को गुर्जर जाति का नहीं किंतु गुर्जर देश का स्वामी कहा है।

श्रीयुत देवदत्त भंडारकर ने भी मिस्टर जैक्सन के कथन की पुष्टि करते हुए कन्नौज के प्रतिहार राजाओं को गुर्जरवंशी सिद्ध करने का प्रयत्न किया है, परंतु कन्नौज के प्रतिहारवंशी राजा भोजदेव की ग्वालियर की प्रशस्ति में, जो राजोरगढ़ के गुर्जर प्रतिहार राजा मथनदेव के लेख से अनुमान १०० वर्ष से भी अधिक पूर्व की है, कन्नौज के प्रतिहारों को रघुवंशी बतलाया है। ऐसे ही हर्षनाथ के चौहानों के लेख में भी उनको रघुवंशी लिखा है जिसको भंडारकर महाशय ने भी पीछे से स्वीकार किया है[1]। विक्रम संवत् ६५० के लगभग होनेवाले कवि

दुर्वारं वारपं हत्वा हास्तिकं यः समग्रहीत् ॥ ३ ॥
महेच्छकच्छभूपालं लक्षं लक्षीचकार यः ॥ ४ ॥
जगाम मालवेशस्य करवालः करादपि ॥ १० ॥
बद्धः सिन्धुपतिर्येन वैदेहीदयितेन वा ॥ २६ ॥
चक्रे शाकंभरीशोपि शङ्कितः प्रणतं शिरः ॥ २६ ॥
मालवस्वामिनः प्रौढलक्ष्मीपरिवृढः स्वयं ॥ ३० ॥

कीर्तिकौमुदी; सर्ग २।

ये सब उदाहरण केवल एक ही पुस्तक के एक ही सर्ग के अंशमात्र से उद्धृत किये गये हैं। देशवाची शब्द का प्रयोग उक्त देश के राजा के लिये भी होता है—

अपारपौरुषोद्गारं खङ्गारं गुरुमत्सरः।
सौराष्ट्रं पिष्टवानाजौ करिणां केसरीव यः ॥ २५ ॥

'कीर्तिकौमुदी'; सर्ग १।

इस श्लोक में 'सौराष्ट्रं' पद सौराष्ट्र देश के राजा (खंगार) का सूचक है, न कि देश का। ऐसे ही इसी टिप्पण के प्रारंभ के श्लोक के तीसरे चरण का 'मालव' शब्द मालवे के राजा का सूचक है, न कि मालव जाति या मालव देश का।

(१) इं. ऐं; जि. ४२, पृ० ५८–५९।

राजशेखर ने कन्नौज के प्रतिहारों को रघुवंशी बतलाया है[1]। प्रतिहार शब्द मूल में जातिसूचक नहीं किंतु पंचोली, महता आदि के समान पदसूचक था जैसा कि पहले बतलाया जा चुका है। ब्राह्मण, क्षत्रिय और गूजर इन तीनों जातियों के प्रतिहार होने के उल्लेख मिलते हैं। यदि केवल मथनदेव के लेख में गुर्जर प्रतिहार शब्द आने से प्रतिहारमात्र गुर्जर जाति के मान लिये जावें, तो उक्त लेख से अनुमान १२५ वर्ष पहले के लेखों में कहे हुए ब्राह्मण प्रतिहार शब्द से सब प्रतिहार ब्राह्मण जाति के और रघुवंशी प्रतिहार शब्द से सभी प्रतिहारों को क्षत्रिय ही मानना चाहिये। अतएव यह कहना सर्वथा ठीक नहीं है कि प्रतिहार-मात्र गुर्जरवंशी हैं।

रघुवंशी प्रतिहारों ने प्रथम चावड़ों से भीनमाल का राज्य छीना, फिर कन्नौज के महाराज्य को अपने हस्तगत कर वहीं अपनी राजधानी स्थिर की जिससे उनको कन्नौज के प्रतिहार भी कहते हैं। अब तक के शोध के अनुसार उनकी नामावली तथा संक्षिप्त वृत्तांत नीचे लिखा जाता है—

(१) नागभट से ही उनकी नामावली मिलती है। उसको नागावलोक भी कहते थे। हांसोट (भड़ौच ज़िले के अंक्लेश्वर तालुके में) से एक दानपत्र चौहान राजा भर्तृवड्ड (भर्तृवृद्ध) दूसरे का मिला है जो वि० सं० ८१३ (ई० स० ७५६) का है[2]। उक्त ताम्रपत्र से पाया जाता है कि भर्तृवृद्ध (दूसरा) राजा नागावलोक का सामंत था। उक्त दानपत्र का नागावलोक यही प्रतिहार नाग-भट (नागावलोक) होना चाहिये। यदि यह अनुमान ठीक हो तो उसका राज्य उत्तर में मारवाड़ से लगाकर दक्षिण में भड़ौच तक मानना पड़ता है। उसके राज्य पर म्लेच्छ (मुसलमान) बलचों (बिलोचों) ने[3] आक्रमण किया, परंतु उसमें वे परास्त हुए। मुसलमानों की मारवाड़ पर की यह चढ़ाई सिंध की ओर से हुई होगी।

---

(१) देखो ऊपर पृ० ६५, टिप्पण ३।   (२) ए. इं; जि. १२, पृ. २०२-३।

(३) *तद्वन्शे(वंशे) प्रतिहारकेतनभृति त्रैलोक्यरक्षास्पदे*
देवो नागभटः पुरातनमुनेर्मूर्तिर्ब्बभूवाद्भुतम् ।
येनासौ सुकृतप्रमाथिवलचम्लेच्छाधिपाक्षौहिणीः
क्षुन्दानस्फुरदुग्रहेतिरुचिरैर्दोर्भिश्चतुर्भिर्ब्बभौ ॥ ४ ॥

प्रतिहार राजा भोजदेव की ग्वालियर की प्रशस्ति; 'आर्कियालॉजिकल सर्वे ऑफ़ इंडिया'; ई० स० १९०३-४ की रिपोर्ट, पृ० २८०

(२) ककुस्थ (संख्या १ का भतीजा)—उसको कक्कुक भी कहते थे।

(३) देवराज (सं० २ का छोटा भाई)—उसको देवशक्ति भी कहते थे और वह परम वैष्णव था। उसकी राणी भूयिकादेवी से वत्सराज का जन्म हुआ।

(४) वत्सराज (सं० ३ का पुत्र)—उसने गौड़ और बंगाल के राजाओं को विजय किया। गौड़ के राजा के साथ की लड़ाई में उसका सामंत मंडोर का प्रतिहार कक्क[1] भी उसके साथ था। जिस समय उसने मालवे के राजा पर चढ़ाई की उस समय दक्षिण का राष्ट्रकूट (राठोड़) राजा ध्रुवराज अपने सामंत लाट देश के राठोड़ राजा कर्कराज सहित, जो इन प्रतिहारों का पड़ोसी था, मालवे के राजा को बचाने के लिये गया जिससे वत्सराज को हारकर मरु (मारवाड़) देश में लौटना पड़ा और गौड़ देश के राजा के जो दो श्वेत छत्र उस(वत्सराज)ने छीने थे वे राठोड़ों ने उससे ले लिये[2]। उस क्षत्रियपुंगव ने बलपूर्वक भंडि[3] के वंश का राज्य छीनकर इक्ष्वाकु वंश को उन्नत किया। शक सं० ७०५ (वि० सं० ८४०=ई० स० ७८३) में दिगंबर जैन आचार्य जिनसेन ने 'हरिवंश पुराण' लिखा जिसमें उक्त संवत् में उत्तर (कन्नौज) में इंद्रायुध और पश्चिम (मारवाड़) में वत्सराज का राज्य करना लिखा है[4]।

---

(१) देखो ऊपर पृ० १५० में कक्क का वृत्तांत।

(२) ना. प्र. प; भाग २, पृ० ३४५–४६; और पृ० ३४५ का टिप्पण १।

(३) *ख्याताद्भण्डिकुलान्मदोत्कटकरिप्राकारदुर्लंघतो*

यः साम्राज्यमधिज्यकार्म्मुकसखा संख्ये हठादग्रहीत्।

एकः क्षत्रियपुङ्गवेषु च यशोगुर्व्वीन्धुरं प्रोद्वह-

न्निक्ष्वाकोः कुलमुन्नतं सुचरितैश्चक्रे स्वनामाङ्कितम् ॥ ७ ॥

राजा भोजदेव की ग्वालियर की प्रशस्ति। आर्कियालॉजिकल सर्वे ऑफ़ इंडिया; सन् १९०३–४ की रिपोर्ट, पृ० २८०।

भंडि का वंश कहां राज्य करता था इसका ठीक ठीक निर्णय नहीं हो सका। एक भंडि तो प्रसिद्ध बैसवंशी राजा हर्ष (हर्षवर्द्धन) के मामा का पुत्र और उक्त राजा(हर्ष) का मंत्री भी था। यहां उससे अभिप्राय हो ऐसा पाया नहीं जाता। शायद भंडि के वंश से यहां अभिप्राय भीनमाल के चावड़ों के वंश से हो। यदि यह अनुमान ठीक हो तो यह मानना अनुचित न होगा कि भंडि भीनमाल के चावड़ों का मूल पुरुष था।

(४) *शाकेष्वब्दशतेषु सप्तसु दिशं पञ्चोत्तरेषूत्तरां*

वह परम माहेश्वर (शैव) था, उसकी राणी सुंदरीदेवी से नागभट का जन्म हुआ।

(५) नागभट दूसरा (सं० ४ का पुत्र)—उसको नागावलोक भी कहते थे। उसने चक्रायुध[1] को परास्त कर कन्नौज का साम्राज्य उससे छीनी। उसीके समय से गुर्जर देश के इन प्रतिहारों की राजधानी कन्नौज स्थिर होनी चाहिये। आंध्र, सैंधव, विदर्भ (वरार), कलिंग और वंग के राजाओं को जीता, तथा आनर्त, मालव, किरात, तुरुष्क, वत्स और मत्स्य आदि देशों के पहाड़ी क़िले उसने ले लिये, ऐसा उपर्युक्त ग्वालियर की प्रशस्ति में लिखा मिलता है[2]। राजपूताने में जिस नाहड़राव पड़िहार का नाम बहुत प्रसिद्ध है और जिसके विषय में पुष्कर के घाट बनवाने की ख्याति चली आती है वह यही नागभट (नाहड़) होना चाहिये, न कि उक्त नाम का मंडोर का प्रतिहार। उसके समय का एक शिलालेख वि० सं० ८७२ (ई० स ८१५) का बुचकला (जोधपुर राज्य के बीलाड़ा परगने में) से मिला है[3]। नागभट भगवती (देवी) का परम भक्त था। उसकी राणी ईसटादेवी से रामभद्र उत्पन्न हुआ। नागभट का स्वर्गवास वि० सं० ८९० भाद्रपद सुदि ५ को होना जैन चंद्रप्रभसूरि ने अपने 'प्रभावक चरित' में लिखा है[4]। कई जैन लेखकों ने

पातीन्द्रायुधिनाम्नि कृष्णनृपजे श्रीवल्लभे दक्षिणाम् ।
पूर्वां श्रीमदवन्तिभूभृति नृपे वत्सादि(धि)राजेऽपरां

बंब० गे; जि० १, भाग २, पृ० १९७, टि० २।

(१) चक्रायुध कन्नौज के उपर्युक्त राजा इंद्रायुध का उत्तराधिकारी था। ये दोनों किस वंश के थे यह ज्ञात नहीं हुआ, परंतु संभव है कि ये राठोड़ हों।

(२) आर्कियालॉजिकल सर्वे ऑफ़ इंडिया; ई० स० १९०३-४ की रिपोर्ट; पृ० २८१; श्लोक ८-११।

(३) ए. इं; जि० ९, पृ० १९९-२००।

(४) *विक्रमतो वर्षाणां शताष्टके सनवतौ च भाद्रपदे ।*
शुक्ले सितपंचम्यां चन्द्रे चित्राख्यऋक्षस्थे ॥ ७२० ॥
माभूत्संवत्सरोऽसौ वसुशतनवतेर्मा च ऋक्षेषु चित्रा
धिग्मासं तं नभस्यं क्षयमपि स खलः शुक्लपक्षोऽपि यातु ।
संक्रांतिर्या च सिंहे विशतु हुतभुजं पंचमी यातु शुक्रे
गंगातोयाग्निमध्ये त्रिदिवमुपगतो यत्र नागावलोकः ॥ ७२५ ॥

'प्रभावक चरित' में बप्पभट्टिप्रबंध; पृ० १७७।

कन्नौज के राजा नागभट के स्थान में 'आम' नाम लिखा है, परंतु चंद्रप्रभसूरि ने आम और नागावलोक दोनों एक ही राजा के नाम होना बतलाया है।

(६) रामभद्र (सं० ५ का पुत्र)—उसको राम तथा रामदेव भी कहते थे। उसने बहुत थोड़े समय तक राज्य किया। वह सूर्य का भक्त था: उसकी राणी अप्पादेवी से भोज का जन्म हुआ।

(७) भोजदेव (सं० ६ का पुत्र)—उसको मिहिर और आदिवराह भी कहते थे। वह अपने पड़ोसी लाट देश के राठोड़ राजा ध्रुवराज (दूसरे) से लड़ा जिसमें राठोड़ों के कथनानुसार उसकी हार हुई थी। उसके समय के ५ शिलालेखादि वि० सं० ६०० से लगाकर ६३८ (ई० स० ८४३ से ८८१) तक के[1] मिले हैं और चांदी व तांबे के सिक्के भी मिले जिनके एक तरफ़ 'श्रीमदादिवराह' लेख और दूसरी ओर 'वराह' (नरवराह) की मूर्त्ति बनी है[2]। वह भगवती (देवी) का भक्त था। उसकी राणी चंद्रभट्टारिकादेवी से महेंद्रपाल उत्पन्न हुआ था। भोजदेव के युवराज नागभट का नाम मिलता है, परंतु महेंद्रपाल और विनायकपाल के दानपत्रों में उसका नाम राजाओं की नामावली में न मिलने से अनुमान होता है कि उसका देहान्त भोजदेव की विद्यमानता में ही हो गया हो जिससे भोजदेव का उत्तराधिकारी उसका दूसरा पुत्र महेन्द्रपाल हुआ हो।

(८) महेन्द्रपाल (सं० ७ का पुत्र)—उसको महेंद्रायुध, महिंदपाल, निर्भयराज और निर्भयनरेंद्र भी कहते थे। उसके समय के दो शिलालेख और तीन ताम्रपत्र मिले हैं जो वि० सं० ६५० से ६६४ (ई० स० ८६३ से ६०७) तक[3] के हैं। उन तीन ताम्रपत्रों में से दो काठियावाड़ में मिले जिनसे पाया जाता है कि काठियावाड़ के दक्षिणी हिस्से पर भी उसका राज्य था, जहां उसके सोलंकी

(१) वि० सं० ६०० का दौलतपुरे का दानपत्र (ए. इं; जि० ५, पृ० २११) और पेहेवा (पेहोआ, कर्नाल ज़िले में) से मिला हुआ हर्ष संवत् २७६ (वि० सं० ६३६) का शिलालेख (ए. इं; जि० १, पृ० १८६-८८)

(२) स्मि; कै. कॉ. इं. म्यू; पृ० २४१-४२; प्लेट २५, संख्या १८।

(३) वलभी संवत् ५७४ (वि० सं० ६५०) का ऊना (काठियावाड़ के जूनागढ़ राज्य में) गांव से मिला हुआ दानपत्र (ए. इं; जि० ६, पृ० ४-६) और वि० सं० ६६४ का सीयडोनी का शिलालेख (ए. इं; जि० १, पृ० १७३)

सामंत राज्य करते[1] थे। उसकी तरफ़ से वहां का शासक धीइक था जैसा कि उन ताम्रपत्रों से पाया जाता है। काव्यमीमांसा, कर्पूरमंजरी, विद्धशालभंजिका, बालरामायण, बालभारत आदि ग्रन्थों का कर्त्ता प्रसिद्ध कवि राजशेखर उसका गुरु था। महेन्द्रपाल भी अपने पिता की नाईं भगवती (देवी) का भक्त था। उसके तीन पुत्रों-महीपाल (क्षितिपाल), भोज और विनायकपाल के नामों-का पता लगा है। भोज की माता का नाम देहनागादेवी और विनायकपाल की माता का नाम महीदेवीदेवी मिला है।

(९) महीपाल (सं० ८ का पुत्र)—उसको क्षितिपाल भी कहते थे। उसके समय काव्यमीमांसा आदि का कर्त्ता राजशेखर कवि कन्नौज में विद्यमान था जो उसको आर्यावर्त का महाराजाधिराज तथा मुरल, मेकल, कलिंग, केरल, कुलूत, कुंतल और रमठ देशवालों को पराजित करनेवाला लिखता है। महीपाल दक्षिण के राठोड़ इंद्रराज (तीसरे, नित्यवर्ष) से भी लड़ा था जिसमें राठोड़ों के कथनानुसार उसकी हार हुई थी। उसके समय का एक दानपत्र हड्डाला गांव (काठियावाड़ में) से श० सं० ८३६ (वि० सं० ९७१=ई० स० ९१४) का मिला[2] जिससे पाया जाता है कि उस समय वढ़वाण में उसके सामंत चाप-(चावड़ा)वंशी धरणीवराह का अधिकार था, और एक शिलालेख वि० सं० ९७४ (ई० स० ९१७) का[3] मिला है।

(१०) भोज-दूसरा (सं० ९ का भाई)—उसने थोड़े ही समय तक राज्य किया। अब तक यह निश्चित रूप से ज्ञात नहीं हुआ कि भोज (दूसरा) बड़ा था या महीपाल।

(११) विनायकपाल (सं० १० का छोटा भाई)—उसके समय का एक दानपत्र वि० सं० ९८८[4] (ई० स० ९३१) का मिला है। उसकी राणी प्रसाधनादेवी से महेंद्रपाल (दूसरे) का जन्म हुआ। उसके अंतिम समय से कन्नौज के प्रतिहारों का राज्य निर्बल होता गया और सामंत लोग स्वतंत्र बनने लग गए।

---

(१) ना. प्र. प; भा० १, पृ० २१२-१५।

(२) इं. एं; जि० १२, पृ० १९३-९४।

(३) वही; जि० १६, पृ० १७४-७५।

(४) इं. एं; जि० १५, पृ० १४०-४१। छपी हुई प्रति में सं० १८८ पढ़ा जाकर उसको हर्ष संवत् माना है जो अशुद्ध है; शुद्ध संवत् ९८८ है।

(१२) महेन्द्रपाल दूसरा (सं० ११ का पुत्र)—उसके समय का एक शिलालेख प्रतापगढ़ से मिला है जो वि० सं० १००३ (ई० स० ६४६) का है। उससे पाया जाता है कि घोंटावर्षिका (घोटार्सी, प्रतापगढ़ से अनुमान ६ मील पर) का चौहान इंद्रराज उसका सामंत था, उस समय मंडपिका (मांडू) में बलाधिकृत (सेनापति) कोक्कट का नियुक्त किया हुआ श्रीशर्मा रहता था और मालवे का तंत्रपाल (शासक, हाकिम) महासामंत, महादंडनायक माधव (दामोदर का पुत्र) था, जो उज्जैन में रहता था। चौहान इंद्रराज के बनवाए हुए घोंटावर्षिका (घोटार्सी) के 'इन्द्रराजादित्यदेव' नामक सूर्यमंदिर को 'खर्परपद्रक' गांव महेंद्रपाल (दूसरे) ने भेट किया, जिसकी सनद (दानपत्र) पर उक्त माधव ने हस्ताक्षर किये थे[१]।

(१३) देवपाल (संख्या ६वाले महीपाल का पुत्र)—उसके समय का एक शिलालेख वि० सं० १००५ (ई० स० ६४८) का[२] मिला है जिसमें उसके बिरुद परमभट्टारक, महाराजाधिराज और परमेश्वर दिये हैं। उसको क्षितिपालदेव (महीपालदेव) का पादानुध्यात (उत्तराधिकारी) कहा है। यदि देवपाल ऊपर लिखे हुए क्षितिपालदेव (महीपालदेव) का पुत्र हो तो हमें यही मानना पड़ेगा कि उसकी बाल्यावस्था के कारण उसका चचा विनायकपाल उसका राज्य दबा बैठा हो, और महेन्द्रपाल (दूसरे) के पीछे वह राज्य का स्वामी हुआ हो।

(१४) विजयपाल (सं० १३ का भाई)—उसके समय का एक शिलालेख वि० सं० १०१६ (ई० स० ६६०) का अलवर राज्य में राजोरगढ़ से मिला है, उस समय उसका सामंत गुर्जर (गूजर) गोत्र का प्रतिहार वहां का स्वामी था (देखो ऊपर गुर्जर वंश का इतिहास, पृ० १३३)।

(१५) राज्यपाल (सं० १४ का पुत्र)—उसके समय कन्नौज के प्रतिहारों का राज्य निर्बल तो हो ही रहा था इतने में महमूद ग़ज़नवी ने कन्नौज पर चढ़ाई कर दी। अल् उत्बी ने अपनी 'तारीख़ यमीनी' में लिखा है कि "मथुरा लेने के बाद सुलतान कन्नौज की तरफ़ चला, वहां के राय जैपाल (राज्यपाल) ने, जिसके पास थोड़ी ही सेना थी, भागकर अपने सामंतों के यहां शरण लेने की तैयारी की। सुलतान ता० ८ शाबान हि० सन् ४०६ (वि० सं० १०७५ मार्गशीर्ष सुदि १०) को

(१) ए. इं; जि० १४, पृ० १८२–८४।

(२) सीयडोनी का शिलालेख: ए. इं; जि० १, पृ० १७७।

कन्नौज पहुंचा। राय जैपाल (राज्यपाल) सुलतान के आने की खबर पाते ही गंगापार भाग निकला। सुलतान ने वहां के सातों किले तोड़े और जो लोग वहां से नहीं भागे वे क़तल किये गये[1]"। फ़िरिश्ता लिखता है कि हि० स० ४०६ (वि० सं० १०७५=ई० स० १०१८) में सुलतान महमूद १०००० चुनंदा सवार और २०००० पैदल सेना सहित कन्नौज पर चढ़ा। वहां का राजा कुंवरराय (नाम अशुद्ध है राज्यपाल चाहिये) बड़े राज्य और समृद्धि का स्वामी था, परंतु अचानक उसपर हमला हो जाने के कारण सामना करने या अपनी सेना एकत्र करने का उसको अवसर न मिला। उसने शत्रु की बड़ी सेना से डरकर संधि करना चाहा और सुलतान की अधीनता स्वीकार की। सुलतान तीन दिन वहां रहकर मेरठ की तरफ़ चला गया। हि० स० ४१२ (वि० सं० १०७८=ई० स० १०२१) में सुलतान के पास हिंदुस्तान से यह खबर पहुंची कि मुसलमानों से सुलह करने तथा उनकी अधीनता स्वीकार करने के कारण कन्नौज के राजा कुंवरराय पर सुलतान के चले जाने बाद पड़ोसी राजाओं ने हमला किया है। सुलतान तुरंत ही उसकी सहायता को चला, परंतु उसके पहुंचने के पहले ही कालिंजर के राजा नंदराय (गंड, चंदेल) ने कन्नौज को घेरकर कुंवरराय (राज्यपाल) को मार डाला[2]। फ़िरिश्ता कन्नौज के राजा का नाम कुंवरराय लिखता है, परंतु उससे लगभग ६०० वर्ष पूर्व का लेखक अल् उत्बी उसको राय-जैपाल या राजपाल लिखता है जो राज्यपाल का कुछ बिगड़ा हुआ रूप है। ऐसे ही फ़िरिश्ता राज्यपाल को मारनेवाले कालिंजर के राजा का नाम नंदराय लिखता है; वह भी गंड होना चाहिये, क्योंकि महोबा से मिले हुए चंदेलों के एक शिलालेख में राजा गंड के पुत्र विद्याधर के हाथ से कन्नौज के राजा का मारा जाना लिखा है। राज्यपाल को मारने में विद्याधर के साथ दुबकुंड का कच्छपघात (कछवाहा) सामंत अर्जुन भी था। दुबकुंड से मिले हुए कच्छपघात-(कछवाहा)वंशी सामंत विक्रमसिंह के समय के वि० सं० ११४५ (ई० स० १०८८) के शिलालेख[3] में उसके प्रपितामह (परदादा) अर्जुन के वर्णन में लिखा है कि उसने विद्याधरदेव की सेवा में रहकर बड़े युद्ध में राज्यपाल को

(१) इलियट्; 'हिस्टरी ऑफ़ इंडिया'; जि० २, पृ० ४५।

(२) ब्रिग; फ़िरिश्ता; जि० १, पृ० ५७ और ६३।

(३) ए. इं; जि० २, पृ० २३७।

मारा[1]। राज्यपाल वि० सं० १०७७ या १०७८ में मारा गया होगा।

(१६) त्रिलोचनपाल (सं० १५ का उत्तराधिकारी)—उसके समय का एक दानपत्र वि० सं० १०८४ (ई० स १०२७) का मिला है[2]।

(१७) यशःपाल (?) के समय का एक शिलालेख वि० सं० १०९३ (ई० स० १०३६) का मिला है। उसके (?) पीछे वि० सं० ११३५ (ई० स० १०७८) के आस-पास गाहड़वाल (गहरवार) महीचंद्र का पुत्र चंद्रदेव कन्नौज का राज्य प्रतिहारों से छीनकर वहां का स्वामी बन गया। प्रतिहारों का कन्नौज का बड़ा राज्य गाहड़वालों (गहरवारों) के हाथ में चले जाने पर भी उनके वंशजों को समय समय पर जो इलाक़े जागीर में मिलते रहे थे, वे उनके अधिकार में कुछ समय तक बने रहे। कुरेठा (ग्वालियर राज्य में) से एक दानपत्र मलयवर्म प्रतिहार का वि० सं० १२७७ का मिला है जिसमें उस(मलयवर्म)को नटुल का प्रपौत्र, प्रतापसिंह का पौत्र और विग्रह का पुत्र बतलाया है। मलयवर्म की माता का नाम लाल्हणदेवी दिया है, जो केल्हणदेव की पुत्री थी। यह केल्हणदेव शायद नाडोल का चौहान केल्हण हो। उस दानपत्र में मलयवर्म के पिता का म्लेच्छों से लड़ना लिखा है जो कुतबुद्दीन ऐबक से संबंध रखता हो। मलयवर्म के सिक्के भी मिले हैं जो वि० सं० १२८० से १२९० तक के हैं; वहीं से एक दूसरा दानपत्र वि० सं० १३०४ चैत्र शु० १ का भी प्राप्त हुआ जो मलयवर्म के भाई नृवर्मा (नरवर्मा) का है। नृवर्मा के पीछे यज्वपाल के वंशज (जजपेल्लवंशी) परमाडिराज के पुत्र चाहड़ (चाहड़देव) ने प्रतिहारों से नल-गिरि (नरवर) आदि छीन लिये। अब तो कन्नौज के रघुवंशी प्रतिहारों के वंश में केवल बुंदेलखंड में नागौद का राज्य एवं अलिपुरा का ठिकाना तथा कुछ और छोटे छोटे ठिकाने रह गये हैं। नागौद के राजाओं की जो वंशावली भाटों की पुस्तकों में मिलती है उसमें सब पुराने नाम कृत्रिम धरे हुए हैं।

जैसे मारवाड़ में ब्राह्मण प्रतिहार अब तक हैं वैसे ही अलवर राज्य के राजोरगढ़ तथा उसके आसपास के इलाक़ों पर गुर्जर जाति के प्रतिहारों का राज्य था, उनका हाल हम ऊपर गूजरों के इतिहास में (पृ० १३३) लिख चुके हैं।

गुर्जर (गूजर) जाति के प्रतिहार

(१) इं. एँ; जि० २, पृ० २३७।

(२) इं. एँ; जि० १८, पृ० ३४।

रघुवंशी प्रतिहारों का वंशवृक्ष (ज्ञात संवत् सहित)

१ नागभट (नागावलोक) वि० सं० ८१३ — ०

२ काकुस्थ (कक्कुक)

३ देवराज (देवशक्ति)

४ वत्सराज वि० सं० ८४०

५ नागभट (नागावलोक) दूसरा वि० सं० ८७२-८९०

६ राम (रामभद्र)

७ भोज (मिहिर, आदिवराह) वि० सं० ९००—९३८

८ महेंद्रपाल (महेंद्रायुध, निर्भय-नरेंद्र) वि० सं० ९५०-९६४

९ महीपाल (क्षितिपाल) वि० सं० ९७१-९७४

१० भोज (दूसरा)

११ विनायकपाल वि० सं० ९८८

१२ महेंद्रपाल (दूसरा) वि० सं० १००३

१३ देवपाल वि० सं० १००५

१४ विजयपाल वि० सं० १०१६

१५ राज्यपाल वि० सं० १०७५

१६ त्रिलोचनपाल वि० सं० १०८४

१७ यशःपाल वि० सं० १०९३
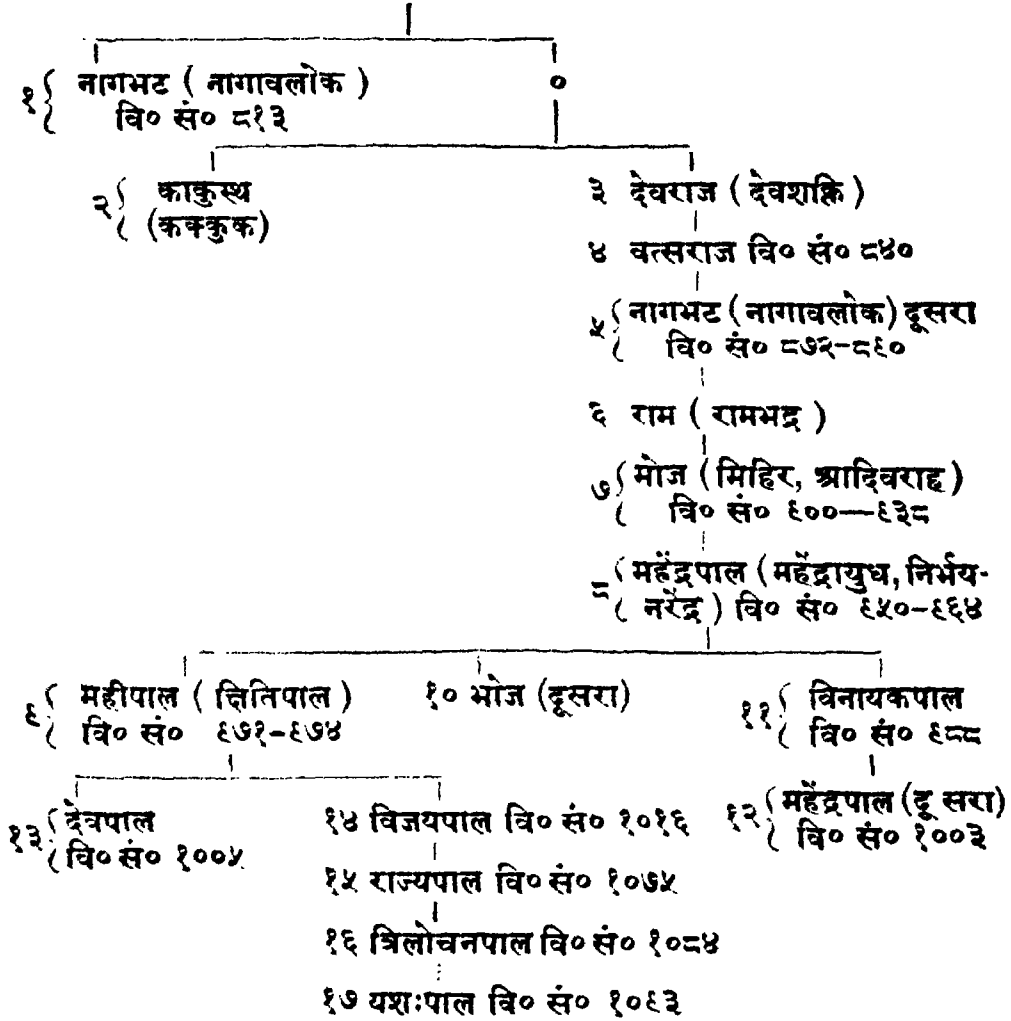
कर्नल टॉड ने लिखा है कि पड़िहारों ने राजस्थान के इतिहास में कभी कोई नामवरी का काम नहीं किया, वे सदैव पराधीन ही रहे और दिल्ली के तंवरों या अजमेर के चौहानों के जागीरदार होकर कार्य करते रहे। उनके इतिहास में सब से उज्वल वृत्तांत नाहड़राव का अपनी स्वतंत्रता की रक्षा के लिये पृथ्वीराज से निष्फल युद्ध करने का है[1]। कर्नल टॉड ने यह वृत्तांत अनुमान १०० वर्ष पूर्व लिखा था, उस समय प्राचीन शोध का प्रारंभ ही हुआ था जिससे

(१) हिं. टॉ. रा; भाग १, पृ० २६०-६१।

प्रतिहारों के प्राचीन इतिहास पर कुछ भी प्रकाश नहीं पड़ा था। वास्तव में गुप्तों के पीछे राजपूताने में श्रीहर्ष के अतिरिक्त प्रतिहारों के समान प्रतापी कोई दूसरा राजवंश नहीं हुआ। जिन तंवर और चौहान वंशों के अधीन प्रतिहारों का होना टॉड ने लिखा है वे वंश प्रारंभ में प्रतिहारों के ही मातहत थे। प्रतिहारों का साम्राज्य वि० सं० ११३५ के आसपास नष्ट होने के पीछे उन्होंने दूसरों की अधीनता स्वीकार की थी। जितना शोध इस समय हुआ है उतना यदि टॉड के समय में होता तो टॉड के 'राजस्थान' में प्रतिहारों का इतिहास और ही रूप से लिखा जाता। नाहड़राव न तो पृथ्वीराज के समय में हुआ और न उससे लड़ा था। यह कथा नाहड़राव (नागभट, नाहड़) का नाम राजपूताने में प्रसिद्ध होने के कारण पृथ्वीराजरासे में इतिहास के अन्धकार की दशा में धर दी गई है जो सर्वथा विश्वास के योग्य नहीं है।

मुंहणोत नैणसी ने अपनी ख्यात में, जो वि० सं० १७०५ और १७२५ के बीच लिखी गई थी, भाट नीलिया के पुत्र खंगार के लिखाने के अनुसार पड़िहारों की निम्नलिखित २६ शाखें दर्ज की हैं[1]—

१—पड़िहार। २-ईंदा, जिसकी उपशाखा में मलसिया, काल्पा, घड़सिया और बूलणा हैं। ३-लूलोग, ये मिया के वंशज हैं। ४-रामावट। ५-बोथा, जो मारवाड़ में पाटोदी के पास हैं। ६-बारी, ये मेवाड़ में राजपूत और मारवाड़ में तुर्क हैं। ७-धांधिया, ये जोधपुर इलाके में राजपूत हैं। ८-खरवड़, ये मेवाड़ (उदयपुर राज्य) में बहुत हैं। ९-सीधका, ये मेवाड़ और बीकानेर राज्यों में हैं। १०-चोहिल, मेवाड़ में बहुत हैं। ११-फलू, ये सिरोही तथा जालोरी (जालोर के इलाके) में बहुत हैं। १२-चैनिया, फलोदी की तरफ़ हैं। १३-बोजरा। १४-झांगरा, ये मारवाड़ में भाट हैं और धनेरिया, भूंभलिया और खीचीवाड़े में राजपूत हैं। १५-बागणा, ये महाजन हैं। १६-चौपड़ा महाजन हैं। १७-पेसवाल, ये खोखरियेवाले रैबारी (ऊंट आदि पशु पालनेवाले) हैं। १८-गोढला। १९-टांकसिया, ये मेवाड़ में हैं। २०-चांदारा (चांदा के वंश के) नींबाज में कुंभार हैं। २१-माहप, ये राजपूत हैं और मारवाड़ में बहुत हैं। २२-डूराणा, ये राजपूत हैं। २३-सवर, मारवाड़ में राजपूत हैं। २४-पूमोर। २५-सामोर। २६-जेठवा, ये पड़िहारों में मिलते हैं।

(१) मुंहणोत नैणसी की ख्यात; पत्र २१। २।

'वंशभास्कर' में दी हुई पड़िहारों की वंशावली में प्रसिद्ध नाहड़राव[1] (नागभट) का प्रतिहार से १७१वीं पीढ़ी में होना बतलाया है। नाहड़राव से छठी पीढ़ी में अमायक हुआ जिसके १२ पुत्रों से १२ शाखाओं का चलना माना है। उनमें से सोधक नाम के एक पुत्र का बेटा इंदा हुआ जिससे प्रसिद्ध इंदा नाम की शाखा चली। इस शाखा के पड़िहारों की ज़मींदारी ईंदावाटी जोधपुर से १५ कोस पश्चिम में है। मंडोर का गढ़ इंदा शाखा के पड़िहारों ने पड़िहार राणा हंमीर से, जो दुराचारी था, तंग आकर राव वीरम के पुत्र राठोड़ चूंडा को वि० सं० १४५१ में दहेज में दिया। फिर राणा हंमीर वीरूटंकनपुर में जा रहा। हंमीर के एक भाई दीपसिंह के वंशज सोंधिये पड़िहार हैं जो अब मालवे की तरफ़ सोंधीवाड़े में रहते हैं। हंमीर के एक दूसरे भाई गूजरमल ने एक मीणा जाति की स्त्री से विवाह कर लिया जिसके वंशज पड़िहार मीणे खैराड़ में हैं (जो ऊजले मीणे कहलाते हैं)। हंमीर के पुत्र कुंतल ने गान (राणा) नगर (भिणाय) लेकर वहां राजधानी स्थापित की। कुंतल के पुत्र बाघ और निंबदेव थे। बाघ ने बुढ़ापे में ईहडदेव सोलंकी (शायद यह राणा अर्थात् भिणाय का सोलंकी हो) की पुत्री जैमती से विवाह किया। वह कुलटा निकली और अपने वृद्ध पति को छोड़कर गोठण गांव के गूजर बघराव (बाघराव) के पुत्र भोज

(१) राजपूताने में जिस नाहड़राव पड़िहार का नाम प्रसिद्ध है वह मंडोर का पड़िहार नहीं, किंतु मारवाड़ (भीनमाल) का नागभट (दूसरा) होना चाहिये जो बड़ा ही प्रतापी और वीर राजा हुआ। उसीने मारवाड़ से जाकर कन्नौज का महाराज्य अपने अधीन किया था। मंडोर के प्रतिहार अर्थात् ब्राह्मण हरिश्चंद्र के वंशज प्रथम चावड़ों के और पीछे से रघुवंशी प्रतिहारों के सामंत बने। उनके लेखों में जो वीरता के काम बतलाये हैं, वे उनके स्वतंत्र नहीं, किंतु अपने स्वामी के साथ रहकर किये हुए होने चाहियें, जैसे कि कक्क (बाउक के पिता) का मुद्गगिरि (मुंगेर) के गौड़ों के साथ की लड़ाई में यश पाना लिखा है, परंतु वास्तव में कक्क अपने स्वामी मारवाड़ के प्रतिहार वत्सराज का सामंत होने से उसके साथ मुंगेर के युद्ध में गौड़ों से लड़ा था। ऐसे उदाहरण बहुत से मिल आते हैं कि सामंत लोग अपने स्वामी के साथ रहकर विजयी हुए हों तो उक्त विजय को अपने शिलालेखादि में अपने नाम पर अंकित कर देते हैं। भाटों की ख्यातों में केवल मंडोर के पड़िहारों का ही उल्लेख मिलता है और मारवाड़ तथा कन्नौज के प्रतापी रघुवंशी प्रतिहारों के संबंध में कुछ भी नहीं लिखा, जिसका कारण यही है कि भाट लोग बहुत पीछे से ख्यातें लिखने लगे और नाहड़राव (नागभट दूसरे) का नाम राजपूताने में अधिक प्रसिद्ध होने से उसको उन्होंने मंडोर का पड़िहार मान लिया।

के घर में जा बैठी। इसलिये पड़िहारों ने गूजरों को मारकर उनका गांव लूट लिया (जैमती के गीत अब तक राजपूताने में गाये जाते हैं)। गूजर भोज के बेटे ऊदल ने अपने पिता का बैर लेने को बाघ पड़िहार के पुत्र भुद्ध पर चढ़ाई की, राण नगर को लूटा और पड़िहार वहां से भाग निकले। भुद्ध से चौथी पीढ़ी में होनेवाले भीम के पुत्र किशनदास ने उचेरे (उचहरे, नागौद, बघेलखंड में) में राजधानी जा जमाई। इस समय प्रतिहारों का एक छोटा राज्य नागौद ही है और उनकी ज़मींदारियां ज़िले इटावा में तथा पंजाब में कांगड़े व होशियारपुर के ज़िलों में भी हैं।

परमार वंश

परमारों के शिलालेखों तथा कवि पद्मगुप्त(परिमल)रचित 'नवसाहसांकचरित' काव्य आदि में परमारों की उत्पत्ति के विषय में लिखा है कि 'आबू पर्वत पर वसिष्ठ ऋषि रहते थे, उनकी गौ (नंदिनी) को विश्वामित्र छल से हर ले गये, इसपर वसिष्ठ ने क्रुद्ध हो मंत्र पढ़कर अपने अग्निकुंड में आहुति दी जिससे एक वीर पुरुष उस कुंड में से प्रकट हुआ, जो शत्रु को परास्त कर गौ को पीछी ले आया, जिससे प्रसन्न होकर ऋषि ने उसका नाम 'परमार' अर्थात् शत्रु को मारनेवाला रक्खा। उस वीर पुरुष के वंश का नाम परमार हुआ'[1]। इस प्रकार परमारों की उत्पत्ति मालवे के परमार राजा मुंज (वाक्पतिराज,

---

(१) *ब्रह्माण्डमण्डपस्तम्भः श्रीमानस्त्यर्बुदो गिरिः।····॥ ४९ ॥*

अतिस्वाधीननीवारफलमूलसमित्कुशम् ।
मुनिस्तपोवनं चक्रे तत्रेक्ष्वाकुपुरोहितः ॥ ६४ ॥

हृता तस्यैकदा धेनुः कामसूर्गाधिसूनुना ।
कार्तवीर्यार्जुनेनेव जमदग्नेरनीयत ॥ ६५ ॥

स्थूलाश्रुधारसन्तानस्नपितस्तनवल्कला ।
अमर्षपावकस्याभूद्भर्तुस्समिदरुन्धती ॥ ६६ ॥

अथाथर्वविदामाद्यस्समन्त्रामाहुतिं ददौ ।
विकसद्विकटज्वालाजटिले जातवेदसि ॥ ६७ ॥

ततः क्षणात् सकोदण्डः किरीटी काञ्चनाङ्गदः ।
उज्जगामाग्नितः कोऽपि सहेमकवचः पुमान् ॥ ६८ ॥

अमोघवर्ष) के पीछे के शिलालेखों तथा संस्कृत पुस्तकों में मिलती है, परंतु मुंज के ही समय के पंडित हलायुध ने राजा मुंज को ब्रह्मक्षत्र कुल का कहा है। परमारों की उत्पत्ति के विषय में हम ऊपर (पृ० ६६-६७ और उनके टिप्पणों में) विस्तार से लिख आये हैं।

परमारों का मूल राज्य आबू के आसपास के प्रदेश पर था जहां से जाकर उन्होंने मारवाड़, सिंध, वर्तमान गुजरात के कुछ अंश तथा मालवे आदि में अपने राज्य स्थापित किये थे।

आबू के परमारों का मूल पुरुष धूमराज हुआ, परंतु वंशावली उससे नहीं किंतु उसके वंशधर सिंधुराज से नीचे लिखे अनुसार मिलती है—

(१) सिंधुराज—केराडू (जोधपुर राज्य में) से मिले हुए वि० सं० १२१८ (ई० स० ११६१) के शिलालेख में, जो वहां के परमार सोमेश्वर के समय का है, सिंधुराज को मरुमंडल (मारवाड़) का महाराज लिखा है[1]। जालोर का सिंधुराजेश्वर का मंदिर उक्त सिंधुराज का बनाया हुआ होना चाहिये।

(२) उत्पलराज (सं० १ का उत्तराधिकारी)—वसंतगढ़ (वसिष्ठपुर, वटनगर, सिरोही राज्य में) से मिले हुए परमार राजा पूर्णपाल के समय के वि० सं० १०६६ (ई० स० १०४२) के शिलालेख में वंशावली उत्पलराज से शुरू होती है।

(३) आरण्यराज (सं० २ का पुत्र)।

(४) कृष्णराज (सं० ३ का पुत्र)—उसको कान्हड़देव भी कहते थे।

(५) धरणीवराह (सं० ४ का पुत्र)—कन्नौज के रघुवंशी प्रतिहारों का राज्य निर्बल होने पर उनके सामंत स्वतंत्र होने लगे। मूलराज नामक सोलंकी ने अपने मामा चावड़ावंशी सामंतसिंह (भूयड़) को मारकर उसका राज्य छीना[2] और वह गुजरात की राजधानी पाटण (अणहिलवाड़े) की गद्दी पर

दूरं सन्तमसेनेव विश्वामित्रेण सा हृता।
तेनानिन्ये मुनेर्धेनुर्दिनश्रीरिव भानुना॥ ६९॥
परमार इति प्रापत् स मुनेर्नाम चार्थवत्।........॥ ७१॥

पद्मगुप्त (परिमल)रचित 'नवसाहसाङ्कचरित', सर्ग ११।

(१) सिंधुराजो महाराजः समभून्मरुमण्डले॥ ४॥

(केराडू का शिलालेख, अप्रकाशित)

(२) हिं. टॉ. रा; खंड १, पृ० ४३२।

बैठ गया। उसने धरणीवराह पर भी चढ़ाई की थी जिससे उस (धरणीवराह) ने हस्तिकुंडी (हथुंडी, जोधपुर राज्य के गोड़वाड़ ज़िले में) के राष्ट्रकूट (राठोड़) राजा धवल की शरण ली, ऐसा धवल के वि० सं० १०५३ (ई० स० ६६७) के शिलालेख से पाया जाता है[1]। मूलराज ने वि० सं० १०१७ से १०५२ तक राज्य किया, अतएव धरणीवराह पर उसकी चढ़ाई इन दोनों संवतों के बीच किसी वर्ष में होनी चाहिये। राजपूताने में ऐसा प्रसिद्ध है कि परमार धरणीवराह के ६ भाई थे जिनको उसने अपना राज्य बांट दिया, और उनकी ६ राजधानियां नव कोटी मारवाड़ कहलाईं। इस विषय का एक छप्पय भी प्रसिद्ध है[2], परंतु उस प्रसिद्धि में कुछ भी सत्यता पाई नहीं जाती; अनुमान होता है कि वह छप्पय किसीने पीछे से बनाया हो। उसके बनानेवाले को परमारों के प्राचीन इतिहास का ठीक ठीक ज्ञान नहीं था।

(६) महीपाल (सं० ५ का पुत्र)—उसका दूसरा नाम देवराज मिलता है। उसका एक दानपत्र वि० सं० १०५६ (ई० स० १००२) का मिला है, जो अब तक प्रकाशित नहीं हुआ।

(७) धंधुक (सं० ६ का पुत्र)—उसने गुजरात के सोलंकी राजा भीमदेव (प्रथम) की सेवा को स्वीकार न किया जिससे भीमदेव उसपर क्रुद्ध हुआ (अर्थात् चढ़ आया) तब वह आबू छोड़कर धारा (धारा नगरी, धार) के

(१) *यं मूलादुदमूलयद्गुरुबलः श्रीमूलराजो नृपो*
दर्पांधो धरणीवराहनृपतिं यद्द्विपः(द्विपः) पादपं ।
आयातं भुवि कांदिशीकमभिको यस्तं शरण्यो दधौ
दंष्ट्रायामिव रूढमूढमहिमा कोलो महीमण्डलं ॥ १२ ॥
ए. इं; जि० १०, पृ० २१।

(२) *मंडोवर सामंत, हुवो अजमेर सिद्धसुव ।*
गढ पूंगल गजमल्ल, हुवो लोद्रवे भाणभुव ॥
अल्ह पल्ह अरवद्द, भोजराजा जालंधर ।
जोगराज धरधाट, हुवो हांसू पारकर ॥
नवकोट किराडू संजुगत, थिर पंवार हर थप्पिया ।
धरणीवराह धर भाइयां, कोट बांट जू जू दिया ॥

राजा भोज के पास चला गया, जब कि वह चित्तोड़ में रहता था। भीमदेव ने प्राग्वाटवंशी (पोरवाड़) महाजन विमल (विमलशाह) को आबू का दंडपति (हाकिम) नियत किया, जिसने धंधुक को चित्तोड़ से बुलाकर भीमदेव के साथ उसका मेल करा दिया; फिर उस (धंधुक) की आज्ञा से वि० सं० १०८८ में आबू पर (देलवाड़ा गांव में) विमलवसती (विमलवसही) नामक करोड़ों रुपयों की लागत का आदिनाथ का मंदिर बनवाया[1]। कारीगरी में उस मंदिर की समता करनेवाला दूसरा कोई मंदिर हिन्दुस्तान में नहीं है[2]। धंधुक की राणी अमृतदेवी से पूर्णपाल नामक पुत्र और लाहिनी नामक कन्या हुई। दूसरी राणी से, जिसके नाम का पता नहीं चलता, कृष्णराज का जन्म हुआ। लाहिनी का विवाह विग्रहराज के साथ हुआ था जिसको संगमराज का प्रपौत्र, दुर्लभराज का पौत्र और चच का पुत्र बतलाया है। लाहिनी विधवा हो जाने पर अपने

---

(१) *तत्कुलकमलमरालः कालः प्रत्यर्थिमंडलीकानां ।*
चंद्रावतीपुरीशः समजनि वीराग्रणीर्धंधुः ॥ ५ ॥
श्रीभीमदेवस्य नृपस्य सेवाममन्यमानः किल धंधुराजः ।
नरेशरोषाच्च ततो मनस्वी धाराधिपं भोजनृपं प्रपेदे ॥ ६ ॥
प्राग्वाटवंशाभरणं बभूव रत्नप्रधानं विमलाभिधानः।·········॥ ७ ॥
ततश्च भीमेन नराधिपेन प्रतापवह्निर्विमलो महामतिः ।
कृतोर्बुदे दंडपतिः सतां प्रियो प्रियंवदो नंदतु जैनशासने ॥ ८ ॥
श्रीविक्रमादित्यनृपाद्व्यतीतेऽष्टाशीति याते शरदां सहस्रे ।
श्रीआदिदेवं शिखरेर्बुदस्य निवेशितं श्रीविमलेन वंदे ॥ ११ ॥

आबू पर विमलशाह के मंदिर के जीर्णोद्धार संबंधी वि० सं० १३७८ के अप्रकाशित शिलालेख से।

राजनकश्रीधांधुके क्रुद्धं श्रीगुर्जरेश्वरं ।
प्रसाद्य भक्त्या तं चित्रकूटादानीय तद्गिरा ॥ ३९ ॥
वैक्रमे वसुवस्वाशा १०८८ मितेऽब्दे भूरिरैव्ययात् ।
सत्प्रासादं स विमलवसत्याह्वं व्यधापयत् ॥ ४० ॥

जिनप्रभसूरिरचित 'तीर्थकल्प' में अर्बुदकल्प।

(२) इस मंदिर की सुंदरता के लिये देखो ऊपर पृ० २३।

भाई पूर्णपाल के पास आ रही और वि० सं० १०९९ में उसने वसिष्ठपुर (वसंतगढ़, सिरोही राज्य में) में सूर्य के मंदिर और सरस्वती वापी (बावड़ी) का जीर्णोद्धार कराया[1]। लाहिनी के नाम से अब तक वह बावड़ी लाणवाव (लाहिनी वापी) कहलाती है।

(८) पूर्णपाल (सं० ८ का पुत्र)—उसके समय के तीन शिलालेख मिले हैं जिनमें से दो वि० सं० १०९९ (ई० स० १०४२) के और तीसरा वि० सं० ११०२ (ई० स० १०४५) का है। उत्पलराज से लगाकर पूर्णपाल तक की वंशावली वि० सं० १०९९ के वसंतगढ़ के शिलालेख में मिलती है। पूर्णपाल का उत्तराधिकारी उसका छोटा भाई कृष्णराज हुआ।

(९) कृष्णराज दूसरा (सं० ८ का छोटा भाई)—गुजरात के सोलंकी राजा भीमदेव (प्रथम) ने उसको कैद किया, परंतु नाडौल के चौहान राजा बालप्रसाद ने उसे मुक्त करा दिया[2]। उसके समय के दो शिलालेख भीनमाल से मिले हैं जो वि० सं० १११७[3] और ११२३[4] (ई० स० १०६० और १०६६) के हैं। कृष्णराज से दो शाखें, एक आबू की और दूसरी केराडू की, फटी हों ऐसा अनुमान होता है। यहां तक आबू के परमारों की वंशावली शृंखलाबद्ध मिलती है, आगे की वंशावली तेजपाल (वास्तुपाल के भाई) के बनाये हुए आबू पर देलवाड़ा के लूणवसही नामक नेमिनाथ के मंदिर की वि० सं० १२८७ (ई० स० १२३०) की प्रशस्ति में मिलती है, परंतु पूरी नहीं। उसमें लिखा है कि परमार वंश में धंधुक, ध्रुवभट आदि राजा हुए, फिर रामदेव हुआ, आगे रामदेव से वंशावली शुरू की है। उसके आदि पद से स्पष्ट है कि रामदेव के पूर्व और भी राजा हुए, परंतु उनके नाम उस प्रशस्ति में नहीं दिये गए। अब तक उन नामों

(१) वसंतगढ़ का वि० सं० १०९९ का शिलालेख (ए. इं; जि०, ९ पृ० १२–१५।

(२) *जज्ञे भूभृत्तदनु तनयस्तस्य बालप्रसादो*
भीमक्ष्माभृच्चरणयुगलीमर्द्दनव्याजतो यः।
कुर्वन् पीडामतिव(ब)लतया मोचयामास कारा-
गाराद्भूमीपतिमपि तथा कृष्णदेवाभिधानम् ॥ १८ ॥

ए. इं; जि० ९, पृ० ७५–७६।

(३) बंब. गैज़ेटियर; जि० १, भा० १, पृ० ४७२–७३।

(४) वही; जि० १, भा० १, पृ० ४७३–७४।

का पूरा पता न लगे तब तक कृष्णराज के पीछे शायद एक या दो नाम रह गये हों ऐसा मानकर हम रामदेव से आगे की वंशावली लिखते हैं।

(१०) ध्रुवभट—किसका पुत्र था इसका भी निश्चय नहीं हो सका, ऐसी दशा में कृष्णराज के वंश में उसका होना मानना पड़ता है।

(११) रामदेव—उसका पूर्णपाल या कृष्णराज से क्या संबंध था यह भी अब तक ज्ञात नहीं हुआ।

(१२) विक्रमसिंह (सं० ११ का उत्तराधिकारी)—हेमचंद्र (हेमाचार्य) ने अपने 'द्व्याश्रयमहाकाव्य' में लिखा है कि गुजरात के सोलंकी राजा कुमारपाल ने अजमेर के चौहान राजा आना (अर्णोराज, आनल्लदेव, आनाक) पर चढ़ाई की उस समय आबू का राजा विक्रमसिंह कुमारपाल के साथ था[1]। जिनमंडनोपाध्याय ने अपने 'कुमारपाल-प्रबंध' में लिखा है कि विक्रमसिंह लड़ाई के समय आना (अर्णोराज) से मिल गया जिससे कुमारपाल ने उसको क़ैद कर आबू का राज्य उसके भतीजे यशोधवल को दिया। वस्तुपाल के आबू के मंदिर की प्रशस्ति में रामदेव के पीछे यशोधवल का नाम दिया है, परंतु हेमचंद्र कुमारपाल के समय के ही लेखक होने से उनका कथन निर्मूल नहीं कहा जा सकता। सोलंकी कुमारपाल ने अजमेर पर दो चढ़ाइयां की थीं, परंतु पिछले जैन लेखकों ने दोनों को मिलाकर गड़बड़ कर दिया है। पहली चढ़ाई वि० सं० १२०१ (ई० स० ११४४) के आसपास हुई जिसमें कुमारपाल की विजय हुई हो ऐसा पाया नहीं जाता; दूसरी चढ़ाई वि० सं० १२०७ (ई० स० ११५०) में हुई जिसमें वह विजयी हुआ[2]। विक्रमसिंह के समय पहली चढ़ाई हुई होगी क्योंकि अजारी गांव (सिरोही राज्य में) से यशोधवल के समय का एक शिलालेख[3] वि० सं० १२०२ (ई० स० ११४५) का मिला जिसमें उसको महामंडलेश्वर कहा है।

(१३) यशोधवल (सं० १२ का भतीजा)—वि० सं० १२०२ में विद्यमान था। उसने कुमारपाल के शत्रु मालवे के राजा बल्लाल को मारा था[4]। बल्लाल का

---

(१) 'द्व्याश्रयकाव्य'; सर्ग १६, श्लो० ३३-३४।

(२) इं० ऐं; जि० ४१, पृ० १९५-९६।

(३) यह शिलालेख राजपूताना म्यूज़िअम् (अजमेर) में सुरक्षित है।

(४) रोदःकंदरवर्तिकीर्तिलहरीलिप्तामृतांशुद्युते-

रप्रद्युम्नवशो यशोधवल इत्यासीत्तनूजस्ततः।

नाम मालवे के परमारों के शिलालेखादि में नहीं मिलता, संभव है कि वह उनका कोई वंशधर हो जिसने अपने पुरखाओं का सोलंकियों के हाथ में गया हुआ राज्य पीछा लेने का झंडा उठाया हो और उसमें मारा गया हो, अथवा किसी राजा का उपनाम (खिताब) हो जिसका निर्णय अब तक नहीं हुआ। यशोधवल के दो पुत्र धारावर्ष और प्रल्हादनदेव थे।

(१४) धारावर्ष (सं० १३ का पुत्र)—वह आबू के परमारों में बड़ा प्रसिद्ध और पराक्रमी हुआ। गुजरात के राजा कुमारपाल ने कोंकण (उत्तरी) के राजा (मल्लिकार्जुन) पर दो चढ़ाइयां भेज उसको मारा, उनमें वह भी कुमारपाल की सेना के साथ था और उसने अपनी वीरता बतलाई थी[1]। 'ताजुल् मआसिर' नामकी फ़ारसी तवारीख़ से पाया जाता है कि हिजरी सन् ५६३ के सफर (वि० सं० १२५३ पौष या माघ=ई० स० ११९६) महीने में कुतबुद्दीन ऐबक ने अणहिलवाड़े पर चढ़ाई की। उस समय आबू के नीचे (कायद्रा गांव के पास) बड़ी लड़ाई हुई जिसमें धारावर्ष गुजरात की सेना के दो मुख्य सेनापतियों में से एक था। इस लड़ाई में गुजरात की सेना हारी, परंतु उसी जगह थोड़े ही समय पहले जो एक दूसरी लड़ाई हुई थी उसमें शहाबुद्दीन गोरी घायल होकर भागा था[2], उस लड़ाई में भी धारावर्ष का लड़ना पाया जाता है। उसके समय गुजरात पर कुमारपाल, अजयपाल, मूलराज (दूसरा) और भीमदेव (दूसरा) ये चार सोलंकी राजा हुए। बालक राजा भीमदेव (दूसरे) के समय में उसके मंत्रियों तथा सरदारों ने उसका राज्य क्रमशः दबा लिया[3] और वे स्वतंत्र बन बैठे तब धारावर्ष भी स्वतंत्र हो गया था, परंतु जब गुजरात पर

यश्चौलुक्यकुमारपालनृपतिप्रत्यर्थितामागतं
मत्वा सत्वरमेव मालवपतिं बल्लालमालब्धवान् ॥ ३५ ॥

आबू पर के तेजपाल के मंदिर की वि० सं० १२८७ की प्रशस्ति से (ए० इं; जि० ८, पृ० २१०–११)

(१) वही; प्रशस्ति श्लोक ३६।

(२) इलियट; हिस्टरी ऑफ़ 'इंडिया;' जि० २, पृ. २२९–३०।

(३) *मन्त्रिभिर्माण्डलीकैश्च बलवद्भिः शनैः शनैः ।*
बालस्य भूमिपालस्य तस्य राज्यं व्यभज्यत ॥ ६१ ॥

'कीर्तिकौमुदी;' सर्ग २।

दक्षिण के यादव राजा सिंहण ने तथा दिल्ली के सुलतान शमसुद्दीन अल्तमश ने चढ़ाई की; उस विकट समय में धोलका के बघेल (सोलंकी) सामंत वीरधवल तथा उसके मंत्री पोरवाड़ (प्राग्वाट) महाजन वस्तुपाल और तेजपाल के आग्रह से मारवाड़ के अन्य राजाओं के साथ वह भी गुजरात के राजा की सहायता करने को फिर तैयार हो गया[1]। वह बड़ा ही वीर और पराक्रमी राजा था। पाटनारायण के मंदिर के वि० सं० १३४४ (ई० स० १२८७) के शिलालेख में लिखा है कि धारावर्ष एक बाण से तीन भैंसों को बींध डालता था[2]। इस कथन की साक्षी आबू पर अचलेश्वर मंदिर के बाहर मंदाकिनी नामक बड़े कुंड के तट पर धनुष सहित पत्थर की बनी हुई राजा धारावर्ष की खड़ी मूर्ति दे रही है जिसके आगे पूरे क़द के तीन भैंसे पास पास खड़े हुए हैं, जिनमें से प्रत्येक के शरीर के आरपार समान रेखा में एक एक छिद्र बना है। उसकी दो राणियां शृंगारदेवी और गीगादेवी नाडोल के चौहान राजा केल्हण की पुत्रियां थीं, जिनमें से गीगादेवी उसकी पटराणी थी। उसके राज्यसमय का एक दानपत्र और कई शिलालेख वि० सं० १२२० से १२७६[3] तक के मिले हैं जिनसे निश्चित है कि उसने कम से कम ५७ वर्ष तक राज्य किया था।

'पृथ्वीराज रासे' में लिखा है कि आबू के परमार राजा सलख की पुत्री इच्छनी से गुजरात के राजा भीमदेव (दूसरा, भोलाभीम) ने विवाह करना चाहा, परंतु यह बात सलख तथा उसके पुत्र जैतराव ने स्वीकार नहीं की और इच्छनी का संबंध चौहान पृथ्वीराज से कर दिया। इसपर क्रुद्ध हो भीम ने आबू पर चढ़ाई कर दी, युद्ध में सलख मारा गया। उसके पीछे पृथ्वीराज ने भीम को परास्त कर आबू का राज्य जैतराव को दिया और इच्छनी से विवाह कर लिया। यह सारी

---

(१) ना० प्र० प०; भाग ३, पृ० १२३–२४, और पृ० १२४ के टिप्पण १, ३ और ४।

(२) *एकबाणनिहतं त्रिलुलायं यं निरीक्ष्य कुरुयोधसदृक्षं ।*

पाटनारायण की प्रशस्ति; श्लो० १५ (मूललेख की छाप से)।

(३) धारावर्ष का वि० सं० १२२० ज्येष्ठ सुदि ५ का शिलालेख कायद्रा गांव (सिरोही राज्य में) से मिला है जो राजपूताना म्यूज़ियम् (अजमेर) में सुरक्षित है और १२७६ का मकावल गांव (सिरोही राज्य में) से थोड़ी दूर एक छोटे से तालाब की पाल पर खड़े हुए संगमरमर के अठपहलू स्तंभ पर खुदा है।

कथा कल्पित है क्योंकि आबू पर सलख या जैतराव नाम का कोई परमार राजा ही नहीं हुआ। पृथ्वीराज ने वि० सं० १२३६ (ई० स० ११७६) से १२४६ (ई० स० ११९२) तक राज्य किया, और वि० सं० १२२० (ई० स० ११६३) से १२७६ (ई० स० १२१९) तक आबू का राजा धारावर्ष था जिसके कई शिलालेख मिल चुके हैं।

धारावर्ष का छोटा भाई प्रल्हादनदेव (पालनसी) वीर एवं विद्वान् था। उसकी विद्वत्ता और वीरता की बहुत कुछ प्रशंसा प्रसिद्ध कवि सोमेश्वर ने अपनी रची हुई 'कीर्तिकौमुदी' नामक पुस्तक[1] तथा वस्तुपाल के बनवाए हुए लूणवसही नामक आबू पर देलवाड़ा गांव के नेमिनाथ के मंदिर की वि० सं० १२८७ की प्रशस्ति में की है। मेवाड़ के गुहिलवंशी राजा सामंतसिंह और गुजरात के सोलंकी राजा अजयपाल की लड़ाई में, जिसमें अजयपाल घायल हुआ, प्रल्हादन ने बड़ी वीरता से लड़कर गुजरात की रक्षा की थी[2]। प्रल्हादन का रचा हुआ 'पार्थपराक्रम व्यायोग'[3] (नाटक) भी मिल चुका है, जो उसकी लेखनी का उज्ज्वल रत्न है। उसने अपने नाम से प्रल्हादनपुर नगर बसाया जो अब पालनपुर नाम से गुजरात में प्रसिद्ध है।

(१५) सोमसिंह (सं० १४ का पुत्र)—उसने अपने पिता से शस्त्रविद्या और चचा (प्रल्हादन) से शास्त्रविद्या को पढ़ा था[4]। उसके समय में मंत्री वस्तुपाल

---

(१) *श्रीप्रह्लादनदेवोभूद्द्वितयेन प्रसिद्धिमान्।*
पुत्रत्वेन सरस्वत्याः पतित्वेन जयश्रियः॥ २०॥

'कीर्तिकौमुदी;' सर्ग १।

(२) इं० ऐं; जि० ४३, पृ० १००–१०२।

(३) संस्कृत में नाटक के मुख्य १० भेद माने गये हैं, जिनमें से एक 'व्यायोग' कहलाता है। व्यायोग किसी प्रसिद्ध घटना का प्रदर्शक होता जिसमें युद्ध का प्रसंग अवश्य होता है, परंतु वह स्त्री के निमित्त न हो। उसमें एक ही अंक, धीरोद्धत वीर पुरुष नायक, पात्रों में पुरुष अधिक और स्त्रियां कम और मुख्य रस वीर तथा रौद्र होते हैं। 'पार्थ-पराक्रम व्यायोग' 'गायकवाड़ ओरिऐंटल सीरीज़' में छप चुका है।

(४) *धारावर्षसुतोऽयं जयति श्रीसोमसिंहदेवो यः।*
पितृतः शौर्यं विद्यां पितृव्यकाद्दानमुभयतो जगृहे॥ ४०॥

ए० इं; जि० ८, पृ० २११।

के छोटे भाई तेजपाल ने आबू पर देलवाड़ा गांव में लूणवसही नामक नेमिनाथ का मंदिर, जो आबू के सुंदर मंदिरों में दूसरा है[1], करोड़ों रुपये लगाकर अपने पुत्र लूणसिंह (लावण्यसिंह) के श्रेय के लिये वि० सं० १२८७ (ई० स० १२३०) में बनवाया। उसकी पूजा आदि के लिये सोमसिंह ने बारठ परगने का डबाणी गांव उक्त मंदिर को भेट किया[2]। उसी गांव से मिले हुए वि० सं० १२६६ श्रावण सुदि ५ के शिलालेख में उक्त मंदिर तथा तेजपाल और उसकी स्त्री अनुपमादेवी के नामों का उल्लेख है। सोमसिंह के समय के तीन शिलालेख अब तक मिले हैं जो वि० सं० १२८७ से १२६३ तक के हैं[3]। वह गुजरात के सोलंकी राजा भीमदेव (दूसरे) का सामंत था। उसने अपने जीतेजी अपने पुत्र कृष्णराज (कान्हड़देव) को युवराज बना दिया था और उसके हाथखर्च के लिये नाणा गांव (जोधपुर राज्य के गोड़वाड़ इलाके में) दिया था।

(१६) कृष्णराज-तीसरा (सं० १५ का पुत्र)—उसको कान्हड़देव भी कहते थे।

(१७) प्रतापसिंह[4] (सं० १६ का पुत्र)—उसके विषय में पाटनारायण के मंदिर के वि० सं० १३४४ के शिलालेख में लिखा है कि उसने जैत्रकर्ण को परास्त कर दूसरे वंश में गई हुई चंद्रावती का उद्धार किया अर्थात् दूसरे वंश के राजा

---

(१) उक्त मंदिर की सुंदरता आदि के लिये देखो ऊपर पृ० २३-२४।

(२) ए० इं; जि० ८, पृ० २२२, पंक्ति ३१ वीं।

(३) वि० सं० १२८७ की दो प्रशस्तियां आबू पर वस्तुपाल के मंदिर में लगी हुई हैं (ए० इं; जि० ८, पृ० २०८-२२) और वि० सं० १२६३ का शिलालेख देवखेत्र (देवक्षेत्र, सिरोही राज्य में) के मंदिर में लगा हुआ (अप्रकाशित) है।

(४) सिरोही राज्य के कालागरा नामक गांव से एक शिलालेख वि० सं० १३०० का मिला है जिसमें चंद्रावती के महाराजाधिराज आल्हणसिंह का नाम है। वह किस वंश का था इस संबंध का उक्त लेख में कुछ भी उल्लेख नहीं है। पाटनारायण के मंदिर के वि० सं० १३४४ के शिलालेख में कृष्णराज के पीछे प्रतापसिंह का नाम है, आल्हणसिंह का नहीं; ऐसी दशा में संभव है कि आल्हणसिंह कृष्णराज का ज्येष्ठ पुत्र हो और उस (आल्हणसिंह) के पीछे प्रतापसिंह राजा हुआ हो। शिलालेखों में ऐसे उदाहरण कभी कभी मिल आते हैं कि एक भाई के पीछे दूसरा भाई राजा हुआ हो तो वह (दूसरा) अपने बड़े भाई का नाम छोड़ अपने पिता के पीछे अपना नाम लिखाता है, परंतु जब तक अन्य लेखों से हमारे इस अनुमान की पुष्टि न हो तब तक हम आल्हणसिंह को आबू के परमारों की वंशावली में स्थान देना उचित नहीं समझते।

जैत्रकर्ण ने चंद्रावती लेली थी, उसको परास्त कर वहां पर पीछा परमारों का राज्य जमाया। जैत्रकर्ण शायद मेवाड़ का राजा जैत्रसिंह हो। प्रतापसिंह का मंत्री ब्राह्मण देल्हण था, जिसने वि० सं० १३४४ में पाटनारायण के मंदिर का जीर्णोद्धार करवा कर उसपर ध्वजा-दंड चढ़ाया।

(१८) विक्रमसिंह (सं० १७ का उत्तराधिकारी)—उसके समय का एक शिलालेख वि० सं० १३५६ (ई० स० १२९९) का वर्माण गांव (सिरोही राज्य में) के ब्रह्माणस्वामी नाम के सूर्यमंदिर के एक स्तंभ पर खुदा है, जिसमें उसका खिताब 'महाराजकुल' (महारावल) लिखा है। आबू पर तेजपाल के मंदिर की वि० सं० १२८७ की दूसरी प्रशस्ति में आबू के परमार राजा सोमसिंह को भी राजकुल (रावल) लिखा है जिससे अनुमान होता है कि जैसे मेवाड़ के राजाओं ने पीछे से राजकुल (रावल) और महाराजकुल (महारावल) खिताब धारण किये वैसे ही आबू के परमारों ने भी धारण किये थे। विक्रमसिंह के समय जालोर के चौहानों ने आबू के परमारराज्य का पश्चिमी अंश दबा लिया और उसके अंतिम समय में, अथवा उसके पुत्र या वंशज से वि० सं० १३६८ (ई० स० १३११) के आसपास राव लुंभा ने आबू तथा उसकी राजधानी चंद्रावती छीनकर आबू के परमार राज्य की समाप्ति की और वहां चौहानों का राज्य स्थापित किया।

आबू के परमारों के वंशधर दांता (आबू के निकट गुजरात में) के परमार हैं, उनका जो इतिहास गुजराती 'हिंदराजस्थान' में छपा है उससे पाया जाता है कि उसके संग्रह करनेवाले को परमारों के प्राचीन इतिहास का कुछ भी ज्ञान न था, जिससे 'प्रबंधचिंतामणि' आदि में मालवे के परमारों का जो कुछ इतिहास मिला उसे संग्रह कर दांता के परमारों को मालवे के परमारों का वंशधर ठहरा दिया। फिर मुंज, सिंधुल और प्रसिद्ध राजा भोज के पीछे क्रमशः उदयकरण (उदयादित्य), देवकरण, खेमकरण, संताण, समरराज और शालिवाहन के नाम दिये हैं। उसी शालिवाहन का वि० सं० १३५ में होना और शक संवत् चलाना भी लिखा है। यह सब इतिहास के अंधकार में बहुधा कल्पित वृत्तान्त लिख मारा है। दांता के परमार वास्तव में आबू के राजा कृष्णराज (कान्हड़देव) दूसरे के वंशधर हैं।

आबू के परमारों का वंशवृक्ष

- १-सिंधुराज (धूमराज का वंशज)
- २-उत्पलराज
- ३-आरण्यराज
- ४-कृष्णराज
- ५-धरणीवराह
- ६-महीपाल (देवराज) वि० सं० १०५९
- ७-धंधुक
  - ८-पूर्णपाल वि० सं० १०९९-११०२
  - ९-कृष्णराज (दूसरा) वि० सं० १११७-२३
    - १०-ध्रुवभट
      - ११-रामदेव
      - १२-विक्रमसिंह वि० सं० १२०१(?)
      - ०
        - १३-यशोधवल वि० सं० १२०२
          - १४-धारावर्ष वि० सं० १२२०-७६
            - १५-सोमसिंह वि० सं० १२८७-९३
            - १६-कृष्णराज (तीसरा)
            - १७-प्रतापसिंह वि० सं० १३४४
            - १८-विक्रमसिंह वि० सं० १३५६
          - प्रल्हादन
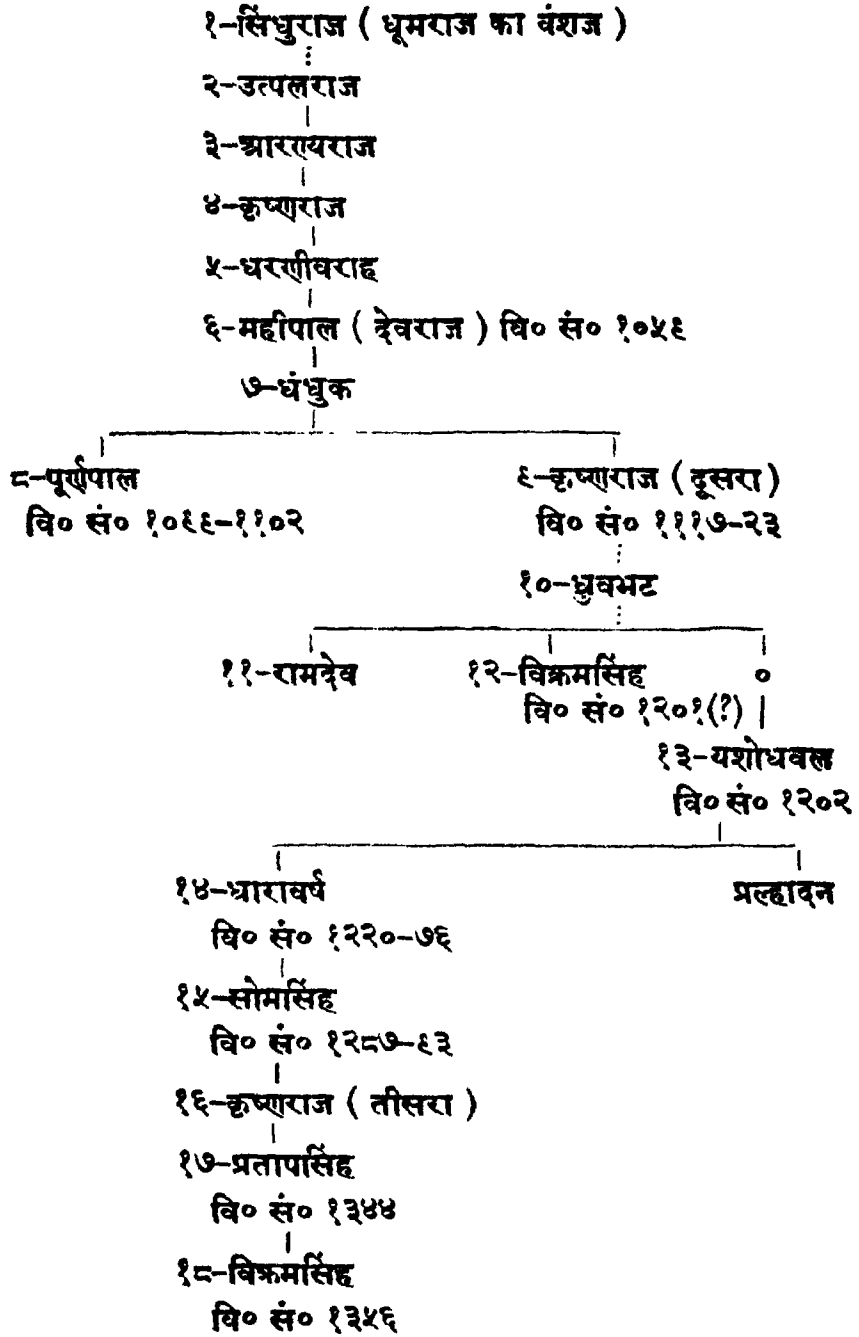
जालोर के परमार

जालोर (जोधपुर राज्य में) से परमारों का एक शिलालेख वि० सं० ११४४ (ई० स० १०८७) का मिला है[1] जिसमें वहां के परमारों के क्रमशः ये सात नाम मिलते हैं—

(१) वाक्पतिराज, (२) चंदन, (३) देवराज, (४) अपराजित, (५) विज्जल, (६) धारावर्ष और (७) वीसल । वीसल की राणी मेलरदेवी ने सिंधुराजेश्वर के मंदिर पर उक्त संवत् में सुवर्ण का कलश चढ़वाया । ये राजा आबू के परमारों की छोटी शाखा में होने चाहियें । यह शाखा आबू के कौन से राजा से फटी इसका कुछ भी हाल अब तक जानने में नहीं आया, परंतु जालोर का वाक्पतिराज आबू के महीपाल (देवराज) का समकालीन प्रतीत होता है, ऐसी दशा में जालोर की शाखावाले आबू के परमार धरणीवराह के वंशज हों तो आश्चर्य नहीं ।

किराडू के परमार

किराडू (जोधपुर राज्य में) के शिवालय के एक स्तंभ पर वहां के परमारों का एक लेख खुदा हुआ है जो वि० सं० १२१८ (ई० स० ११६१) आश्विन सुदि १ का है । उसका एक तिहाई अंश नष्ट हो गया है तो भी जो कुछ रक्षित है उसमें आबू के परमार राजा कृष्णराज (दूसरे) के नीचे लिखे हुए वंशधरों के नाम मिलते हैं ।

(१) सोच्छराज (कृष्णराज का पुत्र) ।

(२) उदयराज (सं० १ का पुत्र)—वह गुजरात के सोलंकी राजा जयसिंह (सिद्धराज) का सामंत था और उसके लिये चोड, गौड, कर्णाट और मालवे में लड़ाइयां लड़ा था ।

(३) सोमेश्वर (सं० २ का पुत्र)—वह प्रारंभ में जयसिंह (सिद्धराज) का सामंत और कृपापात्र था । जयसिंह की कृपा से सिंधुराजपुर के राज्य को, जो पहले छूट गया था, फिर से प्राप्त कर कुमारपाल (सिद्धराज जयसिंह का उत्तराधिकारी) की कृपा से उसे सुदृढ़ किया और किराडू में बहुत समय तक वह राज्य करता रहा । वि० सं० १२१८ (ई० स० ११६१) आश्विन सुदि १ गुरुवार को उसने राजा जज्जक से १७०० घोड़े दंड में लिये और उसके दो क़िले तणुकोट्ट (तंनोट, जैसलमेर राज्य में) और नवसर (नौसर, जोधपुर राज्य में) भी छीन लिये, अंत में जज्जक को चौलुक्य (सोलंकी)

(१) यह लेख अब तक अप्रकाशित है ।

राजा (कुमारपाल) के अधीन कर वे क़िले आदि उसको पीछे दे दिये[1], जिसकी यादगार में किराडू का वह लेख खुदवाया गया था।

आबू के परमारों की ऊपर लिखी हुई शाखाओं के अतिरिक्त जोधपुर राज्य में कहीं कहीं और भी परमारों के लेख मिलते हैं, परंतु उनमें वंशावली न होने से हमने उन्हें यहां स्थान नहीं दिया।

मालवे के परमारों के शिलालेखों तथा 'नवसाहसांकचरित' आदि पुस्तकों में उनका उत्पत्ति-स्थान आबू पर्वत बतलाया है, जिससे अनुमान होता है कि वे आबू से उधर गये हों। आबू का उत्पलराज (ऊपलदे) और मालवे का उपेंद्र (कृष्णराज) एक ही व्यक्ति हो, यदि यह अनुमान ठीक हो तो यही मानना पड़ेगा कि उत्पलराज ने मालवा विजय किया हो और वहां का राज्य उसके पुत्र वैरिसिंह को मिला हो। मालवे के परमारों के अधीन राजपूताने के कोटा राज्य का दक्षिणी विभाग, झालावाड़ राज्य, वागड़, तथा प्रतापगढ़ राज्य का पूर्वी विभाग रहना पाया जाता है। उनकी मूल राजधानी धारानगरी थी, फिर उज्जैन हुई, और भोज के समय पीछी धारानगरी में राजधानी स्थापित की गई। उनकी नामावली नीचे लिखे अनुसार मिलती है—

मालवे के परमार

(१) *प्रसादाज्जयसिंहस्य सिद्धराजस्य भूभुजः ॥ १९ ॥*

····················सिंधुराजपुरोद्भवं ।

भूयो निर्व्याजशौर्येण राज्यमेतत्समुद्धृतं ॥ २० ॥

···· । कुमारपालभूपालात् सुप्रतिष्ठमिदं कृतं ॥ २१ ॥

किरातकूटमात्मीयं··············समन्वितं ।

निजेन क्षात्रधर्मेण पालयामास यश्चिरं ॥ २२ ॥

अष्टादशाधिके चास्मिन् शतद्वादशकेश्विने ।

प्रतिपद्गुरुसंयोगे सार्द्धयामे गते दिने ॥ २३ ॥

दंडं सप्तदशशतमश्वानां नृपजज्जकात् ।····॥ २४ ॥

तणुकोट्टं नवसरो दुर्ग्गौ सोमेश्वरोग्रहीत् ।····॥ २५ ॥

बहुशः सेवकीकृत्य चौलुक्यजगतीपतेः ।

पुनः संस्थापयामास तेषु देशेषु जज्जकं ॥ २६ ॥

किराडू का शिलालेख (अप्रकाशित)।

१ कृष्णराज—उसका दूसरा नाम उपेंद्र मिलता है। उदयपुर की प्रशस्ति में उसके विषय में लिखा है कि उसने कई यज्ञ किये और अपने ही पराक्रम से बड़ा राजा होने का सम्मान प्राप्त किया[1]। 'नवसाहसांकचरित' में लिखा है कि 'उसका यश जो सीता के आनंद का हेतु था, हनुमान की नाईं समुद्र को उल्लंघन कर गया[2]'। इसका अभिप्राय यही होना चाहिये कि सीता नाम की विदुषी और कवित्वशालिनी स्त्री ने उसके यश का कोई ग्रंथ लिखा हो। सीता नाम की विदुषी स्त्री का 'प्रबंधचिंतामणि' और 'भोजप्रबंध' में भोज के समय में होना लिखा है, परंतु उसका कृष्णराज के समय में होना विशेष संभव है। कृष्णराज के दो पुत्र वैरिसिंह और डंबरसिंह थे, जिनमें से वैरिसिंह उसका उत्तराधिकारी हुआ और डंबरसिंह को वागड़ (डूंगरपुर और बांसवाड़ा राज्य) का इलाक़ा जागीर में मिला।

(२) वैरिसिंह (सं० १ का पुत्र)।

(३) सीयक (सं० २ का पुत्र)।

(४) वाक्पतिराज (सं० ३ का पुत्र)—उसके विषय में उदयपुर (ग्वालियर राज्य में) के शिलालेख में लिखा है कि उसके घोड़े गंगासमुद्र (गंगासागर या गंगा और समुद्र) का जल पीते थे, अर्थात् वहां तक उसने धावा किया हो।

(५) वैरिसिंह दूसरा (सं० ४ का पुत्र)—उसको वज्रटस्वामी भी कहते थे। उसने अपनी तलवार की धारा (धार) से शत्रुओं को मारकर धारा (धारानगरी) का नाम सार्थक कर दिया।

(६) श्रीहर्ष (सं० ५ का पुत्र)—उसको सीयक (दूसरा) और सिंहभट भी कहते थे। उसने दक्षिण के राठोड़ राजा खोट्टिगदेव पर चढ़ाई की। नर्मदा-तट पर खलिघट्ट में उससे लड़ाई हुई जिसमें राठोड़ों की हार हुई। इस लड़ाई

---

(१) ए. इं; जि० १, पृ० २३४।

(२) *उपेन्द्र इति सञ्जज्ञे राजा सूर्येन्दुसन्निभः ॥ ७६ ॥*
सदागतिप्रवृत्तेन सीतोच्छ्वसितहेतुना ।
हनूमतेव यशसा यस्यालङ्घ्यत सागरः ॥ ७७ ॥

'नवसाहसांकचरित'; सर्ग ११।

में बागड़ का स्वामी परमार कंकदेव, जो श्रीहर्ष का कुटुंबी था, हाथी पर चढ़कर लड़ता हुआ मारा गया[1]। फिर आगे बढ़कर वि० सं० १०२६ (ई० स० ९७२) में दक्षिण के राठोड़ों की राजधानी मान्यखेट (मालखेड़, निज़ाम राज्य में) नगर को लूटा[2]। उसने हूणों को भी जीता था। उसी वर्ष उसके राज्य में धनपाल कवि ने अपनी विदुषी बहिन सुंदरी के लिये 'पाइअलच्छीनाममाला' नामक प्राकृत कोष बनाया। श्रीहर्ष का एक दानपत्र वि० सं० १००५ माघ वदि अमावास्या का मिला है[3]। उसके दो पुत्र मुंज और सिंधुराज (सिंधुल) थे जिनमें

(१) *श्रीहर्षदेव इति खोट्टिगदेवलक्ष्मीं जग्राह यो युधि नगादसमप्रतापः ॥*

उदयपुर की प्रशस्ति (ए. इं; जि० १, पृ० २३५)।

तस्यान्वये करिकरोद्धरवा(बा)हुदण्डः

श्रीकंकदेव इति लब्ध(ब्ध)जयो व(ब)भूव। .... ॥

आरूढो गजपृष्ठमद्भुतम(श)रासारै रणे सर्व्वतः

कर्णाटाधिपतेर्व्व(र्ब्ब)लं विदलयंस्तन्नर्म्मदायास्तटे।

श्रीश्रीहर्षनृपस्य मालवपतेः कृत्वा तथारिक्षयं

यः स्वर्ग्गं सुभटो ययौ सुरवधूनेत्रोत्पलैरर्च्चितः ॥

अर्थूणा (बांसवाड़ा राज्य में) के मंडलेश्वर के मंदिर की वि० सं० ११३६ की प्रशस्ति की छाप से।

चच्चनामाभवत्तस्माद्भ्रातृसूनुर्महानृपः।

रणे..॥ २८ ॥

..स्यया

विख्यातः करवालघातदलितद्विट्कुंभिकुंभस्थलः।

यः श्रीखोट्टिकदेवदत्तसमरः श्रीसीयकार्थे कृती

रेवायाः खलि[घट्ट]नामनि तटे युध्वा प्रतस्थे दिवं ॥ २९ ॥

पाणाहेड़ा (बांसवाड़ा राज्य में) के मंडलेश्वर के मंदिर की वि० सं० १११६ की प्रशस्ति की छाप से।

(२) *विक्कमकालस्स गए अउणत्तीसुत्तरे सहस्सम्मि (१०२६)।*

मालवनरिंदधाडीए लूडिए मन्नखेडम्मि ॥

'पाइअलच्छीनाममाला' श्लो० २६८।

(३) 'पुरातत्त्व' (गुजराती); जि० सं० १९७९–८०, पृ० ४४–४६।

से मुंज उसका उत्तराधिकारी हुआ।

(७) मुंज (सं० ६ का पुत्र)—उसके बिरुद वाक्पतिराज, अमोघवर्ष, उत्पलराज, पृथिवीवल्लभ और श्रीवल्लभ मिलते हैं। उसने कर्णाट, लाट, केरल और चोल के राजाओं को अधीन किया[१], चेदि देश के कलचुरि(हैहय)-वंशी राजा युवराजदेव (दूसरे) को जीतकर उसके सेनापतियों को मारा और उस(युवराजदेव)की राजधानी त्रिपुरी पर तलवार उठाई[२] (अर्थात् उसको लूटा); ऐसे ही [राजा शक्तिकुमार के समय] मेवाड़ पर चढ़ाई कर आघाटपुर (आहाड़) को तोड़ा[३] और चित्तोड़गढ़ तथा मालवे से मिला हुआ उक्त गढ़ के निकट का प्रदेश अपने राज्य में मिला लिया[४]। कर्णाट देश के चालुक्य (सोलंकी) राजा तैलप पर चढ़ाई की, परंतु उसमें वह कैद हुआ और कुछ समय बाद वहीं मारा गया[५]।

मेरुतुंग ने अपनी 'प्रबंधचिन्तामणि' में लिखा है कि "आज्ञा के विरुद्ध चलने के कारण मुंज ने अपने भाई सिंधुल को राज्य से निकाल दिया था तब वह गुजरात के कासहृद नामक स्थान में जा रहा। कुछ समय पीछे वह मालवे में लौटा तो मुंज ने उसकी आंखें निकलवाकर पिंजरे में कैद कर दिया और उसके पुत्र भोज को मारने की आज्ञा दी इत्यादि[६]"। यह कथा इतिहास के अभाव में कल्पित खड़ी की गई है क्योंकि मुंज और सिंधुराज के समय जीवित रहने-वाले पद्मगुप्त(परिमल)रचित 'नवसाहसांकचरित' और धनपालरचित 'तिलकमंजरी' नामक पुस्तकों से पाया जाता है कि मुंज को अपने भतीजे भोज

(१) ए. इं; जि० १, पृ० २२७।

(२) *युवराजं विजित्याजौ हत्वा तद्वाहिनीपतीन्।*
खड्गमूर्द्धीकृतं येन त्रिपुर्यां विजिगीषुणा॥

उदयपुर की प्रशस्ति (ए. इं; जि० १, पृ० २३५)।

(३) *भंक्त्वाघाटं घटाभिः प्रकटमिव मदं मेदपाटे भटानां*
जन्ये राजन्यजन्ये जनयति जनताजं रणं मुंजराजे।

ए. इं; जि० १०, पृ० २०।

(४) ना. प्र. प; भा० ३, पृ० ५।

(५) 'सोलंकियों का प्राचीन इतिहास'; प्रथम भाग, पृ० ७५-७७।

(६) 'प्रबंधचिंतामणि'; पृ० ५५-५८।

पर बड़ी प्रीति थी, और उसके योग्य होने से ही मुंज ने उसको अपने राज्य पर अभिषिक्त कर दिया था[1] अर्थात् गोद ले लिया था, और जब वह (मुंज) तैलप से लड़ने को गया उस समय राज्य का प्रबंध अपने भाई सिंधुराज को सौंप गया था। मुंज उस लड़ाई के पीछे मारा गया और उस समय भोज के बालक होने से ही उसका पिता सिंधुराज राजा हुआ था।

मुंज स्वयं अच्छा विद्वान् और विद्वानों का आश्रयदाता था। उसके दरबार में धनपाल, 'नवसाहसांकचरित' का कर्त्ता पद्मगुप्त (परिमल), 'दशरूपक' का कर्ता धनंजय, दशरूपक पर 'दशरूपावलोक' नामक टीका लिखनेवाला धनिक (धनंजय का भाई), 'पिंगलछंदसूत्र' पर 'मृतसंजीवनी' टीका का कर्त्ता हलायुध और 'सुभाषितरत्नसंदोह' का कर्त्ता अमितगति आदि प्रसिद्ध विद्वान् थे। मुंज का बनाया हुआ कोई ग्रंथ अब तक नहीं मिला, परंतु सुभाषित के संग्रह ग्रंथों में उसके बनाए हुए श्लोक मिलते हैं।

उसके समय के दो दानपत्र वि० सं० १०३१ और १०३६ (ई० स० ९७४ और ९७९) के मिले हैं[2]। वि० सं० १०५० में[3] अमितगति ने 'सुभाषितरत्नसंदोह' की रचना की उस समय वह राज्य पर था और वि० सं० १०५० और १०५४ (ई० स० ९९३ और ९९७) के बीच तैलप के यहां मारा गया[4]। उसके प्रधान मंत्री का नाम रुद्रादित्य था।

---

(१) तस्याजायत मांसलायतभुजः श्रीभोज इत्यात्मजः ।
प्रीत्या योग्य इति प्रतापवसतिः ख्यातेन मुञ्जाख्यया
यः स्वे वाक्पतिराजभूमिपतिना राज्येऽभिषिक्तः स्वयं ॥ ४३ ॥

'तिलकमंजरी'।

(२) वि० सं० १०३१ का दानपत्र इं. ऐं; जि० ६, पृ० ५१-५२ में और १०३६ का इं. ऐं; जि० १४, पृ० १६० में प्रकाशित हो चुका है।

(३) समारूढे पूतत्रिदशवसतिं विक्रमनृपे
सहस्रे वर्षाणां प्रभवति हि पंचाशदधिके (१०५०)।
समाप्ते पंचम्यामवति धरणिं मुंजनृपतौ
सिते पक्षे पौषे बुधहितमिदं शास्त्रमनघं ॥ ९२२ ॥

'सुभाषितरत्नसंदोह'।

(४) 'सोलंकियों का प्राचीन इतिहास'; प्रथम भाग, पृ० ७७।

(८) सिंधुराज (संख्या ७ का छोटा भाई)—उसको सिंधुल भी कहते थे और उसके बिरुद कुमारनारायण और नवसाहसांक थे। मुंज ने अपने जीतेजी भोज को गोद ले लिया परंतु उस(मुंज)के मारे जाने के समय वह बालक था इसलिये सिंधुराज गद्दी पर बैठा था। उसने हूण[1], कोसल (दक्षिण-कोसल), वागड़, लाट और मुरलवालों को जीता[2] और इस नवीन साहस के कारण ही उसने 'नवसाहसांक' पदवी धारण की हो। पद्मगुप्त (परिमल) कवि ने उसके समय में उसके चरित का 'नवसाहसांक' काव्य लिखा, परंतु उसमें ऐतिहासिक बातें बहुत कम हैं। उक्त काव्य से पाया जाता है कि उसके मंत्री का नाम रमांगद था। सिंधुराज ने नागकन्या (नागवंश की राजकुमारी) शशिप्रभा के साथ विवाह किया था। सिंधुराज वि० सं० १०६६ (ई० स० १००९) से कुछ ही पूर्व गुजरात के चौलुक्य (सोलंकी) राजा चामुंडराज के साथ की लड़ाई में मारा गया[3]।

(९) भोज (सं० ८ का पुत्र)—उसका बिरुद त्रिभुवननारायण मिलता है। वह बड़ा दानी, विद्वान् और रणरसिक था। उदयपुर (ग्वालियर राज्य में) के शिलालेख से पाया जाता है कि 'उसने कैलाश से लगाकर मलय पर्वत (दक्षिण में) तक के देशों पर राज्य किया[4] (इसमें अतिशयोक्ति का होना संभव है), तथा चेदीश्वर (चेदि देश का राजा), इंद्ररथ, तोग्गल, भीम आदि को एवं कर्णाट, लाट और गुर्जर (गुजरात) के राजाओं तथा तुरुष्कों (मुसलमानों) को जीता। उसके काम, दान और ज्ञान की समानता कोई नहीं करता था। वह कविराज (कवियों में राजा के समान) कहलाता था, उसने केदार, रामेश्वर, सोमनाथ, सुंडीर (?), काल (महाकाल), अनल और रुद्र के मंदिर बनवाए थे[5]। उसके देहांत-समय धारा नगरी पर शत्रुरूपी अंधकार

(१) ए. इं; जि० १, पृ० २२८।

(२) 'नवसाहसांकचरित'; सर्ग १०, श्लो० १५-१९।

(३) ना. प्र. प; भाग १, पृ० १२१-२४।

(४) ए. इं; जि० १, पृ० २३५, श्लो० १७।

(५) चेदीश्वरेंद्ररथ[तोग्ग]ल्ल[भीममु]ख्या-
न्कर्णाटलाटपतिगूर्ज्जरराट्तुरुष्कान्।
यद्भृत्यमात्रविजितानवलो[क्य] मौला

का गया था। ऊपर लिखे हुए राजाओं में से चेदीश्वर चेदि देश का हैहय-(कलचुरि) वंशी राजा गांगेयदेव था, जिसके भोज से परास्त होने का उल्लेख मिलता है। इंद्ररथ और तोग्गल कहां के राजा थे यह अब तक जाना नहीं गया; भीम गुजरात का सोलंकी राजा भीमदेव (प्रथम) था जिसके समय भोज के सेनापति कुलचंद्र ने गुजरात पर चढ़ाई कर विजय प्राप्त की, ऐसा 'प्रबंधचिन्तामणि' से पाया जाता है[1]। दक्षिण के सोलंकी तैलप ने मुंज को मारा जिसका बदला सिंधुराज न ले सका, परंतु भोज ने तैलप के पौत्र जयसिंह पर चढ़ाई कर उसको पराजित किया। सोलंकियों के शिलालेखों में जयसिंह को भोजरूपी कमल के लिये चंद्रमा के समान बतलाया है[2], परंतु भोज के वंशज उदयादित्य के समय के उदयपुर (ग्वालियर राज्य में) के शिलालेख में भोज को कर्णाटक के राजा (सोलंकी जयसिंह) को जीतनेवाला लिखा है। बांसवाड़े से मिले हुए राजा भोज के वि० सं० १०७६ (ई० स० १०२०) माघ सुदि ५ के दानपत्र में कोंकण-विजयपर्वणि (कोंकण जीतने के उत्सव) पर घाघ्रदोर (? व्याघ्रदोर, वागीडोरा, बांसवाड़ा राज्य में) भोग (विभाग) के वटपद्रक (बड़ौदिया) गांव में, छींछा (छींच, बांसवाड़ा राज्य में) स्थान (गांव) के रहनेवाले भाइल ब्राह्मण को १०० निवर्त्तन (भूमि का नाप, बीघा) भूमि दान करने का उल्लेख है[3]। इससे स्पष्ट है कि सोलंकी जयसिंह पर की चढ़ाई में भोज ने विजयी होकर मुंज के मारे जाने का बदला लिया था। अवंती के राजा भोज ने सांभर के चौहान राजा वीर्यराम को मारा ऐसा 'पृथ्वीराजविजय महाकाव्य' में उल्लेख है[4]। भोज के अंतिम समय

दोर्ष्णां व(ब)लानि कलयंति न [योद्ध]लो[कान्] ॥
केदाररामेश्व(श्व)रसोमनाथ[सुं]डीरकालानलरुद्रसत्कैः।
सुराश्र[यै]र्व्याप्य च यः समन्ताद्यथार्थसंज्ञां जगतीं चकार ॥

ए. इं; जि० १, पृ० २३५–३६।

(१) 'प्रबंधचिंतामणि'; पृ० ८०।

(२) 'सोलंकियों का प्राचीन इतिहास'; प्रथम भाग, पृ० ८६।

(३) ए. इं; जि० ११, पृ० १८२–८३।

(४) वीर्यरामसुतस्तस्य वीर्येण स्यात्स्मरोपमः।
यदि प्रसन्नया दृष्ट्या न दृश्येत पिनाकिना ॥ ६५ ॥

में गुजरात के सोलंकी राजा भीमदेव (प्रथम) और चेदि के राजा कर्ण ने, जो गांगेयदेव का पुत्र था, धारानगरी पर चढ़ाई की, उसी समय भोज का देहांत हुआ और उसके राज्य में अव्यवस्था हो गई।

राजा भोज प्रसिद्ध विद्वान् था। उसने अलंकार शास्त्र पर 'सरस्वतीकंठाभरण', योगशास्त्र पर 'राजमार्तंड,' ज्योतिष के विषय में 'राजमृगांक' और 'विद्वज्जन-मंडन', शिल्प का 'समरांगण' ऐसे ही एक व्याकरण का ग्रंथ तथा 'शृंगारमंजरी-कथा' आदि कई ग्रंथ संस्कृत में लिखे। उसके बनाए हुए 'कूर्मशतक' नामक दो प्राकृत काव्य भी शिलाओं पर खुदे मिले हैं। धारानगरी में 'सरस्वतीकंठा-भरण' (सरस्वती सदन) नामक पाठशाला बनवाई थी जिसमें कूर्मशतक, भर्तृ-हरि की कारिका आदि कई पुस्तकें शिलाओं पर खुदवाकर रक्खी गई थीं। भोज के पीछे भी उदयादित्य, अर्जुनवर्मा आदि ने कई पुस्तकों को शिलाओं पर खुदवाकर वहां रखवाया, परंतु फिर वहां मुसलमानों का राज्य होने से उन्होंने उस विद्यामंदिर को तोड़कर उसके स्थान में मसजिद बनवा दी, जो अब 'कमाल मौला' नाम से प्रसिद्ध है, और उसके अंदर की पुस्तकादि खुदी हुई शिलाओं में से कइयों के अक्षर टांकियों से तोड़कर उनको फर्श में जड़ दीं, और कितनी एक को उलटी लगा दीं जो अब वहां से निकाल ली गई हैं। उनमें से दोनों कूर्मशतक काव्य और 'पारिजातमंजरी' नाटिकावाली शिलाएं प्रसिद्धि में आ चुकी हैं[१]।

यह राजा स्वयं विद्वान् और विद्वानों का गुणग्राहक था। विद्वानों को एक एक श्लोक की रचना पर लाख लाख रुपये देने की उसकी ख्याति अब तक चली आती है। भोजप्रबंध के कर्त्ता बल्लाल पंडित तथा प्रबंध-चिंतामणि के कर्त्ता मेरुतुंग ने कालिदास, वररुचि, सुबंधु, बाण, अमर, राजशेखर, माघ, धनपाल, सीता पंडिता, मयूर, मानतुंग आदि अनेक विद्वानों का भोज की सभा में रहना तथा सम्मान पाना लिखा है, परंतु उनमें से कुछ तो भोज से बहुत पहले हुए थे इसलिये उनकी नामावली विश्वास योग्य नहीं है। धनपाल

अगम्यो यो नरेन्द्राणां सुधादीधितिसुन्दरः।
जघ्ने यशश्चयो यश्च भोजेनावन्तिभूभुजा ॥ ६७ ॥

'पृथ्वीराजविजय'; सर्ग ५।

(१) 'कूर्मशतककाव्य', ए. इं; जि० ८, पृ० २४३-६०, और 'पारिजातमंजरी', ए. इं; जि० ८, पृ० १०१-२२ में छप चुकी है।

भोज के समय जीवित था और उसीके समय उसने तिलकमंजरी कथा की रचना की थी। आनंदपुर (गुजरात में) के रहनेवाले वज्रट के पुत्र ऊवट ने भोज के समय यजुर्वेद की वाजसनेयी संहिता पर भाष्य बनाया था।

ऊपर लिखी हुई सरस्वतीकण्ठाभरण पाठशाला के अतिरिक्त भोज ने चित्तोड़ के क़िले में, जहां वह कभी कभी रहता था, त्रिभुवननारायण का विशाल शिवमंदिर बनवाया[1], जिसका जीर्णोद्धार महाराणा मोकल ने वि० सं० १४८५ (ई० स० १४२८) में कराया था। इस समय उस मंदिर को अदबदजी (अद्भुतजी) का मंदिर और मोकलजी का मंदिर भी कहते हैं। कल्हण की राजतरंगिणी में लिखा है कि पद्मराज नामक पान बेचनेवाले ने, जो कश्मीर के राजा अनंतदेव का प्रीतिपात्र था, मालवे के राजा भोज के भेजे हुए सुवर्ण से कपटेश्वर (कोटेर, कश्मीर में) में एक कुंड बनवाया और राजा भोज ने यह नियम किया कि मैं अपना मुंह सदा 'पापसूदन' तीर्थ (कपटेश्वर के कुंड) के जल से धोऊंगा, इसलिये पद्मराज ने उस कुंड के जल से भरे हुए अनेक काच के कलश बराबर पहुंचाते रहकर भोज के उस कठिन प्रण को पूरा किया[2]। भोजपुर (भोपाल) की बड़ी विशाल झील भी, जिसको मालवे (मांडू) के सुलतान हुशंगशाह ने तुड़वाया, भोज की बनाई हुई मानी जाती है[3]।

भोज के समय के दो दानपत्र अब तक मिले हैं, जिनमें से बांसवाड़े का वि० सं० १०७६ (ई० स० १०१६) का, और दूसरा वि० सं० १०७८ (ई० स० १०२१) का है[4]। शक सं० ९६४ (वि० सं० १०६६) में भोज ने 'राजमृगांककरण[5]' लिखा और उसके उत्तराधिकारी जयसिंह का पहला लेख (दानपत्र) वि० सं० १११२ का है, इसलिये भोज का देहान्त वि० सं० १०६६ और १११२ के बीच किसी वर्ष हुआ होगा।

(१०) जयसिंह (सं० ९ का उत्तराधिकारी)—भोज की मृत्यु के समय

(१) ना. प्र. प०; भाग ३, पृ० १-१८।

(२) कल्हण; 'राजतरंगिणी'; तरंग ७, श्लोक १६०-९३।

(३) इं. ऐं; जि० १७, पृ० ३५०-५२; और उसका नक़्शा पृ० ३४८ के पास।

(४) वि० सं० १०७६ का दानपत्र ए. इं; जि० ११, पृ० १८२-८३ तक और १०७८ का इं० ऐं; जि० ६, पृ० ५३-५४ में प्रकाशित हुआ है।

(५) ए. इं; जि० १, पृ० २३२-३३।

धारानगरी शत्रुओं के हाथ में थी, परंतु उनके लौट जाने पर जयसिंह मालवे का राजा हुआ। उसका एक दानपत्र वि० सं० १११२ (ई० स० १०५५) का मिला है[1], और एक शिलालेख वि० सं० १११६ का बांसवाड़ा राज्य के पाणाहेड़ा गांव के मंडलीश्वर के मंदिर में लगा हुआ है, जिसका अनुमान एक तिहाई अंश जाता रहा है। उसमें उक्त राजा की वीरता के वर्णन के साथ उसके सामंत वागड़ के परमार मंडलीक (मंडन) के विषय में लिखा है कि उसने बड़े बलवान दंडाधीश (सेनापति) कन्ह को पकड़कर उसके हाथी घोड़ों सहित जयसिंह के सुपुर्द किया[2]। कन्ह किस राजा का सेनापति था यह अब तक ज्ञात नहीं हुआ। वि० सं० १११६ के पीछे जयसिंह अधिक काल तक राज करने न पाया हो ऐसा अनुमान होता है।

(११) उदयादित्य (सं० १० का उत्तराधिकारी)—जयसिंह के समय तक धारा के राज्य की स्थिति सामान्य ही पाई जाती है। उदयादित्य ने शत्रुओं का उपद्रव मिटाकर सांभर के चौहान राजा विग्रहराज (तीसरे, वीसलदेव) की सहायता से अपने राज्य की उन्नति की और विग्रहराज के ही दिये हुए सारंग नाम के बड़े ताते तुरंग पर सवार होकर गुजरात के राजा कर्ण (भीमदेव के पुत्र) को जीता[3]। यह लड़ाई भीमदेव की चढ़ाई का बदला लेने को हुई होगी। भोज ने चौहान वीर्यराम को मारा था, परंतु उदयादित्य ने सांभर के चौहानों से मेल कर लिया हो यह संभव है[4]। उसने अपने नाम से उदयपुर नगर

(१) ए. इं; जि० ३, पृ० ४८-५०।

(२) *येनादाय रणे कन्हं दंडाधीशं महाबलं ।*
अर्पितं जयसिंहाय साश्वं गजसमन्वितं ॥ ३६ ॥
पाणाहेड़ा का वि० सं० १११६ का शिलालेख (अप्रकाशित)।

(३) *मालवेनोदयादित्येनास्मादेवाप्यतोन्नतिः ।*
मन्दाकिनी हृदादेव लेभे पूरणमब्धिना ॥ ७६ ॥
सारंगाख्यं तुरङ्गं स ददौ तस्मै मनोजवम् ।
नह्युच्चैश्रवसं क्षीरसिन्धोरन्यः प्रयच्छति ॥ ७७ ॥
जिगाय गूर्जरं कर्णं तमश्वं प्राप्य मालवः ।····॥७८ ॥
'पृथ्वीराजविजय'; सर्ग ५।

(४) 'वीसलदेव रासा' नामक हिंदी काव्य में मालवे के राजा भोज की पुत्री राजमती का

(ग्वालियर राज्य में) बसाया जहां से परमारों के कई एक शिलालेख मिले हैं। उदयादित्य भी विद्यानुरागी था। धारानगरी में भोज की बनवाई हुई पाठशाला के स्तंभों पर नरवर्मा के खुदवाए हुए नागबंध में संस्कृत के वर्ण तथा नामों और धातुओं के प्रत्यय विद्यमान हैं, जो उदयादित्य की योजना है। उनके साथ उसके नाम के श्लोक खुदे हैं[१]। ऐसे ही संस्कृत के पूरे वर्ण और नागबंध में प्रत्यय, उज्जैन के महाकाल के मंदिर के पीछे की छत्री में लगी हुई एक प्रशस्ति की अंतिम शिला के खाली अंश पर[२] तथा ऊन गांव में भी खुदे हुए हैं और उदयादित्य के नाम का श्लोक भी उनके साथ खुदा है। उसके दो पुत्रों—लक्ष्मदेव और नरवर्मा—तथा एक पुत्री श्यामलदेवी के नाम शिलालेखों में मिलते हैं। श्यामलदेवी का विवाह मेवाड़ के गुहिलवंशी राजा विजयसिंह से हुआ था, उससे आल्हणदेवी नाम की कन्या हुई जो चेदि देश के हैहयवंशी (कलचुरि, करचुली) राजा गयकर्णदेव के साथ ब्याही गई थी[३]।

विवाह चौहान राजा वीसलदेव (विग्रहराज, तीसरे) के साथ होना लिखा है और अजमेर के चौहान राजा सोमेश्वर के समय के वि० सं० १२२६ के बीजोल्यां (मेवाड़ में) के चट्टान पर खुदे हुए बड़े शिलालेख में वीसल की राणी का नाम राजदेवी मिलता है। राजमती और राजदेवी एक ही राजपुत्री के नाम होने चाहियें, परंतु भोज ने सांभर के चौहान राजा वीर्यराम को मारा था, ऐसी दशा में भोज की पुत्री राजमती का विवाह वीसलदेव के साथ होना संभव नहीं। उदयादित्य ने चौहानों से मेल कर लिया था अतएव संभव है कि यदि वीसलदेव रासे के उक्त कथन में सत्यता हो तो राजमती उदयादित्य की पुत्री या बहिन हो सकती है।

(१) उदयादित्यदेवस्य वर्णनागकृपाणिका ।
कवीनां च नृपाणां च तोषा…………॥

भोज की पाठशाला के स्तंभ पर नागबंधों के ऊपर खुदा हुआ लेख, श्लोक दूसरा।

(२) 'भारतीय प्राचीनलिपिमाला'; पृ० ७१, टिप्पण ६; और लिपिपत्र २४वां।

(३) पृथ्वीपतिर्विजयसिन्ह(सिंह) इति प्रवर्द्धमानः सदा जगति यस्य यशःसुधांशुः।
तस्याभवन्मालवमण्डलाधिनाथोदयादित्यसुता सुरूपा
शृङ्गारिणी श्यामलदेव्युदारचरित्रचिन्तामणिरर्चितश्रीः।····॥
तस्मादाल्हणदेव्यजायत जगद्रक्षाक्षमाङ्कपते-
रेतस्यान्निजदीर्घवन्श(वंश)विशदप्रेंखत्पताकाकृतिः॥
विवाहविधिमाधाय गयकर्णनरेश्वरः।

उदयपुर से मिले हुए एक शिलालेख में, जो बहुत पुराना नहीं है, उदयादित्य का वि० सं० १११६, शक सं० ६८१ में राजा होना लिखा है[1] जो असंभव नहीं, परंतु वह लेख संशयरहित नहीं है। उदयादित्य के समय के अब तक दो शिलालेख मिले हैं, जिनमें से एक उदयपुर (ग्वालियर राज्य में) का वि० सं० ११३७ (ई० स० १०८०)[2] का और दूसरा झालरापाटन (राजपूताना में) का वि० सं० ११४३ का[3] है।

भाटों की ख्यातों में उदयादित्य के एक पुत्र जगदेव की रोचक कथा मिलती है। उसमें उसकी वीरता, स्वामिभक्ति और उदारता का बहुत कुछ वर्णन है। उसके विषय में यह भी लिखा है कि घर के द्वेष के कारण वह गुजरात के सोलंकी राजा जयसिंह (सिद्धराज) की सेवा में जा रहा और अपनी वीरता तथा स्वामिभक्ति के कारण जयसिंह की प्रीति सम्पादन कर उससे बड़ी जागीर भी पाई। उदयादित्य ने अपने पीछे अपने छोटे पुत्र जगदेव को ही अपना राज्य दिया आदि। इस कथा का बहुतसा अंश कल्पित होने पर भी इतना तो निश्चित है कि मालवे के परमारों में जगद्देव (जगदेव) नामक कोई उदार पुरुष अवश्य हुआ था, क्योंकि मालवे के परमार राजा अर्जुनवर्मा ने 'अमरुशतक' पर 'रसिकसंजीवनी' टीका लिखी जिसमें वह जगद्देव (जगदेव) की प्रशंसा का एक श्लोक उद्धृत कर उसको अपना पूर्वपुरुष बतलाता है।

(१२) लक्ष्मदेव (सं० ११ का पुत्र)—उसने त्रिपुरी पर हमला कर शत्रुओं का नाश किया और वह तुरुष्कों (मुसलमानों) से भी लड़ा था। निःसंतान होने से उसके पीछे उसका भाई राजा हुआ।

(१३) नरवर्मा (सं० १२ का छोटा भाई)—'प्रबंधचिंतामणि' से पाया जाता है कि गुजरात का राजा जयसिंह (सिद्धराज) अपनी माता सहित सोमनाथ की यात्रा को गया हुआ था, उस समय मालवे के राजा यशोवर्मा ने गुजरात

चक्रे प्रीतिम्परामस्यां शिवायामिव शंकरः ॥

भेराघाट का शिलालेख (ए. इं; जि० २, पृ० १२)

(१) ए. इं; जि० ५ का परिशिष्ट; लेखसंख्या ६८ और टिप्पण १।

(२) इं० एं; जि० २०, पृ० ८३।

(३) संवत् ११४३ वैशाख सुदि १० अद्येह श्रीमदुदयादित्यदेवकल्याणविजयराज्ये। यह शिलालेख झालरापाटन के म्यूज़ियम् में सुरक्षित है।

पर चढ़ाई की। जयसिंह के मंत्री सांतु ने यशोवर्मा से पूछा कि आप किस शर्त पर लौट सकते हैं? इस पर मालवराज ने उत्तर दिया कि यदि तुम जयसिंह की उक्त यात्रा का पुण्य मुझे दे दो तो मैं लौट जाऊं। सांतु ने वैसा ही कर उसको लौटा दिया[1]। प्रबंधचिंतामणि में मालवे के राजा का नाम यशोवर्मा लिखा है जो भूल है, वास्तव में यह चढ़ाई नरवर्मा की थी। सांतु की उक्त नीति से अप्रसन्न होकर ही जयसिंह ने नरवर्मा पर चढ़ाई की थी और वह क्रमशः उसका देश दबाता हुआ अंत में धारा तक जा पहुंचा था। बांसवाड़ा राज्य के तलवाड़ा गांव के एक मंदिर में गणपति की मूर्ति के आसन पर जयसिंह (सिद्धराज) के समय का लेख खुदा हुआ (बिगड़ी हुई दशा में) है, जिसमें भीम, कर्ण और जयसिंह तक की वंशावली दी है और उसमें जयसिंह सिद्धराज का नरवर्मा को परास्त करने का उल्लेख है[2]। जयसिंह मालवे पर चढ़ा तब से लगाकर १२ वर्ष तक लड़ाई चलती रही। उसी अर्से में वि० सं० ११९० कार्तिक सुदि ८ को नरवर्मा का देहान्त हुआ और उसका पुत्र यशोवर्मा मालवे की गद्दी पर बैठकर जयसिंह (सिद्धराज) से युद्ध करता रहा।

नरवर्मा विद्वान् राजा था। उसके समय की वि० सं० ११६१ (ई० स० ११०४) की नागपुर की प्रशस्ति उसकी रचना है। उदयादित्य के निर्माण किये हुए वर्णों तथा नामों एवं धातुओं के प्रत्ययों के नागबंध चित्र नरवर्मा ने ऊपर लिखे हुए स्थानों में खुदवाए थे। विद्या और दान में उसकी तुलना भोज से की जाती थी। उसके समय में भी मालवा विद्यापीठ समझा जाता था, और जैन तथा वेदमतावलंबियों के बीच शास्त्रार्थ भी हुए थे। जैन विद्वान् समुद्रघोष और वल्लभसूरि ने उसीसे सम्मान पाया था। उसके समय के दो शिलालेख मिले हैं जो वि० सं० ११६१ और ११६४ (ई० स० ११०४ और ११०७) के हैं[3]।

(१४) यशोवर्मा (सं० १३ का पुत्र)—उसके समय भी जयसिंह (सिद्ध-

(१) 'प्रबंधचिंतामणि'; पृ० १४२।

(२) राजपूताना म्यूज़ियम् (अजमेर) की ई० स० १९१४-१५ की रिपोर्ट; पृ० २, लेखसंख्या ४।

(३) वि० सं० ११६१ का नागपुर का प्रसिद्ध शिलालेख (ए. इं; जि० २, पृ० १८२-८८) और ११६४ का मधुकरगढ़ से मिला (ए. इं; जि० ५वीं का परिशिष्ट, लेखसंख्या ८२)।

राज) के साथ की लड़ाई चलती रही, अंत में हाथियों से धारा नगरी का दक्षिणी दरवाज़ा तुड़वाया गया और जयसिंह ने धारा में प्रवेश कर यशोवर्मा[1] को उसकी राणियों सहित कैद किया और १२ वर्ष की लड़ाई के उपरांत वह अपनी राजधानी को लौटा[2]। इस युद्ध में विजय पाकर जयसिंह ने 'अवंतिनाथ' विरुद धारण किया और मालवे के बड़े अंश पर उसका अधिकार हो गया। मेवाड़ का प्रसिद्ध चित्तोड़गढ़ तथा उसके पास का मालवे से मिला हुआ प्रदेश, जो मुंज के समय से मालवे के परमारों के राज्य में चला आता था, अब मालवे के साथ जयसिंह के अधीन हुआ। इसी तरह वागड़ (डूंगरपुर और बांसवाड़ा) भी उसके हाथ आया। यह विजय वि० सं० ११९२ और ११९५ के बीच किसी वर्ष हुई होगी क्योंकि वि० सं० ११९२ मार्गशीर्ष वदि ३ का जो यशोवर्मा का दानपत्र[3]

(१) सिद्धराज जयसिंह की इस विजय के संबंध में गुजरात के प्राचीन इतिहास-लेखकों में मतभेद है। हेमचंद्र अपने 'द्व्याश्रयकाव्य' में (१४। २०-७४), अरिसिंह अपने 'सुकृतसंकीर्तन' में (२। २४-२५; ३४) और मेरुतुंग अपनी 'प्रबंधचिंतामणि' में (पृ० १८४) मालवे के राजा यशोवर्मा को कैद करना मानते हैं, परंतु सोमेश्वर अपनी 'कीर्तिकौमुदी' में (२। ३१-३२), जिनमंडनगणि अपने 'कुमारपालप्रबंध' में (पत्र ७। १) और जयसिंहसूरि अपने 'कुमारपालचरित' में (१। ४१) नरवर्मा को कैद करना बतलाते हैं। वास्तव में बात यह है कि सिद्धराज जयसिंह ने नरवर्मा के समय मालवे पर चढ़ाई की, उसका देश विजय करता हुआ आगे बढ़ता गया और १२ वर्ष तक लड़ते रहने पर यशोवर्मा के समय विजय प्राप्त हुई जैसा कि ऊपर नलवाड़े और उज्जैन के शिलालेखों से बतलाया गया है।

(२) *तत्र स्वजयकारपूर्वकं द्वादशवार्षिके विग्रहे भंजायमानेऽद्य मया धारा-भङ्गानन्तरं०* ('प्रबंधचिंतामणि;' पृ० १४२-४३)।

कृत्वा विग्रहमुग्रसैन्यनिवहैर्यो द्वादशाब्दप्रमं
प्राग्द्वारं विदलय्य पट्टकरिणा भंक्त्वा च धारापुरीं ।....॥४१॥

जयसिंहसूरि का 'कुमारपालचरित'; सर्ग १।

कृत्वा विग्रहमुग्रमाग्रहवशाज्जग्राह धारां धरा-
धीशो द्वादशवत्सरैर्बहुतरं बिभ्रच्चिरं मत्सरम् ।....॥ ३५ ॥
देशान्विजित्य तरणिप्रमितैः स वर्षैः
सिद्धाधिपो निजपुरं पुनरासासाद ॥ ३८ ॥

चारित्रसुंदरगणि का 'कुमारपालचरित्र'; सर्ग १, वर्ग २।

(३) इं. ऐं; जि० १९, पृ० ३४९।

मिल चुका है, और जयसिंह का एक शिलालेख उज्जैन की कमेटी (म्यूनिसिपलटी) में रक्खा हुआ मेरे देखने में आया जो पहले वहां के एक दरवाज़े में लगा था, जहां उसकी खुदी हुई बाजू भीतर की ओर थी जिससे दरवाज़ा गिराये जाने के समय उस लेख का पता लगा था। वह शिलालेख वि० सं० ११६५ ज्येष्ठ वदि १४ का है, जिसमें जयसिंह का मालवे के राजा यशोवर्मदेव (यशोवर्मा) को जीतना तथा उस समय अवंतिमंडल (मालवे) में उसकी तरफ़ से शासक (हाकिम) नागर जाति का महादेव होना लिखा है[1]। जयसिंह (सिद्धराज) का जीता हुआ मालवे का राज्य उसके उत्तराधिकारी कुमारपाल तक गुजरात के सोलंकियों के अधीन रहा, परंतु कुमारपाल के अयोग्य उत्तराधिकारी अजयपाल के मारे जाने पर मालवे के परमार फिर स्वतंत्र हो गये। यशोवर्मा के दो दानपत्र मिले हैं जो वि० सं० ११६१[2] और ११६२[3] के हैं। उसके तीन पुत्र जयवर्मा, अजयवर्मा और लक्ष्मीवर्मा थे।

(१५) जयवर्मा (सं० १४ का पुत्र)—वह नाममात्र का राजा या गुजरात के सोलंकियों की अधीनता में रहा होगा। उसका नाम कहीं कहीं ताम्रपत्रों में छोड़ भी दिया है।

(१६) अजयवर्मा (सं० १५ का छोटा भाई)—वह अपने बड़े भाई का उत्तराधिकारी हुआ हो या उसका राज्य उसने छीना हो। उसके समय से मालवे के परमारों की दो शाखें हो गईं, बड़ी शाखावाले अपने को मालवे के स्वामी मानते रहे और छोटी शाखावाले 'महाकुमार' कहलाते थे। महाकुमार

(१) *सं० ११९५ ज्येष्ठ व १४ गुरावद्येह श्रीमदणहिलपाटका-*
वस्थितमहाराजाधिराजपरमेश्वरत्रिभुवनगण्डसिद्धचक्रवर्ति-
अवंतीनाथवर्बरकजिष्णुश्रीजयसिंहदेवविजयराज्ये········
मालवराजश्रीयशोवर्मनामानं च जित्वा
श्रीमदवंतीमंडले········*तन्निरूपितनागरकुलान्वये*······
श्रीमहादेव(वो) मालवव्यापारं कुर्वति························
(उज्जैन का शिलालेख, अप्रकाशित)।

(२) महाकुमार लक्ष्मीवर्मदेव के वि० सं० १२०० के दानपत्र में यशोवर्मा के वि० सं० ११९१ के दान का उल्लेख है (इं. ऐं; जि० १९, पृ० ३५३)।

(३) इं. ऐं; जि० १९, पृ० ३४६।

उदयवर्मा के वि० सं० १२५६ के दानपत्र में लिखा है कि 'परमभट्टारक महाराजाधिराज परमेश्वर जयवर्मा का राज्य अस्त होने (छूटने) पर महाकुमार लक्ष्मीवर्मा ने अपनी तलवार के बल से अपना राज्य जमाया'[1]। इससे अनुमान होता है कि अजयवर्मा ने जयवर्मा का राज्य छीना उस समय लक्ष्मीवर्मा जयवर्मा के पक्ष में रहा हो और कुछ इलाक़ा दबा बैठा हो। महाकुमार हरिश्चंद्रवर्मा के दानपत्र में जयवर्मा की कृपा से उसका राज्य पाना लिखा है जो ऊपर के कथन की पुष्टि करता है। हम यहां पर मालवे के परमारों की दोनों शाखाओं का संबंध नीचे लिखे हुए वंशवृक्ष में बतलाकर छोटी शाखा का परिचय पहले देंगे, तदनंतर बड़ी शाखा का।
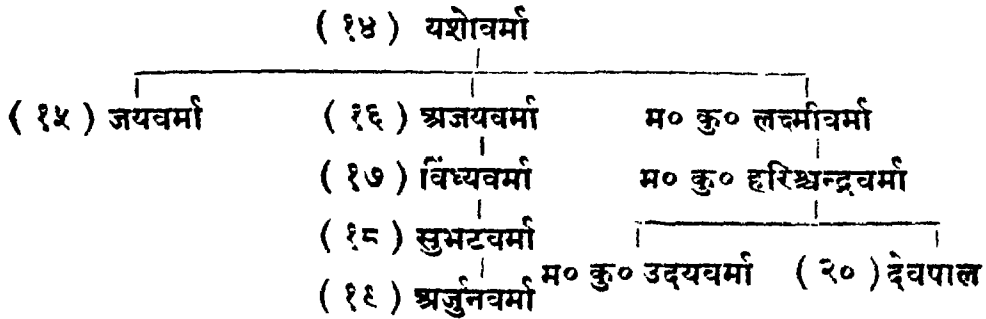
महाकुमार लक्ष्मीवर्मा का एक दानपत्र वि० सं० १२०० (ई० स० ११४३) श्रावण सुदि १५ का मिला है[2]। उसके पुत्र महाकुमार हरिश्चंद्रवर्मा का एक दानपत्र पीपलिया नगर (भोपाल राज्य में) से मिला है जिसमें दो दानों का उल्लेख है; एक वि० सं० १२३५ पौष वदि अमावास्या को और दूसरा वि० सं० १२३६ वैशाख सुदि १५ को दिया गया था[3]। उसके पुत्र महाकुमार उदयवर्मा का दानपत्र वि० सं० १२५६ वैशाख सुदि १५ का मिला है[4]। वि० सं० १२७२ तक बड़ी शाखा का राजा अर्जुनवर्मा विद्यमान था, जैसा कि आगे बतलाया जायगा। उसके निःसंतान मरने पर उदयवर्मा का भाई देवपाल मालवे का राजा हो गया। अब आगे बड़ी शाखा का परिचय दिया जाता है।

(१) इं. ऐं; जि० १६, पृ० २५४।
(२) इं. ऐं; जि० १९, पृ० ३५२-५३।
(३) बंगा. ए. सो. ज; जि० ७, पृ० ७३६।
(४) इं. ऐं; जि० १६, पृ० २५४-५५।

(१७) विंध्यवर्मा (सं० १६ का पुत्र)—गुजरात के सोलंकी राजा कुमारपाल के उत्तराधिकारी अजयपाल के समय से ही गुजरात का राज्य शिथिल होने लगा था और वि० सं० १२३३ (ई० स० ११७६) में उसके मरने पर उसका बालक पुत्र मूलराज (बालमूलराज) गुजरात के राज्य-सिंहासन पर बैठा और दो वर्ष राज्य कर वि० सं० १२३५ (ई० स० ११७८) में मर गया। उसके पीछे उसका छोटा भाई भीमदेव (दूसरा) बाल्यावस्था में ही गुजरात के राज्यसिंहासन पर बैठा। तब ही से गुजरात के राज्य की दशा बिगड़ती गई और सामंत लोग स्वतंत्र होते गये। उसके राज्य की अवनति के समय विंध्यवर्मा गुजरात से स्वतंत्र हो गया हो, यह संभव है। वि० सं० १२७२ के अर्जुनवर्मा के दानपत्र में विंध्यवर्मा को वीरमूर्धन्य (वीरों का अग्रणी) और गुजरातवालों का उच्छेद करनेवाला कहा है[1]। सोमेश्वर कवि अपने 'सुरथोत्सव' काव्य में गुजरात के सेनापति से पराजित होकर राजा विंध्यवर्मा का रणखेत छोड़ जाना और उक्त सेनापति का गोगास्थान नामक पत्तन को तोड़ना तथा वहां महल के स्थान पर कुआ खुदवाना लिखता है[2]। विंध्यवर्मा भी विद्यानुरागी था। उसका सांधिविग्रहिक बिल्हण कवि (कश्मीरी बिल्हण से भिन्न) था। सपादलक्ष (अजमेर के चौहानों के अधीन का देश) के अंतर्गत मंडलकर (मांडलगढ़, उदयपुर राज्य में) का रहनेवाला जैन पंडित आशाधर सपादलक्ष पर मुसलमानों का अधिकार हो जाने तथा उनके अत्याचार के कारण अपना निवास-स्थान छोड़कर विंध्यवर्मा के समय मालवे में जा रहा और उक्त बिल्हण पंडित से उसकी मैत्री हुई[3]।

---

(१) *तस्मादजयवर्माभूज्जयश्रीविश्रुतः सुतः ॥*
तत्सूनुर्वीरमूर्द्धन्यो धन्योत्पत्तिरजायत ।
गुर्जरोच्छेदनिर्बन्धी विन्ध्यवर्मा महासुतः ॥

अमेरिकन ओरिएंटल् सोसाइटी का जर्नल; जि० ७, पृ० ३२–३३।

(२) धाराधीशे विन्ध्यवर्मण्यवन्ध्यक्रोधाध्मातेऽप्याजिमुत्सृज्य याते ।
गोगस्थानं पत्तनं तस्य भङ्क्त्वा सौधस्थाने खानितो येन कूपः ॥३६॥
'सुरथोत्सव'; सर्ग १५।

(३) आशाधर के 'धर्मामृतशास्त्र' के अंत की प्रशस्ति; श्लोक १–७।

(१८) सुभटवर्मा (सं० १७ का पुत्र)—उसको सोहड़ भी कहते थे जो सुभट का प्राकृत रूप है। उसके समय मालवे के परमार स्वतंत्र हुए हों इतना ही नहीं किंतु गुजरात पर चढ़ाई करने को भी समर्थ हो गये थे। 'प्रबंधचिंतामणि' में लिखा है कि गुजरात के राजा भीमदेव (दूसरे, भोलाभीम) के समय मालवे के राजा सोहड़ (सुभटवर्मा) ने गुजरात को नाश करने की इच्छा से उसपर चढ़ाई कर दी, परंतु भीमदेव के मंत्री ने उसको समझाकर लौटा दिया[1]। 'कीर्ति-कौमुदी' से पाया जाता है कि धारा के राजा (सुभटवर्मा) ने गुजरात पर चढ़ाई की जिसको बघेल लवणप्रसाद ने लौटा दिया। लवणप्रसाद भीमदेव का सामंत था और उसके राज्य की बिगड़ी हुई दशा में गुजरात के राज्य का कुल काम उसीकी इच्छा के अनुसार होता था। अर्जुनवर्मा के दानपत्र में सुभटवर्मा के प्रताप की दावाग्नि का गुजरात में जलने का जो उल्लेख है[2], उसकी पुष्टि ऊपर लिखे हुए गुजरातवालों के दोनों कथनों से होती है।

(१९) अर्जुनवर्मा (सं० १८ का पुत्र)—उसके वि० सं० १२७२ के दान-पत्र में लिखा है कि उसने बाललीला समान युद्ध में जयसिंह को भगाया था[3]। उसके राजगुरु मदन (बालसरस्वती) की रची हुई 'पारिजातमंजरी' (विजयश्री) नाटिका से उसका गुजरात के राजा जयसिंह के साथ पर्व-पर्वत (पावागढ़) के पास युद्ध होना पाया जाता है जिसमें जयसिंह भाग गया था। गुजरात के निर्बल राजा भीमदेव (दूसरे) से उसका राज्य उसके कुटुंबी जयसिंह ने कुछ काल के लिये छीन लिया था, वही जयसिंह अर्जुनवर्मा से हारा होगा। उसका एक दानपत्र वि० सं० १२८० का[4] मिल चुका है, जिसमें उसका नाम जयंतसिंह लिखा है जो जयसिंह का रूपान्तरमात्र है।

---

(१) 'प्रबंधचिंतामणि'; पृ० २४१।

(२) भूपः सुभटवर्म्मेति धर्म्मे तिष्ठन्महीतलम् ॥
यस्य ज्वलति दिग्जेतुः प्रतापस्तपनद्युतेः ।
दावाग्निसुमनायापि गर्जन्गुर्जरपत्तने ॥

बंगा. ए. सो. ज; जि० ५, पृ० ३७८–७९।

(३) बाललीलाहवे यस्य जयसिंहे पलायिते ।

जर्नल आफ़ दी अमेरिकन् ओरिएंटल सोसाइटी; जि० ७, पृ० २५–२७।

(४) इं. ऐं; जि० ६, पृ० ११६–१८।

'प्रबंधचिन्तामणि' में लिखा है कि राजा भीमदेव (दूसरे) के समय अर्जुनवर्मा ने गुजरात का नाश किया था[1]। अर्जुनवर्मा विद्वान्, कवि और गानविद्या में निपुण था। उसके समय के तीन दानपत्र मिले हैं जिनमें से एक वि० सं० १२६७ फाल्गुन सुदि १० का मंडपदुर्ग (मांडू) से दिया हुआ, दूसरा वि० सं० १२७० वैशाख वदि अमावास्या का भृगुकच्छ (भड़ौंच, गुजरात में) से और तीसरा वि० सं० १२७२ भाद्रपद सुदि १५ का रेवा (नर्मदा) और कपिला के संगम पर अमरेश्वर तीर्थ से दिया हुआ है। इन तीनों दानपत्रों की रचना राजगुरु मदन ने ही की थी। पहले दो ताम्रपत्रों के लिखे जाने के समय अर्जुनवर्मा का महासांधिविग्रहिक बिल्हण पंडित था, परंतु तीसरे दानपत्र के समय उस पद पर राजा सलखण था। उसके मंत्री का नाम नारायण था। अर्जुनवर्मा का देहान्त वि० सं० १२७२ और १२७५ के बीच किसी वर्ष हुआ होगा, क्योंकि वि० सं० १२७५ मार्गशीर्ष सुदि ५ के हरसोड़ा गांव (मध्य प्रदेश के होशंगाबाद ज़िले में) से मिले हुए देवपाल के समय के शिलालेख में उस (देवपाल) को धारानगरी का राजा, परमभट्टारक, महाराजाधिराज और परमेश्वर कहा है।

(२०) देवपाल (सं० १६ का कुटुंबी)—अर्जुनवर्मा के पुत्र न होने से उसके पीछे छोटी शाखा के वंशधर महाकुमार हरिश्चंद्रवर्मा का दूसरा पुत्र देवपाल मालवे का राजा हुआ। उसका उपनाम (बिरुद)'साहसमल्ल' था। उसके समय के तीन शिलालेख और एक दानपत्र मिला है। पहला शिलालेख वि० सं० १२७५ का[2] ऊपर लिखा हुआ हरसोड़ा गांव का और दो उदयपुर (ग्वालियर राज्य में) से मिले हैं जो वि० सं० १२८६[3] और १२८९[4] के हैं। उसका एक दानपत्र मांधाता से भी मिला है जो वि० सं० १२९२ भाद्रपद सुदि १५ का है[5]। उसके समय हिजरी सन् ६२९ (वि० सं० १२८८-८९) में दिल्ली के सुलतान शमशुद्दीन अलतमश ने मालवे पर चढ़ाई कर साल भर की लड़ाई के बाद

(१) 'प्रबंधचिंतामणि'; पृ० २५० ।
(२) इं. ऐं; जि० २०, पृ० ३११ ।
(३) वही; जि० २०, पृ० ८३ ।
(४) वही; जि० २०, पृ० ८३ ।
(५) ए. इं; जि० ९, पृ० १०८-१३ ।

ग्वालियर को विजय किया, फिर भेलसा और उज्जैन लिया और उज्जैन में महाकाल के मंदिर को तोड़ा, परंतु मालवे पर सुलतान का क़ब्ज़ा न हुआ। सुलतान के लूटमार कर चले जाने पर वहां का राजा देवपाल ही रहा[1]। देवपाल के समय आशाधर पंडित ने वि० सं० १२८५ में नलकच्छपुर (नालछा, धार से २० मील) में रहते समय 'जिनयज्ञकल्प' तथा वि० सं० १२९२ में 'त्रिषष्टिस्मृति' नाम की पुस्तकें रचीं और वि० सं० १३०० में सटीक 'धर्मामृतशास्त्र' की रचना की जब कि मालवे का राजा जयतुगिदेव था[2]; अतएव देवपाल की मृत्यु वि० सं० १२९२ और १३०० के बीच किसी समय हुई होगी। उसके दो पुत्र जयतुगिदेव और जयवर्मा थे जो उसके पीछे क्रमशः राजा हुए ।

(२१) जयतुगिदेव (सं० २० का पुत्र)—उसको जयसिंह और जैत्रमल्ल भी कहते थे। उसके समय का एक शिलालेख राहतगढ़ से (वि० सं० १३१२ का[3]) और दूसरा (वि० सं० १४ अर्थात् १३१४ का, जिसमें शताब्दी के अंक छोड़ दिये गये हैं) कोटा राज्य के अटू नामक स्थान से मिला है[4]। मेवाड़ का गुहिलवंशी राजा जैत्रसिंह अर्थूणा (बांसवाड़ा राज्य में) में जयतुगिदेव से लड़ा था[5]। उसका देहांत वि० सं० १३१४ में हुआ।

(२२) जयवर्मा दूसरा (सं० २१ का छोटा भाई)—उसके समय का एक शिलालेख वि० सं० १३१४ माघ वदि १ का, और एक दानपत्र वि० सं० १३१७

---

(१) ब्रिग; फ़िरिश्ता; जि० १, पृ० २१०-११।

(२) पंडिताशाधरश्चक्रे टीकां क्षोदक्षमामिमां ॥ २८ ॥

प्रमारवंशवार्द्धीन्दुदेवपालनृपात्मजे ।
श्रीमज्जैतुगिदेवेसिस्थाम्नावंतीनवत्यलं ॥ ३० ॥
नलकच्छपुरे श्रीमन्नेमिचैत्यालयेसिधत् ।
विक्रमाब्दशतेष्वेषा त्रयोदशसु कार्तिके ॥ ३१ ॥

धर्मामृतशास्त्र के अंत की प्रशस्ति।

श्वेतांबर जैन साधुओं में जैसे अनेक ग्रंथों के रचयिता हेमचंद्राचार्य हुए वैसे ही दिगंबर जैनों में आशाधर पंडित ने भी अनेक ग्रंथों की रचना की।

(३) इं. ऐं; जि० २०, पृ० ८४।

(४) 'भारतीय प्राचीनलिपिमाला'; पृ० १८२ का टिप्पण ६।

(५) ना. प्र. प.; भाग ३, पृ० १३२-३४।

ज्येष्ठ सुदि ११ का[1] मंडप दुर्ग (मांडू) से दिया हुआ मिला है, जिसमें उसके सांधिविग्रहिक का नाम मालाधर पंडित और महाप्रधान का नाम राजा अजयदेव होना लिखा है।

(२३) जयसिंह तीसरा (सं० २२ का उत्तराधिकारी)—वि० सं० १३४५ के कवालजी के कुंड (कोटा राज्य में) के शिलालेख में, जो रणथंभोर के प्रसिद्ध चौहान राजा हंमीर के समय का है, लिखा है कि जैत्रसिंह (हंमीर के पिता) ने मंडप (मांडू) में रहे हुए जयसिंह को बार बार सताया, मालवे के उस राजा के सैकड़ों योद्धाओं को झंपाइथा घट्ट (झपायता के घाटे) में हराया और उनको रणस्तंभपुर (रणथंभोर) में क़ैद रक्खा[2]। जयसिंह (तीसरे) के समय का एक शिलालेख वि० सं० १३२६ वैशाख सुदि ७ का मिला है[3]।

(२४) अर्जुनवर्मा दूसरा (सं० २३ का उत्तराधिकारी)—उपर्युक्त कवालजी के कुंड के शिलालेख में रणथंभोर के चौहान राजा हंमीर के विषय में लिखा है कि उसने युद्ध में अर्जुन (अर्जुनवर्मा) को जीतकर बलपूर्वक उससे मालवे की लक्ष्मी को छीन लिया[4]। 'हंमीरमहाकाव्य' में हंमीर की गद्दीनशीनी का संवत् १३३९ और 'प्रबंधकोष' के अंत की वंशावली में १३४२ दिया है। कवालजी के कुंडवाला शिलालेख वि० सं० १३४५ का है, इसलिये हंमीर ने वि० सं० १३३९ (या १३४२) और १३४५ के बीच अर्जुन (अर्जुनवर्मा) से मालवा या रणथंभोर के राज्य से मिला हुआ मालवे का कुछ अंश छीना होगा।

---

(१) ए. इं; जि० ९, पृ० १२०–२३।

(२) ततोभ्युदयमासाद्य जैत्रसिंहरविर्नव: ।
अपि मंडपमध्यस्थं जयसिंहमतीतपत् ॥ ८ ॥
येन झंपाइथाघट्टे मालवेशभटाः शतं ।
व(ब)द्धा रणस्तंभपुरे क्षिप्ता नीताश्च दासतां ॥ ९ ॥

कवालजी के कुंड की प्रशस्ति की छाप से।

(३) ए. इं; जि० ५ का परिशिष्ट, लेखसंख्या २३२।

(४) सां(सा)म्राज्यमाज्यपरितोपितहव्यवाहो
हंमीरभूपतिरविं(द)त भूनघाख्याः ॥ १० [॥]
निर्जित्य येनार्जुनमाजिमूर्द्धनि श्रीर्मालवस्योज्जगृहे हठेन ॥ ११ ॥

कवालजी के कुंड की प्रशस्ति की छाप से।

(२५) भोज दूसरा (सं० २४ का उत्तराधिकारी)—'हंमीरमहाकाव्य' में हंमीर की विजययात्रा के वर्णन में लिखा है कि मंडलकृत् दुर्ग (मांडू का क़िला) लेकर वह शीघ्र ही धारा को पहुंचा और परमार भोज को, जो दूसरे भोज के तुल्य था, नमाया'[1]। यदि इस कथन में सत्यता हो तो इस घटना का कवालजी के कुंडवाले लेख के खुदे जाने (वि० सं० १३४५) और हंमीर की मृत्यु (वि० सं० १३५८) के बीच किसी वर्ष में होना संभव है। धार में अब्दुल्लाशाह चंगाल की क़बर के दरवाज़े में एक फारसी शिलालेख लगा हुआ है जिसमें चंगाल की प्रशंसा के साथ यह भी लिखा है कि उस क़बर के ऊपर के गुंबज को, जो अलाउद्दीन गोरी ने बनवाया था, महमूदशाह ख़िलजी ने मरम्मत करवाई। वह क़बर हिजरी सन् ८५७ (वि० सं० १५१०) में बनी थी। उसमें यह भी लिखा है कि राजा भोज उस(चंगाल)की करामात देखकर मुसलमान हो गया था[2]। भोज (प्रथम) के समय तो मालवे में मुसलमान आये भी नहीं थे, संभव है कि पिछले अर्थात् दूसरे भोज की स्मृति होने के कारण पीछे से शिलालेख तैयार करनेवाले ने उक्त भोज के मुसलमान होने की कल्पना खड़ी कर ली हो।

(२६) जयसिंह चौथा (सं० २५ का उत्तराधिकारी)—उसके समय का एक शिलालेख उदयपुर (ग्वालियर राज्य में) से मिला है जो वि० सं० १३६६ श्रावण वदि १२ का है[3]। उसके अंतिम समय के आसपास क्रमशः सारा मालवा मुसलमानों के अधीन हो गया, जिससे हिन्दू राजा उनके सरदारों की स्थिति में रह गये, परंतु समय पाकर वे लड़ते भी रहे थे।

जलालुद्दीन फीरोज़शाह ख़िलजी ने हि० स० ६९० (वि० सं० १३४८) में उज्जैन को लिया और वहां के कई मंदिरों को तोड़ा[4]। दो वर्ष बाद फिर उसने मालवे पर चढ़ाई कर उसे लूटा और उसके भतीजे अलाउद्दीन ने भेलसा फतह कर मालवे का पूर्वी हिस्सा भी जीत लिया। अनुमान होता है कि मुहम्मद तुग़लक के समय मालवे के परमार-राज्य का अंत हुआ। 'मिराते

(१) 'हंमीरमहाकाव्य'; सर्ग ९, श्लोक १८–१९।

(२) बंब. ए. सो. ज; ई० स० १९०५ का एक्स्ट्रा नंबर, पृ० ३५२।

(३) इं. ऍ; जि० २०, पृ० ८४।

(४) ब्रिग; फ़िरिश्ता; जि० १, पृ० ३०१। इलियट; हिस्टरी ऑफ इंडिया; जि० ३, पृ० १४१।

सिकंदरी' से पाया जाता है कि मुहम्मद तुग़लक ने हि० स० ७४४ (वि० सं० १४००) के आसपास मालवे का सारा इलाका अज़ीज़ हिमार के सुपुर्द किया, जो पहले केवल धार का हाकिम नियत किया गया था।

मालवे के परमारों का राज्य मुसलमानों के हस्तगत होने पर वहां की एक शाखा अजमेर ज़िले में आ बसी। उस शाखावालों का एक शिलालेख पीसांगण के तालाव की पाल पर खड़ा हुआ है, जो वि० सं० १५३२ का है[1]। उसमें लिखा है कि जिस परमार वंश में मुंज और भोज हुए उसी वंश में हंमीरदेव हुआ; उसका पुत्र हरपाल और हरपाल का महीपाल (महपा) और उसका पुत्र रघुनाथ (राघव) था। रघुनाथ की राणी राजमती ने, जो वाहड़मेर के राठोड़ दुर्जनशल्य (दुर्जनसाल) की पुत्री थी, यह तालाव बनवाया। ऊपर लिखा हुआ महीपाल (महपा) मेवाड़ के महाराणा मोकल के मारनेवाले 'चाचा' और 'मेरा' से मिल गया था; जब राठोड़ राव रणमल्ल ने चाचा व मेरा को मारा तब महपा भागकर मांडू के सुलतान के पास चला गया। फिर उसने महाराणा कुंभा से अपना अपराध क्षमा कराया और वह उनकी सेवा में रहने लगा। राव रणमल्ल को मारने में भी महपा शामिल था। उक्त लेख के रघुनाथ (राघव) का बेटा कर्मचंद था जिसके यहां मेवाड़ का महाराणा सांगा अपने कुंवरपदे के आपत्तिकाल में रहा था। कर्मचंद के जगमल्ल आदि पुत्र थे। कर्मचंद की पत्नी रामादेवी ने वि० सं० १५८० आश्विन सुदि ५ को अपने नाम से रामासर (रामसर गांव में) तालाव बनवाया, ऐसा उक्त तालाव के लेख से[2] पाया जाता है। पहले उक्त गांव का नाम अंबासर होना बतलाते हैं, परंतु रामासर तालाव के बनने के पीछे वह गांव रामसर कहलाया।

मालवे के परमार राजा वाक्पतिराज के दूसरे पुत्र डंबरसिंह के वंश में वागड़ के परमार हैं। उनके अधिकार में बांसवाड़ा और डूंगरपुर के राज्य थे।

वागड़ के परमार

इस शाखावालों के कई शिलालेख मिले हैं जिनमें से दो में उनकी वंशावली दी है। अर्थूणा से मिले हुए वि० सं० १२३६ के चामुंडराज के शिलालेख से पाया जाता है कि इस शाखा का मूलपुरुष

(१) राजपूताना म्यूज़ियम् (अजमेर) की ई० स० १९११-१२ की रिपोर्ट; पृ० २, लेखसंख्या २।

(२) मूल लेख की छाप से।

डंबरसिंह मालवे के राजा वैरिसिंह (प्रथम) का छोटा भाई था। उसके वंश में कंकदेव हुआ[1] जो मालवे के राजा श्रीहर्ष (सीयक) के समय कर्णाट के राजा (खोट्टिगदेव, राठोड़) के साथ के युद्ध में मारा गया। वि० सं० १११६ के पाणाहेड़ा के लेख में डंबरसिंह का नाम नहीं दिया है, उसमें वंशावली धनिक से प्रारंभ होती है। धनिक के भाई का पुत्र चच्च हुआ। उसके पुत्र (कंकदेव) का खोट्टिगदेव के साथ की लड़ाई में मारा जाना उक्त लेख से पाया जाता है। इन दोनों तथा अन्य लेखों के अनुसार वागड़ के परमारों की नामावली नीचे लिखी जाती है।

(१) डंबरसिंह (वाक्पतिराज का पुत्र)।

(२) धनिक (संख्या १ का उत्तराधिकारी)—उसने महाकाल के मंदिर के पास धनेश्वर का मंदिर बनवाया[2]।

(३) चच्च (संख्या २ का भतीजा[3])।

(४) कंकदेव (सं० ३ का उत्तराधिकारी या पुत्र)—वह हाथी पर चढ़कर मालवराज श्रीहर्ष के शत्रु कर्णाट के राजा खोट्टिगदेव की सेना का संहार करता हुआ नर्मदा के किनारे मारा गया। यह लड़ाई खलिघट्ट नामक स्थान में हुई, ऐसा पाणाहेड़ा (बांसवाड़ा राज्य में) से मिले हुए मालवे के परमार राजा जयसिंह (प्रथम) और वागड़ के सामंत मंडलीक के समय के वि० सं०

---

(१) *तस्यान्वये क्रमवशादुदपादि वीरः श्रीवैरिसिंह इति संभृतसिंहनादः।...॥*
तस्यानुजो डम्ब(म्ब)रसिंह इति प्रचंडदोर्दंडचंडिमवशीकृतवैरिवृंदः।...॥
तस्यान्वये करिकरोद्धरबा(बा)हुदण्डः श्रीकंकदेव इति लब्ध(ब्ध)जयो ब(ब)भूव।

अर्थूणा के लेख की छाप से।

(२) *अत्रासीत्परमारवंशवितते लब्धा(ब्धा)न्वयः पार्थिवो*
नाम्ना श्रीधनिको धनेश्वर इव त्यागैककल्पद्रुमः।...॥ २६ ॥
श्रीमहाकालदेवस्य निकटे हिमपांडुरं।
श्रीधनेश्वर इत्युच्चैः कीर्तनं यस्य राजते ॥ २७ ॥

पाणाहेड़ा के शिलालेख की छाप से।

(३) *चच्चनामाभवत्तस्माद्भ्रातृसूनुर्महानृपः।...॥*

पाणाहेड़ा के लेख की छाप से।

१११६ के शिलालेख से पाया जाता है[1]।

(५) चंडप (सं० ४ का पुत्र)।

(६) सत्यराज (सं० ५ का पुत्र)—उसका वैभव राजा भोज ने बढ़ाया और वह गुजरातवालों से लड़ा था। उसकी स्त्री राजश्री चौहान वंश की थी[2]।

(७) लिंबराज (सं० ६ का पुत्र)।

(८) मंडलीक(सं० ७ का छोटा भाई)—उसको मंडनदेव भी कहते थे। वह मालवे के परमार राजा भोज और जयसिंह (प्रथम) का सामंत था। उसने बड़े बलवान सेनापति कन्ह को पकड़कर उसके घोड़ों और हाथियों सहित जयसिंह के सुपुर्द किया और अपने नाम से पाणाहेडा गांव में मंडलेश्वर का मंदिर वि० सं० १११६ (ई० स० १०५६) में बनवाया[3]।

(९) चामुंडराज (सं० ८ का पुत्र)—उसने वि० सं० ११३६ (ई० स० १०७९) में अर्थूणा (बांसवाड़ा राज्य में) गांव में मंडलेश्वर का शिवमंदिर बनवाया जिसके शिलालेख से पाया जाता है कि उसने सिंधुराज को नष्ट किया। सिंधुराज से अभिप्राय या तो सिंध के राजा या उक्त नाम के राजा से हो, परंतु उसका ठीक पता नहीं लगा। उसने अपने पिता मंडलीक (मंडनदेव) के नाम से मंडनेश (मंडलेश्वर) नामक शिवालय और मठ बनवाया। उसके समय के चार शिलालेख अर्थूणा से मिले हैं जो वि० सं० ११३६[4], ११३७[5], ११५७[6] और ११५९[7] के हैं।

(१०) विजयराज (सं० ९ का पुत्र)—उसका सांधिविग्रहिक वालभ जाति के कायस्थ राजपाल का पुत्र वामन था। उसके समय के दो शिलालेख

(१) देखो ऊपर पृ० १८५ और उसका टिप्पण १।

(२) पाणाहेडा का शिलालेख, श्लो० ३२।

(३) राजपूताना म्यूज़ियम् (अजमेर) की ई० स० १९१६-१७ की रिपोर्ट, पृ० २, लेखसंख्या २।

(४) वही; ई० स० १९१४-१५, पृ० २, लेखसंख्या १।

(५) वही; ई० स० १९१४-१५, पृ० २, लेखसंख्या २।

(६) इस शिलालेख का ऊपर का आधा अंश राजपूताना म्यूज़ियम् (अजमेर) में सुरक्षित है (इसका नीचे का आधा अंश, जो पहले विद्यमान था, नहीं मिला)।

(७) राजपूताना म्यूज़ियम् (अजमेर) की ई० स० १९१४-१५ की रिपोर्ट, पृ० २, लेखसंख्या ३।

वि० सं० ११६५[1] और ११६६[2] (ई० स० ११०८ और ११०९) के मिले हैं। विजयराज के वंशजों के नामों का पता नहीं लगा क्योंकि विजयराज के पीछे का कोई शिलालेख अब तक नहीं मिला है। वि० सं० १२३६ (ई० स० ११७९) से कुछ पूर्व मेवाड़ के गुहिल राजा सामंतसिंह ने मेवाड़ का राज्य छूट जाने पीछे वागड़ के बड़ौदे पर अपना अधिकार जमाया; फिर उसने तथा उसके वंशजों ने क्रमशः सारा वागड़ इन परमारों से छीन लिया। अब वागड़ के परमारों के वंश में सौंथ (महीकांठा इलाक़ा, गुजरात) के राजा हैं।

वागड़ के परमारों की राजधानी उत्थूणक नगर (अर्थूणा) थी। अब तो वह प्राचीन नगर नष्ट हो गया है और उसके पास अर्थूणा गांव नया बसा है, परंतु परमारों के समय में वह बड़ा वैभवशाली नगर था। अब भी वहां कई एक बड़े बड़े मंदिर खड़े हैं और कई एक को गिराकर उनके द्वार आदि को लोग उठा ले गये, जो दूर दूर के गांवों के नये मंदिरों में लगे हुए देखने में आये हैं। अर्थूणा गांव का नया जैन मंदिर भी, वहां के पुराने मंदिरों से स्तंभ आदि लाकर खड़ा किया गया है।

(१) राजपूताना म्यूज़ियम् (अजमेर) की ई० स० १९१७-१८ की रिपोर्ट; पृ० २, लेखसंख्या २।

(२) यह शिलालेख राजपूताना म्यूज़ियम् (अजमेर) में सुरक्षित है।

मालवे और वागड़ के परमारों का वंशवृक्ष।
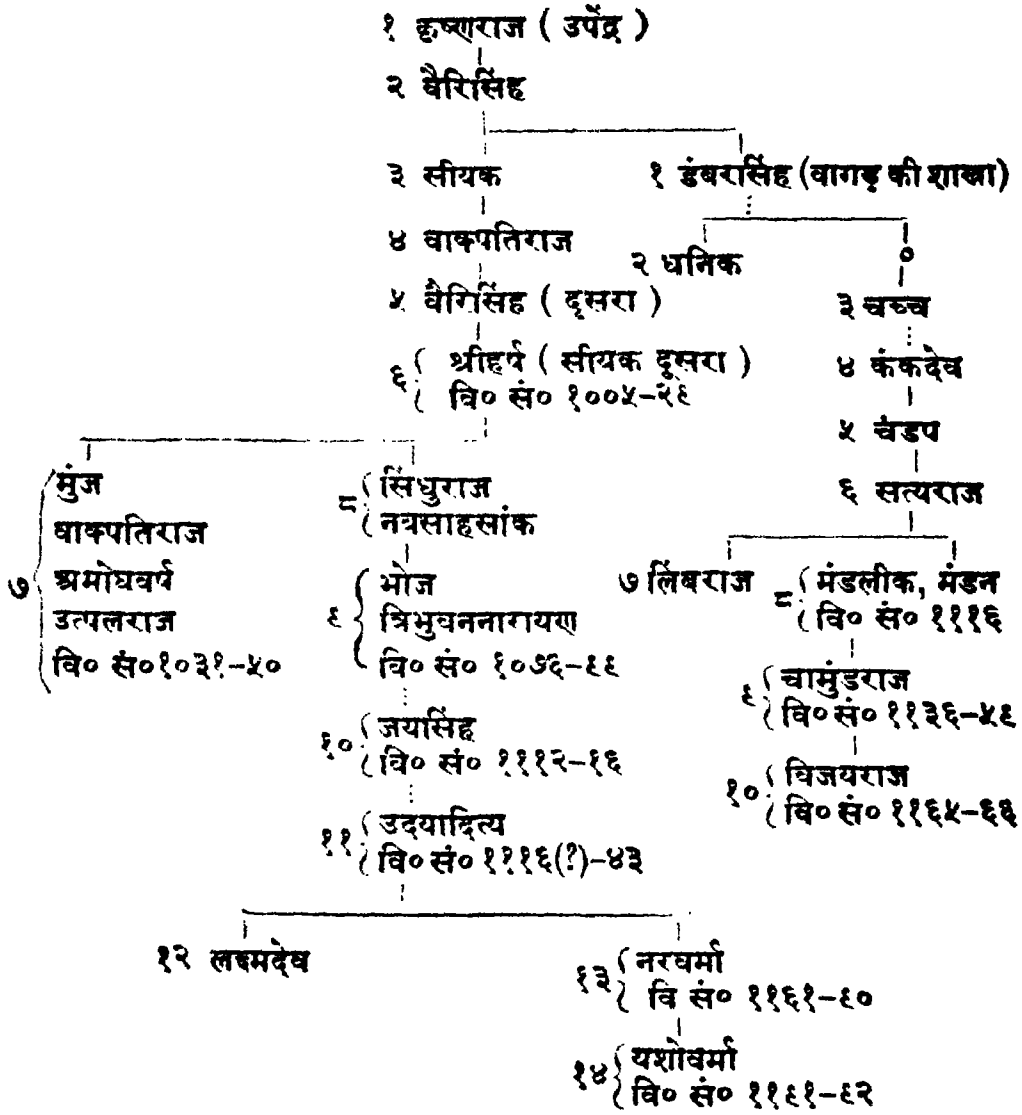
[इसके आगे का वंशवृक्ष पृ० २१० में देखो]

मालवे के परमारों का वंशवृक्ष (अवशेष)
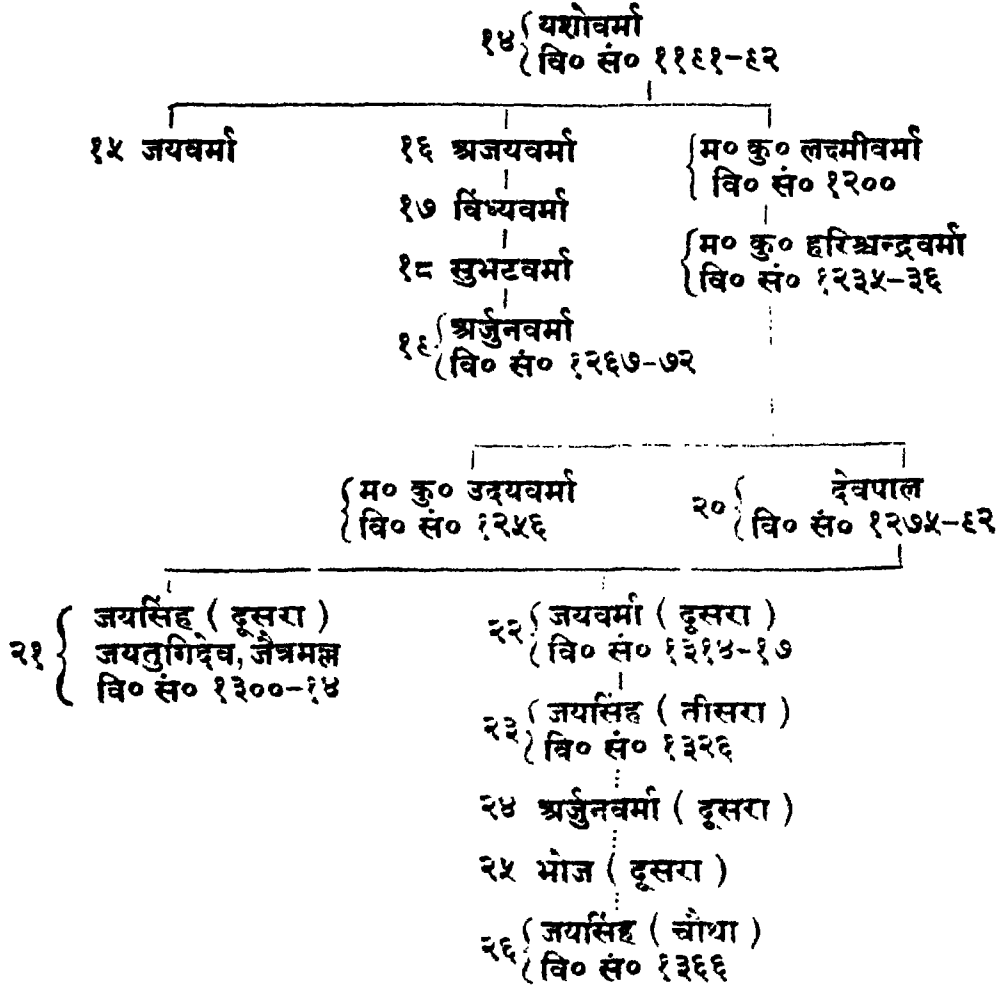
मुंहणोत नैणसी ने अपनी ख्यात में परमारों की नीचे लिखी हुई ३५(३६) शाखाएं दी हैं—

१-पंवार (परमार) । २-सोढ़ा । ३-सांखला । ४-भाभा । ५-भायल । ६-पेस । ७-पाणीसवल । ८-वहिया । ९-वाहल । १०-छाहड़ । ११-मोटसी । १२-हुबड़ (हुरड़) । १३-सीलोरा । १४-जैपाल । १५-कंगवा । १६-काबा । १७-ऊमट । १८-धांधु । १९-धुरिया । २०-भाई । २१-कछोड़िया । २२-काला । २३-कालमुहा । २४-खैरा । २५-खूंटा । २६-ढल । २७-ढेखल । २८-जागा ।

२९-ठूंठा। ३०-गूंगा। ३१-गैहलड़ा। ३२-कलीलिया। ३३-कूंकणा। ३४-पीथलिया। ३५-डोडा। ३६-बारड़[1]।

इन शाखाओं में से अब मुख्य परमार, सोढ़ा, सांखला, ऊमट और बारड़ हैं। नैणसी के कथन से मालूम होता है कि किराड़ू (आबू) के राजा धरणीवराह का पुत्र छाहड़ हुआ जिसके तीन पुत्र सोढ़ा, सांखला और बाघ थे। सोढ़ा से सोढ़ा शाखा और सांखला से सांखला शाखा चली। ऊमट शाखा किससे चली यह अनिश्चित है, परंतु उस शाखा के राजगढ़ के राजाओं की जो वंशावली भाटों ने लिखाई वह विश्वास के योग्य नहीं है, क्योंकि उसमें पहले के नाम बहुधा कृत्रिम धरे हुए हैं और संवत् भी अशुद्ध हैं, जैसे कि मालवे के प्रसिद्ध राजा भोज का वि० सं० ३६३ श्रावण वदि १४ को गद्दी बैठना आदि। इसी तरह भोज के वंशजों की जो नामावली दी है वह भी कृत्रिम ही है। उक्त वंशावली में भोज से नवीं पीढ़ी में धरतीदरहाक राजा का नाम दिया है जो आबू का प्रसिद्ध धरणीवराह होना संभव है। भाटों ने ऊमट शाखा को धरणीवराह के वंशज उमरसुमरा (सिंध के राजाओं) की शाखा में बतलाया है जो विश्वास के योग्य नहीं है। संभव है कि धरणीवराह के ऊमट नामक किसी वंशधर से ऊमट शाखा चली हो। बारड़ शाखा किससे चली यह भी अनिश्चित है। बारड़ शाखा में इस समय दांता के महाराणा हैं जो आबू के परमार राजा धंधुक के

(१) मुंहणोत नैणसी की ख्यात; पत्र २१।२। नैणसी ने जो ३५ शाखाओं के नाम दिये हैं उनमें से अधिकतर का तो अब पता ही नहीं चलता। भाटों की भिन्न भिन्न पुस्तकों में दिये हुए इन शाखाओं के नाम भी परस्पर नहीं मिलते। वंशभास्कर में भी परमारों की ३५ शाखाएं होना लिखा है, परंतु उसमें दिये हुए १७ नाम नैणसी से नहीं मिलते, जो ये हैं—डाभी, हूण, सामंत, सुजान, कुंता, सरवडिया, जोरवा, नल, मयन, पोसवा, सालाउत, रववडिया, थलवा, सिंघण, कुरड, उलंगा और बावला ('वंशभास्कर'; प्रथम भाग, पृ० ४१७-१८)। 'वंशभास्कर' में परमार से लगाकर शिवसिंह तक २१४ पीढ़ियां लिखी हैं। उनमें अंत के थोड़ेसे नामों को, जो बीजोल्यां के परमारों के हैं, छोड़कर बाक़ी के बहुधा सब नाम कल्पित हैं। आबू के परमारों में तो पृथ्वीराज रासे के अनुसार सलख और जैतराव नाम ही दिये हैं, ये दोनों नाम भी कल्पित हैं। ऐसे ही मालवे के प्रसिद्ध राजा भोज का परमार से १६०वीं पीढ़ी में होना लिखा और भोज के दादा का नाम शिवराज दिया है। सिंधुल, भोज और मुंज के वृत्तांत के लिये 'भोजप्रबंध' की दुहाई दी है। इन बातों से पाया जाता है कि भाटों को प्राचीन इतिहास का कुछ भी ज्ञान न था जिससे उन्होंने झूठी वंशावलियां गढ़ंत कर लीं।

पुत्र कृष्णराज (कान्हड़देव) दूसरे के वंशज हैं, अतएव संभव है कि बारड़ शाखा उक्त कृष्णराज के किसी वंशधर से चली हो। आबूरोड रेल्वे स्टेशन से ३ मील दूर हृषीकेश के मंदिर के निकट एक दूसरे मंदिर में सभामंडप के एक ताक में एक राजपूत वीर और उसकी स्त्री की खड़ी मूर्तियां एक ही आसन पर बनी हुई हैं। पुरुष की मूर्ति के नीचे 'बारड जगदेव' और स्त्री की मूर्ति के नीचे 'बाइ केसरदेवी' नाम खुदे हुए हैं; बाइ शब्द का 'इ' अक्षर पुरानी शैली का होने से अनुमान होता है कि बारड़ शाखा वि० सं० की १३वीं शताब्दी के आसपास फंटी हो।

नैणसी ने लिखा है कि सोढ़ा से सातवीं पीढ़ी में धारावरिस (धारावर्ष) था जिसका एक पुत्र आसराव पारकर का स्वामी और दूसरा दुर्जनसाल ऊमरकोट का स्वामी हुआ। सोढ़ा पहले सिंध में सुमरों के पास जा रहा था। उन्होंने उसे राताकोट जागीर में दिया। पीछे हंमीर सोढ़ा को जाम तमाइची ने ऊमरकोट की जागीर दी।

नैणसी ने सांखलों के संबंध में पहले तो धरणीवराह के पुत्र छाहड़ के एक बेटे का नाम सांखला दिया, परंतु आगे चलकर यह भी लिख दिया कि छाहड़ के तीसरे पुत्र बाघ के बेटे वैरसी ने मुंदियाड़ के पड़िहारों से लड़ते समय ओसियां (नगरी) की माता की जात (मन्नत) बोलकर प्रतिज्ञा की थी कि पड़िहारों पर मेरी जय हुई तो कमल पूजा करूंगा। विजयी होने के उपरान्त वह अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार देवी को अपना मस्तक चढ़ाने लगा, तब माता ने उसका हाथ पकड़ लिया और प्रसन्न होकर अपना शंख उसे दिया और कहा कि शंख बजाकर सांखला कहला, तब से सांखला नाम प्रसिद्ध हुआ। यह कथा भाटों की गढ़ंत है, वास्तव में छाहड़ के दूसरे पुत्र सांखला के वंशज सांखले कहलाये। उनका ठिकाना पहले रूणकोट (मारवाड़ में) था। पीछे सांखले महीपाल के पुत्र रायसी (राजसिंह) ने दहियों से जांगलू लिया; फिर सांखले मेहराज को जोधपुर के राठोड़ राव चूंडा ने नागोर इलाके का गांव भुंडेल जागीर में दिया। मेहराज के पुत्र हरभम (हरबू) को, जो पीर माना जाता है, राव जोधा ने बेंगटी गांव शासन कर दिया और उसके वंशज वहां रहने लगे। बिलोचों के दबाव से तंग आकर राणा माणकराव का पुत्र नापा जोधपुर आकर राव जोधा के पुत्र बीका को ले गया और उसको जांगलू का स्वामी बनाया।

इस समय ऊंमट शाखा में राजगढ़ और नरसिंहगढ़ के राज्य मालवे (ऊंमट-वाड़े में) में हैं। बारड़ शाखा का एक राज्य दांता (गुजरात में) है। सोढ़ों की जागीरें अब तक उमरकोट इलाके में हैं। बखतगढ़ के ठाकुर और मथवार के राणा (दोनों मालवे में), बाघल (सिमला हिल स्टेट्स में) के राजा, बीजोल्यां (मेवाड़) के राव तथा अन्य छोटे छोटे जागीरदार परमार वंश के हैं। सूंथ (महीकांठा एजन्सी में) के महाराणा वागड़ के परमारों के वंशधर हैं और वे अपने को लिंबदेव (लिंबराज) की संतति में बतलाते हैं। बुंदेलखंड में छतरपुर के महाराजा और बेरी के जागीरदार परमार वंश के हैं, परंतु अब वे बुंदेलों में मिल गये हैं। ऐसे ही देवास (दोनों) के महाराजा और धार के महाराजा भी परमारवंशी हैं, परंतु अब वे मरहटों में मिल गये हैं।

सोलंकी वंश।

गुप्तों के पीछे एक समय ऐसा था कि उत्तरी भारत में थाणेश्वर के प्रतापी राजा हर्ष (हर्षवर्द्धन) का और दक्षिणी भारत में सोलंकी पुलुकेशी (दूसरे) का राज्य था। इस प्रतापी (सोलंकी) वंश के राजा बड़े दानी और विद्यानुरागी हुए हैं। उनके सैकड़ों शिलालेख और दानपत्र मिले हैं, और अनेक विद्वानों ने उनकी गुणग्राहकता के कारण उनका थोड़ा बहुत इतिहास अपनी अपनी पुस्तकों में लिखा है। ऐसा माना जाता है कि इनका राज्य प्रारंभ में अयोध्या में था जहां से ये दक्षिण में गये, फिर गुजरात, काठियावाड़, राजपूताने और बघेलखंड में उनके राज्य स्थिर हुए। हमारे इस ग्रंथ का संबंध राजपूताने से ही है और गुजरात के सोलंकियों का अधिकार राजपूताने में सिरोही राज्य और जोधपुर राज्य के कितने एक अंश पर अधिक समय तक, और चित्तोड़ तथा उसके आसपास के प्रदेश और वागड़ पर थोड़े समय तक रहा था; इसलिये केवल गुजरात के सोलंकियों का, जिनका इतिहास बहुत मिलता है, यहां बहुत ही संक्षेप से परिचय दिया जाता है और उसमें भी विशेषकर राजपूताने के संबंध का।

इस समय सोलंकी और बघेल (सोलंकियों की एक शाखा) अपने को अग्निवंशी बतलाते हैं, और वसिष्ठ ऋषि के द्वारा आबू पर के अग्निकुंड से अपने मूल पुरुष चुलुक्य (चालुक्य, चौलुक्य) का उत्पन्न होना मानते हैं, परंतु सोलंकियों के वि० सं० ६३५ से १६०० तक के अनेक शिलालेखों, दानपत्रों

तथा पुस्तकों में कहीं उनके अग्निवंशी होने की कथा का लेश भी पाया नहीं जाता। उनमें उनका चंद्रवंशी और पांडवों के वंशधर होना लिखा है[1]। वि० सं० १६०० के आसपास 'पृथ्वीराज रासा' बना, जिसके कर्त्ता ने इतिहास के अज्ञान में इनको भी अग्निवंशी ठहरा दिया और ये भी अपने प्राचीन इतिहास की अज्ञानता में उसीको ऐतिहासिक ग्रंथ मानकर अपने को अग्निवंशी कहने लग गये। गुजरात के सोलंकियों की नामावली नीचे दी जाती है।

(१) मूलराज (राजि का पुत्र)—उसने अणहिलवाड़े (पाटण) के अंतिम चावड़ावंशी राजा सामंतसिंह को, जो उसका मामा था, मारकर गुजरात का राज्य उससे छीन लिया। यह घटना वि० सं० १०१७ (ई० स० ६६०) में हुई[2]। उसने गुजरात से उत्तर में अपना अधिकार बढ़ाना शुरू कर आबू के परमार राजा धरणीवराह पर चढ़ाई की, उस समय हठूंडी (जोधपुर राज्य के गोड़वाड़ इलाक़े में) के राष्ट्रकूट (राठोड़) राजा धवल ने उसको अपनी शरण में रक्खा[3]। मूलराज के वि० सं० १०५१ (ई० स० ६६४) के दानपत्र से पाया जाता है कि उक्त संवत् में उसने सत्यपुर (सांचोर, जोधपुर राज्य में) ज़िले का वरणक गांव दान में दिया था, इससे निश्चित है कि आबू के परमारों का राज्य उसने अपने अधीन किया, क्योंकि उस समय सांचोर परमारों के राज्य में था। मूलराज को इस प्रकार उत्तर में आगे बढ़ता देखकर सांभर के चौहान राजा विग्रहराज (दूसरे, वीसलदेव) ने उसपर चढ़ाई कर दी, जिससे मूलराज अपनी राजधानी छोड़कर कंथादुर्ग (कंथकोट का क़िला, कच्छ राज्य में) में भाग गया। विग्रहराज साल भर तक गुजरात में रहा, और उसको जर्जर कर लौटा[4]। उसी समय के आसपास कल्याण के सोलंकी राजा तैलप के सेनापति बारप ने भी, जिसको तैलप ने लाट देश जागीर में दिया था, उसपर चढ़ाई की, परंतु बारप युद्ध में मारा गया। मूलराज सोरठ (दक्षिणी काठियावाड़) के चूड़ासमा (यादव) राजा ग्रहरिपु पर भी चढ़कर गया। उस समय ग्रहरिपु का मित्र

(१) सोलंकियों की उत्पत्ति के लिये देखो 'सोलंकियों का प्राचीन इतिहास'; प्रथम भाग, पृ० ३-१४।

(२) ना. प्र. प०; भाग १, पृ० २१४ १५।

(३) देखो ऊपर पृ० १७२ और टिप्पण १।

(४) ना. प्र. प०; भाग १, पृ० ४२०-२४।

कच्छ का जाड़ेजा (जाडेचा, यादव) राजा लाखा फूलाणी (फूल का बेटा) उसकी सहायता के लिये आया; लड़ाई में ग्रहरिपु क़ैद हुआ और लाखा मारा गया[1]। इस लड़ाई में आबू का राजा, जो मूलराज की सेना में था, वीरता से लड़ा, ऐसा हेमचन्द्र (हेमाचार्य) के 'द्व्याश्रयकाव्य' से पाया जाता है। मूलराज ने सिद्धपुर में रुद्रमहालय नामक बड़ा ही विशाल शिवालय बनवाया तथा उसकी प्रतिष्ठा के समय थाणेश्वर, कन्नौज आदि उत्तरी प्रदेशों के ब्राह्मणों को बुलाया, और गांव आदि जीविका देकर उनको वहीं रक्खा। वे उत्तर (उदीची) से आने के कारण औदीच्य कहलाये और गुजरात में बसने के कारण औदीच्य ब्राह्मणों की गणना पीछे से पंचद्रविड़ों में हो गई, परंतु वास्तव में वे उत्तर के गौड़ ही हैं। उस समय तक ब्राह्मण जाति एक ही थी और उसमें गौड़ और द्रविड़ का भेद न था। यह भेद उससे बहुत पीछे हुआ। मूलराज ने वि० सं० १०१७ से १०५२ (ई० स० ९६० से ९९५) तक राज्य किया। उसके समय के तीन दान-पत्र मिले हैं जो वि० सं० १०३०[2] से १०५१[3] तक के हैं।

(२) चामुंडराज (सं० १ का पुत्र)—उसने मालवे के राजा सिंधुराज (भोज का पिता) को युद्ध में मारा[4], तब से ही गुजरात के सोलंकियों और मालवे के परमारों के बीच वंशपरंपरागत वैर हो गया और वे बराबर लड़ते और अपनी बरबादी कराते रहे। चामुण्डराज बड़ा कामी राजा था जिससे उसकी बहिन वाचिणीदेवी (चाचिणीदेवी) ने उसको पदच्युत कर उसके ज्येष्ठ पुत्र वल्लभराज को गुजरात के राज्यसिंहासन पर बिठलाया। उसके तीन पुत्र वल्लभराज, दुर्लभराज और नागराज थे। उसने वि० सं० १०५२ से १०६६ (ई० स० ९९५ से १००९) तक राज्य किया।

(३) वल्लभराज (सं० २ का पुत्र)—उसने मालवे पर चढ़ाई की, परंतु मार्ग में ही बीमार होकर मर गया। उसने अनुमान ६ मास तक राज्य किया। उसका उत्तराधिकारी उसका छोटा भाई दुर्लभराज हुआ।

(४) दुर्लभराज (सं० ३ का भाई)—उसका विवाह नाडौल के चौहान

(१) बंब. गै; जि० १, भाग १, पृ० १५९-६०।
(२) विएना ओरिएंटल जर्नल; जि० ५, पृ० ३००।
(३) ए. इं; जि० १०; पृ० ७८-७९।
(४) देखो ऊपर पृ० २८८।

राजा महेंद्र की बहिन दुर्लभदेवी से हुआ था। उसने वि० सं० १०६६ से १०७८ (ई० स० १००६ से १०२१) तक राज्य किया और उसका उत्तराधिकारी उसके छोटे भाई नागराज का पुत्र भीमदेव हुआ।

(५) भीमदेव (सं० ४ का भतीजा)—उसने आबू के परमार राजा धंधुक से, जो उसका सामंत था, विरोध हो जाने पर अपने मंत्री पोरवाड़ (प्राग्वाट) जाति के महाजन विमल (विमलशाह) की अधीनता में आबू पर सेना भेजी, जिससे धंधुक मालवे के परमार राजा भोज के पास चला गया जो उस समय चित्तोड़ में रहता था। विमलशाह ने धंधुक को चित्तोड़ से बुलवाया और भीमदेव के साथ उसका मेल करा दिया, फिर उसने वि० सं० १०८८ (ई० स० १०३१) में आबू पर देलवाड़ा गांव में विमलवसही नामक आदिनाथ का अपूर्व मंदिर बनवाया[1]। भीम ने सिंध के राजा हंमुक (?) पर चढ़ाई कर उसको परास्त किया। जब वह सिंध की लड़ाई में लगा हुआ था उस समय मालवे के परमार राजा भोज के सेनापति कुलचंद्र ने अणहिलवाड़े पर चढ़ाई कर उस नगर को लूटा, जिसका बदला लेने के लिये भीम ने मालवे पर चढ़ाई की। उन्हीं दिनों में भोज रोगग्रस्त होकर मर गया। भीम ने आबू के परमार राजा कृष्णराज को भी क़ैद किया, परंतु नाडौल के चौहान राजा बालप्रसाद ने उसे क़ैद से छुड़वाया[2] था। नाडौल के चौहानों का भी भीमदेव के अधीन होना पाया जाता है। वि० सं० १०८२ (ई० स० १०२५) में जब ग़ज़नी के सुलतान महमूद ने गुजरात पर चढ़ाई कर सोमनाथ के प्रसिद्ध मंदिर को, जो काठियावाड़ के दक्षिण में समुद्र तट पर है, तोड़ा, उस समय भीमदेव ने अपनी राजधानी को छोड़कर एक क़िले (कथकोट, कच्छ में) की शरण ली थी। उसने वि० सं० १०७८ से ११२० (ई० स० १०२१ से १०६३) तक राज्य किया था। उसके तीन पुत्र मूलराज, क्षेमराज और कर्ण थे। मूलराज का देहान्त अपने पिता की जीवित दशा में हो गया था। भीमदेव ने अपने अंतिम समय क्षेमराज को राज्य देना चाहा, परंतु उसने स्वीकार न किया, और अपने छोटे भाई कर्ण को राज्य देकर वह सरस्वती-तट के एक तीर्थस्थान (मंडूकेश्वर) में आकर तपश्चर्या करने लगा।

(६) कर्ण (सं० ५ का पुत्र)—मालवे के राजा उदयादित्य ने सांभर के

(१) देखो ऊपर पृ० १७३।

(२) देखो ऊपर पृ० १७४।

चौहान राजा विग्रहराज (तीसरे, वीसलदेव) से सहायता पाकर कर्ण को जीता था[1]। उसकी राणी मयणल्लदेवी (मीनलदेवी) गोआ के कदम्बवंशी राजा जयकेशी की पुत्री थी। कर्ण ने गुजरात के कोली और भीलों को अपने वश किया, जो वहां उपद्रव किया करते थे। वि० सं० ११२० से ११५०, (ई० स० १०६३ से १०९३) तक उसने राज्य किया। 'विक्रमांकदेवचरित' आदि के कर्ता बिल्हण पंडित ने 'कर्णसुन्दरी' नामक नाटिका रची जिसका नायक यही कर्ण है।

(७) जयसिंह (सं० ६ का पुत्र)—गुजरात के सोलंकियों में वह बड़ा ही प्रतापी राजा हुआ। उसका प्रसिद्ध विरुद सिद्धराज था जिससे वह सिद्धराज जयसिंह नाम से अधिक विख्यात है। जिस समय वह सोमनाथ की यात्रा को गया हुआ था, मालवे के परमार राजा नरवर्मा ने गुजरात पर चढ़ाई कर दी, जिसके वैर में मालवे पर चढ़ाई कर जयसिंह १२ बरस तक लड़ता रहा। इस लड़ाई में नरवर्मा का देहान्त हुआ और उसके पुत्र यशोवर्मा के समय इस युद्ध की समाप्ति हुई। अंत में यशोवर्मा हारा, क़ैद हुआ और मालवा गुजरात के राज्य के अंतर्गत हो गया[2]। इसके साथ चित्तोड़ का क़िला तथा उसके आसपास के प्रदेश, एवं वागड़ पर भी जयसिंह का अधिकार हुआ[3] जो कुमारपाल के उत्तराधिकारी अजयपाल के समय तक किसी प्रकार बना रहा था। आबू के परमार तथा नाडौल के चौहान तो पहले ही से गुजरात के राजाओं की अधीनता में चले आते थे। जयसिंह ने महोबा के चंदेल राजा मदनवर्मा पर भी चढ़ाई की थी, परंतु उसमें उसको विजय प्राप्त हुई या नहीं, यह संदिग्ध बात है। उसने सोरठ पर चढ़ाई कर गिरनार के यादव (चूडासमा) राजा खंगार (दूसरे) को क़ैद किया, बर्बर आदि जंगली जातियों को अपने अधीन किया और अजमेर के चौहान राजा आना (अर्णोराज, आनाक, आनल्लदेव) पर विजय प्राप्त की, परंतु पीछे से सुलह हो जाने के कारण उसने अपनी पुत्री कांचनदेवी का विवाह आना के साथ कर दिया, जिससे सोमेश्वर का जन्म हुआ[4]। सिद्धराज सोमेश्वर को बचपन में ही अपने

(१) देखो ऊपर पृ० ११२। (२) देखो ऊपर पृ० ११६–१७।

(३) ना. प्र. प.; भाग ३, पृ० ६ का टिप्पण २।

(४) ना. प्र. प.; भाग १, पृ० ३९३–९४।

यहां ले आया था और उसका देहान्त होने पर उसके उत्तराधिकारी कुमारपाल ने उसका पालन किया। सिद्धराज बड़ा ही लोकप्रिय, न्यायी, विद्यारसिक और जैनों का विशेष सम्मान करनेवाला हुआ। प्रसिद्ध विद्वान् जैन आचार्य हेमचंद्र (हेमाचार्य) का वह बड़ा सम्मान करता था। उसके दरबार में कई विद्वान् रहते थे, जैसे कि 'वैरोचनपराजय' का कर्त्ता श्रीपाल, 'कविशिक्षा' का कर्त्ता जयमंगल (वाग्भट), 'गणरत्नमहोदधि' का कर्त्ता वर्द्धमान, तथा सागरचंद्र आदि। श्रीपाल तो उसके दरबार का मुख्य कवि था, जो कुमारपाल के समय भी उसी पद पर रहा था। वर्द्धमान ने 'सिद्धराजवर्णन' नामक ग्रंथ लिखा था[1]। सागरचंद्र ने भी सिद्धराज की प्रशंसा में कोई काव्य लिखा हो, ऐसा 'गणरत्नमहोदधि' में उससे उद्धृत किये हुए श्लोकों से पाया जाता है[2]। वि० सं० ११५० से ११९९ (ई० स० १०९३ से ११४२) तक सिद्धराज ने राज्य किया। उसके कोई पुत्र न होने के कारण[3] उसके पीछे उपर्युक्त राजा कर्ण के बड़े भाई क्षेमराज के पुत्र देवप्रसाद का पौत्र (त्रिभुवनपाल का पुत्र) कुमारपाल गुजरात के राज्यसिंहासन पर बैठा।

(१) ना. प्र. प.; भाग ३, पृ० ८, टिप्पण २।

(२) वही; भाग ३, पृ० ९ के नीचे का टिप्पण।

(३) भाटों की ख्यातों में सिद्धराज जयसिंह के ७ पुत्र—कुमारपाल, बाघराव, गाहिलराव, तेजसी (तूनराव), मलखान, जोबनीराव और सगतिकुमार (शक्तिकुमार)—होना लिखा है और कुमारपाल को उसका उत्तराधिकारी तथा बाघराव से बघेल शाखा का चलना, बतलाया है, परंतु सिद्धराज के ७ पुत्र होने और बाघराव से बाघेला (बघेल) शाखा का चलना, ये दोनों कथन विश्वास के योग्य नहीं हैं। हेमचंद्रसूरि (हेमाचार्य) ने, जो सिद्धराज जयसिंह और कुमारपाल दोनों के समय जीवित थे, अपने द्व्याश्रयकाव्य में लिखा है, कि जयसिंह को पुत्रमुखदर्शन का सुख न मिला। वह पैदल चलता हुआ देवपाटण (वेरावल) पहुंचा। वहां सोमनाथ का पूजन किया, तदनंतर अकेला मंदिर में बैठकर समाधिस्थ हो गया। शंकर ने प्रत्यक्ष हो उसे दर्शन दिया, परंतु जब उसने पुत्र के लिये याचना की तो यही उत्तर मिला कि तेरे पीछे तेरे भाई त्रिभुवनपाल का पुत्र कुमारपाल राजा होगा ('द्व्याश्रयकाव्य,' सर्ग १५, श्लोक ३७–५६)। चित्तोड़ के क़िले से मिले हुए स्वयं कुमारपाल के शिलालेख में पुत्रप्राप्ति के लिये जयसिंह के सोमनाथ जाने तथा शंकर से याचना करने पर उसके पीछे कुमारपाल के राजा होने का उत्तर मिलना कहा है और वहीं भीमदेव से लगाकर कुमारपाल तक का संबंध भी बतलाया है—

पुत्रार्थं चरणप्र[चा]रविधिना श्रीसोमनाथं ययौ।

(१ के ८) कुमारपाल (सं० ७ का कुटुंबी)—यह गुजरात के सोलंकियों में सब से प्रतापी हुआ, परंतु राज्य पाने से पहले का समय उसने बड़ी ही आपत्ति में व्यतीत किया था, क्योंकि जयसिंह (सिद्धराज) उसको मरवाना चाहता था जिससे वह भेष बदलकर प्राण बचाता फिरता था। उसने अजमेर के चौहान राजा आना (अर्णोराज) पर दो चढ़ाइयां कीं जिनमें से पहली वि० सं० १२०१ (ई० स० ११४४) के आसपास हुई; उसमें कुमारपाल को विजय प्राप्त हुई हो ऐसा पाया नहीं जाता। दूसरी चढ़ाई वि० सं० १२०७ (ई० स० ११५०) में की जिसमें यह विजयी हुआ था। पहली चढ़ाई में आबू का परमार राजा विक्रमसिंह आना से मिल गया जिससे कुमारपाल ने विक्रमसिंह को कैद कर उसके भतीजे यशोधवल को आबू का राज्य दिया[1]। कुमारपाल ने मालवे के राजा बल्लाल को मारा और कोंकण के शिलारावंशी राजा मल्लिकार्जुन पर दो बार चढ़ाई की। पहली चढ़ाई में उसकी सेना को हार खाकर लौटना पड़ा, परंतु दूसरी चढ़ाई में विजय हुई। इस चढ़ाई में चौहान सोमेश्वर (पृथ्वीराज के पिता) ने जिसने अपनी बाल्यावस्था अपने ननिहाल में व्यतीत की थी और जयसिंह (सिद्धराज) तथा उसके क्रमानुयायी कुमारपाल ने बड़े स्नेह से जिसका पालन किया था, मल्लिकार्जुन का सिर काटा था[2]। कुमारपाल बड़ा प्रतापी और नीतिनिपुण था। उसके राज्यकी सीमा दूर दूर तक फैली हुई थी और मालवा

देवोऽयादिशतिस्म···· ···· ··· ···· ॥

पूर्वं श्रीभीमदेवस्य क्षेमराजसुतोऽभवत् ।

क्षमाक्षेमङ्करैर्मुख्यैर्यो रराज गुणैरपि ॥

तस्माद्देवप्रमादोभूद्देवाराधन····।····॥

कौस्तुभ इव रत्ननिधिस्त्रिभुवनपालाह्वयोभवत्तस्मात् ।····॥

कुमारपालदेवाख्यः श्रीमानस्यास्ति नंदनः ।····॥

इति देवे···· ···· ···· ···· ····॥

कुमारपाल का चित्तोड़ का शिलालेख (अप्रकाशित)। ऐसा ही कृष्णकवि के 'रत्नमाल', जिनमंडन के 'कुमारपालप्रबंध', जयसिंहसूरिके 'कुमारपालचरित' आदि ग्रंथों में लिखा है, वही विश्वास के योग्य है। कुमारपाल जयसिंह का पुत्र नहीं, किंतु कुटुंबी था।

(१) देखो ऊपर पृ० १७५।

(२) ना. प्र. प.; भाग १, पृ० ३९९।

तथा राजपूताने का कितना एक अंश भी उसके अधीन था। ... कुमारपाल ने आचार्य हेमचंद्र (हेमाचार्य) के उपदेश से उसने जैन धर्म स्वीकार कर अपने राज्य में जीवहिंसा को रोक दिया था। गुजरात के बाहर राजपूताने और मालवे में भी उसके कई शिलालेख मिले हैं। उसने वि० सं० ११९९ से १२३० (ई० स० ११४२-११७३) तक राज्य किया। उसके सब से बड़े भाई महीपाल का पुत्र अजयपाल उसके पीछे राज्य-सिंहासन पर बैठा।

(९) अजयपाल (सं० ८ का भतीजा)—उस निर्बुद्धि राजा के समय से ही गुजरात के सोलंकियों के राज्य की अवनति का प्रारंभ हुआ। मेवाड़ के राजा सामंतसिंह के साथ के युद्ध में हारकर बुरी तरह से वह घायल हुआ, उस समय आबू के परमार राजा धारावर्ष के छोटे भाई प्रल्हादन ने गुजरात की रक्षा की[1]। उसने जैन धर्म का विरोध कर बहुत कुछ अन्याचार किया और वि० सं० १२३३ (ई० स० ११७६) में अपने ही एक द्वारपाल के हाथ से वह मारा गया।

(१०) मूलराज दूसरा (सं० ९ का पुत्र)—वह बाल्यावस्था में ही गुजरात का राजा हुआ जिससे उसको बालमूलराज भी कहते हैं। उसके समय में सुलतान शहाबुद्दीन गोरी ने गुजरात पर चढ़ाई की थी, और आबू के नीचे (कायद्रां गांव के पास) लड़ाई हुई जिसमें सुलतान घायल हुआ और हार खाकर लौट गया[2]। फारसी इतिहासलेखक उस लड़ाई का भीमदेव के समय होना लिखते हैं, परंतु संस्कृत ग्रंथकारों ने उसका मूलराज के समय में होना माना है, जिसका कारण यही है कि उसी समय में मूलराज का देहांत और भीमदेव (दूसरे) का राज्याभिषेक हुआ था। मूलराज ने वि० सं० १२३३ से १२३५ (ई० स० ११७६ से ११७८) तक गुजरात पर राज्य किया।

(११) भीमदेव दूसरा (सं० १० का छोटा भाई)—वह भोलाभीम के नाम से प्रसिद्ध हुआ। उसने भी बाल्यावस्था में राज्य पाया था जिससे उसके मंत्रियों तथा सामंतों ने उसका बहुतसा राज्य दबा लिया[3]। कितने ही सामंत स्वतंत्र हो गये और उसके संबंधी जयंतसिंह (जैत्रसिंह) ने उससे अणहिलवाड़े की गद्दी भी छीन ली थी, परंतु अंत में उसको वहां से हटना पड़ा। सोलंकियों की बघेल

(१) देखो ऊपर पृ० १७८।

(२) देखो ऊपर पृ० १७६।

(३) देखो ऊपर पृ० १७६।

शाखा के राणा अर्णोराज का पुत्र लवणप्रसाद और उसका पुत्र वीरधवल दोनों भीमदेव के पक्ष में रहे। भीमदेव के समय कुतबुद्दीन ऐबक ने गुजरात पर चढ़ाई की और आबू के नीचे (कायद्रां गांव के पास) परमार धारावर्ष तथा गुजरात के अन्य सामंतों को, जो उसका मार्ग रोकने को खड़े थे, हराकर गुजरात को लूटा[1]। भोलाभीम ने वि० सं० १२३५ से १२९८ (ई० स० ११७८ से १२४१) तक राज्य किया। वह नाममात्र का राजा रहा, क्योंकि सारी राज्यसत्ता लवणप्रसाद और उसके पुत्र वीरधवल के हाथ में थी। उसके पीछे उसका कुटुंबी त्रिभुवन-पाल अणहिलवाड़े की गद्दी पर बैठा जिसका उसके साथ क्या संबंध था यह अब तक ज्ञात नहीं हुआ।

(१२) त्रिभुवनपाल (सं० ११ का उत्तराधिकारी)—वह मेवाड़ के राजा जैत्रसिंह के साथ कोट्टडक (कोटड़ा) के पास लड़ा[2] और वि० सं० १३०० (ई० स० १२४३) के आसपास सोलंकियों की बघेल शाखा के वीरधवल के पुत्र वीसलदेव ने उससे गुजरात का राज्य छीन लिया।

बघेले सोलंकी

बघेल या बघेले (वाघेले) गुजरात के सोलंकियों की छोटी शाखा में हैं, परंतु अब तक किसी पुस्तक या शिलालेख आदि से यह पता नहीं लगा कि उनकी शाखा किस राजा से अलग हुई। भाटों की ख्यातों में तो यह लिखा है कि सिद्धराज जयसिंह के ७ पुत्र थे जिनमें से दूसरे पुत्र बाघराव के वंशज बघेल कहलाये। सिद्धराज जयसिंह के कोई पुत्र न होने से ही उसका कुटुंबी कुमारपाल उसका उत्तराधिकारी हुआ था, जैसा कि ऊपर (पृ० २१८) बतलाया जा चुका है। ऐसी दशा में भाटों का कथन विश्वास के योग्य नहीं हो सकता। सोलंकियों के इतिहास से संबंध रखनेवाली पुस्तकों से पाया जाता है कि सोलंकी वंश की दूसरी शाखा के धवल नामक पुरुष का विवाह कुमारपाल की मौसी के साथ हुआ था, जिसके गर्भ से अर्णोराज (आनाक, आना) ने जन्म लिया। उस(अर्णोराज)ने कुमार-पाल की अच्छी सेवा बजाई, जिससे प्रसन्न होकर कुमारपाल ने उसको व्याघ्र-पल्ली (बघेल, अणहिलवाड़े से १० मील पर) गांव दिया और उक्त गांव के नाम

(१) देखो ऊपर पृ० १७६।

(२) ना. प्र. प.; भाग ३, पृ० २, टिप्पण १।

पर उसके वंशज व्याघ्रपल्लीय या बघेल कहलाये[१]। इस कथन को हम भाटों के उपर्युक्त कथन से अधिक विश्वासयोग्य समझते हैं।

अर्णोराज का पुत्र लवणप्रसाद भीमदेव (दूसरे) का मंत्री बना और उसकी जागीर में धोलके का परगना आया। लवणप्रसाद की स्त्री मदनराज्ञी से वीरधवल का जन्म हुआ। वृद्धावस्था में लवणप्रसाद ने राजकाज वीरधवल के सुपुर्द कर दिया जिससे वही (वीरधवल) भीमदेव के राज्य का संचालक हुआ। वह वीर प्रकृति का पुरुष था। उसने भद्रेश्वर (कच्छ में), वामनस्थली (वनथली, काठियावाड़ में) और गोधरा के राजाओं को विजय किया। आबू का परमार धारावर्ष तथा जालोर का चौहान उदयसिंह आदि मारवाड़ के ४ राजा गुजरात से स्वतंत्र बन गये थे, परंतु जब दक्षिण से यादव राजा सिंहण और उत्तर से दिल्ली का सुलतान शमसुद्दीन अल्तमश गुजरात पर चढ़ाई करनेवाले थे, उस समय वीरधवल उन चारों राजाओं को फिर गुजरात के पक्ष में लाया[२]। उसके मंत्री वस्तुपाल और तेजपाल नामक दो भाई (पोरवाड़ जाति के महाजन) थे, जिन्होंने उसके राज्य को बड़ी उन्नति दी, और जैन धर्म के कामों में अगणित द्रव्य व्यय किया। ये दोनों भाई बड़े ही नीतिनिपुण थे। वस्तुपाल वीरपुरुष था इतना ही नहीं, किंतु प्रसिद्ध विद्वान् भी था, और अनेक विद्वानों को उसने बहुत कुछ धन दिया था। सोमेश्वर ने 'कीर्तिकौमुदी' में, बालचंद्रसूरि ने 'वसंतविलास' में, अरिसिंह ने 'सुकृतसंकीर्तन' में और जिनहर्ष ने 'वस्तुपालचरित' में उसका विस्तृत चरित्र लिखकर उसकी कीर्ति को अमर कर दिया है। 'उपदेशतरंगिणी', 'प्रबंधचिन्तामणि', 'प्रबन्धकोष' (चतुर्विंशति प्रबन्ध), 'हंमीरमदमर्दन', 'वस्तुपाल तेजःपाल प्रशस्ति', 'सुकृतकल्लोलिनी' आदि पुस्तकों तथा अनेक शिलालेखों में इन दोनों भाइयों का बहुत कुछ वर्णन मिलता है। वस्तुपाल ने 'नरनारायणानंद' महाकाव्य लिखा और उसकी कविता सुभाषित ग्रंथों में भी मिलती है। तेजपाल ने आबू पर देलवाड़ा गांव में अपने पुत्र लूणसिंह के नाम से करोड़ों रुपये लगाकर लूणवसही नामक नेमिनाथ का अपूर्व मंदिर वि० सं० १२८७ में बनवाया। वीरधवल का देहान्त वि० सं० १२९४ या १२९५ में हुआ। उसके तीन पुत्र प्रतापमल्ल, वीरम और वीसल थे। प्रतापमल्ल का देहांत

(१) बंब. गॅ; जि० १, भाग १, पृ० १९८।

(२) ना. प्र. प.; भाग ३, पृ० १२४ और टिप्पण ४।

वीरधवल की जीवित दशा में हो गया था, जिससे उसकी जागीर का हक़दार वीरम था। उसने पिता के मरते ही अपने को उसका उत्तराधिकारी मान लिया, परंतु उसके उद्धत होने के कारण मंत्री वस्तुपाल ने वीसलदेव का पक्ष लेकर उसी को धोलके की जागीर का स्वामी बनाया। वीरम कुछ इलाक़ा दबाकर एक दो वर्ष गुजरात में रहा। फिर वहां से भागकर अपने श्वसुर जालोर के चौहान उदयसिंह के यहां जा रहा और वस्तुपाल के यत्न से वहीं मारा गया[1]। यहां तक इन धोलका के बघेलों का राजपूताने से कोई संबंध न था, और वे राजा नहीं किंतु गुजरात के राजाओं के सामंत थे। वीसलदेव धोलके का स्वामी होने के पीछे वि० सं० १३०० (ई० स० १२४३) के आसपास अणहिलवाड़े के राजा त्रिभुवनपाल का राज्य छीनकर गुजरात के राज्य-सिंहासन पर बैठ गया, तब से उसका संबंध राजपूताने से हुआ।

(१) वीसल (धोलके के राणा वीरधवल का तीसरा पुत्र)—उसको विश्वमल्ल और विश्वल भी कहते थे। गुजरात का राज्य छीनने के पीछे वह मेवाड़ और मालवे के राजाओं से लड़ा। उस समय मेवाड़ का राजा जैत्रसिंह या उसका पुत्र तेजसिंह और मालवे का राजा परमार जयतुगिदेव या जयवर्मा (दूसरा) होना चाहिये। मालवे के उक्त राजा के साथ की लड़ाई के संबंध में गणपति व्यास ने 'धाराध्वंस' नामक काव्य भी लिखा था। वि० सं० १३०० से १३१८ (ई० स० १२४३ से १२६१) तक उसने गुजरात पर राज्य किया और उसके पीछे उसके बड़े भाई प्रतापमल्ल का पुत्र अर्जुनदेव गुजरात का राजा हुआ।

(२) अर्जुनदेव का विरुद निःशंकमल्ल था। उसके समय का एक शिलालेख वि० सं० १३२० (ई० स० १२६३) का अजारी गांव (सिरोही राज्य) में गोपालजी के मंदिर की फ़र्श में लगा हुआ है, जिससे पाया जाता है कि उसके समय तक आबू के परमार किसी प्रकार गुजरात की अधीनता में थे। उसका राजत्वकाल वि० सं० १३१८ से १३३१ (ई० स० १२६१ से १२७४) तक रहा। उसके दो पुत्र रामदेव और सारंगदेव थे।

(३) रामदेव (सं० २ का पुत्र)—उसने थोड़े ही समय तक राज्य किया जिससे उसका नाम किसी ने छोड़ दिया और किसी ने लिखा भी है।

---

(१) ना. प्र. प.; भाग १, पृ० २७० का टिप्पण।

(४) सारंगदेव (सं० ३ का छोटा भाई)—उसके समय का वि० सं० १३५० (ई० स० १२९३) का शिलालेख आबू पर विमलशाह के मंदिर की दीवार में लगा हुआ है। उसने गोगदेव को, जो पहले मालवे के राजा का प्रधान था परंतु पीछे से अवसर पाकर जिसने वहां का आधा राज्य बँटवा लिया था, हराया, ऐसा फारसी तवारीखों से पाया जाता है। सारंगदेव ने वि० सं० १३३१ से १३५३ (ई० स० १२७४ से १२९६) तक शासन किया।

(५) कर्णदेव (सं० ४ का पुत्र)—गुजरात में वह करणघेला (घेला= पागल) के नाम से अब तक प्रसिद्ध है। उसके समय वि० सं० १३५६ (ई० स० १२९९) में दिल्ली के सुलतान अलाउद्दीन खिलजी के छोटे भाई उलगखां तथा नसरतखां जलेसरी ने गुजरात पर चढ़ाई कर कर्णदेव का राज्य छीन लिया। राजा भागकर देवगिरी के यादव राजा रामदेव के पास जा रहा। इस प्रकार गुजरात के सोलंकी-राज्य की समाप्ति हुई।

गुजरात के सोलंकियों का वंशवृक्ष
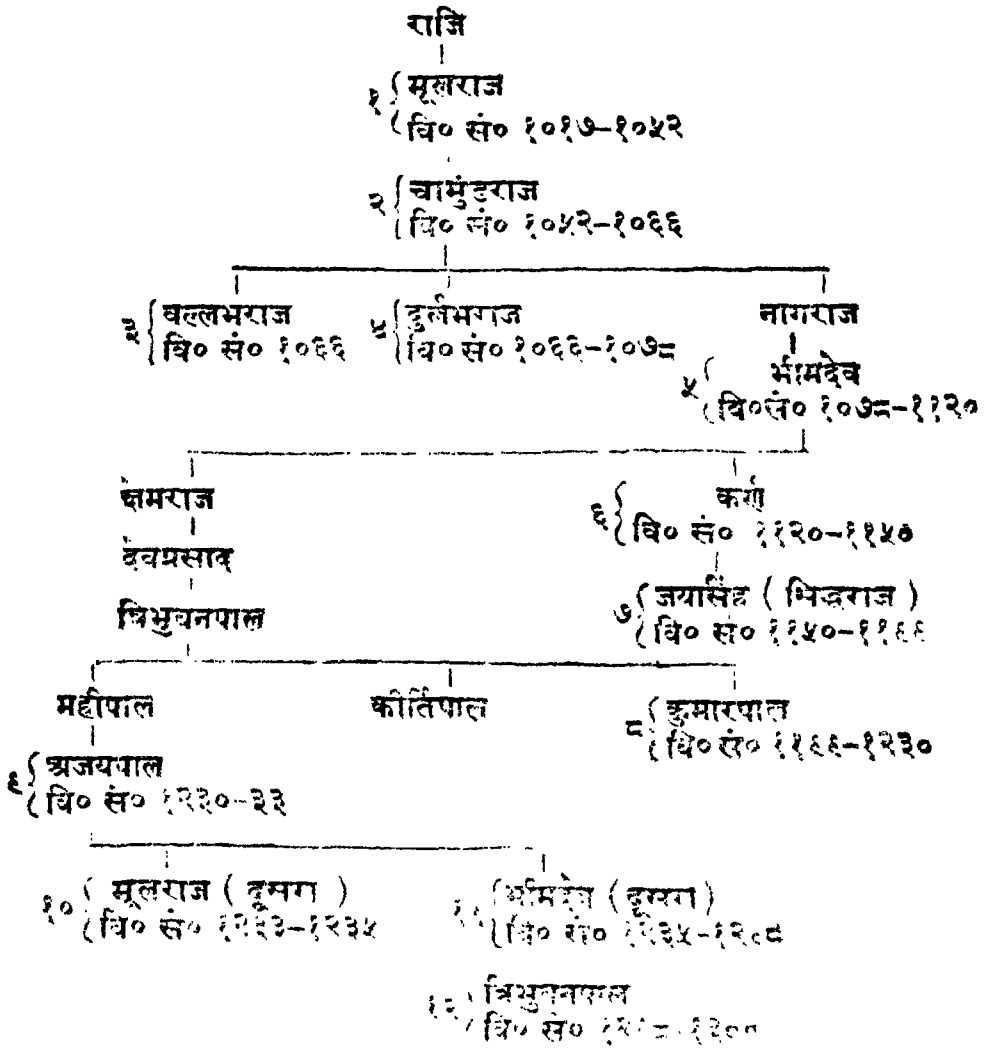
गुजरात के बघेलों का वंशवृक्ष
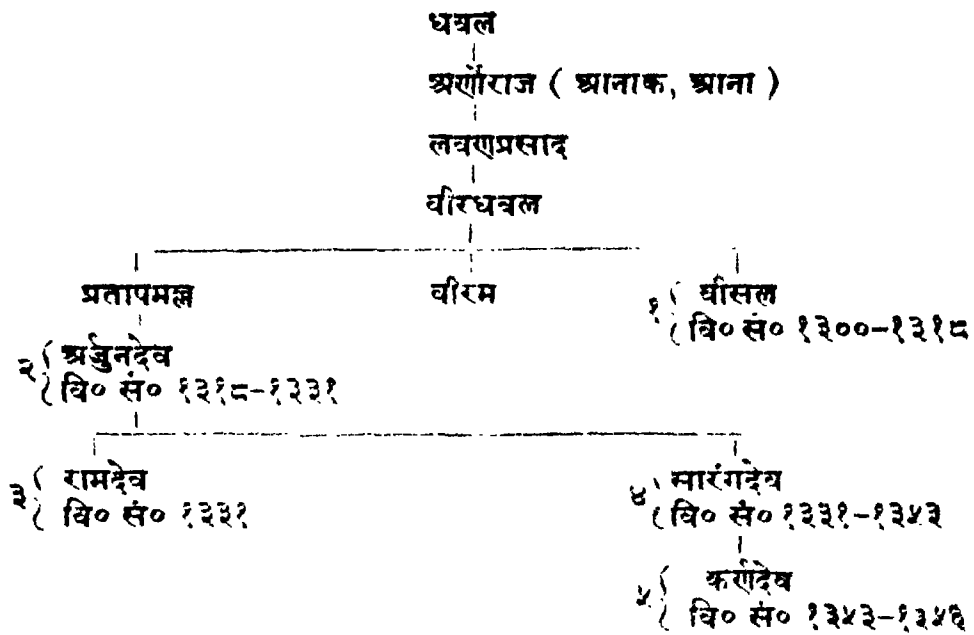
सोलंकियों की शाखाएं—मुंहणोत नैणसी ने अपनी ख्यात में सोलंकियों की नीचे लिखी हुई १२ शाखाएं बतलाई हैं—

१—सोलंकी। २-वाघेला (बघेल)। ३-स्वालन। ४-रहवर। ५-वीरपुरा। ६-खैराड़ा। ७-बहेला। ८-पीथापुरा। ९-सोभानिया। १०-डहर, ये सिंध में तुर्क (मुसलमान) हो गये। ११-भूहड़, ये भी सिंध में मुसलमान हो गये। १२-रूका, ये मुसलमान हो गये और टट्टे की तरफ़ हैं[1]।

कर्नल टॉड के गुरु यति ज्ञानचंद्र के मांडल (मेवाड़ में) के उपासरे में मुझे दो ऐसे पत्रे मिले जिनमें सोलंकियों की शाखाओं के ये नाम अधिक हैं—

महीड़ा; अलमेचा, थोकडेडा, कंठपाहिडा, तंबकरा, टीला, हींसवाटा, राणकरा (राणकिया), भसुंडरा, डाकी, बड़सूका, कुणीदरा, भुंणगोता, भडंगरा, डाहिया, बुवाला, खोढोरा, लाहा, म्हेलगोत, सुरकी, नाथावत, राया, वालनोत और कटूकड़ा।

---

(१) नैणसी की ख्यात, पत्र ४२। १।

सोलंकियों के एक भाट की पुस्तक में नीचे लिखी हुई उनकी और शाखाएं मिलीं—

लंघा, तोगरू, सरवरिया, तातिया और कुलमोर। ये शाखाएं तथा ऐसे ही राजपूतों के अन्य वंशों की भिन्न भिन्न शाखाएं भी अधिकतर उनके निवासस्थानों के नामों पर प्रसिद्ध हुई हैं, जैसे कि राण या राणक (भिणाय) में रहने से राणकरा या राणकिया; बघेल गांव में रहने से बघेला आदि, परंतु कुछ शाखाएं प्रसिद्ध पुरुषों के नामों से भी चलीं हैं, जैसे कि नाथ या नाथसिंह से नाथावत, बालन से बालनोत आदि।

मुसलमानों के गुजरात छीनने के पीछे का सोलंकियों का वृत्तांत भाटों की ख्यातों में एकसा नहीं मिलता। एक ख्यात से पाया जाता है कि सोलंकियों के एक वंशधर देवराज ने देलणपुर बसाया। उसके पीछे उसका ज्येष्ठ पुत्र सूजादेव देलणपुर का स्वामी हुआ और दूसरे पुत्र वीरधवल ने लूणावाड़े में अपना राज्य स्थिर किया। सूजादेव का १०वां वंशधर देपा, राण या राणक (भिणाय, अजमेर ज़िले में) में आ बसा। यहां बहुत समय तक सोलंकी रहे[1]। देपा का पुत्र भोज या भोजराज राणक से लास (लाछ) गांव (सिरोही राज्य में माळमगरे के पास) में जा बसा। मुंहणोत नैणसी ने लिखा है कि भोज देपावत (देपा का पुत्र) और सिरोही के राव लाखा के बीच शत्रुता हुई और उनमें लड़ाइयां होती रहीं। राव लाखा ने ५ या ६ लड़ाइयों में हारने के पीछे ईडर के राव की सहायता से भोज को मारा और सोलंकियों से लास का ठिकाना छूटा। फिर वे मेवाड़ के राणा रायमल के पास कुंभलगढ़ पहुंचे। उस समय देसूरी का इलाक़ा मादड़ेचे चौहानों के अधिकार में था। वहां के चौहान राणा की आज्ञा का पालन नहीं करते थे जिससे राणा तथा उसके कुंवर पृथ्वीराज ने भोज के पुत्रों को कहा कि मादड़ेचों को मारकर देसूरी का इलाक़ा ले लो। इस पर सोलंकी रायमल तथा उसके पुत्र सांवतसी ने अर्ज़ की कि मादड़ेचे तो हमारे रिश्तेदार हैं। राणा ने उत्तर दिया कि दूसरी जागीर तो देने को नहीं है, तब उन्होंने मादड़ेचों को मारकर १४० गांव सहित देसूरी की जागीर अपने अधिकार में कर ली[2]। रायमल के पुत्र सांवतसी के वंश में रूपनगर (मेवाड़ में)

---

(१) यह वृत्तांत कर्नल टॉड के गुरु यति ज्ञानचंद्र के उपासरे से मिली हुई सोलंकियों की एक ख्यात से उद्धृत किया गया है।

(२) मुंहणोत नैणसी की ख्यात, पत्र ६२। २।

के और उस(सांवतसी)के भाई शंकर के वंश में जीलवाड़े (मेवाड़ में) के सोलंकी हैं। जोधपुर राज्य के गोड़वाड़ इलाके में कोट नाम का ठिकाना भी इन्हीं देसूरी के सोलंकियों का है।

देसूरी के सोलंकी रायमल के पौत्र और सांवतसी के दूसरे पुत्र वेला ने जावरे (मालवे में) जाकर वहां अपना राज्य स्थिर किया और मांडू के सुलतान से रावत का खिताब और ८४ गाँवों का पट्टा पाया। उसके वंशज अब तक जावरे में रहते हैं और उनकी वहां जागीर भी है। जावरे से ऊबरवाड़ा और खोजनखेड़ा के ठिकाने फटे। आलोट (देवास के बड़े हिस्से में) का ठिकाना भी जावरे से निकला हुआ माना जाता है और जावरे से ही खड़गूण (नीमाड़, इंदौर राज्य में) का ठिकाना फटा।

ऊपर लिखे हुए देवराज से आठवीं पीढ़ी में मृगजभाण या सूर्यभाण हुआ जिसके छोटे भाई गढ़माल ने देलणपुर से जाकर प्रथम नरवरगढ़ में और वहां से टोड़े (जयपुर राज्य में) में अपना अधिकार जमाया[1]।

मुंहणोत नैणसी लिखता है कि नागरचाल का टोड़ा सोलंकियों का मूल निवासस्थान[2] है और वहीं से सोलंकी अन्यत्र फैले हैं। टोड़े के सोलंकियों का खिताब राव था और वे कीलणोत (कीलहण[3] के वंशज) कहलाते थे। टोडड़ी में महिलगोते सोलंकियों का राज्य था। नैणसी ने सिद्धराज से ७ वें पुरुष कान्हड के बेटे महलू[4] का टोड़े में राज्य करना लिखा है (इसी महलू से महिलगोते सोलंकी कहलाये हों)। महलू का पुत्र दुर्जनसाल, उसका हरराज और हरराज का सुरताण हुआ। राव सुरताण हरराजोत टोडड़ी छोड़कर राणा रायमल के पास चित्तोड़ में आ रहा[5] और राणा ने उसको बदनोर का

(१) यति ज्ञानचंद्र के उपासरे से मिली हुई सोलंकियों की ख्यात से।

(२) गुजरात छूटने के पीछे टोड़े से कई ठिकाने फटे इसलिये टोड़े को उनका मूल निवासस्थान कहा है।

(३) नैणसी ने कीलहण का अधिक परिचय नहीं दिया, परंतु यति ज्ञानचंद्र की ख्यात में कील्हण को उपर्युक्त गढ़माल का नवां वंशधर कहा है।

(४) ज्ञानचंद्र के यहां की ख्यात में महलू नाम नहीं है, परंतु गढ़माल के पांचवें वंशधर का नाम महीपाल दिया है। शायद महीपाल और महलू एक ही हो।

(५) टोड़े और टोडड़ी के सोलंकी एक ही शाखा के वंशधर थे। टोड़े का इलाका छोड़कर उनके मेवाड़ में आने का कारण नैणसी ने नहीं लिखा, परंतु कारण यही प्रतीत

पट्टा जागीर में दिया। राव सुरताण की बेटी प्रसिद्ध तारादेवी का विवाह राणा रायमल के कुंवर पृथ्वीराज (उडणा पृथ्वीराज) के साथ हुआ था। रायमल का छोटा पुत्र जयमल राव सुरताण से अप्रसन्न था जिससे उसने बदनोर पर चढ़ाई कर दी। राव सुरताण पहले ही से बदनोर छोड़कर चला गया था। मार्ग में रात के समय दोनों की मुठभेड़ हुई, जिसमें राव के साले रतना सांखला के हाथ से जयमल मारा गया[1]। नीमाड़ (इंदौर राज्य में) में धरगांव, डही, और धर्मराज नामक ठिकानों के सोलंकी टोड़े के सोलंकियों के वंशधर हैं। भोपाल इलाके में मंगलगढ़, गढ़ा, सनोड़ा, कोलूखेड़ी और चांदवड़ (सातलवाड़ी) के ठिकाने भी टोड़े के सोलंकियों से ही निकले हैं। मांडलगढ़ (मेवाड़ में) और बूंदी राज्य के सोलंकी भी टोड़े के सोलंकियों के ही वंशधर थे।

इस समय सोलंकियों के राज्य रीवां (बघेलखण्ड में), लूणावाड़ा और बांसदा (दोनों गुजरात में) हैं। रीवांवाले किस बघेल राजा के वंशधर हैं, यह अब तक निश्चित रूप से जाना नहीं गया। बघेलखंड में रीवां के अतिरिक्त सुहावल, जिरोहा, कर्योटी, सुहागपुर आदि बहुतसे ठिकाने बघेलों के हैं जो रीवां से ही फटे हैं। पालणपुर इलाके में थराद, दियोदर; महीकांठा इलाके में पेथापुर; रेवाकांठे में भादरवा, छालियेर और धरी सोलंकियों के, तथा पोइचा बघेलों का ठिकाना है। बांसदे का राज्य कहां से अलग हुआ यह ठीक ठीक ज्ञात नहीं हो सका। सोलंकियों से गुजरात छूटने बाद उनका ठीक ठीक वृत्तांत नहीं मिलता। यति ज्ञानचंद्र के यहां की ख्यात में भी पुराने नाम तो बहुधा कल्पित ही हैं, परंतु पिछली वंशावलियां तथा कई ठिकानों के पृथक् होने का वर्णन विस्तार से दिया है। नैणसी की ख्यात में सोलंकियों का पिछला इतिहास बहुत कम मिलता है।

'वंशभास्कर' में चालुक्य या चौलुक्य से लगाकर अर्जुनसिंह तक २१७

होता है कि टोडे का सारा इलाका पठानों ने छीन लिया था जिससे राव सुरताण हरराजोत मेवाड़ के राणा रायमल के पास आ रहा था। राव सुरताण ने यह प्रण किया था कि जो मुझे अपना टोडे का राज्य पीछा दिलावेगा उसके साथ मैं अपनी पुत्री तारा का विवाह करूंगा। राणा रायमल के पुत्र प्रसिद्ध पृथ्वीराज ने उसका प्रण पूरा करने का वचन देकर तारा के साथ विवाह किया था जिसका सविस्तर वृत्तांत मेवाड़ के इतिहास में लिखा जायगा।

(१) नैणसी की ख्यात; पत्र ६१। २ और ६२। १।

पीढ़ियां होना लिखा है[1] परंतु पिछले थोड़े से नामों को छोड़कर बहुधा पुराने नाम कृत्रिम ही धरे हुए हैं और उनका इतिहास भी विश्वास के योग्य नहीं है। गुजरात पर सोलंकियों का राज्य स्थापित करनेवाले मूलराज से जयसिंह (सिद्धराज) तक जो नाम दिये हैं वे भी बहुधा कल्पित हैं और सिद्धराज का वि० सं० ४४१ में राजा होना लिखा है[2]। ऐसी दशा में हमने उक्त पुस्तक में दिये हुए सोलंकियों के वृत्तांत में से कुछ भी उद्धृत करना उचित नहीं समझा।

नाग वंश

नाग वंश का अस्तित्व महाभारत युद्ध के पहले से पाया जाता है। महाभारत के समय अनेक नागवंशी राजा विद्यमान थे। तक्षक नाग के द्वारा परीक्षित का काटा जाना और जनमेजय के सर्पसत्र में हज़ारों नागों की आहुति देना, एक रूपक माना जाय तो आशय यही निकलेगा कि परीक्षित नागवंशी तक्षक के हाथ से मारा गया जिससे उसके पुत्र ने अपने पिता के वैर में हज़ारों नागवंशियों को मारा। नागों की अलौकिक शक्ति के उदाहरण बौद्ध ग्रंथों तथा राजतरंगिणी आदि में मिलते हैं। तक्षक, कर्कोटक, धनंजय, मणिनाग आदि इस वंश के प्रसिद्ध राजाओं के नाम हैं। तक्षक के वंशज तक्ष, ताक, टक्क, टाक, टांक आदि नामों से प्रसिद्ध हुए। यह वंश भारतवर्ष के बड़े हिस्से में फैला हुआ था। विष्णुपुराण में ६ नागवंशी राजाओं का पद्मावती (पहोआ, ग्वालियर राज्य में), कांतिपुरी और मथुरा में राज्य करना लिखा है[3]। वायु और ब्रह्मांड पुराण नागवंशी नव राजाओं का चंपापुरी में और सात का मथुरा में होना बतलाते हैं[4]। पद्मावती के नागवंशियों के सिक्के भी मालवे में कई जगह पर मिले हैं। बाणभट्ट ने अपने 'हर्षचरित' में जहां कई राजाओं के भिन्न भिन्न प्रकार से मारे जाने का उल्लेख किया है वहां नागवंशी राजा नागसेन

(१) 'वंशभास्कर'; प्रथम भाग, पृ० ४४२-७२।

(२) वही; प्रथम भाग, पृ० ४६१।

(३) *नवनागाः पद्मावत्यां कांतीपुर्यां मथुरायां*

'विष्णुपुराण'; अंश ४, अध्याय २४।

(४) *नव नागास्तु भोक्ष्यन्ति पुरीं चम्पावतीं नृपाः।*

मथुरां च पुरीं रम्यां नागा भोक्ष्यन्ति सप्त वै॥

'वायुपुराण'; ९९। ३८२; और 'ब्रह्मांडपुराण'; ३। ७४। १९४।

का, सारिका (मैना) द्वारा गुप्तभेद प्रकट हो जाने के कारण, मारा जाना माना है[1]। कई नागकन्याओं के विवाह क्षत्रियों तथा ब्राह्मणों के साथ होने के उल्लेख भी मिलते हैं। मालवे के परमार राजा भोज के पिता सिंधुराज का विवाह नाग वंश की राजकन्या शशिप्रभा के साथ हुआ था। नागवंशियों की अनेक शाखाएं भी थीं; टांक या टाक शाखा के राजाओं का छोटासा राज्य वि० सं० की १४वीं और १५वीं शताब्दी तक यमुना के तट पर काष्ठा या काठा नगर में था[2]।

मध्य प्रदेश के चक्रकोट्य में वि० सं० की ११वीं से १४वीं और कवर्धा में १०वीं से १४वीं शताब्दी तक नागवंशियों का अधिकार रहा[3]। सिंद नामक पुरुष से चली हुई नाग वंश की सिंद शाखा का राज्य दक्षिण में कई जगह रहा। येलबुर्ग (निज़ाम राज्य में) के सिंदवंशियों का राज्य वि० सं० की दसवीं से तेरहवीं शताब्दी तक विद्यमान था[4]। राजपूताने में भी नागवंशियों का कुछ न कुछ अधिकार पुराने समय से होना पाया जाता है। नागोर (नागपुर, जोधपुर राज्य में), जिसको अहिच्छत्रपुर भी कहते थे, नागों का वहां अधिकार होना प्रकट करता है। कोटा राज्य में शेरगढ़ क़स्बे के दरवाज़े के पास एक शिलालेख वि० सं० ८४७ (ई० स० ७९०) माघ सुदि ६ का लगा हुआ है[5] जिसमें नीचे लिखे हुए नागवंशियों के चार नाम क्रमशः मिलते हैं—

बिन्दुनाग, पद्मनाग, सर्वनाग और देवदत्त। सर्वनाग की राणी का नाम श्री (श्रीदेवी) था। देवदत्त वि० सं० ८४७ में विद्यमान था। उसने वहां कोशवर्द्धन पर्वत के पूर्व में एक बौद्ध मंदिर और मठ बनवाया था, जिससे अनुमान होता है कि वह बौद्धधर्मावलंबी था, और उस समय तक राजपूताने में बौद्ध मत का अस्तित्व किसी प्रकार बना हुआ था। देवदत्त को उक्त लेख में

---

(१) *नागकुलजन्मनः सारिकाश्रावितमन्त्रस्यासीन्नाशो नागसेनस्य पद्मावत्याम्।*
('हर्षचरित'; उच्छ्वास ६, पृ० १९८)।

(२) हिं. टॉ. रा, प्रथम खंड, पृ० ४६४।

(३) हीरालाल रायबहादुर; 'डिस्क्रिप्टिव लिस्ट ऑफ इंस्क्रिपशन्स इन दी सेंट्रल प्रॉविन्सीज़ ऐंड बरार'; पृ० १९७-९९।

(४) हिं. टॉ. रा; प्रथम खंड, पृ० ४६२-६४।

(५) इं. ऐं; जि. १४, पृ. ४५।

सामंत कहा है अतएव संभव है कि ये नागवंशी कन्नौज के रघुवंशी प्रतिहारों के सामंत हों।

अब तो राजपूताने में नागवंशियों का कोई ठिकाना या पुरुष भी नहीं रहा है।

यौधेय

यौधेय भारतवर्ष की एक बहुत प्राचीन क्षत्रिय जाति है[1], जो बड़ी ही वीर मानी जाती थी। यौधेय शब्द 'युध्' धातु से बना है जिसका अर्थ 'लड़ना' है। मौर्य राज्य की स्थापना से भी कई शताब्दी पूर्व होनेवाले प्रसिद्ध वैयाकरण पाणिनि ने भी अपने व्याकरण में इस जाति का उल्लेख किया है। यौधेयों का मूल निवासस्थान पंजाब था। अब इनको जोहिया कहते हैं। इन्हीं के नाम से सतलज नदी के दोनों तटों पर का बहावलपुर राज्य के निकट का प्रदेश जोहियावार कहलाता है। जोहिये राजपूत अब तक पंजाब के हिसार और मोंटगोमरी (साहिवाल) ज़िलों में पाये जाते हैं। प्राचीन काल में ये लोग सदा स्वतंत्र रहते थे और इनके अलग अलग दलों के मुखिये ही इनके सेनापति और राजा माने जाते थे। पंजाब से दक्षिण में बढ़ते हुए ये लोग राजपूताने में भी पहुंच गये थे। महाक्षत्रप रुद्रदामा के गिरनार के लेख से पाया जाता है कि क्षत्रियों में वीर का खिताब धारण करनेवाले यौधेयों को उसने नष्ट किया था[2]। उसके पीछे गुप्तवंशी राजा समुद्रगुप्त ने इनको अपने अधीन किया[3]। इनके सिक्के भी मिलते हैं; ये लोग स्वामिकार्तिक के उपासक होते थे। राजपूताने में भरतपुर राज्य के बयाना नगर के पास विजयगढ़ के क़िले से वि० सं० की छठी शताब्दी के आसपास की लिपि में इनका एक टूटा हुआ लेख भी मिला है (यौधेयगणपुरस्कृतस्य महाराजमहासेनापतेः[4] पु···)। बीकानेर के राजाओं ने इन(जोहियों)से कई लड़ाइयां लड़ी थीं, जिनका वृत्तांत बीकानेर के इतिहास में लिखा जायगा। अब राजपूताने में इस जाति का होना पाया नहीं जाता।

(१) युधिष्ठिर की एक स्त्री देवकी (जो शिबि जाति के गोवसेन की पुत्री थी) से जो पुत्र उत्पन्न हुआ उसका नाम यौधेय रक्खा गया था, ऐसा महाभारत से पाया जाता है (महाभारत, आदिपर्व, ६३ । ७२)।

(२) देखो ऊपर पृ० ६२, और उसी का टिप्पण ४।

(३) देखो ऊपर पृ० ११७।

(४) फ्लीट; गु. इं; पृ० २५२।

तंवर वंश

तंवर नाम को संस्कृत लेखक तोमर लिखते हैं और भाषा के पुस्तकों में तंवर मिलता है। जिस समय कन्नौज पर रघुवंशी प्रतिहारों का राज्य था उस समय दिल्ली तथा पृथुदक (पिहोआ, कुरुक्षेत्र में सरस्वती नदी के निकट) में तंवरों का राज्य था। पृथुदक के तंवरों के शिलालेख से पाया जाता है कि वे कन्नौज के प्रतिहारों के अधीन थे[1]। संभव है कि दिल्ली के तंवर भी उन्हीं के अधीन रहे हों। तंवरों का अब तक कोई ऐसा शिलालेख या ताम्रपत्र नहीं मिला जिसमें उनकी शुद्ध वंशावली दी हो। भाटों की ख्यातों में उनकी नामावली मिलती है, परंतु एक ख्यात के नाम दूसरी से नहीं मिलते, इसलिये उन नामों पर और भाटों आदि के दिये हुए संवतों पर विश्वास नहीं हो सकता[2]। अबुलफ़ज़ल ने 'आईने अकबरी' में जो उनकी वंशावली दी है वह भी भाटों से ही ली हुई होने से दूसरे वंशों की वंशावलियों के समान निकम्मी है। भाटों की ख्यातों के कुछ नाम अवश्य ठीक होंगे, तो भी सारी वंशावली को ठीक करने के लिये अब तक कोई साधन उपस्थित नहीं हुआ। सांभर के चौहान राजा विग्रहराज के वि० सं० १०३० (ई० स० ९७३) के हर्षनाथ के मंदिर के शिलालेख में उक्त राजा के पूर्वज चंदनराज के विषय में लिखा है कि उसने तोमर (तंवर) राजा रुद्रेन को मारा था[3]। उसी शिलालेख में विग्रहराज के पिता सिंहराज को तोमर नायक सलवण (शालिवाहन) को हरानेवाला (या मारनेवाला) कहा है[4], परंतु भाटों आदि की किसी नामावली में रुद्रेन (रुद्रपाल) या सलवण का नाम नहीं है। तंवरों ने पुराने इंद्रप्रस्थ के स्थान में दिल्ली बसाई, यह प्रसिद्धि चली आती है। दिल्ली के बसानेवाले राजा का नाम अनंगपाल प्रसिद्ध है। फ़िरिश्ता हि० स० ३०७ (वि० सं० ९७६-७७) में तंवर वंश के राजा वाहिल्य

(१) हिं. टॉ. रा.; पृ० ३४९।

(२) हिं. टॉ. रा.; पृ० ३४८-४९।

(३) सूनुस्तस्याथ भूपः प्रथम इव पुनर्गूवकाख्यः प्रतापी ।
तस्माच्छ्री चंदनोभूत्क्षितिपतिभयदस्तोमरेशं सदर्पं
हत्वा रुद्रेनभूपं समर[भुवि] [व]ला[दे]न लब्धा] जयश्रीः ॥
ए. इं; जि. २, पृ० १२१।

(४) देखो ऊपर पृ० १२४, और टिप्पण २।

(या बादपिसा ? नाम अशुद्ध है) का क़स्बा इंद्रप्रस्थ बसाना, उसका डिल्ली (दिल्ली) नाम से प्रसिद्ध होना, तथा उस राजा के पीछे आठ तंवर राजाओं का होना लिखता है। उसने अंतिम राजा का नाम शालिवान (शालिवाहन) बतलाया है। तंवरों के पीछे वहां चौहानों का राज्य होना तथा उस वंश के मानकदेव, देवराज, रावलदेव, जाहरदेव, सहरदेव और पिथोरा (पृथ्वीराज) का वहां क्रमशः राज्य करना भी फिरिश्ता ने लिखा है, परंतु फिरिश्ता का लिखा हुआ हिंदुओं का पुराना इतिहास जैसा कल्पित है वैसा ही यह कथन भी कल्पित ही है, क्योंकि तंवरों से दिल्ली चौहान आना के पुत्र विग्रहराज (वीसलदेव, चौथे) ने वि० सं० १२०७ के लगभग ली और तब से ही दिल्ली का राज्य अजमेर के राज्य का सूबा बना[1]। विग्रहराज के पीछे ऊपर लिखे हुए राजा नहीं, किंतु अमरगांगेय (अपरगांगेय, अमरगंगू), पृथ्वीराज दूसरा (पृथ्वीभट), सोमेश्वर और पृथ्वीराज (तीसरा) क्रमशः अजमेर के राज्य के स्वामी हुए थे[2]। अबुलफ़ज़ल दिल्ली के बसाये जाने का संवत् ४२९ मानता है, यह भी विश्वास के योग्य नहीं है। यह प्रसिद्धि चली आती है कि तंवर अनंगपाल ने दिल्ली को बसाया। उसी ने वहां की विष्णुपद नाम की पहाड़ी पर से प्रसिद्ध लोहे की लाट को, जिसको 'कीली' भी कहते हैं और जो वर्तमान दिल्ली से ९ मील दूर मिहरोली गांव के पास कुतुब मीनार के निकट खड़ी है, उठाकर वहां खड़ी करवाई थी। उक्त लाट पर का प्रसिद्ध लेख राजा चंद्र (चंद्रगुप्त दूसरे) का है जिसने वह लाट उक्त पहाड़ी पर विष्णु के ध्वजरूप से स्थापित की थी[3]। उसपर छोटे छोटे और भी पिछले लेख खुदे हैं जिनमें से एक 'संवत् दिल्ली ११०९ अनंगपाल बही' है। उससे पाया जाता है कि उक्त लेख के खुदवाए जाने के समय अनंगपाल का उक्त संवत् में दिल्ली बसाना माना जाता था। कुतुबुद्दीन ऐबक की मसजिद के पास एक तालाब की पाल पर अनंगपाल के बनाये हुए एक मंदिर के स्तंभ अब तक खड़े हैं जिनमें से एक पर अनंगपाल का नाम भी खुदा हुआ है। पृथ्वीराज रासे के कर्त्ता ने अनंगपाल की पुत्री कमला का विवाह अजमेर के चौहान राजा सोमेश्वर के साथ होना, उसी से पृथ्वीराज का जन्म होना तथा

(१) ना. प्र. प.; भाग १, पृ० ४०९ और टिप्पण ४३।

(२) वही; भाग १, पृ० ३९३।

(३) देखो ऊपर पृ० ११८-१९।

उसका अपने नाना अनंगपाल का राज्य पाना आदि जो लिखा है वह सारी कथा कल्पित है। पृथ्वीराज की माता दिल्ली के अनंगपाल की पुत्री कमला नहीं किंतु चेदि देश के राजा की पुत्री कर्पूरदेवी थी[1]। जयपुर राज्य का एक अंश अब तक तंवरों के नाम से तोरावाटी या तंवरावाटी कहलाता है और वहां तंवरों के ठिकाने हैं। वहां के तंवर दिल्ली के तंवरों के वंशधर माने जाते हैं और उनमें मुख्य ठिकाना पाटण का है। दिल्ली के तंवरों के वंशजों की दूसरी शाखा के तंवर वीरसिंह ने वि० सं० १४३२ (ई० स० १३७५) के आसपास दिल्ली के सुलतान फीरोज़शाह तुग़लक की सेवा में रहकर ग्वालियर पर अपना अधिकार जमाया और अनुमान १८० वर्ष बाद मानसिंह के पुत्र विक्रमादित्य के समय वह क़िला पीछा मुसलमानों ने ले लिया। विक्रमादित्य के पीछे उसके पुत्र रामसाह ने ग्वालियर का क़िला फिर लेना चाहा, परन्तु उसमें सफलता न होने पर वह अपने तीन पुत्रों—शालिवाहन, भवानीसिंह और प्रतापसिंह—सहित मेवाड़ के महाराणा उदयसिंह के पास चला गया[2] और वि० सं० १६३३ (ई० स० १५७६) में महाराणा प्रतापसिंह के पक्ष में रहकर हलदीघाटी की प्रसिद्ध लड़ाई में अकबर की सेना से लड़कर अपने दो पुत्रों सहित काम आया। केवल उसका एक पुत्र शालिवाहन बचने पाया। शालिवाहन के दो पुत्र श्यामसाह और मित्रसेन अकबर की सेवा में रहे। श्यामसाह के दो पुत्र संग्रामसाही और नारायणदास हुए। संग्रामसाही का पुत्र किशनसिंह और उसके दो पुत्र विजयसिंह और हरिसिंह हुए जो मेवाड़ के महाराणा के पास जा रहे थे। विजयसिंह का देहान्त वि० सं० १७८१ में हुआ।

भाटों को कछवाहों की ख्यात लिखते समय इतना तो ज्ञात था कि कछवाहे ग्वालियर से राजपूताने में आये, और पीछे से ग्वालियर पर तंवरों का राज्य भी रहा, परंतु उनको इस बात का पता न था कि कछवाहे ग्वालियर से कब और किस तरह राजपूताने में आये, और तंवर कब और कैसे ग्वालियर के स्वामी हुए, जिससे उन्होंने यह कथा गढ़ंत कर ली कि ग्वालियर के कछवाहा राजा ईशासिंह ने वृद्धावस्था में अपना राज्य अपने भानजे जैसा (जयसिंह) तंवर को दान कर दिया। फिर ईशासिंह के पुत्र सोढदेव ने ग्वालियर

(१) ना. प्र. प.; भाग १, पृ० ३९९-४००।

(२) ग्वालियर के तंवरों के लिये देखो हिं. टॉ. रा; प्रथम खंड, पृ० ३६०-६१।

से आकर द्यौसा (जयपुर राज्य में) में अपने बाहुबल द्वारा अपना नया राज्य वि० सं० १०२३ में स्थिर किया। यह सारी कथा कल्पित है, न तो ईशासिंह ने अपना ग्वालियर का राज्य तंवरों को दिया और न तंवरों का राज्य उस समय वहां था। ईशासिंह के पीछे भी ग्वालियर पर कछवाहों का ही राज्य रहा और वहां के राजा मंगलराज के पुत्र कीर्तिराज के छोटे भाई सुमित्र का पांचवां वंशधर ईशासिंह द्यौसा में आया और उसे छीनकर प्रथम वहां का स्वामी हुआ। इस विषय का विशेष वृत्तांत हम जयपुर राज्य के इतिहास के प्रारंभ में लिखेंगे।

दहिया वंश

संस्कृत शिलालेखों में इस वंश का नाम 'दधीचिक,' 'दहियक' या 'दधीच' मिलता है और भाषा में दहिया कहते हैं। जोधपुर राज्य में पर्वतसर से चार मील उत्तर किनसरिया गांव के पास की पहाड़ी पर केवाय माता के मंदिर के सभामंडप में लगे हुए दहियावंशी सामंत चच्च के वि० सं० १०५६ के शिलालेख में उक्त वंश की उत्पत्ति के विषय में लिखा है कि 'देवताओं के द्वारा प्रहरण (शस्त्र) की प्रार्थना किये जाने पर जिस दधीचि ऋषि ने अपनी हड्डियां दे दी थीं उनके वंशज दधीचिक कहलाये'। उक्त शिलालेख में दहियों का वृत्तांत नीचे लिखे अनुसार मिलता है—

'दधीचिक वंश में मेघनाद हुआ जिसने युद्धक्षेत्र में बड़ी वीरता बतलाई; उसकी स्त्री मासटा से बड़े दानी और वीर वैरिसिंह का जन्म हुआ, जिसकी धर्मपत्नी दुंदा से चच्च उत्पन्न हुआ। उसने वि० सं० १०५६ वैशाख सुदि ३ को ऊपर लिखा हुआ भवानी का मंदिर बनवाया'। उसके दो पुत्र यशःपुष्ट और उद्धरण हुए। चच्च (सांभर के) चौहान राजा सिंहराज के पुत्र दुर्लभराज का सामंत था।

दहियों का दूसरा शिलालेख उसी मंदिर के पास के एक स्मारक-स्तंभ पर खुदा हुआ है जिसका आशय यह है कि वि० सं० १३०० ज्येष्ठ सुदि १३ सोमवार के दिन दहिया रा (राणा) कीर्तसी (कीर्तिसिंह) का पुत्र रा विकंन (विक्रम) राणी नाइलदेवी सहित स्वर्ग को सिधारा। उक्त रा० के पुत्र जगधर ने माता पिता के निमित्त यह (स्थान, स्मारक) बनवाया[2]।

(१) ए. इं; जि० १२, पृ० ५६-६१। (२) ए. इं; जि० १२, पृ० ५८।

दहियों का तीसरा शिलालेख मंगलाणे (जोधपुर राज्य के मारोठ ज़िले में) से वि० सं० १२७२ ज्येष्ठ वदि ११ रविवार का मिला है जो उस वंश के महामंडलेश्वर कदुवराज के पुत्र पदमसिंह (पद्मसिंह) के बेटे महाराजपुत्र जयत्रस्यंह (जयंतसिंह) का है। उस समय रणस्तंभपुर (रणथंभोर, जयपुर राज्य में) का राजा चौहान वाल्हणदेव था[1]। अब तक दहियों के यही तीन शिलालेख मिले हैं।

मुंहणोत नैणसी ने पर्वतसर (जोधपुर राज्य में) में रहते समय दहियों का वृत्तांत अपनी ख्यात के लिये वि० सं० १७२२ के आसोज महीने में संग्रह किया। उसने लिखा है कि 'दहियों का मूल निवासस्थान नासिक-त्र्यंबक के पास होकर बहनेवाली गोदावरी नदी के निकट थालनेरगढ़ था। दहियों के ठिकाने देरावर, पर्वतसर (जोधपुर राज्य में), सावर, घटियाली (अजमेर ज़िले में), हरसोर और मारोठ (दोनों जोधपुर राज्य में) थे। नैणसी ने दधीच के पीछे की इनकी वंशावली इस प्रकार दी है—

दधीच, विमलराजा, सिवर, कुलखत (?), अनर, अजैवाह (अजयवाह), विजैवाह, सुसल, सालवाहन (शालिवाहन) जिसकी राणी हंसावली थी, नरवाण, देड मंडलीक (देरावर में हुआ), चूहड मंडलीक, गुणरंग मंडलीक, देराव (देवराज) राणा, भरह राणा, रोह राणा, कडवाराव (कडुवराव) राणा, कीरतसी (कीर्तिसिंह) राणा, वैरसी (वैरिसिंह) राणा और चाच राणा। इसने गांव सिणहड़िया (किनसरिया) के पास की पहाड़ी पर देवी का मंदिर बनवाया। उधरण, (उद्धरण) पर्वतसर और मारोठ का स्वामी हुआ आदि[2] (आगे १७ नाम और भी दिये हैं)। नैणसी की वंशावली में जिसको कीरतसी लिखा है उसको किनसरिया के शिलालेख में मेघनाद कहा है। ये दोनों नाम एक ही राजा के हो सकते हैं, क्योंकि उसके पीछे के तीनों नाम नैणसी और शिलालेख में बराबर मिलते हैं; ऐसी दशा में नैणसी की दहियों की पिछली वंशावली विश्वास के योग्य है। अब तो दहियों का एक ठिकाना सिरोही राज्य में कैर नाम का है। जालोर का गढ़ (जोधपुर राज्य में) भी दहियों का बनाया हुआ माना जाता है। अब जोधपुर राज्य के जालोर, बाली, जसवंतपुरा, पाली, सिवाना, सांचोर और मालानी ज़िलों में दहिये हैं, परंतु वहां उनकी जागीरें नहीं रही हैं।

(१) इं ऐं; जि० ४१, पृ० ८७-८८।

(२) नैणसी की ख्यात; पत्र २१।

दाहिमा वंश

जोधपुर राज्य के गोठ और मांगलोद गांवों के बीच दधिमती माता का प्रसिद्ध मंदिर बहुत प्राचीन है। इस मंदिर के आसपास का प्रदेश प्राचीन काल में दधिमती (दाहिम) क्षेत्र कहलाता था। उस क्षेत्र में से निकले हुए ब्राह्मण, राजपूत, जाट आदि दाहिमे ब्राह्मण, दाहिमे राजपूत, दाहिमे जाट कहलाये, जैसे कि श्रीमाल (भीनमाल) नगर के नाम से श्रीमाली ब्राह्मण, श्रीमाली महाजन, श्रीमाली जड़िये आदि। दाहिमे राजपूतों का प्राचीन काल में कोई बड़ा राज्य नहीं रहा, वे सामंतों की दशा में ही रहे। राजपूताने में इस वंश का अब तक कोई शिलालेख या ताम्रपत्र नहीं मिला है। चौहान पृथ्वीराज के मंत्री कैमास (कदंबवास) का दाहिमा होना माना जाता है। अब तो उनकी कोई जागीर भी नहीं है।

निकुंप वंश

निकुंप या निकुंभ राजपूत सूर्यवंशी हैं। वे अपनी उत्पत्ति सूर्यवंशी राजा निकुंभ से मानते हैं। निकुंभवंशियों का राज्य वि० सं० की १२वीं और १३वीं शताब्दी में बंबई इहाते के खानदेश ज़िले में रहा, जिनके ताम्रपत्रादि में वहां के राजाओं की वंशावली मिलती है[1]। राजपूताने में भी पहले निकुंभवंशी थे। अलवर, और जयपुर राज्य के उत्तरी विभाग पर उनका अधिकार होना तथा वहां पर उनका कई गढ़ बनवाना अब तक प्रसिद्ध है। पहले जयपुर की तरफ का उनका इलाक़ा मुसलमानों ने छीन लिया था, तो भी अलवर की ओर उनका अधिकार बना रहा, परंतु लोदियों के समय में वह भी मुसलमानों के हाथ में चला गया। मेवाड़ के मांडलगढ़ ज़िले में भी पहले उनकी जागीर थी। अब तो राजपूताने में न तो निकुंभों की कोई जागीर है और न कोई निकुंभ-वंशी रहा है। हरदोई ज़िले में निकुंभों का ठिकाना बिरवा-हथौरा है। पहले ये दोनों ठिकाने अलग अलग थे, परंतु पीछे से मिल गये। वहां के निकुंपवंशी अलवर के इलाके से अपना वहां जाना बतलाते हैं। सरनेत भी निकुंपों की एक शाखा मानी जाती है, जिनके ठिकाने सतासी, आंवला और गोरखपुर (ज़िला गोरखपुर, युक्त प्रान्त में) हैं।

---

(१) हिं. टॉ. रा.; प्रथम खंड, पृ० ४१०-११।

डोडिया वंश

संस्कृत शिलालेखों तथा एक दानपत्र में इस वंश का नाम डोड मिलता है और राजपूताने के लोगों में डोडिया नाम प्रसिद्ध है। डोडिये परमारों की शाखा में माने जाते हैं और वे भी अपनी उत्पत्ति आबू पर वसिष्ठ के अग्निकुंड के मंडप में लगे हुए केले के डोडे से होना बतलाते हैं, जो असंभव है, परंतु यह कथन उनका परमारों की शाखा में होना प्रकट करता है। बुलंदशहर से, जिसका प्राचीन नाम वारण था, मिले हुए वि० सं० १२३३ के दानपत्र में डोड वंश के राजाओं की १६ पीढ़ियों के नाम मिलते हैं[1]। वि० सं० १०७५ (ई० स० १०१८) में ग़ज़नी के सुलतान महमूद (ग़ज़नवी) ने मथुरा पर चढ़ाई की उस समय मथुरा नगर बुलंदशहर (वारण) के राजा हरदत्त डोड के अधिकार में था[2]। अजमेर के चौहान राजा विग्रहराज (बीसलदेव) ने वि० सं० १२०७ के आसपास दिल्ली का राज्य और हांसी का क़िला लेकर उनको अजमेर के राज्य में मिलाया। विग्रहराज के पीछे पृथ्वीराज (दूसरे, पृथ्वीभट) के समय हांसी का क़िला उसके मामा गुहिलवंशी किल्हण के शासन में था। पृथ्वीराज (दूसरे) के समय के वि० सं० १२२४ माघ सुदि ७ के हांसी के शिलालेख से पाया जाता है कि वहां का क़िला किल्हण ने डोडवंशी वल्ह के पुत्र लक्ष्मण की अध्यक्षता में तैयार कराया था[3]। उदयपुर राज्य में जहाज़पुर ज़िले के आंवलदा गांव से मिले हुए चौहान राजा सोमेश्वर के समय के वि० सं० १२३४ भाद्रपद सुदि ४ के शिलालेख में डोड रा (राव) सिंघ रा (सिंहराव) के पुत्र सिंदराउ (सिंदराव) का नाम मिलता है[4]। गागरौन (कोटा राज्य में) में भी पहले डोडियों का

---

(१) उक्त शिलालेख में डोडवंशी राजाओं के ये नाम क्रमशः दिये हैं—

चंद्रक (?), धरणीवराह, प्रभास, भैरव, रुद्र, गोविंदराज, यशोधर, हरदत्त, त्रिभुवनादित्य, भोगादित्य, कुलादित्य, विक्रमादित्य, पद्मादित्य, भोजदेव, सहजादित्य (राजराज) और अनंग। अनंग वि० सं० १२३३ के वैशाख में विद्यमान था।

(२) इलियट; 'हिस्टरी ऑफ इंडिया'; जि० २, पृ० ४५६।

(३) इं. ऐं; जि० ४१, पृ० १९।

(४) ना. प्र. प.; भाग १, पृ० ४०३, टिप्पण ४०। मेवाड़ (उदयपुर राज्य) के पूर्वी विभाग तथा हाड़ौती में चौहानों के समय डोडियों की जागीरें थीं, जो खीचियों ने छीन लीं और उनसे हाड़ों ने लीं ऐसी प्रसिद्धि है (इं. ऐं; जि० ४१, पृ० १८)।

अधिकार होना माना जाता है। अब राजपूताने में उदयपुर राज्य के अंतर्गत डोडियों का एक ठिकाना सरदारगढ़ (लावा[1]) है जो वहां के प्रथम श्रेणी के सरदारों में है और वहां के डोडिये काठियावाड़ से मेवाड़ में आये हैं ऐसा माना जाता है। अब डोडियों की जागीरें मध्यभारत में चांपानेर (पूरावत), गुदरखेड़ा (सादावत), मुंडावल (पूरावत), पिपलोदा, ताल और ऊणी (सभी मालवा एजेंसी में) हैं।

गौड़ वंश

प्राचीन काल में भारतवर्ष में गौड़ नाम के दो देश थे-एक तो पश्चिमी बंगाल, और दूसरा उत्तर कोसल अर्थात् अवध (अयोध्या) का एक विभाग। अवधवाले गौड़ देश[2] के निवासी ब्राह्मण, राजपूत आदि गौड़ ब्राह्मण, गौड़ राजपूत, गौड़ कायस्थ, गौड़ चमार आदि नामों से प्रसिद्ध हुए। राजपूताने के गौड़ राजपूत और ब्राह्मण संभवतः अवध के गौड़ होने चाहियें न कि बंगाल के। उनकी उत्पत्ति भाटों की ख्यातों में स्वायंभुव मनु से बतलाई गई है और वे चंद्रवंशी माने जाते हैं। राजपूताने में गौड़ बहुत प्राचीन काल में आये हों ऐसा प्रतीत होता है। जोधपुर राज्य का एक इलाक़ा गौड़वाड़ नाम से प्रसिद्ध है, जो प्राचीन काल में गौड़ों का वहां अधिकार होना बतलाता है। अजमेर ज़िले

(१) श्रीयुत देवदत्त रामकृष्ण भंडारकर ने हांसी के शिलालेख का संपादन करते समय लावा (टोंक के निकट) के जागीरदार को डोडिया लिखा है यह भ्रम है। उक्त लावा के सरदार नरूका शाखा के कछवाहा राजपूत हैं।

(२) पुराणों से पाया जाता है कि श्रावस्ती नगरी गौड़ देश में थी।

श्रावस्तश्च महातेजा वत्सकस्तत्सुतोऽभवत ।
निर्मिता येन श्रावस्ती गौडदेशे द्विजोत्तमाः ॥ ३० ॥

'मत्स्यपुराण'; अध्याय १२।

अवध के गोंडा (गौड़) ज़िले में सहेट और महेट गावों की सीमा पर कोसल (उत्तर कोसल) देश का प्रसिद्ध श्रावस्ती नगर था और इक्ष्वाकुवंशी राजा श्रावस्त (शावस्त) ने उसे बसाया था। बौद्धों का प्रसिद्ध जेतवन विहार यहीं था, जहां बुद्धदेव ने निवास किया, जिससे वह विहार बौद्धों में बड़ा ही पवित्र माना जाता था। अलबेरूनी ने थाणेश्वर देश का नाम गोड़ (गौड़) दिया है (एडवर्ड साचू; 'अलबेरूनीज़ इंडिया'; जि० १, पृ० ३००)। थाणेश्वर के राज्य का विस्तार दूर दूर तक फैला हुआ था और कन्नौज तथा श्रावस्ती श्रीहर्ष के समय उसी के अंतर्गत थे।

में गौड़ों की जागीरें पहले थीं, अब तो केवल एक ठिकाना राजगढ़ ही उनके अधिकार में रह गया है। अजमेर के गौड़ प्रसिद्ध चौहान पृथ्वीराज के समय अपना राजपूताने में आना मानते हैं और उनका कथन है कि उनके पूर्वज वछराज और वामन यहां आये। वछराज की संतान अजमेर में और वामन की कुचामण (जोधपुर राज्य में) में रही। अजमेर के गौड़ों के अधीन पहले जूनिया, सावर, देवलिया और श्रीनगर के इलाके थे, परंतु पीछे से श्रीनगर के सिवा सब इलाके उनके अधिकार से निकल गये। उनकी शृंखलाबद्ध नामावली नहीं मिलती। राजा गोपालदास गौड़ बादशाह जहांगीर के समय आसेर का क़िलेदार था और जब बादशाह और उसके बेटे खुर्रम (शाहजहां) के बीच अनबन हुई उस समय गोपालदास अपने ज्येष्ठ पुत्र विक्रम सहित शाहज़ादे के साथ रहा था और टट्ठे की लड़ाई में वे दोनों बड़ी वीरता से लड़कर काम आये थे। गोपालदास के मारे जाने पर उसका दूसरा बेटा विट्ठलदास जूनिया में शाहज़ादे के पास हाज़िर हुआ तो शाहज़ादे ने उसकी बहुत कुछ तसल्ली की और बहुतसा इनाम इकराम दिया। शाहजहां ने तख्त पर बैठने के पीछे उसको ३००० ज़ात और १५०० सवार का मनसब[1] दिया। फिर उसकी

(१) बादशाह अकबर के पहले दिल्ली के मुसलमान सुलतानों ने हिंदुओं को सैनिक सेवा के उच्च पदों पर बहुधा नियत न किया, परंतु अकबर ने उनकी इस नीति को हानिकारक जानकर अपनी सेना में सुन्नी, शिया, और राजपूतों (हिंदुओं) के तीन दल इसी विचार से रक्खे कि यदि कोई एक दल बादशाह के प्रतिकूल हो जाय, तो दूसरे दल उसको दबाने में समर्थ हो सकें। इस सिद्धांत को सामने रखकर अकबर ने सैनिक सेवा के लिये मनसब का तरीक़ा जारी किया और कई हिंदू राजाओं, सरदारों तथा योग्य राजपूतों आदि को भिन्न भिन्न पदों के मनसबों पर नियत किया।

पहले तो अमीरों के दर्जे नियत न थे और न यह नियम था कि कौनसा अमीर कितना लवाज़मा रक्खे और क्या तनख़्वाह पावे। अकबर ने फौजी प्रबन्ध के लिए ६६ मनसब नियत किये और अपने अमीरों, राजाओं, सरदारों और जागीरदारों आदि को अलग अलग दर्जे के मनसब देकर भिन्न भिन्न मनसबों के अनुसार मनसबदारों की तनख़्वाह और लवाज़मा भी नियत कर दिया। ये मनसब १०००० से लगाकर १० तक थे। प्रारंभ में शाहज़ादों के सिवा किसी को ५००० से ऊपर का मनसब नहीं मिलता था, परंतु पीछे इस नियम का पालन नहीं हुआ, क्योंकि राजा टोडरमल और कछवाहा राजा मानसिंह को भी सात-हज़ारी मनसब मिला था और शाहज़ादों का मनसब १०००० से ऊपर बढ़ा दिया गया था।

ये मनसब ज़ाती थे और इसके सिवा सवार अलग होते थे जिनकी संख्या ज़ाती

प्रति दिन उन्नति होती गई, और बादशाह के राज्यवर्ष चौथे, अर्थात् सन् ४ जुलूस (वि० सं० १६८७-८८) में वह रणथंभोर के क़िले का हाकिम नियत हुआ। सन् ६ जुलूस (वि० सं० १६८९-९०) में मिरज़ा मुज़फ़्फ़र किरमानी की जगह अजमेर का फ़ौजदार, और सन् ८ जुलूस (वि० सं० १६९१-९२) में अजमेर का सूबेदार नियत हुआ। वही इलाक़ा उसकी जागीर का था। सन् १४ जुलूस (वि० सं० १६९७-९८) में वज़ीरखां सूबेदार के मरने पर वह अकबराबाद (आगरे) का क़िलेदार और सूबेदार बना और उसका मनसब ४००० ज़ात और ४००० सवार का हो गया। मरने के पहले उसका मनसब ५००० ज़ात और ५००० सवार तक पहुंच गया था। वह कई लड़ाइयों में शाहज़ादे शुजा और औरंगज़ेब

मनसब से अधिक नहीं किंतु कम ही रहती थी, जैसे हज़ारी ज़ात, ७०० सवार; तीन हज़ारी ज़ात, २००० सवार आदि। कभी कभी ज़ाती मनसब के बराबर सवारों की संख्या भी, लड़ाई आदि में अच्छी सेवा बजाने पर, बढ़ा दी जाती, परंतु ज़ात से सवारों की संख्या प्रायः न्यून ही रहती थी। अलबत्ता सवार दो अस्पा, से (तीन) अस्पा, कर दिये जाते थे। दो अस्पा सवारों की तनख्वाह मामूल से ड्योढ़ी और से अस्पा की दूनी मिलती थी, जिससे मनसबदारों को फ़ायदा पहुंच जाता था। बादशाह के प्रसन्न होने पर मनसब बढ़ा दिया जाता और अप्रसन्न होने पर घटा दिया या छीन भी लिया जाता था। मनसब के अनुसार माहवारी तनख्वाह या जागीर मिलती थी। प्रत्येक मनसब के साथ घोड़े, हाथी, ऊंट, खच्चर और गाड़ियों की संख्या नियत होती थी और मनसबदार को ठीक उतनी ही संख्या में वे रखने पड़ते थे, जैसे कि—

दस हज़ारी मनसबदार को ६६० घोड़े, २०० हाथी, १६० ऊंट, ४० खच्चर और ३२० गाड़ियां रखनी पड़ती थीं और उसकी माहवार तनख्वाह ६००००) रु० होता था।

पांच हज़ारी को ३३७ घोड़े, १०० हाथी, ८० ऊंट, २० खच्चर और १६० गाड़ियां रखनी पड़ती थीं और उसका मासिक वेतन ३००००) रु० होता था।

एक हज़ारी को १०४ घोड़े, ३० हाथी, २१ ऊंट, ४ खच्चर और ४२ गाड़ियां रखनी पड़ती थीं और ८०००) रुपये मासिक तनख्वाह मिलती थी।

एक सदी (१००) वाले को १० घोड़े, ३ हाथी, २ ऊंट, १ खच्चर और ५ गाड़ियां रखनी पड़ती थीं और उसका मासिक वेतन ७००) रुपये होता था।

घोड़े अरबी, इराक़ी, मुजन्नस, तुर्की, टट्टू, ताज़ी और जंगला रक्खे जाते थे। उनमें से प्रत्येक जाति की संख्या भी नियत रहती और जाति के अनुसार प्रत्येक घोड़े की तनख्वाह अलग अलग होती थी जैसे कि अरबी की १८) रुपये माहवार तो जंगले की ६) रुपये। इसी तरह हाथी भी अलग अलग जाति के अर्थात् मस्त, शेरगीर, सादा, मंझोला, करहा,

के साथ नियत हुआ था। सन् १५ जुलूस (वि० सं० १७०६) में उसका देहान्त हुआ। उसके ४ पुत्र अनिरुद्ध, अर्जुन, भीम और हरजस थे। अनिरुद्ध अपने पिता का उत्तराधिकारी हुआ। वह बादशाही सेवा में रहकर अपने अच्छे कामों से ३५०० ज़ात व ३००० सवार तक के मनसब तक पहुंच गया था। आलमगीर (औरंगज़ेब) के राज्य-समय वह शुजा पर की चढ़ाई में हि० स० १०६६ (वि० सं० १७१६-१७) में नियत हुआ और आगरे से रवाना होकर रास्ते में ही मर गया। उसके वंशजों का वृत्तांत हम अजमेर के इतिहास में लिखेंगे।

फ़ुदरकिया और म्योकल होते थे और उनकी तनख़्वाह भी जाति के अनुसार अलग अलग नियत थी, जैसे मस्त के ३३) रुपये माहवार तो म्योकल की ५) रुपये माहवार तनख़्वाह थी। ऊंट की माहवार तनख़्वाह ६) रुपये, खच्चर की ३) और गाड़ी की १५) रुपये थी।

सवारों के अनुसार मनसब के तीन दर्जे होते थे। जिसके सवार मनसब (ज़ात) के बराबर होते वह प्रथम श्रेणी का; जिसके सवार मनसब से आधे या उससे अधिक होते वह दूसरी श्रेणी का, और जिसके आधे से कम होते वह तीसरी श्रेणी का माना जाता था। इन श्रेणियों के अनुसार मनसबदार की माहवारी तनख़्वाह में भी थोड़ासा अंतर रहता था, जैसे कि प्रथम श्रेणी के ५ हज़ारी मनसबदार की माहवारी तनख़्वाह ३०००० रुपये तो दूसरी श्रेणीवाले की २६०००) और तीसरी श्रेणीवाले की २८०००) होती। इसी तरह घोड़ों के सवारों की तनख़्वाह भी घोड़ों की जाति के अनुसार अलग अलग होती थी। जिसके पास इराक़ी घोड़ा होता उसको ३०) रुपये माहवार, मुजन्नसवाले को २५), तुर्कीवाले को २०), टट्टूवाले को १८), ताज़ीवाले को १५) और जंगलेवाले को १२) रुपये माहवार मिलते थे। घोड़ों के दाग़ भी लगाये जाते और उनकी हाज़िरी भी ली जाती थी। यदि नियत संख्या से घोड़े आदि कम निकलते तो उनकी तनख़्वाह काट ली जाती थी। मनसबदारी का यह तरीक़ा अकबर के पीछे ढीला पड़ गया और बाद में तो नाममात्र को प्रतिष्ठा-सूचक ख़िताब सा हो गया था।

मनसब का यह वृत्तांत पढ़कर पाठकों को आश्चर्य होगा और वे अवश्य ही यह प्रश्न करेंगे कि दस हज़ारी मनसबदार अपने मासिक वेतन ६००००) रुपये में ६६० घोड़े (सवार और साज सहित), २०० हाथी, १६० ऊंट, ४० खच्चर और ३२० गाड़ियां, सैनिक सेवा के लिये, उत्तम स्थिति में कैसे रख सकता था? परंतु इसमें आश्चर्य जैसी कोई बात नहीं है, क्योंकि उस समय प्रत्येक वस्तु बहुत सस्ती मिलती थी अर्थात् जो चीज़ उस वक़्त एक आने में मिलती थी उतनी आज एक रुपये को भी नहीं मिल सकती है। बिलकुल साधारण स्थिति के मनुष्य को भी उस समय बहुत ही थोड़े व्यय में उत्तम खाद्य पदार्थ तथा अन्य आवश्यक वस्तुएं मिल सकती थीं। 'आईने अकबरी' में अकबर के राज्य के प्रत्येक सूबे की उन्नीस वर्ष (सन् जुलूस या राज्यवर्ष ६ से २४=वि० सं० १६१७ से १६३५ तक) की भिन्न भिन्न वस्तुओं की दर नीचे लिखे अनुसार दी है—

अनिरुद्ध के तीनों भाई भी बादशाही चाकरी में रहे और उन्होंने भी मनसब पाये थे। अनिरुद्ध के भाई अर्जुन ने जोधपुर के राजा गजसिंह के ज्येष्ठ पुत्र प्रसिद्ध अमरसिंह राठोड़ को, जिसने शाहजहां बादशाह के दरबार में मीर बख्शी सलाबतखां का कटार से काम तमाम किया, मारा था।

अजमेर के अतिरिक्त जोधपुर राज्य में मारोठ के आसपास के प्रदेश में भी गौड़ों का पहले अधिकार रहा था जिससे वह प्रदेश अब तक गौड़ाटी

पदार्थ	भाव रु०	आ०	पा०		पदार्थ	भाव रु०	आ०	पा०	
गेहूं ...	०	४	६	मन	शक्कर (लाल) ...	१	६	६	मन
काबुली चने ...	०	६	३	,,	नमक ...	०	६	६	,,
देशी चने ...	०	३	३	,,	मिरच ...	१	६	६	,,
मसूर ...	०	४	६	,,	पालक ...	०	६	६	,,
जौ ...	०	३	३	,,	पुदीना ...	१	०	०	,,
चावल (बढ़िया) ...	२	४	०	,,	कांदा ...	०	२	६	,,
चावल (घटिया) ...	१	०	०	,,	लहसुन ...	१	०	०	,,
साठी चावल ...	०	३	३	,,	अंगूर ...	२	०	०	,,
मूंग ...	०	७	३	,,	अनार (विलायती)	१	८	०	सेर
उड़द ...	०	६	६	,,		१२	८	०	,,
मोठ ...	०	४	६	,,	खरबूज़ा ...	१	०	०	,,
तिल ...	०	६	६	,,	किशमिश ...	०	३	६	सेर
ज्वार ...	०	४	०	,,	सुपारी ...	०	१	३	,,
मैदा ...	०	८	३	,,	बादाम ...	०	४	६	,,
बकरी का मांस ...	१	१०	०	,,	पिस्ता ...	०	३	६	,,
बकरे का मांस ...	१	५	६	,,	अखरोट ...	०	२	०	,,
घी ...	२	१०	०	,,	चिरौंजी ...	०	७	६	,,
तेल ...	२	०	०	,,	मिस्री ...	०	२	६	,,
दूध ...	०	१०	०	,,	कंद (सफेद) ...	०	२	३	,,
दही ...	०	७	०	,,	केसर ...	१०	०	०	,,
शक्कर (सफ़ेद) ...	३	३	३	,,	हलदी ...	०	०	३	,,

अकबर के समय का मन, २६ सेर १० छटांक अंग्रेज़ी के बराबर होता था और अकबरी रुपया भी कलदार से न्यून नहीं था। उपर्युक्त भाव देखकर पाठक स्वयं विचार कर सकते हैं कि उस समय मनसबदार और उनके सैनिक साथी अपना निर्वाह भलीभांति किस प्रकार कर सकते थे। मज़दूरों और नौकरों के वेतन का भी अनुमान इसी से किया जा सकता है।

(गौड़ावाटी) कहलाता है। राजपूताने के बाहर गौड़ों की ज़मींदारी आगरा अवध आदि ज़िलों में हैं।

राजपूताने के साथ संबंध रखनेवाले प्राचीन राजवंशों का बहुत ही संक्षिप्त परिचय इस अध्याय में केवल इस अभिप्राय से दिया गया है कि उसके पढ़ने से पाठकों को यह ज्ञात हो जाय कि प्रचलित बड़वे भाटों की ख्यातें और रासा आदि पुस्तकें कितनी अशुद्ध और कपोलकल्पित हैं। इस अध्याय में दिये हुए प्राचीन राजवंशों में से अधिकतर का तो नाम निशान भी उनमें नहीं मिलता और जिन वंशों की वंशावलियां और संवत् उनमें दिये हैं वे प्रायः कृत्रिम और मनमाने हैं। इतिहास के अंधकार में उन लोगों ने कैसी कैसी निराधार कथाओं को इतिहास के नाम से उनमें भर दी हैं और अब तक राजपूत जाति उन्हीं पर विश्वास करती चली आ रही है। वे देशी और विदेशी विद्वान् बड़े धन्यवाद के पात्र हैं, जिनके शोध ने भारत के प्राचीन इतिहास पर प्रकाश डालकर उसे किसी प्रकार अंधकार में से निकाला है। प्राचीन शिलालेख और दानपत्र जो पहले केवल धन के बीजक समझे जाते, जिनके रहस्य प्रायः गुप्त और लुप्त ही से थे और जिनकी लिपि को देखकर लोग आश्चर्य के साथ नाना प्रकार की मिथ्या कल्पनाएं उनके विषय में करते थे, उन्हीं के द्वारा आज हमारा सच्चा इतिहास कितने एक अंश में प्राप्त हो गया है। प्राचीन शोध के पूर्व किसको मालूम था कि मौर्यवंशी महाराजा चन्द्रगुप्त और अशोक किस समय और कैसे प्रतापशाली हुए, गुप्तवंशी समुद्रगुप्त और चंद्रगुप्त (दूसरे) ने कहां कहां विजय प्राप्त की, हर्षवर्द्धन ने कैसे कैसे काम किये; प्रतिहारों ने मारवाड़ से जाकर कन्नौज का महाराज्य कब लिया, उनका साम्राज्य कैसा बढ़ा चढ़ा रहा; और भारत के विविध राजवंशों में कौन कौन राजा कब कब हुए। केवल पौराणिक कथाओं और प्रचलित रिवायतों (दंतकथाओं) में कितने एक प्रसिद्ध राजाओं के जो नाम वंशपरंपरा से सुनते आते थे उनके साथ अनेक कल्पित नाम जोड़कर वि० सं० के प्रारंभ से लगाकर नवीं और दसवीं शताब्दी या उससे भी पीछे होनेवाले राजाओं का समय हज़ारों वर्ष पहले का ठहरा दिया और उस समय की घटनाओं को सतयुग की बतलाकर कई पुराने महल, मंदिर, गुफा आदि स्थानों को पांडवों, संप्रति, विक्रमादित्य, भर्तरी (भर्तृहरि) आदि राजाओं के बनवाए हुए प्रसिद्ध कर दिये।

हम ऊपर लिख आये हैं कि राजपूताने में प्राचीन शोध का काम अब तक नाममात्र को ही हुआ है। संभव है कि आगे विशेष रूप से खोज होने पर फिर अनेक नवीन वृत्त प्रकट होकर राजपूताने का प्राचीन इतिहास शुद्धता के साथ लिखे जाने में सहायक होंगे। आज तक जो कुछ सामग्री उपलब्ध हुई उसी के आधार पर हमने राजपूताने से संबंध रखनेवाले प्राचीन राजवंशों का नाममात्र का परिचय ही ऊपर दिया है।

चौथा अध्याय

मुसलमान, मरहटों और अंग्रेज़ों का राजपूताने से संबंध

मुसलमानों का संबंध

विक्रम संवत् की तेरहवीं शताब्दी के मध्य तक राजपूताने के प्रत्येक विभाग पर प्रायः राजपूत राजा ही राज्य करते थे। यद्यपि उससे पूर्व ही मुसलमानों के हमले इस देश पर होने शुरू हो गये थे और उन्होंने सिंध तथा उत्तरी सीमान्त प्रदेश पर अपना अधिकार कर लिया था तो भी वहां के राजपूत अवसर पाकर उनको अपने इलाकों में से निकाल भी देते थे। राजपूताने के साथ मुसलमानों के संबंध का वर्णन करने के पूर्व मुसलमानों की उत्पत्ति के विषय में थोड़ासा कथन करना अन्यथा न होगा।

अरब देश में भी पहले हिंदुस्तान के तुल्य ही भिन्न भिन्न जातियां थीं और उनमें धर्मभेद भी था। वहां के निवासी कई देवी देवताओं की मूर्तियों को पूजते और देश में कई छोटे बड़े राजा व सरदार थे जिनमें निरंतर लड़ाई झगड़े होते रहते थे। वहां की साधारण जनता प्रायः असभ्य और अशिक्षित थी। वि० सं० ६२८ (ई० स० ५७१) में कुरेश जाति में मुहम्मद नामक एक महापुरुष ने जन्म लिया। सयाने होने पर उन्होंने देखा कि मतभेद और लड़ाई झगड़े देश का नाश कर रहे हैं, परस्पर की फूट और वैरभाव ने देशवासियों के हृदय में घर कर रक्खा है और लोग यद्यपि वीरप्रकृति के हैं, परंतु अंधविश्वासों से पदाक्रांत हो रहे हैं। उन महात्मा ने बीड़ा उठाया कि मैं मूर्तिपूजन को उठा दूंगा, अपने देश-बांधवों को एकेश्वरवादी बनाकर उनके मतभेद को तोड़ दूंगा और दीन हीन दशा में डूबे हुए लोगों के लिये एक ही धर्म स्थापित कर उनकी दशा उन्नत कर दूंगा। ऐसा दृढ संकल्प कर उन्होंने वि० सं० ६६७ (ई० स० ६१०) में अपने तई ईश्वर-प्रेरित पैगंबर प्रकट किया और कुरान को ईश्वरी आज्ञा बतलाकर किसी प्रकार के भेदभाव के बिना धनी व दीन सब को एक ही ईश्वर की प्रार्थना करने का उपदेश देने लगे। लोगों ने उनको

पैगंबर मानकर उनकी बातों पर विश्वास किया और शनैः शनैः उनका प्रचार किया हुआ मत बढ़ने और ज़ोर पकड़ने लगा। स्वार्थी लोगों ने अपने स्वार्थ की रक्षा के निमित्त अपने पक्षवालों को उकसा कर मुहम्मद साहब को नाना भांति के कष्ट पहुंचाने में कमी न की, यहां तक कि वैरभाव और आपत्ति के मारे उनको मक्का छोड़कर मदीने जाना पड़ा, तभी से अर्थात् वि० सं० ६७९ (ई० स० ६२२) से हिजरी सन्[1] का प्रारंभ हुआ। इतने पर भी वे अपने सिद्धांतों पर अटल बने रहे और अन्त में विजय प्राप्त कर उन्होंने अपने नाम का मुहम्मदी धर्म प्रचलित कर दिया। उनके अनुयायी परस्पर का वैरभाव छोड़ एकता के सूत्र में बंध गये, सहधर्मी भाई के नाते से उनमें परस्पर के प्रेम की वृद्धि हुई, उनका सामाजिक बल बढ़ा और अपने नेता के स्वर्गवास करने के पूर्व ही एकमत होकर उन्होंने अन्यान्य देशों में भी अपने धर्म को फैलाने के लिये उत्साह के साथ कार्यारम्भ किया। पैगंबर साहब के जीते जी ही इसलाम धर्म अरब के बहुत से विभाग में फैल चुका था और उनके अनुयायियों की एकता और धार्मिक दृढता के कारण उनका बल इतना बढ़ गया कि फिर तो वे खुल्लम खुल्ला तलवार के ज़ोर से अपने मत का प्रचार करने लगे और धर्म के नाम से अपना राजनैतिक बल बढ़ाकर अन्त में वे एक वीर जाति के स्वामी और देश के बड़े विभाग के शासक हो गये। उन्होंने अपने देशी भाइयों के साथ भी कई लड़ाइयां कीं और वे धन व ऐश्वर्य प्राप्त करने में सफल मनोरथ होकर हिजरी सन् ११ (वि० सं० ६८९=ई० स० ६३२) में ६२ बरस की उमर में स्वर्ग को सिधारे। उनके पीछे उनकी गद्दी पर बैठनेवाले खलीफा कहलाये। पहला खलीफा अबूबक्र सिद्दीक़ हुआ, जो मुहम्मद साहब की स्त्री आयशा का पिता था। वह हि० स० ११ से १३ (वि० सं० ६८९ से ६९१=ई० स० ६३२-३४) तक खलीफा रहा[2]।

---

(१) हिजरी सन् के लिये देखो 'भारतीय प्राचीनलिपिमाला;' पृष्ठ १८१-८२।

(२) अबूबक्र और उसके पीछे के तीन खलीफे, ये चारों (चहार) यार कहलाते थे—

उमर बिन खत्ताब (खत्ताब का बेटा उमर)—हि० स० १३ से २३ (वि० सं० ६९१ से ७०१=ई० स० ६३४-४४) तक।

उस्मान—हि० स० २४ से ३५ (वि० सं० ७०१ से ७१२=ई० स० ६४४-५५)

अली—हि० स० ३५ से ४० (वि० सं० ७१२ से ७१७=ई० स० ६५५-६१)।

मुहम्मद साहब की मृत्यु के पीछे २० ही वर्ष में मुसलमानों का अधिकार सीरिया, पैलेस्तान, मिसर और ईरान पर हो गया, जिसका मुख्य कारण उनके धर्म का यह आदेश था कि विधर्मियों को मारनेवाले को स्वर्ग मिलता है। ये लोग जहां पहुंचते वहां के लोगों को बलपूर्वक मुसलमान बनाते और जो अपना धर्म छोड़ना नहीं चाहते उनको मार डालने में ही सवाब (पुण्य) समझते थे। इसी से ईरान के कई कुटुंबों ने अपने धर्म की रक्षा के लिये समुद्र-मार्ग से भागकर हिन्दुस्तान में शरण ली जिनके वंशज यहां पारसी कहलाते हैं। ऐसे ही ये लोग जहां जहां पहुंचे वहां की प्राचीन सभ्यता को नष्ट कर वहां के महल, मंदिर, मूर्तियों आदि को तोड़कर मिट्टियामेल करते और बड़े बड़े पुस्तकालयों तक को जलाकर भस्म करते रहे[1]।

फिर तो खिलाफत की गद्दी के लिये आपस ही में लड़ाई झगड़े चलने लगे, सहधर्मी का नाता टूट गया और सांसारिक ऐश्वर्य तथा पद-प्रतिष्ठा के प्रलोभन ने वही कार्य उनमें किया जो राज्यप्राप्ति के लिये संसार की अन्यान्य जातियों में होता आया है। खलीफा अली जब खिलाफत के तख्त पर बैठा तो

हसन सिर्फ ६ मास खलीफा रहा फिर उस्मान के सेनापति मुआविया ने उससे गद्दी छीन ली और वह खलीफा बन गया। वह उम्मियाद वंश का था जिससे वह और उसके पीछे के १३ खलीफे उम्मियादवंशी कहलाये और उनकी राजधानी दमिश्क रही।

(१) खलीफा उमर के सेनापति अम्र-इब्न-उल्-आस ने ई० सन् ६४० (वि० सं० ६१७) में मिसर के प्रसिद्ध नगर अलेग्जैंड्रिया अर्थात् इस्कन्दरिया को विजय करने के समय वहां के प्राचीन पुस्तकालय को, जिसमें कई राजाओं की एकत्र की हुई लाखों पुस्तकें थीं, खलीफा की आज्ञा से जलाकर नष्ट कर दिया। यद्यपि इस विषय में कोई कोई यूरोपियन विद्वान् संदेह करते हैं, परंतु मुसलमानों के इतिहास से इसके सत्य होने में कोई संदेह नहीं रहता। 'तारिखुत्तवारीख' में इसका हाल याहिया नामी विद्वान् के वृत्तान्त में विस्तार से दिया है। याहिया ने अम्र-इब्न-उल्-आस से इस पुस्तकालय पर हस्तक्षेप न करने की प्रार्थना की थी, और अम्र ने उसके कहने पर खलीफा उमर को लिखा था, परंतु खलीफा ने यही उत्तर दिया कि यदि इन पुस्तकों में जो कुछ लिखा है वह कुरान के अनुसार है तब तो हमको इन अनेक भाषाओं के असंख्य पुस्तकों की कोई आवश्यकता नहीं, कुरान ही बस है, और यदि उनका आशय कुरान से विरुद्ध है तो बहुत बुरा है; इसलिये सब को नष्ट कर दो। खलीफा की यह आज्ञा पाने पर अम्र ने उन पुस्तकों को इस्कन्दरिया के हम्मामों में भेजकर पानी गरम करने के लिये इंधन की जगह जलवा दिया। इन पुस्तकों का संग्रह इतना बड़ा था कि ६ महीनों तक उनसे जल गरम होता रहा।

लोग उसको असली वारिस न समझकर उसके खिलाफ हुए। खारिजिन लोगों के साथ की लड़ाई में वह हारा और अंत में हि० स० ४० (वि० सं० ७१८=ई० स० ६६१) में मारा गया। उसकी मृत्यु के पीछे बहुतसे मुसलमानों ने उसका मत इख्तियार किया और वे शिया नाम से प्रसिद्ध हुए। ईरान के मुसलमान और हिंदुस्तान के दाऊदी बोहरे इसी मत के माननेवाले हैं।

हम यहां मुहम्मदी मत का इतिहास नहीं लिखते कि जिससे उसमें होनेवाली घटनाओं का सविस्तर वर्णन करें; हमारा अभिप्राय राजपूताने के साथ मुसलमानों का संबंध बतलाने का है, तदनुसार अरब सेना का आगमन हिंदुस्तान में होने और वहां उनके राज्य स्थापित करने का संक्षेप रूप से वर्णन किया जाता है।

खलीफा उमर के समय में अरब सेना समुद्र-मार्ग से बंबई के पास थाने तक आई जो उमान के हाकिम उस्मान बिन आसी ने बिना खलीफा की आज्ञा के भेजी थी, इसलिये उमर ने उसे पीछी बुला ली और उस्मान को यह भी लिखा कि जो इस सेना ने हार खाई तो उसमें जितने सैनिक मारे जावेंगे उतने ही तेरी कौम के आदमियों को मैं मारूंगा[1]।

इसी अर्से में उस्मान के भाई ने भड़ौंच पर सेना भेजी तो मार्ग में देवल (सिंध में) के पास चच (सिंध के राजा) ने उससे लड़ाई की। 'फतूहुल् बलदान' में तो लिखा है कि अरबों ने शत्रु को शिकस्त दी, परंतु 'चचनामे' में उल्लेख है कि इस युद्ध में अरब सेनापति मुग़ैरा अबुल आसी मारा गया[2]।

फिर थोड़े ही समय पीछे इराक़ (बसरा) के हाकिम अबू मूसा अशअरी ने अपने एक अफ़सर को मकरान व किरमान में भेजा। खलीफा ने अबू मूसा को हिन्द व सिंध का खुलासा हाल लिख भेजने की आज्ञा दी जिसपर उसने उत्तर लिखा कि हिंद व सिंध का राजा ज़बर्दस्त, अपने धर्म का पक्का, परंतु मन का मैला है। इसपर खलीफा ने आज्ञा लिखी कि उसके साथ जिहाद (धर्म के लिये युद्ध) नहीं करना चाहिये[3]।

हि० स० २२ (वि० सं० ७००=ई० स० ६४३) में अब्दुल्ला बिन आमर ने किरमान

---

(१) इलियट्; 'हिस्टरी ऑफ़ इंडिया'; जि० १, पृ० ४१५-१६।

(२) वहीं; पृ० ४१६।

(३) वहीं; पृ० ४१६।

और सिजिस्तान फतह कर सिंध में भी सेना भेजनी चाही, परंतु खलीफा ने उसे स्वीकार न किया[1]। खलीफा वलीद[2] के समय उसके एक सेनापति हारूं ने मकरान को विजय कर बहुतसे बिलोचों को मुसलमान बनाया। इस प्रकार हि० स० ८७ (वि० सं० ७६३=ई० स० ७०५-६) से वहां मुसलमानी धर्म का प्रचार हुआ और मुसलमान हिन्दुस्तान के निकट आ पहुंचे।

फिरिश्ता लिखता है कि पहले सरंद्वीप (सिंहलद्वीप, लंका) के व्यापारियों के जहाज़ अफ्रीका और लाल समुद्र (Red Sea) के तट पर तथा फारिस (ईरान) की खाड़ी में माल ले जाया करते थे और हिंदू यात्री भी मिस्र और मक्का में अपने देवताओं की यात्रा के लिये जाया करते थे[3]। कहते हैं कि सरंद्वीप के निवासियों में से बहुतेरे शुरू ज़माने ही से मुहम्मदी मत के अनुयायी होकर मुसलमानों के मध्य (अरब में) उनका आना जाना जारी हो गया था। एक बार सरंद्वीप के राजा ने अपने देश की कई अमूल्य वस्तुओं से लदा हुआ एक जहाज़ बगदाद को, खलीफा वलीद के वास्ते, भेजा। देवल (सिंध में) पहुंचने पर वहां (ठट्ठे) के राजा की आज्ञा से वह लूट लिया गया। उसके साथ सात जहाज़ और भी थे जिनमें कई मुसलमान कुटुम्ब थे जो करबला की यात्रा को जाते थे; वे भी कैद कर लिये गये। उनमें के कई कैदी किसी ढब से निकलकर हज्जाज[4] के पास अपनी फरियाद ले गये। उसने सिंध के राय सस्सा (चच) के पुत्र दाहिर को चिट्ठी लिखकर मकरान के हाकिम हारूं के द्वारा भेजी। दाहिर ने टालाटूली का उत्तर दिया, जिसपर हज्जाज ने इस्लाम के प्रचार के लिये हिंदुस्तान पर आक्रमण करने की आज्ञा खलीफा वलीद से लेकर बुदमीन नामी एक अफसर को तीनसौ सवारों सहित रवाना किया और मकरान के हाकिम हारूं को लिख दिया कि इसकी सहायता के लिये एक सहस्र सेना देवल

(१) इलियट्; 'हिस्टरी ऑफ इंडिया'; जि० १, पृ० ४१७।

(२) खलीफा वलीद ने हि० स० ८६ से ९६ (वि० सं० ७६२-७७१=ई० स० ७०५ से ७१४ तक शासन किया था।

(३) ब्रिग; फिरिश्ता; जि० ४, पृ० ४०१।

(४) हज्जाज बड़ी वीरप्रकृति का अरब सेनापति था जिसको उम्मियाद वंश के पांचवें खलीफा अब्दुल मलिक ने अरब और ईरान का शासक नियत किया था। हज्जाज बड़ा ही निर्दयी था और कहते हैं कि अपने जीवनकाल में उसने १२०००० आदमियों को मरवाया था और उसकी मृत्यु के समय उसके यहां ५०००० आदमी क़ैद थे।

पर आक्रमण करने को भेज देना[1]। बुदमीन को सफलता न हुई और वह प्रथम ही युद्ध में मारा गया। फिर हज्जाज ने हि० स० ६३ (वि० सं० ७६८=ई० स० ७११) में अपने चचेरे भाई और जमाई इमादुद्दीन मुहम्मद (बिन) कासिम को ६ हज़ार असीरियन् सेना देकर देवल पर भेजा। वहां पहुंचते ही उसने नगर का घेरा डालने की तैयारी की, परन्तु बीच में पत्थर की सुदृढ दीवार से घिरा हुआ १२० फुट ऊंचा एक विशाल मंदिर आ गया था। मुहम्मद कासिम ने मंदिर के जादू भरे ध्वजादंड की ओर पत्थर फेंकने का यंत्र मंजनीक (मर्कटी यंत्र) लगाकर तीसरे फैर में दंड को गिरा दिया, थोड़े ही दिनों में मंदिर को तोड़ डाला और १७ वर्ष से ऊपरवाले तमाम ब्राह्मणों को मार डाला, छोटे बालक तथा स्त्रियां क़ैद की गईं और बुड्ढी औरतों को छोड़ दिया। मंदिर में लूट का माल बहुतसा हाथ आया जिसका पांचवां हिस्सा हज्जाज के पास ७५ लौंडियों सहित भेजा गया और शेष सेना में बांट दिया[2]। फिर देवल पर आक्रमण किया। दाहिर का पुत्र फौजी (?) ब्राह्मणाबाद को चला गया। कासिम ने उसका पीछा किया और उसे कहलाया कि यदि अपना माल असबाब लेकर स्थान रिक्त करदोगे तो तुम्हारे प्राण न लिये जायेंगे। वहां से सेहवान आदि स्थानों को विजय करता वह राजा दाहिर की तरफ बढ़ा। दाहिर के ज्येष्ठ पुत्र हलीरा (हरीराय) ने बहुतसी सेना एकत्रित कर कासिम का मार्ग रोका, उसने भी मोर्चे पकड़े, परंतु युद्ध का सामान खूट गया था और सैनिक भी हताश हो गये थे जिससे कासिम ने हज्जाज को सहायता के लिये नई सेना भेजने को लिखा और उसके पहुंचने तक वह अपने योद्धाओं को हिम्मत बंधाता रहा। ठीक समय पर एक हज़ार अरब सवार सहायता के निमित्त आ पहुंचे तब फिर जंग छिड़ा। कई लड़ाइयां हुईं, परन्तु विजय किसी को भी प्राप्त न हुई। फिर दाहिर ने युद्ध पर कमर बांधी और वह अपने पुत्र की सेना से जा मिला। सेना-संचालन का काम उसने अपने हाथ में लिया और ता० १० रमज़ान हि० स० ६३ (वि० सं० ७६६=ई० स० ७१२) को ५०००० राजपूत, सिंधी और मुसलमान योद्धाओं के (जो उसकी शरण में आ रहे थे) साथ कासिम के मुकाबले को बढ़ा। पहले तो उसने शत्रु-सेना के निकट पहुंचकर छोटी लड़ाइयों से अरबों को अपने सुदृढ मोर्चों से बाहर लाने की

(१) ब्रिग; फिरिश्ता; जि० ४, पृ० ४०३।

(२) ब्रिग; फिरिश्ता; जि० ४, पृ० ४०४।

कोशिश की, परंतु जब उसमें सफलता न हुई तो धावा कर दिया। घोर संग्राम होने लगा, वीरवर दाहिर शत्रुओं को काटता हुआ अपने साथियों समेत अरब सेना के मध्यभाग तक पहुंच गया। वे लोग नफ्थे[1] जला जलाकर हिंदुओं पर फेंकने लगे। एक जलता हुआ गोला दाहिर के श्वेत हाथी के मुख पर आ लगा जिससे वह घबराकर नदी की तरफ भागा। यह देखकर राजा की सेना में खलबली मच गई और अपने स्वामी को भागा जान उसने भी पीठ दिखा दी। कासिम ने पीछा किया, इतने में राजा का हाथी जल में डुबकियां लगाकर शांत हो पीछा आया। दाहिर ने अपने योद्धाओं को ललकार कर पीछा फेरा और बहादुरी के साथ डट-कर युद्ध करने लगा। इतने में अनायास एक तीर उसके शरीर में आ घुसा और वह घायल होकर गिर गया, इसपर भी हिम्मत न हारी, और यद्यपि घाव कारी लगा था तथापि वह घोड़े पर सवार हो शत्रुसेना पर प्रहार करता हुआ आगे बढ़ा और वीरता के साथ खड़ग भाड़ता वीरगति को प्राप्त हुआ[2]। फिर कासिम अज़दर (ऊच) पहुंचा तो दाहिर का पुत्र उस गढ़ को छोड़कर ब्राह्मणाबाद चला गया।

अपने पुत्र को क्षात्रधर्म से मुख मोड़ा देखकर दाहिर की रानी ने पति का आसन ग्रहण किया और सच्चे शूरवीर हृदयवाली वह वीराङ्गना पंद्रह सहस्र सेना साथ लेकर पति का वैर लेने को शत्रु के संमुख चली। उसने अग्निस्नान करने की अपेक्षा असिधारा में तन त्याग अपने पति के पास पहुंचना उत्तम समझा। पहले तो उसने भूखी बाघिन की तरह वैरियों पर आक्रमण किया और फिर गढ़ में बैठकर शत्रु के दांत खट्टे करने लगी। कई महीनों तक कासिम गढ़ घेरे पड़ा रहा, परंतु विजय न कर सका। अन्त में अपना अन्न व लड़ाई का सामान खूट गया तब राजपूतों ने अपनी रीति के अनुसार जौहर की आग जलाई, स्त्रियों और बाल-बच्चों को उस धधकती हुई ज्वाला के हवाले किया, फिर रानी रहे सहे राजपूतों को साथ लेकर शत्रुसेना पर टूट पड़ी और अपने संकल्प के अनुसार खड्गधारा में तन त्याग पतिलोक को प्राप्त हुई[3]। असीरियन् सिपाहियों ने गढ़ में घुसकर ६ हज़ार राजपूतों को खेत रक्खा और तीन हज़ार को क़ैद किया फिरिश्ता ने यह कहीं नहीं लिखा कि मुसलमान कितने मारे गये। क्या

---

(१) नफ्था एक गाढ़ा द्रव पदार्थ होता था जो भूमि से निकलता था। उसकी गोलियां बनाकर जलती हुई तीरों के द्वारा शत्रुओं पर फेंकी जातीं जिससे आग लग जाती थी।

(२) ब्रिग; फिरिश्ता; जि० ४, पृ० ४०८। (३) वही; जि० ४, पृ० ४०९।

सहस्रों राजपूत योद्धाओं ने भेड़ बकरी की भांति अपने गले काटने दिये होंगे ? बंधुओं में दाहिर की दो राजकन्याएं स्वरूपदेवी और बरीलदेवी (परिमलदेवी) भी हाथ आईं और मुहम्मद कासिम ने खलीफा के वास्ते उन्हें हज्जाज के पास भेज दीं। हि० स० ६६ (वि० सं० ७७२ = ई० स० ७१५) में वे राजदुलारियां दमिश्क में पहुंचाई गईं, जो उस समय उम्मियाद खलीफों की राजधानी थी। एक दिन खलीफा ने उनको बुलाया और उनका रूप लावण्य देखते ही वह विह्वल हो गया और उनसे कामभिक्षा की याचना की। ये दोनों भी तो दाहिर जैसे वीर पुरुष और उस सती वीराङ्गना माता की पुत्रियां थीं। उनका विचार यह था कि किसी प्रकार अपने पिता के मारनेवाले से वैर लेकर कलेजा ठण्डा करें और साथ ही अपने सतीत्व की रक्षा भी करें। अपने संकल्प को पूरा करने का अच्छा अवसर जान उन्होंने खलीफा से प्रार्थना की कि हम आपकी शैय्या पर पैर रखने योग्य नहीं हैं, यहां भेजने के पहले ही कासिम ने हमारा कुमारिका-रूपी अमूल्य रत्न लूट लिया है। इतना सुनते ही खलीफा आग बबूला हो गया और तत्काल आज्ञापत्र लिखवाया कि इसके देखते ही मुहम्मद कासिम को बैल के चमड़े में जीता सीकर हमारे पास भेज दो। इस हुक्म के पहुंचते ही उसकी तामील हुई, मार्ग में तीसरे दिन कासिम मर गया और उसी अवस्था में खलीफा के पास पहुंचा। खलीफा ने उन दोनों राजकन्याओं को बुलवाया और उन्हीं के सामने बैल का चमड़ा खुलवाकर कासिम का शव उन्हें दिखलाया, और कहा कि खुदा के खलीफा का अपमान करनेवालों को मैं इस प्रकार दण्ड देता हूं। कासिम का मृत-शरीर देखते ही स्वरूपदेवी के मुख पर अपना मनोरथ सफल होने की प्रसन्नता छा गई, परंतु साथ ही मंद मुस्कुराहट और कटाक्ष के साथ उसने निधड़क खलीफा को कह दिया कि 'ऐ खलीफा ! कासिम ने हमारा सतीत्व नष्ट नहीं किया, वह सदा हमें अपनी सगी भगिनियों के तुल्य समझता रहा और कभी आंख उठाकर भी कुदृष्टि से नहीं देखा; परंतु उसने हमारे माता, पिता, भाई और देशबंधुओं को मारा था इसलिये उससे अपना वैर लेने को हमने यह मिथ्या दोष उसपर लगाया था। तू क्यों अंधा होकर हमारी बातों में आ गया और बिना किसी प्रकार की छान-बीन के तूने अपने एक सच्चे स्वामिभक्त सेवक को मरवा डाला'। उन वीर

(१) ब्रिग; फिरिश्ता; जि० ४, पृ० ४१०-११।

बालिकाओं के ये वचन सुनते ही खलीफा सन्न हो गया और उनको अपने सामने से दूर कीं। कहते हैं कि फिर उन दोनों को जीती जलवा दीं।

खलीफा हशाम के समय (हि० स० १०५-२५ (वि० सं० ७८१-८००=ई० स० ७२४-४३) जुनैद हिन्दुस्तानी इलाकों का हाकिम मुकर्रर होकर आया। जब सिंधु नदी पर पहुंचा तो दाहिर के बेटे जैसिया (जेसा, जयसिंह) से, जो मुसलमान हो गया था, उसका मुकाबला एक झील पर नौकाओं द्वारा हुआ। उस लड़ाई में जैसिया की नौका डूब गई और वह कैद होकर मारा गया[1]।

इस तरह सिंध पर मुसलमानों का अधिकार हो गया। राजपूताने की पश्चिमी सीमा सिंध से मिली हुई थी, अतएव उधर से राजपूताने और विशेषकर मारवाड़ पर उनके हमले होने लगे। वहां के राजपूत भी उनसे बराबर लड़ते ही रहे। सिंध के मुसलमान राजपूताने के किसी अंश पर अपना अधिकार न जमा सके; वे केवल जहां मौका मिलता वहां लूटमार करते और राजपूतों का प्रबल सामना होने पर पीछे भाग जाया करते थे। सिंध की ओर से राजपूताने पर कब कब और किन किन मुसलमान अफसरों ने चढ़ाइयां कीं इसका ब्यौरा न तो फारसी तवारीखों में और न यहां की ख्यातों में मिलता है। केवल 'फतूहुल् बलदान' में लिखा है कि सिंध के हाकिम जुनैद ने अपना सैन्य मरमाड़[2], मंडल, दालमज[3], बरूस[4], उज्जैन, मालिया, बहरिमद (?), अल् बेलमाल[5] और जज्र[6] पर भेजा था[7]। बादामी के सोलंकियों के सामंत लाट देश पर भी शासन करते थे। लाट के सोलंकी सामंत पुलकेशी (अवनिजनाश्रय) के कलचुरि सं० ४९० (वि० सं० ७९६=ई० स० ७३९) के दानपत्र में लिखा है कि 'ताजिकों (अरबों) ने तलवार के बल से सैंधव (सिंध), कच्छेल्ल (कच्छ), सौराष्ट्र (सोरठ, दक्षिणी काठियावाड़), चावोटक (चावड़ों), मौर्य, गुर्जर आदि के राज्यों को नष्ट कर दक्षिण के समस्त राजाओं को

(१) इलियट्; 'हिस्टरी ऑफ् इंडिया'; जि० १, पृ० ४४१।

(२) मरमाड़=मारवाड़।

(३) शायद यह स्थान बंबई इहाते के सूरत ज़िले का कामलेज हो।

(४) बरूस=भड़ौच।

(५) अल् बेलमाल=भीनमाल।

(६) जज्र=गुजरात।

(७) ना. प्र. प., भाग १, पृ० २११।

जीतने की इच्छा से दक्षिण में प्रवेश करते हुए प्रथम नवसारिका (नवसारी, गुजरात में) पर आक्रमण किया। उस समय उस(पुलकेशी)ने घोर संग्राम कर ताजिकों को विजय किया, जिसपर शौर्य के अनुरागी राजा वल्लभ ने उसको 'दक्षिणापथसाधार', 'चलुक्किकुलालंकार', 'पृथ्वीवल्लभ' और 'अनिवर्त्तकनिवर्तयितृ' ये चार बिरुद प्रदान किये[1]। इस कथन से अनुमान होता है कि अरबों ने एक या भिन्न भिन्न समय पर उक्त देशों आदि पर चढ़ाइयां की हों और नवसारी के पास पुलकेशी ने अरबों को परास्त किया हो। फतूहुल् बलदान और पुलकेशी के दानपत्र से पाया जाता है कि अरबों की ये चढ़ाइयां खलीफा हशाम के समय होनी चाहियें, क्योंकि उसका राजत्वकाल हि० स० १०५ से १२५ (वि० सं० ७८० से ७९९=ई० स० ७२४ से ७४३) तक का है और पुलकेशी वि० सं० ७८८ और ७९६ (ई० स० ७३१ और ७३९) के बीच अपनी जागीर का स्वामी बना था। प्राचीन शिलालेखों तथा दानपत्रों से सिंध की ओर से राजपूताने पर होनेवाली मुसलमानों की और भी चढ़ाइयों का पता लगता है (जिनका वर्णन फारसी तथा अरबी तवारीख़ों में नहीं मिलता), जैसे कि रघुवंशी प्रतिहार राजा नागभट (नागावलोक दूसरे) का[2] तथा मेवाड़ के राजा जैत्रसिंह का[3] सिंध के मुसलमानों को परास्त करना उनके शिलालेखादि से जाना जाता है। सिंध की ओर से होनेवाली मुसलमानों की चढ़ाइयों का वर्णन आगे हम प्रसंगवशात् करेंगे।

ऊपर बतला चुके हैं कि 'मुहम्मद साहब के देहांत के पीछे २० ही वर्ष में मुसलमानों का अधिकार ईरान तक हो गया था'। फिर वे लोग ईरान से पूर्व में बढ़ने लगे और खलीफा वलीद के समय ई० स० ७१२-१३ (वि० सं० ७६९-७०) में कुतैब की अध्यक्षता में समरकंद, फरग़ाना, ताशकंद और खोकंद पर अपना अधिकार जमाकर पूर्वी तुर्किस्तान में तुर्फान और चीन तक बढ़ गये[4]। इसी तरह सीस्तान (शकस्तान) और आर्कोशिया पर भी अमल जमाया[5]; काबुल पर भी हमले किये, परंतु उनमें उनको सफलता न

(१) ना. प्र. प.; भाग १, पृ० २१०-११। (२) देखो ऊपर पृ० १९१।

(३) ना. प्र. प.; भाग १, पृ० १३०-३१।

(४) 'एन्साइक्लोपीडिया ब्रिटैनिका'; जि० २१, पृ० ११।

(५) वही; जि० १; पृ० २३१।

हुई[1]। हि० स० ८३ (वि० सं० ७५९=ई० स० ७०२) में खलीफा वलीद के राज्य-समय हज्जाज ने इब्न इशअत पर विजय प्राप्त की जिससे वह काबुल के राजा की शरण में जा रहा। फिर वहां से खुरासान में आकर उसने उपद्रव खड़ा किया। उस समय वहां खलीफा की तरफ से यज़ीद हाकिम था। उसने इब्न की सेना का संहार कर दिया जिससे वह भागकर पीछा काबुल में आया, परंतु वहां के राजा ने छल से उसको मरवा डाला[2]।

अफग़ानिस्तान के उत्तर में समरकंद, बुखारा आदि पर अरबों का राज्य स्थिर हो चुका था। ई० स० की नवीं शताब्दी से, जब कि बग़दाद के अब्बासिया वंश के खलीफों का बल घटने लगा, उनके कई सूबे स्वतंत्र बन गये। समरकंद, बुखारा आदि में एक स्वतंत्र मुसलमान राज्य स्थापित हो चुका था। वहां के अमीर अबुल् मलिक ने तुर्क अलप्तगीन को ई० स० ९७२ (वि० सं० १०२९) में खुरासान का शासक नियत किया, परंतु अबुल् मलिक के मरने पर अलप्तगीन गज़नी का स्वतंत्र सुलतान बन बैठा। अलप्तगीन के पीछे उसका बेटा अबू इसहाक़ गज़नी का स्वामी हुआ और अलप्तगीन का तुर्की गुलाम सुबुक्तगीन उसका नायब बनाया गया। इसहाक़ की मृत्यु के पीछे ई० स० ९७७ (वि० सं० १०३४) में सुबुक्तगीन ही गज़नी का सुलतान बना[3]।

हि० सन् ३६७ (वि० सं० १०३४=ई० स० ९७७) में अमीर सुबुक्तगीन ने हिन्दुस्तान पर चढ़ाई की उस समय लाहोर में भीम (भीमपाल[4]) का बेटा जयपाल राज्य करता था। सरहिंद से लमगान तक और मुलतान से कश्मीर तक जयपाल के राज्य की सीमा थी। इस चढ़ाई में सुलतान महमूद भी अपने पिता सुबुक्तगीन के साथ था। राजा भटिण्डा के दुर्ग में रहता था। उसने भी मुसलमानों का खूब मुकाबला किया। जब जयपाल ने देखा कि मेरी सेना की दशा बिगड़ रही है, तो कई हाथी और सोना देकर संधि का प्रस्ताव उपस्थित किया और खिराज भी देना स्वीकारा। महमूद ने अपने पिता से कहा कि

(१) एन्साइक्लोपीडिया ब्रिटैनिका; जि० १, पृ० २३१।

(२) वहीं; जि० १६, पृ० ५७२।

(३) ब्रिग; फिरिश्ता; जि० १, पृ० १२-१३।

(४) फिरिश्ता में भीमपाल के स्थान पर शितपाल नाम मिलता है (ब्रिग; फिरिश्ता; जि० १, पृ० १५) जो अशुद्ध है।

संधि नहीं की जाय; परंतु जयपाल ने फिर कहलाया कि राजपूत जब निराश हो जाते हैं तो वे अपने बाल-बच्चों और स्त्रियों को जौहर की आग में जलाकर प्राणों का भय न करते हुए केश खोलकर शत्रु पर टूट पड़ते हैं। सुबुक्तगीन ने इसको सही समझकर संधि कर ली। राजा ने बहुतसा द्रव्य और ५० हाथी देने का वचन देकर कहा कि इस वक़्त इतना ही द्रव्य यहां मेरे पास है अतएव आप अपने आदमी मेरे साथ लाहोर भेज दीजिये, वहां से बाक़ी का दे दिया जायगा, और विश्वास दिलाने को अपने कुछ सेवक ओल में रख दिये। लाहोर पहुंचकर ब्राह्मणों के कहने से उसने अपने वचन का पालन न करके सुबुक्तगीन के अफ़सरों को क़ैद में डाल दिया। उस समय राजाओं में यह दस्तूर था कि वे ऐसे विषयों का विचार करने के वास्ते सभा एकत्रित कर उसकी सम्मति के अनुसार कार्य करते थे। ब्राह्मण अधिकारी राज्यसिंहासन की दाहिनी तरफ़ और क्षत्रिय सामंत बाईं ओर बैठते थे। क्षत्रियों ने जयपाल की इस कार्रवाई का विरोध किया और कहा कि सुबुक्तगीन इसका बदला लिये बिना नहीं छोड़ेगा, परंतु जयपाल ने उनकी बात पर ध्यान न दिया। जब ये समाचार ग़ज़नी पहुंचे तो सुबुक्तगीन तुरंत चढ़ आया। जयपाल भी युद्ध करने को उपस्थित हुआ। इस समय दिल्ली, कालिंजर व कन्नौज के राजा भी अपनी अपनी सेना सहित जयपाल की सहायता को आये थे। सुबुक्तगीन ने अपनी सेना की पांच पांच सौ सवारों की टुकड़ियां बनाकर उन्हें बारी बारी से हमला करने की आज्ञा दी और जब देखा कि हिन्दू सेना कुछ विचलित होने को है तो सब ने मिलकर एक साथ हमला बोल दिया। जयपाल की फ़ौज भागी और मुसलमानों ने सिंधु नदी तक उसका पीछा किया। लूट में बहुतसा माल असबाब उसके हाथ लगा और सिंधु के पश्चिमी प्रदेशों पर उसका अधिकार हो गया। दस सहस्र सेना सहित अपना एक अफ़सर पेशावर में छोड़कर सुबुक्तगीन ग़ज़नी को लौट गया[१]।

सुबुक्तगीन के मरने पर उसका पुत्र महमूद ग़ज़नी का स्वामी हुआ। उस समय बग़दाद के ख़लीफ़ा तो शिथिल हो ही गये थे, बुख़ारे के अमीरों का अधिकार भी ग़ज़नी के राज्य पर नाममात्र को रह गया था और प्रायः सारे अफ़ग़ानिस्तान पर महमूद का राज्य स्थापित हो गया था। इसपर भी महमूद

(१) ब्रिग; फ़िरिश्ता; जि० १, पृ० १९-१२।

ने अपना बल इतना बढ़ाया कि अफगानस्तान और मध्य एशिया के सारे मुसलमानी राज्य भी उसकी मैत्री के इच्छुक रहने लगे। हिन्द के पंजाब प्रांत में सुबुक्तगीन अपना सिक्का जमा ही चुका था और महमूद को भी भारत के क्षत्रिय राजाओं की पारस्परिक फूट और वैर-विरोध का परिचय भली भांति था, इसलिये उसने सहज में हाथ आनेवाली इस सोने की चिड़िया को हाथ में लेकर अपने देश को मालामाल करने का विचार कर हि० स० ३९० (वि० सं० १०५७=ई० स० १०००) से अपने लश्कर की बाग हिंदुस्तान पर उठाना शुरू किया और १७ चढ़ाइयां कीं, जिनमें से यहां केवल उन्हीं का उल्लेख करेंगे जिनका संबंध राजपूताने से है।

लाहोर के राजा जयपाल ने अवसर पाकर अधीनता से सिर फेर लिया था, इसलिये हि० स० ३९१ (वि० सं० १०५८=ई० स० १००१) में महमूद उस पर चढ़ आया। राजा भी तीस हज़ार पैदल, १२ हज़ार सवार और ३०० हाथियों की सेना लेकर पेशावर के पास आ भिड़ा, परंतु दैव उसके प्रतिकूल था जिससे घोर युद्ध के पीछे उसके ५००० योद्धा खेत पड़े और अपने १५ भाई बेटों सहित बंधुआ बना लिया गया। लूट का बहुतसा माल सुलतान के हाथ लगा जिसमें रत्नजटित १६ कंठ भी थे जिनमें से एक का मूल्य जौहरियों ने १८०००० सुवर्ण दीनार आंका था। भटिंडे का गढ़ हाथ आया और तीन मास तक अपना बंधुआ रखने उपरांत बहुतसा दंड लेकर महमूद ने जयपाल को मुक्त किया। उस समय प्रायः क्षत्रिय राजाओं में यह प्रथा प्रचलित थी कि जो राजा दो वार विदेशियों से युद्ध हार जाता, वह फिर राज्य करने योग्य न ठहरता था, तदनुसार राज्य अपने पुत्र अनंदपाल को देकर जयपाल जीता अग्नि में जल मरा[1]।

हि० स० ३९९ (वि० सं० १०६६=ई० स० १००९) में दाउद[2] की सहायता करने के अपराध में सुलतान ने अनंदपाल पर चढ़ाई की। उसने भारत के दूसरे राजाओं के पास अपने दूत भेजकर सहायता चाही और उन्होंने भी मुसलमानों को हिंदुस्तान में से निकाल देने के निमित्त अपनी अपनी सेना सहित

(१) ब्रिग; फिरिश्ता; जि० १, पृ० ३६-३८।

(२) अबुल् फतह दाउद मुल्तान का स्वामी था। उसने महमूद को ख़िराज देना बंद कर दिया और जब महमूद उसपर चढ़ आया तो अनंदपाल ने दाउद को सहायता दी थी।

अनंदपाल का हाथ बटाना उचित समझा। उज्जैन, ग्वालियर, कालिंजर, कन्नौज, दिल्ली और अजमेर के राजा अपने अपने दलबल सहित आ मिले और पेशावर के पास ४० दिन तक पड़ाव डाले रहे। हिंदू महिलाओं ने भी दूर देशान्तरों से अपने आभूषण बेचकर विपुल धन लड़ाई के खर्चे के लिये भेजा और गक्खर योद्धा भी साथ देने को आ गये। सुलतान ने पहले राजपूतों के बल और उत्तेजना की परीक्षा करने के लिये अपने ६ हज़ार धनुर्धारियों को इस अभिप्राय से तीर चलाने की आज्ञा दी, कि राजपूत इससे चिढ़कर शत्रु पर हमला कर देवें। गक्खर उनके सम्मुख हुए और उन्होंने ऐसी वीरता के साथ हाथ बताये कि महमूद के बहुत कुछ उत्तेजित करने पर भी उसके तीरंदाज़ों के पैर उखड़ गये। तब तो ३० सहस्र गक्खर वीर सिर खोलकर शस्त्र पकड़े शत्रुसेना में घुस पड़े. घोर संग्राम हुआ और थोड़ी ही देर में उन्होंने ५००० मुसलमानों को काट डाला। संयोगवशात् एक नफ्थे के गोले के लगने से अनंदपाल का हाथी भड़का और भाग निकला। हिंदू सेना ने जाना कि राजा ने पीठ दिखाई है, अतएव सब सैनिक उसके अनुगामी हो गये। असंख्य द्रव्य और ३० हाथी सुलतान के हाथ लगे।

हि० स० ४०६ (वि० सं० १०५५=ई० स० १०१८) में रघुवंशी प्रतिहार राजा राज्यपाल के समय सुलतान ने कन्नौज पर चढ़ाई की जिसका वर्णन हम ऊपर लिख आये हैं (पृ० १६५)। कन्नौज से मेरठ होता हुआ सुलतान जमना के तट पर बसे हुए महावन में आया। वहां का राजा ससैन्य सुलतान के पास आता था, परंतु मार्ग में कुछ मुसलमानों के साथ उसके सैनिकों की तकरार हो जाने के कारण कई हिंदुओं को उन्होंने नदी के पूर में फेंक दिया और वहां का राजा कुलचंद्र अपनी राणी तथा कुंवरों को मारकर आप भी मर गया। गढ़ सुलतान के हाथ आया और ८० हाथी तथा विपुल धन उसको वहां मिला[1]।

महावन में अपनी फौज को थोड़ा आराम देकर महमूद मथुरा में आया। उस समय यह नगर बारण (बुलंदशहर) के राजा हरदत्त डोड (डोडिये) के राज्य के अंतर्गत था और थोड़ीसी लड़ाई ही में विजय होकर लूटा गया, वहां की सब मूर्तियां तोड़ दी गईं, जिनसे सोने-चांदी का ढेर लग गया। मंदिरों को भी सुलतान तोड़ देता, परंतु एक तो उसमें परिश्रम अधिक था

(१) ब्रिग; फिरिश्ता; जि० १, पृ० ५८।

और दूसरी उनकी बनावट की सुंदरता व शिल्पकौशल देखकर उनको न गिराया। इन मंदिरों की सुंदरता और भव्यता का वर्णन सुलतान ने अपने हाकिम को पत्र द्वारा लिख भेजा था (देखो ऊपर पृ० २३)। इन मंदिरों में ५ सोने की मूर्तियां मिलीं जिनके नेत्रों में जड़े हुए लाल पचास हज़ार दीनार के आंके गये थे। एक मूर्ति में जड़ा हुआ एक पन्ना चार सौ मिस्काल का था। जब यह मूर्ति गलाई गई तो उसमें से ६८३०० मिस्काल (करीब १०२४ तोले) सोना निकला। एक सौ से अधिक चांदी की मूर्तियां भी उसके हाथ लगीं। बीस दिन वह मथुरा में ठहरा और लूटमार करके नगर को जलाया। फिर उस नदी (जमना) के किनारे किनारे चला जिसपर सात गढ़ बने हुए थे। इन सब का नाश किया और वहां भी कई मंदिरों को तोड़ा[1]।

हि० स० ४१६ (वि० सं० १०८२=ई० स० १०२५) में[2] सुलतान महमूद ने सोमनाथ (काठियावाड़ में) पर चढ़ाई की। 'कामिलुत्तवारीख़' में लिखा है कि "ता० १० शाबान को तीस हज़ार सवारों के साथ सुलतान ने ग़ज़नी से कूच किया और रमज़ान के बीच मुल्तान पहुंचा। वहां से मार्ग जनशून्य रेगिस्तान में होकर गुज़रना था, जहां ख़ुराक भी नहीं मिल सकती थी। इसलिये उसने ३०००० ऊंटों पर अन्न और जल लादकर अणहिलवाड़े की ओर प्रस्थान किया। रेगिस्तान पार करने पर उसने एक तरफ मनुष्यों से परिपूर्ण एक क़िला[3] देखा जहां पर बहुत से कुए थे। वहां के मुखिये लोग सुलतान को समझाने आये

(१) ब्रिग; फिरिश्ता जि० १, पृ० ५८-५९।

(२) कामिलुत्तवारीख़ के अंगरेज़ी अनुवाद में हिजरी सन् ४१४ (मूल लेखक के दोष से) छपा है, जिसके स्थान में हि० स० ४१६ (वि० सं० १०८२=ई० स० १०२५) होना चाहिए; क्योंकि उसी पुस्तक से पाया जाता है कि शाबान महीने में सुलतान ग़ज़नी से चला। रमज़ान में मुल्तान, ज़िल्काद के प्रारंभ में अणहिलवाड़े और ज़िल्काद के मध्य में सोमनाथ पहुंचा। फिर हि० स० ४१७ (वि० सं० १०८३=ई० स० १०२६) के सफर में ग़ज़नी को लौटा। इस चढ़ाई में कुल ६ महीने लगे थे। इसलिये ग़ज़नी से उसका प्रयाण हि० ४१६ (वि० सं० १०८२=ई० स० १०२५) ता० १० शाबान को होना चाहिए। तारीख़ फ़िरिश्ता में सुलतान का हिंदुस्तान में ढाई वर्ष रहना माना है, जिसका कारण भी वही दो वर्ष की मूल पुस्तक की अशुद्धि है।

(३) यह स्थान नाडौल (जोधपुर राज्य में) होना चाहिये, क्योंकि महमूद के रेगिस्तान पार करने के बाद अणहिलवाड़े के मार्ग में यही पुराना स्थान आता है।

परंतु उसने उनको घेरकर जीत लिया। उनको इस्लामी हुकूमत में लाकर वहां के लोगों को क़त्ल किया तथा मूर्तियां तोड़ डालीं। वहां से फिर जल भरकर वह आगे बढ़ा और ज़िलकाद के प्रारंभ (पौष) में अणहिलवाड़े पहुंचा।

अणहिलवाड़े का राजा भीम[1] (भीमदेव) वहां से भागा और अपनी रक्षा के लिये एक क़िले में जाकर रहा। महमूद सोमनाथ की तरफ़ चला। मार्ग में बहुतसे क़िले आए, जिनमें सोमनाथ के दूत-रूप बहुतेरी मूर्तियां थीं, जिनको वह शैतान कहता था। उसने वहां के लोगों को मारा, क़िले तोड़े और मूर्तियां नष्ट कीं। फिर वह निर्जल रेगिस्तान के मार्ग से सोमनाथ की ओर बढ़ा। उस रेगिस्तान में उसको २००० वीर पुरुष मिले। उनके सरदारों ने उसकी अधीनता स्वीकार न की इसपर उसने अपनी कुछ सेना उनपर चढ़ाई के लिये भेजी। उस सेना ने उनको हराकर भगा दिया और उनका माल असबाब लूट लिया। वहां से वह देवलवाड़े[2] पहुंचा, जो सोमनाथ से दो मंज़िल दूर था। वहां के लोगों को यह विश्वास था कि सोमनाथ शत्रु को भगा देंगे, जिससे वे शहर ही में रहे; परन्तु महमूद ने उसे जीतकर लोगों को क़त्ल किया और उनका माल लूटने के बाद सोमनाथ की ओर प्रस्थान किया।

"ज़िलकाद के बीच (पौष शुक्ल के अंत में) गुरुवार के दिन सोमनाथ पहुंचने पर उसने समुद्र-तट पर एक सुदृढ़ क़िला देखा जिसकी दीवारों के साथ समुद्र की लहरें टकराती थीं। क़िले की दीवारों पर से लोग मुसलमानों की हंसी उड़ाते थे कि हमारा देवता तुम सब को नष्ट कर देगा। दूसरे दिन अर्थात् शुक्रवार को मुसलमान हमला करने के लिये आगे बढ़े। उनको वीरता से लड़ते देखकर हिंदू क़िले की दीवारों पर से हट गए। मुसलमान सीढ़ियां लगाकर उनपर चढ़ गए। वहां से उन्होंने दीन की पुकार कर इस्लाम की

(१) 'मिराते अहमदी' तथा 'आईने अकबरी' में महमूद की चढ़ाई के समय चामुंड का अणहिलवाड़े का राजा होना लिखा है, जो भूल है; क्योंकि चामुंड (चामुंडराज) के राज्य की समाप्ति वि॰ सं॰ १०६६ में हुई, और महमूद की चढ़ाई वि॰ सं॰ १०८२ में। उस समय वहां का राजा भीमदेव ही था।

(२) देलवाड़ा—यह प्रभासपाटन के पूर्व का ऊना गांव के पास का देलवाड़ा होना चाहिए। इससे अनुमान होता है कि महमूद अणहिलवाड़े से मोढेरा होता हुआ पाटडी के पास रण (रेगिस्तान) को पारकर झालावाड़, गोहिलवाड़ और काठियावाड़ होकर देलवाड़े पहुंचा होगा।

ताकत बतलाई, तो भी उनके इतने सैनिक मारे गये[1] कि लड़ाई का परिणाम संदेहयुक्त प्रतीत हुआ। कितने ही हिन्दुओं ने सोमनाथ के मंदिर में जाकर दंडवत् प्रणाम कर विजय के लिये प्रार्थना की। फिर रात्रि होने पर युद्ध बंद रहा।

"दूसरे दिन प्रातःकाल ही से महमूद ने फिर लड़ाई शुरू कर दी, हिंदुओं का अधिक संहार कर उनको शहर से सोमनाथ के मंदिर में भगा दिया और मंदिर के द्वार पर भयंकर युद्ध होने लगा। मंदिर की रक्षा करनेवालों के झुंड के झुंड मंदिर में जाने और रो रोकर प्रार्थना करने लगे। फिर बाहर आकर उन्होंने लड़ाई ठान दी और प्राणांत तक वे लड़ते रहे। थोड़े से जो बचे, वे नावों पर चढ़कर समुद्र में चले गये, परंतु मुसलमानों ने उनका पीछा किया, कितनों ही को मार डाला तथा औरों को पानी में डुबो दिया। सोमनाथ के मंदिर में सीसे से मढ़े हुए सागवान के ५६ स्तंभ थे। मूर्ति एक अंधेरे कमरे में थी। मूर्ति की ऊंचाई ५ हाथ और परिधि ३ हाथ थी। इतनी तो बाहर थी, इसके सिवा दो हाथ ज़मीन के भीतर और थी। उसपर किसी प्रकार का खुदाई का काम नहीं दीख पड़ता था। महमूद ने उस मूर्ति को हस्तगत कर उसका एक हिस्सा जलवा दिया और दूसरा हिस्सा वह अपने साथ ग़ज़नी ले गया, जिससे वहां की जामे-मसजिद के दरवाज़े की एक सीढ़ी बनवाई। मूर्तिवाले कमरे में रत्न-जटित दीपकों की रोशनी रहती थी। मूर्ति के निकट सोने की सांकल में घंटे लटकते थे। उस सांकल का तोल २०० मन[2] था। रात्रि में पहर पहर पर उस सांकल को हिलाकर घंटे बजाए जाते थे, जिससे पूजन करनेवाले दूसरे ब्राह्मण जग जाते थे। पास ही भंडार था, जिसमें सोने-चांदी की मूर्तियां रक्खी हुई थीं। भंडार में रत्नजटित वस्त्र थे और प्रत्येक रत्न बहुमूल्य था। मंदिर से २०००००० दीनार[3] से अधिक मूल्य का माल हाथ लगा और ५०००० से

---

(१) सोमनाथ के मंदिर की रक्षा के लिये भीमदेव तथा उसके कई सामंत गए थे। तारीख़ फिरिश्ता में लिखा है कि भीमदेव ने ३००० मुसलमानों को सोमनाथ की लड़ाई में मारा था (ब्रिग; फिरिश्ता, जि० १, पृ० ७४)।

(२) दो सौ मन अर्थात् ४०० पाउंड (४० तोले का १ पाउंड) था, ऐसा फिरिश्ता के अंग्रेज़ी अनुवादक ब्रिग का कथन है (ब्रिग; फिरिश्ता, जि० १, पृ० ७३ का टिप्पण)।

(३) दीनार एक सोने का सिक्का था जिसका तोल ३२ रत्ती होता था (द्वात्रिंश-

अधिक हिंदू मारे गये।

"सोमनाथ की विजय के बाद महमूद को खबर मिली कि अणहिलवाड़े का राजा भीम (भीमदेव) कंदहत[1] के क़िले में चला गया है, जो वहां से ४० फरसंग (२४० मील) की दूरी पर सोमनाथ और रण के बीच है। उसने वहां पहुंचने पर कितने ही मनुष्यों से, जो वहां पर शिकार कर रहे थे, ज्वारभाटे के विषय में पूछा। उन्होंने उत्तर दिया कि पानी उतरने लायक है, परन्तु थोड़ीसी भी हवा चली तो उतरना कठिन होगा। महमूद ईश्वर से प्रार्थना कर पानी में उतरा और उसने अपनी सेना सहित वहां पहुंचकर शत्रु को भगा दिया। फिर वहां से लौटकर उसने मंसूर[2] की तरफ जाने का विचार किया[3], जहां के राजा ने इस्लाम धर्म का परित्याग किया था। महमूद के आने की ख़बर पाकर वह राजा खजूर के जंगल में भाग गया। सुलतान ने उसका पीछा कर उसके साथियों में से बहुतेरों को मार डाला और कइयों को डुबो दिया। थोड़ेसे भाग भी निकले। यहां से वह भाटिया पहुंचा। वहां के लोगों को अपने अधीन कर ग़ज़नी की ओर चला और तारीख १० सफर सन् ४१७ हिजरी (वि० सं० १०८३=ई० स० १०२६) को वहां पहुंचा[4]"।

कुछ मुसलमान इतिहास-लेखकों ने अपनी पुस्तकों में कई बेसिर-पैर की कल्पित बातें भी लिखी हैं, जिनको प्रामाणिक मानकर बड़े बड़े यूरोपियन विद्वानों ने भी भूल की है। ऐसी कपोलकल्पित बातों में सोमनाथ की मूर्ति की कथा भी है। उक्त मूर्ति के संबंध में प्रसिद्ध मुसलमान इतिहास-लेखक फिरिश्ता ने लिखा है कि "मंदिर के बीच सोमनाथ की पाषाण की मूर्ति थी। महमूद ने उसके पास जाते ही अपने गुर्ज़ से उसकी नाक तोड़ डाली। फिर उसके टुकड़े करवा कर उनमें से दो ग़ज़नी पहुंचाए, और दो मक्का-मदीना भेजने के लिये

द्रविकापरिमितं कांचनं इति भरतः)। 'शब्दकल्पद्रुम'; जि० २, पृ० ७१७।

(१) कंदहत शायद कच्छ का कंथकोट नामक किला हो।

(२) मंसूर—सिंध का उक्त नाम का स्थान।

(३) महमूद को सिंध के रास्ते से जाने में जल का बड़ा कष्ट हुआ था, ऐसा फिरिश्ता के लेख से पाया जाता है। उस विकट मार्ग से जाने का कारण यह माना जाता है कि सांभर के चौहान आदि राजपूताने के राजा सोमनाथ के मंदिर को तोड़ने के कारण उसका मार्ग रोकने के लिये खड़े थे, जिससे उसको सिंध के रास्ते से जाना पड़ा था।

(४) इलियट्, 'हिस्टरी ऑफ़ इंडिया'; जि० २, पृ० ४०८-४७१ और २४९।

रक्खे। जब महमूद उस मूर्ति को तोड़ने चला उस समय बहुतसे ब्राह्मणों ने उसके सरदारों से यह निवेदन किया कि यदि यह मूर्ति न तोड़ी जाय, तो हम उसके बदले में बहुतसा द्रव्य देने को तैयार हैं। इसपर उन्होंने सुलतान से अर्ज़ की कि इस एक मूर्ति के तोड़ने से मूर्तिपूजा तो नष्ट होगी ही नहीं, अतएव इसके तोड़ने से कुछ लाभ न होगा, किंतु इतना द्रव्य यदि मुसलमानों को दान किया जाय, तो लाभदायक होगा। इसपर सुलतान ने कहा कि ऐसा करने से तो मैं 'मूर्ति बेचनेवाला' कहलाऊंगा; मेरी इच्छा तो यह है कि मैं 'मूर्ति तोड़नेवाला' कहलाऊं। फिर उसने उस मूर्ति को तोड़ने की आज्ञा दे दी। दूसरे प्रहार से सोमनाथ के पेट का हिस्सा टूटा जो भीतर से पोला था। उसमें से हीरे, मानिक और मोतियों का संग्रह निकला, जिसका मूल्य जितना द्रव्य ब्राह्मण देते थे उससे कहीं अधिक था[1]। ऐसा ही वृत्तांत 'तारीख-अल्फ़ी' में भी मिलता है[2]। इन लेखकों के कथन से ज्ञात होता है कि सोमनाथ की मूर्ति गोल आकृति का ठोस लिंग नहीं, किंतु हाथ-पैर वाली पोली मूर्ति थी, जिसके पेट में रत्न भरे हुए थे। इन्हीं लेखकों के कथन को विश्वसनीय मानकर हिंदुस्तान का इतिहास लिखनेवाले यूरोपियन विद्वानों में से कर्नल टॉड[3], गिब्बन[4], मॉरिस[5], जेम्स मिल[6], प्राइस[7], एलफिन्स्टन[8] आदि विद्वानों ने भी अपनी पुस्तकों में वैसा ही लिखा है, और कुछ हिंदी पुस्तकों में भी, जो उन्हीं के आधार पर लिखी गई हैं, वैसा ही उल्लेख पाया जाता है[9]; परंतु

(१) ब्रिग; फिरिश्ता; जि० १, पृ० ७२-७३।

(२) इलियट; 'हिस्टरी ऑफ इंडिया'; जि० २, पृ० ४७२।

(३) कर्नल टॉड; 'हिस्टरी ऑफ इंडिया'; पृ० २५-२६।

(४) 'डिक्लाइन ऐंड फॉल ऑफ दी रोमन् ऐंपायर'; जिल्द ७, पृ० १४६ (ई० स० १८८७ का संस्करण)।

(५) 'मॉडर्न हिस्टरी ऑफ इंडिया'; जि० १, भाग १, पृ० २८६।

(६) 'हिस्टरी ऑफ इंडिया'; जि० १, पृ० १७७।

(७) 'रिट्रॉस्पेक्ट ऑफ मोहोमेडन हिस्टरी'; जि० २, पृ० २८६ (सन् १८२१ का संस्करण)।

(८) 'हिस्टरी ऑफ इंडिया'; पृ० ३३६।

(९) राजा शिवप्रसाद; 'इतिहास-तिमिर-नाशक', भाग १, पृ० १२, और 'ऐतिहासिक कहानियां'; नागरी-प्रचारिणी सभा, द्वारा प्रकाशित, मनोरंजन पुस्तकमाला संख्या ३७, पृ० ७।

३४

यह सारा कथन कल्पित है, क्योंकि प्रसिद्ध मुसलमान ज्योतिषी अबुरिहां अल्-बेरूनी, जो सुलतान महमूद ग़ज़नवी के समय में कई बरसों तक हिंदुस्तान में रहा और जिसने सोमनाथ की टूटी हुई मूर्ति को देखा था, अपनी अरबी पुस्तक 'तहक़ीके हिंद' में लिखता है कि सोमनाथ गोल आकृति का एक ठोस लिंग था, जिसका शिरोभाग सुलतान ने तुड़वा डाला और बाक़ी का हिस्सा उसपर के रत्न-जटित सोने के ज़ेवर तथा ज़रदोज़ी कपड़ों सहित ग़ज़नी पहुंचा दिया। उसका एक टुकड़ा, थानेश्वर से लाई हुई पीतल की चक्रवर्ती (चक्रस्वामी, विष्णु) की मूर्ति के साथ, शहर (ग़ज़नी) में घुड़दौड़ की जगह पड़ा हुआ है और दूसरा मसजिद के पास इस अभिप्राय से रक्खा गया है कि लोग उसपर पैर रगड़ें[1]। इसी तरह फिरिश्ता से पहले की बनी हुई 'कामिलुत्तवारीख़,' 'हबिबुस्सिअर,' 'रौज़तुस्सफ़ा' आदि फ़ारसी तवारीख़ों में, जिनसे फिरिश्ता ने बहुत कुछ वृत्तांत उद्धृत किया है, उक्त मूर्ति के हाथ-पैर आदि होना या उसके पेट में से रत्नों का निकलना कहीं नहीं लिखा।

इस प्रकार सुलतान महमूद ने हिंदुस्तान के अलग अलग हिस्सों पर चढ़ाइयां कीं और वहां से वह बहुतसा द्रव्य ले गया। उसका विचार हिंदुस्तान

(१) एडवर्ड सान्: 'अलबेरूनीज़ इंडिया'; जि० २, पृ० १०३। अलबेरूनी ने सोमनाथ के लिंग को ठोस पत्थर का बना हुआ बतलाया है इतना ही नहीं, किंतु उसने लिंगों के बनाने की रीति तथा उनकी बनावट के अनुसार होनेवाले शुभाशुभ फल का भी विस्तार से वर्णन किया है। 'मेडिएवल इंडिया' के कर्ता स्टेनली लेनपूल ने लिखा है कि फिरिश्ता का यह कथन कि महमूद के प्रहार करने पर उक्त मूर्ति के भीतर से रत्नों का बड़ा संग्रह निकल आया, बिलकुल मिथ्या है; परंतु साथ ही यह कल्पना भी की गई है कि शायद मूर्ति के नीचे छिपाए हुए रत्न खोदकर निकाले गए हों (पृ० २६ का टिप्पण)। यह कल्पना भी सर्वथा निर्मूल है, क्योंकि ऐसी मूर्तियों के नीचे कभी रत्नों का संग्रह छिपाया नहीं जाता था, और न कोई आज तक ऐसा प्रत्यक्ष उदाहरण मिला है। फिरिश्ता तथा उसी के आधार पर लिखे हुए अंग्रेज़ी तथा हिंदी ग्रंथों में लिखी हुई इस कपोलकल्पित बात को पढ़कर कितने ही हिंदुओं को भी ऐसा विश्वास हो गया है कि जिनको ज्योतिर्लिंग कहते हैं, वे भीतर से पोले होते हैं और उनमें ज्योतिर्मय रत्न भरे रहने के कारण ही उनको ज्योतिर्लिंग कहते हैं। मेरा एक बड़े इतिहासवेत्ता मित्र से इस विषय पर विवाद हुआ, और उन्होंने इसके प्रमाण में फिरिश्ता की फ़ारसी पुस्तक बतलाई; इसपर मैंने अलबेरूनी की पुस्तक का अंग्रेज़ी अनुवाद उनको सुनाया। तब उनकी भ्रांति निवृत्त हुई और उन्होंने स्वीकार किया कि फिरिश्ता और उसके आधार पर लिखनेवाले विद्वानों का यह कथन सरासर कल्पित है।

में अपना राज्य स्थिर करने का नहीं था, वह केवल धर्म स्थापन करने के बहाने से धन संग्रह करने की अपनी भूख मिटाने के लिये लूटमार करके ग़ज़नी को लौट जाया करता था, तो भी उसने अफ़ग़ानिस्तान से मिला हुआ हिंदुस्तान का लाहोर तक का अंश अपने राज्य में मिला लिया था। हि० स० ४२१ (वि० सं० १०८७=ई० स० १०३०) में महमूद की मृत्यु हुई। फिर उसके बेटे पोते आदि वंशधर आपस में लड़भिड़ कर बलहीन होते गये जिससे उनमें अन्य देशों को विजय करने की शक्ति न रही, इतना ही नहीं, किंतु महमूद के जमाए हुए राज्य को भी वे सम्हाल न सके, जिसका बहुत ही संक्षिप्त परिचय यहां दिया जाता है—

सुलतान महमूद की मृत्यु के पीछे उसका बड़ा बेटा मुहम्मद ग़ज़नी के तख़्त पर बैठा, परंतु उसके छोटे भाई मसूद ने उससे राज्य छीनकर उसको अंधा कर दिया। मसूद मध्य एशिया की (सलजुकियों के साथ की) लड़ाइयों से निर्बल होकर लौटा और नई सेना एकत्र करने को हिंदुस्तान में आया, परंतु उसकी सेना ने उसे पदच्युत कर उसके अंधे भाई मुहम्मद को फिर सुलतान बनाया[1]। हि० स० ४३३ (वि० सं० १०९९=ई० स० १०४२) में अपने भतीजे अहमद (मुहम्मद के बेटे) के हाथ से मसूद मारा गया, जिसपर उसके बेटे मौदूद ने उसी वर्ष मुहम्मद को मारकर उसका राज्य छीन लिया[2]। हि० स० ४३५ (वि० सं० ११०१=ई० स० १०४४) में दिल्ली के हिंदू राजा ने हांसी, थाणेश्वर और सिंध मुसलमानों से छीनकर नगरकोट भी छुड़ा लिया। वहां के मंदिरों में नई मूर्तियां बिठलाई जाकर पूजी जाने लगीं। पंजाब के राजा भी १०००० सवार और बड़ी पैदल सेना लेकर लाहोर पर चढ़ आये। सात मास तक मुसलमानों से लड़े, परंतु अंत में उनकी हार हुई[3]। हि० स० ४४० (वि० सं० ११०५=ई० स० १०४८) में मौदूद मरा और उसका बेटा मसूद (दूसरा) ग़ज़नी का स्वामी हुआ। और हि० सन् ४४० से ५११ (वि० सं० ११०५ से ११७४) तक ७० वर्ष में ग़ज़नी की गद्दी पर ८ सुलतान हो गये फिर बहरामशाह वहां की गद्दी पर बैठा। उसके समय में सैफुद्दीन गोरी के भाई अलाउद्दीन हुसेन गोरी ने

(१) रावर्टी; 'तबकाते नासिरी'; (अंग्रेज़ी अनुवाद) पृ० ९५-९६।

(२) सी० मांबेल डफ़; 'दी क्रॉनोलोजी ऑफ़ इंडिया'; पृ० १२०; १२१।

(३) ब्रिग; फ़िरिश्ता; जि० १, पृ० ११८-१९।

ग़ज़नी पर हमला कर उसको ले लिया जिससे बहराम भागकर लाहोर में आ रहा और हि० स० ५४४ (वि० सं० १२०६=ई० स० ११४६) में मर गया। इस प्रकार ग़ज़नी के तुर्क राज्य की समाप्ति हुई और ग़ज़नवियों के अधिकार में केवल लाहोर की तरफ़ का हिंदुस्तान का हिस्सा ही रह गया। बहरामशाह का पुत्र खुसरोशाह लाहोर के तख़्त पर बैठा और उसके बेटे खुसरोमलिक से शहाबुद्दीन मुहम्मद ग़ोरी ने लाहोर छीनकर हि० स० ५७६ (वि० सं० १२३७=ई० स० ११८०) में वहां से भी ग़ज़नवियों के रहे सहे राज्य का अंत कर दिया।

ग़ज़नी और हिरात के बीच ग़ोर का एक छोटासा राज्य था जिसकी राजधानी फ़ीरोज़कोह थी। वहां के मलिक सैफ़ुद्दीन के पीछे उसके चचेरे भाई गयासुद्दीन मुहम्मद ग़ोरी ने, जो बहाउद्दीन साम का बेटा था, ग़ोर का राज्य पाया। उसका छोटा भाई शहाबुद्दीन ग़ोरी था, जिसको उसने प्रथम अपना सेनापति और पीछे ग़ज़नी का हाकिम बनाया[1]। उसने वहां से महमूद ग़ज़नवी के समान हिंदुस्तान पर चढ़ाइयां करना शुरू किया।

उस समय भारत के बड़े विभाग पर चौहानों का प्रबल राज्य जम चुका था जिसके अधीन अजमेर के इलाक़े के अतिरिक्त दिल्ली और दूर दूर के प्रदेश थे। राजपूताने में दूसरा बड़ा राज्य मेवाड़ के गुहिलोतों (सीसोदियों) का था। मालवे में परमारों का, गुजरात में सोलंकियों का, पूर्व में कन्नौज, काशी आदि पर गाहड़वालों (गहरवारों) का और वहां से पूर्व में बंगाल के सेनवंशियों का राज्य था।

लाहोर में ग़ज़नवी वंश के सुलतानों का हाकिम रहा करता था और वहां से लूटमार के लिये राजपूताने पर चढ़ाइयां हुआ करती थीं। इन चढ़ाइयों का वर्णन फ़ारसी तवारीख़ों में नहीं मिलता, परंतु कभी कभी संस्कृत के ऐतिहासिक ग्रंथों में मिल आता है, जैसे कि सांभर का चौहान राजा दुर्लभराज दूसरा (चामुंडराज का उत्तराधिकारी) मुसलमानों के साथ की लड़ाई में मारा गया था[2]। अजमेर बसानेवाले अजयदेव (पृथ्वीराज प्रथम के पुत्र) ने

(१) ना० प्र० प०; भाग १, पृ० ४०७।

(२) वही; भाग ४, पृ० १२१।

मुसलमानों को परास्त किया[1]। अजयदेव के पुत्र अर्णोराज (आना) के समय मुसलमानों की सेना फिर इधर आई, पुष्कर को नष्ट कर अजमेर की तरफ बढ़ी और पुष्कर की घाटी को उल्लंघन कर आनासागर के स्थान तक आ पहुंची, जहां अर्णोराज ने उसका संहार कर बड़ी विजय प्राप्त की। यहां मुसलमानों का रक्त गिरा था अतएव इस भूमि को अपवित्र जान जल से उसकी शुद्धि करने के लिये उसने वहां आनासागर तालाव बनवाया[2]। आना के पुत्र वीसलदेव (विग्रहराज चौथे) के समय वर्तमान किशनगढ़ राज्य के बब्वेरा (रूपनगर) तक मुसलमानों का सैन्य पहुंच गया[3] जिसको परास्त कर वीसलदेव आर्यावर्त से मुसलमानों को निकालने के लिये उत्तर की तरफ बढ़ा। उसने दिल्ली और हांसी के इलाके अपने राज्य में मिलाये[4] और आर्यावर्त (के बड़े विभाग) से मुसलमानों को निकाल दिया, ऐसा दिल्ली के अशोक के लेखवाले शिवालिक स्तंभ पर खुदे हुए वीसलदेव के वि० सं० १२२० के लेख से पाया जाता है[5]। शहाबुद्दीन गोरी के साथ सम्राट् पृथ्वीराज की पहली लड़ाई होने के पूर्व गोरियों की सेना ने नाडौल पर भी हमला किया था, परंतु हारकर उसे वहां से लौटना पड़ा था[6]। ऐसे और भी उदाहरण मिलते हैं जो आगे भिन्न भिन्न राज्यों के इतिहास में प्रसंगवशात् उद्धृत किये जायेंगे।

(१) ना. प्र. प; भाग ४, पृ० १६०।

(२) वही; भाग ४, पृ० १६२-६४।

(३) अजमेर के चौहान राजा विग्रहराज (वीसलदेव चौथे) के राजकवि सोमदेव रचित 'ललितविग्रहराज' नाटक, अंक ४; इं० एं; जि० २०, पृ० २०२। इस नाटक का कितना एक अंश बड़ी बड़ी २ शिलाओं पर खुदा हुआ मिला है, जो राजपूताना म्यूज़ियम् (अजमेर) में सुरक्षित है।

(४) ना. प्र. प; भाग १, पृ० ४०५ और टिप्पण ४३।

(५) *आविन्ध्यादाहिमाद्रेर्विरचितविजयस्तीर्थयात्राप्रसंगा-*
दुद्ग्रीवेषु प्रहर्त्ता नृपतिषु विनमत्कन्धरेषु प्रसन्नः।
आर्यावर्त्तं यथार्थं पुनरपि कृतवान्म्लेच्छविच्छेदनाभि-
र्देवः शाकंभरीन्द्रो जगति विजयते वीसलक्षोणिपालः॥
ब्र(ब्रू)ते संप्रति चाहमानतिलकः शाकंभरीभूपतिः
श्रीमद्विग्रहराज एष विजयी संतानजानात्मनः।

इं. एं; जि० १९, पृ० २१८।

(६) ना. प्र. प; भाग ४, पृ० १७७-७८।

सिंध पर अरबों का अधिकार होने के समय से लगाकर ग़ज़नवी खानदान की समाप्ति तक राजपूताने पर मुसलमानों के कभी कभी हमले होते रहे और राजपूत लोग उनको पराजित कर निकालते रहे। उस समय तक राजपूताने के किसी अंश पर मुसलमानों का अधिकार होने न पाया था, परंतु शहाबुद्दीन ग़ोरी से स्थिति पलट गई। ग़ज़नी का शासक नियत होने पर उसने पहला हमला मुल्तान पर किया[1] और उसके बाद तबर्रहिंद (भटिंडे) का क़िला लिया[2]। अजमेर का चौहान सम्राट् पृथ्वीराज शहाबुद्दीन से लड़ने के लिये कई हिंदू राजाओं को साथ लिये अजमेर से चला और थाणेश्वर के निकट तराइन के पास शहाबुद्दीन से लड़ाई हुई जिसमें वह (शहाबुद्दीन) बुरी तरह घायल होकर भागा और लाहोर में अपने घावों का इलाज कराकर ग़ज़नी को लौट गया। यह घटना हि० सन् ५८७ (वि० सं० १२४८=ई० स० ११९१) में हुई[3]। दूसरे वर्ष पृथ्वीराज ने तबर्रहिंद के क़िले को जा घेरा और वहां के हाकिम ज़ियाउद्दीन को १३ महीने की लड़ाई के पीछे क़िला खाली करना पड़ा। शहाबुद्दीन दूसरे साल फिर चढ़ आया और थाणेश्वर के पास पृथ्वीराज से लड़ाई हुई, पृथ्वीराज क़ैद होकर कुछ महीनों बाद मारा गया और अजमेर पर मुसलमानों का अधिकार हो गया। अपनी अधीनता स्वीकार कराकर पृथ्वीराज के पुत्र गोविन्दराज को शहाबुद्दीन ने अजमेर की गद्दी[4] पर बिठाया और आप स्वदेश को लौट गया। पृथ्वीराज के भाई हरिराज ने शहाबुद्दीन की अधीनता स्वीकार करने के कारण गोविन्दराज से अजमेर छीन लिया जिससे वह रणथंभोर में जा रहा।

कुतुबुद्दीन ऐबक ने, जो शहाबुद्दीन का तुर्क जाति का ग़ुलाम और सेनापति था, वि० सं० १२५० (ई० स० ११९३) में दिल्ली[5] (जो अजमेर का एक सूबा था) छीन ली। तभी से दिल्ली हिंदुस्तान के मुसलमान राज्य की राजधानी हुई। इसपर हरिराज ने कुतुबुद्दीन से दिल्ली खाली कराने के लिये अपने सेनापति

(१) ना. प्र. प; भाग १, पृ० ४०७।

(२) सी. मोबेल डफ़; 'क्रॉनॉलॉजी ऑफ़ इंडिया'; पृ० १६७।

(३) वही; पृ० १६७।

(४) वही; पृ० १६८।

(५) वही; पृ० १६८।

(चतरराय) को भेजा परंतु वह हारकर अजमेर को लौट आया। कुतुबुद्दीन ने हरिराज को हराकर वि० सं० १२५२ (ई० स० ११९५) में अजमेर पर अपना अधिकार किया और वहां मुसलमान हाकिम नियत कर दिया।

इस प्रकार अजमेर के प्रतापी चौहान राज्य का अंत हुआ और राजपूताने के ठीक मध्य (अजमेर) में मुसलमानों का अधिकार हो गया। मेवाड़ का मांडलगढ़ से पूर्व का सारा हिस्सा पृथ्वीराज के समय तक चौहानों के अधिकार में था जिसपर भी उक्त संवत् में मुसलमानों का आधिपत्य हो गया[1]। फिर तो वे राजपूताने और उसके आसपास के प्रदेशों पर अपना अधिकार बढ़ाने लगे। उक्त संवत् से एक वर्ष पूर्व शहाबुद्दीन ने कन्नौज और बनारस के गहरवार राजा जयचंद से उसका राज्य छीन लिया था[2]। अब गुजरात की बारी आई, वि० सं० १२५२ (ई० स० ११९५) में कुतुबुद्दीन ने गुजरात पर चढ़ाई कर उधर लूटमार करना शुरू किया जिसका बदला लेने के लिये गुजरातवालों ने मेरों को अपने सहायक बनाकर कुतुबुद्दीन पर हमला किया जिससे उसको अजमेर के गढ़ में शरण लेनी पड़ी। कई मास तक वह गढ़ घिरा रहा, अंत में शहाबुद्दीन ने ग़ज़नी से नई सेना भेजकर घेरा उठवाया[3]। इसी वर्ष शहाबुद्दीन और कुतुबुद्दीन ने तहनगढ़ (तवनगढ़, करौली राज्य में) पर हमला कर उसे ले लिया[4]। फिर शहाबुद्दीन ने गुजरातवालों को सज़ा देने के लिये गुजरात पर चढ़ाई की और आबू के नीचे कायद्रां गांव के पास बड़ी लड़ाई हुई जिसमें घायल होकर शहाबुद्दीन को लौट आना पड़ा[5]। इस हार का बदला लेने के लिये दूसरे वर्ष कुतुबुद्दीन गुजरात पर चढ़ा और उसी कायद्रां गांव के पास लड़ाई में विजय पाकर गुजरात को लूटता हुआ लौट आया[6]। वि० सं० १२६३ (ई० स० १२०६) में शहाबुद्दीन लाहौर से ग़ज़नी को लौटते समय गक्खरों के हाथ से धमेक के पास मारा गया और उसका भतीजा ग़यासुद्दीन महमूद ग़ोर का सुलतान हुआ। उसी साल ग़या-

(१) देखो ऊपर पृ० १६६।
(२) सी. मोबल डफ़; 'क्रॉनॉलॉजी ऑफ इंडिया'; पृ० १६६।
(३) वही; पृ० १७०।
(४) वही; पृ० १७०।
(५) देखो ऊपर पृ० १७६, और टिप्पण २।
(६) देखो ऊपर पृ० १७१।

बुद्दीन से सब राज्यचिह्न प्राप्त कर कुतुबुद्दीन, जो पहले शहाबुद्दीन का सेनापति और प्रतिनिधि था, हिंदुस्तान का प्रथम मुसलमान सुलतान बनकर दिल्ली के तख़्त पर बैठा। वि० सं० १२६७ (ई० स० १२१०) में वह घोड़े से गिरकर लाहोर में मरा[1] और उसका पुत्र आरामशाह तख़्त पर आया, परन्तु उसी वर्ष उसको निकाल कर कुतुबुद्दीन का गुलाम शमशुद्दीन अल्तमश दिल्ली का सुलतान बन गया। शमशुद्दीन अल्तमश ने जालोर, रणथंभोर, मंडोर, सवालक और सांभर पर चढ़ाइयां कर विजय प्राप्त की[2] तथा वहां के राजाओं को अधीन किया। उसने मेवाड़ पर भी चढ़ाई की परंतु नागदा शहर तोड़ने के बाद वहां के राजा जैत्रसिंह से परास्त होकर उसको भागना पड़ा[3], इसीलिये मुसलमान इतिहास-लेखकों ने इस लड़ाई का वृत्तान्त अपनी पुस्तकों में छोड़ दिया है, परंतु उसी समय के निकट के शिलालेखों आदि में उसका उल्लेख मिलता है। फिर कुतुबुद्दीन के उत्तराधिकारियों ने राजपूताने में विशेष छेड़छाड़ न की और न कोई राज्य छीना, परंतु दिल्ली के खिलजी खानदान के समय में अलाउद्दीन खिलजी ने राजपूतों के राज्य छीनने का निश्चय कर वि० सं० १३५७ (ई० स० १३००) में राजा हंमीर चौहान से रणथंभोर का क़िला लेकर वहां के चौहान राज्य की समाप्ति की[4]। वि० सं० १३६० (ई० स० १३०३) में उसने चित्तोड़ पर चढ़ाई की और छः महीने तक लड़ने के बाद वह क़िला फतह कर अपने बेटे खिज़रखां को दिया। इस लड़ाई में रावल रत्नसिंह और उसके कई सरदार मारे गये और रत्नसिंह की राणी पद्मिनी (पद्मावती) ने कई राजपूत रमणियों के साथ जौहर की अग्नि में प्रवेश कर अपने सतीत्व की रक्षा की। वि० सं० १३८२ (ई० स० १३२५) के आसपास महाराणा हंमीर ने चित्तोड़गढ़ पीछा ले लिया। वि० सं० १३६५ (ई० स० १३०८) में[5] अलाउद्दीन ने सिवाने का क़िला (जोधपुर राज्य में) वहां के चौहान शीतलदेव को मारकर लिया और वि० सं० १३६८ में[6] उसने

(१) बील; 'ओरिएंटल् बायोग्राफिकल डिक्शनेरी'; पृ० ३२० ।

(२) ना. प्र. प; भाग ३, पृ० १२१ ।

(३) वही; पृ० १२१–२७ ।

(४) सी. मॉबेल डफ; क्रॉनॉलोजी ऑफ़ इंडिया'; पृ० २१० ।

(५) वही; पृ० २१२ ।

(६) फिरिश्ता ने अलाउद्दीन का जालोर लेना हि० स० ७०६ (वि० सं० १३६३)

जालोर पर चढ़ाई की। वहां का चौहान राजा कान्हड़देव और उसका कुंवर वीरमदेव बड़ी वीरता से लड़कर काम आये और जालोर के चौहान-राज्य की भी समाप्ति हो गई।

तुग़लकों के समय में दिल्ली का मुसलमानी राज्य कमज़ोर होने पर राजपूताने के राजाओं ने मुसलमानों के हस्तगत हुए राजपूताने के कई एक विभागों को पीछा अपने राज्यों में मिला लिया। तुग़लकों के पिछले समय में तो उनके राज्य की दशा ऐसी बिगड़ी कि दिल्ली के पश्चिमी दरवाज़े दोपहर की नमाज़ के समय से बंद कर दिये जाते थे और उस तरफ से कोई बाहर न जाने पाता था क्योंकि मेवाती लोग उधर से जल के कुण्ड पर पानी भरनेवाले मर्द और औरतों के कपड़े तक छीनकर ले जाते थे[1]।

फ़ीरोज़शाह तुग़लक ने अमीशाह को, जिसको दिलावरख़ां ग़ोरी भी कहते थे, मालवे का हाकिम बनाया, जो फ़ीरोज़शाह के बेटे तुग़लक शाह (मुहम्मद शाह) के समय में मालवे का स्वतंत्र सुलतान बन गया। उसने मेवाड़ के महाराणा खेत्रसिंह पर चढ़ाई की, परंतु उसमें हारकर अपना ख़ज़ाना आदि छोड़ उसे भागना पड़ा[2]। फिर महाराणा कुंभा, रायमल और सांगा (संग्रामसिंह) ने मांडू (मालवे) के सुलतानों से बहुतसी लड़ाइयां लड़ीं।

दिल्ली के सुलतान मुहम्मद तुग़लक ने ज़फ़रख़ां को गुजरात का हाकिम बनाया जो तुग़लक बादशाहत की कमज़ोरी देखकर हि० स० ७६६ (वि० सं० १४५३=ई० स० १३९६) में गुजरात का स्वतंत्र सुलतान बन गया। गुजरात के सुलतानों के एक वंशधर ने नागोर (जोधपुर राज्य में) में अपना अधिकार जमाया। मेवाड़ के महाराणा मोकल, कुंभा, सांगा, विक्रमादित्य आदि ने गुजरात के सुलतानों तथा नागोरवालों से कई लड़ाइयां लड़ीं, और सिरोही, डूंगरपुर एवं बांसवाड़े से भी उनका वैसा ही संबंध रहा।

तुग़लकों के समय वि० सं० १४५५ (ई० स० १३९८) में अमीर तैमूर ने

दिया है, परंतु मुंहणोत नैणसी ने अपनी ख्यात में इस घटना का वि० सं० १३६८ वैशाख सुदि ५ को होना माना है, जो अधिक विश्वास के योग्य है। फ़िरिश्ता ने निश्चित संवत् नहीं दिया।

(१) इलियट्; 'हिस्टरी ऑफ़ इंडिया'; जि० ३, पृ० १०५।

(२) ना. प्र. प.; भाग ३, पृ० १९—२१।

हिंदुस्तान पर चढ़ाई कर भटनेर (बीकानेर राज्य में) का किला लिया[1], फिर दिल्ली फ़तह कर उसको लूटा और वहां क़त्ले आम किया। इससे तुग़लक बिल्कुल कमज़ोर हो गये और सैयदों ने उनसे राज्य छीन लिया। वे भी थोड़े ही वर्ष राज्य करने पाये थे कि लोदी पठानों ने उनसे तख़्त छीन लिया। इस ख़ानदान के बहलोल और सिकंदर लोदी ने राजपूताने पर हमले किये, परंतु उनका यहां विशेष प्रभाव न पड़ा। उक्त वंश के अंतिम सुलतान इब्राहीम लोदी को वि० सं० १५८३ में पानीपत की लड़ाई में हराकर बाबर ने दिल्ली की बादशाहत छीन पठान-राज्य की समाप्ति की।

बाबर के हिंदुस्तान में आने के समय हिंदू राजाओं में सब से प्रबल राजा मेवाड़ के महाराणा सांगा (संग्रामसिंह) थे जिनके राज्य की सीमा बयाने तक पहुंच गई थी। उक्त महाराणा ने भारत में पीछा हिंदू राज्य स्थापन करने के लिये वि० सं० १५८४ में बाबर से खानवा (बयाने के पास) के मैदान में युद्ध किया; पहली लड़ाइयों में तो उनकी विजय हुई, परंतु अंत की बड़ी लड़ाई में बाबर ने विजय प्राप्त की। बाबर के पीछे उसका बेटा हुमायूं तख़्त पर बैठा जिसको शेरशाह सूर (पठान) ने, जो चुनारगढ़ का हाकिम था, पराजित कर दिल्ली का तख़्त छीन लिया। शेरशाह के समय भी राजपूताने पर चढ़ाइयां हुईं और उनमें बड़ी लड़ाई जोधपुर के राजा मालदेव के साथ हुई जिसमें छल कपट के कारण शेरशाह की विजय हुई, परंतु अंत में उसे यह कहना पड़ा कि 'मैंने एक मुट्ठी भर बाजरे के लिये हिंदुस्तान की सल्तनत खोई होती'। हुमायूं बड़ी आपत्ति के साथ मारवाड़ और जैसलमेर राज्य में होता हुआ उमरकोट (सिंध में) पहुंचा जहां वि० सं० १५९९ (ई० स० १५४२) में अकबर का जन्म हुआ। उमरकोट से हुमायूं ईरान के बादशाह तहमास्प की शरण में जा रहा। एक दिन शाह तहमास्प ने हुमायूं से पूछा कि कभी तुमने भारतवर्ष के हिंदू राजाओं से संबंध जोड़कर उनको अपना सहायक बनाया या अपने भाइयों पर ही विश्वास कर राज्य करते रहे? हुमायूं ने उत्तर में यही कहा कि भाइयों पर भरोसा करने से ही मेरा राज्य गया। फिर शाह ने उसे समझाया और कहा, 'यदि हिंदू राजाओं को अपने अधीन कर उनसे संबंध जोड़ लेते तो वे तुम्हें अवश्य सहायता देते और तुम्हारी ऐसी दशा कभी न

(१) सी. मोबेल डफ़; 'क्रॉनॉलॉजी ऑफ़ इंडिया'; पृ० २३१।

होती। हुमायूं इस नीति को अच्छी तरह समझ गया और ईरान से सहायता प्राप्त कर भारत की तरफ लौटा तब उसकी यही इच्छा रही कि इस बार अपना राज्य फिर जमने पर हिंदू राजाओं से अवश्य संबंध स्थापित कर उनको अपना सहायक बना लूंगा जिससे मेरे राज्य की नींव सुदृढ़ हो जायगी। हुमायूं ने जब भारत का कुछ भाग पीछा जीत लिया तब उसने उक्त विचारानुसार अपना कार्यक्रम आरंभ करना चाहा, परंतु दैवगति से वि० सं० १६१२ (ई० स० १५५६) में उसका देहान्त हो गया और उसका पुत्र अकबर १२ वर्ष की अवस्था में उसका उत्तराधिकारी हुआ। उस समय उसके अधिकार में पंजाब से आगरे तक का देश और राजपूताने में तो बयाना और मेवात का इलाका मात्र था। संभव है कि अकबर को उसके पिता ने शाह तहमास्प की शिक्षा से परिचित किया हो। होनहार पुरुषों में बुद्धि-बल और असाधारण ज्ञानशक्ति होना प्राकृतिक नियम है। तदनुसार ये सब गुण अकबर में भी, चाहे वह अधिक पढ़ा-लिखा न हो, विद्यमान थे। सब से पहले वह बड़े बड़े विद्वान् और नीतिनिपुण मंत्रियों आदि को अपने पास रखकर अपने अधीनस्थ राज्य को सुदृढ, शांतिमय और उन्नत बनाने तथा अन्य देशों को अपने अधिकार में लाने के विचार से बिना किसी भेदभाव के सब प्रजाहितकारी कार्यों के प्रचार का प्रयत्न करता रहा। अकबर से पूर्व साढ़े तीनसौ से अधिक वर्ष की तुर्क और पठानों की बादशाहत में उनके सूबेदार, सामंतगण तथा क्षत्रिय (राजपूत) राजाओं के साथ लड़ाई झगड़े निरंतर चला ही करते थे। भारत के हिंदू राजाओं को उन्होंने सैनिक बल से कुचलकर या तो उनके राज्य छीन लिये या उनको अपने अधीन किया और धर्मद्वेष के विचार से वे हिंदुओं को सदा तुच्छ दृष्टि से देखते रहे थे। इसीलिये राजा तथा प्रजा में परस्पर की प्रीति कभी स्थापित न हुई। इन्हीं आंतरिक उपद्रवों से लाभ उठाकर भिन्न भिन्न मुसलमान राजवंश इस देश के स्वामी बन गये और सीमांत बाहरी प्रदेशों से भी चढ़ाइयां होने का भय सदा लगा ही रहता था। यद्यपि मुग़ल और पठान आदि एक ही धर्म के माननेवाले थे तो भी राज्यव्यवहार में धर्म के नाते का कभी विचार नहीं रहता था। अपना राज्य भारत के अधिकांश से उठ जाने के कारण पठान आदि, पहले के सुलतान, मुग़लों के शत्रु बने हुए ही थे। इस भय को मिटाने के लिये अकबर जैसे नीतिनिपुण बादशाह ने समझ लिया कि यदि मैं हिंदुस्तान को अपना ही देश

समझूं, हिंदुओं को भी प्रसन्न रक्खूं और राजपूतों को अपना सहायक बना लूं तो मेरे राज्य की नींव सुदृढ़ हो जायगी और इसी से अन्य देशों को भी विजय कर सकूंगा। राजपूताने में उस समय ११ राज्य—उदयपुर, डूंगरपुर, बांसवाड़ा, प्रतापगढ़, जोधपुर, बीकानेर, आंबेर, बूंदी, सिरोही, करौली और जैसलमेर—थे। उनमें मुख्य मेवाड़ (उदयपुर) और जोधपुर थे। आंबेर के कछवाहे उन्नत दशा में न थे और अजमेर का मुसलमान सूबेदार उनको सताया भी करता था। अकबर ने सब से पहले आंबेर के राजा भारमल कछवाहे को अपनी अधीनता में लिया और उसकी तथा उसके पुत्रों आदि की मान-मर्यादा बढ़ाई। भारमल ने भी राज्य के लोभ में आकर अपनी राजकुमारी का विवाह अकबर के साथ कर दिया। राजपूताने के राजाओं में बादशाहों को अपनी लड़की ब्याहने का यह पहला ही उदाहरण है। इस प्रकार अकबर की राजपूतों के साथ की नीति का बीजारोपण हुआ। बादशाह अकबर जानता था कि राजपूत राजाओं के नेता मेवाड़ के महाराणा हैं, इसलिये जब तक उनको अपने अधीन न कर लूं तब तक मेरा मनोरथ सफल न होगा। इसी उद्देश्य की सिद्धि के लिये बादशाह ने वि० सं० १६२४ (ई० स० १५६७) में महाराणा उदयसिंह के समय चित्तोड़ पर चढ़ाई कर उस किले को ले लिया, परंतु महाराणा ने उसकी अधीनता स्वीकार न की जिससे उनके साथ लड़ाइयां होती रहीं। महाराणा उदयसिंह का देहांत होने पर प्रसिद्ध महाराणा प्रतापसिंह मेवाड़ के स्वामी हुए। उनके साथ भी अकबर की सेनाएं लड़ती रहीं, परंतु उस दृढ़-व्रती महाराणा ने अकबर की अधीनता स्वीकार न की। अकबर के पीछे जहांगीर दिल्ली का बादशाह हुआ और महाराणा प्रताप के पीछे महाराणा अमरसिंह मेवाड़ का स्वामी हुआ। जहांगीर के समय भी उक्त महाराणा से कई लड़ाइयां हुईं और अंत में महाराणा ने अपने कुल-गौरव के अनुसार शर्तें हो जाने पर बादशाह की अधीनता स्वीकार करली जिसको जहांगीर ने अपने लिये बड़े गौरव का विषय समझा। इस प्रकार मेवाड़ के राज्य की स्वतंत्रता का भी अंत हुआ।

अकबर राजपूतों को अधीन करने में अपनी कृपा की बेड़ी से उनको जकड़ने तथा उनके साथ विवाह-संबंध जोड़ने के अतिरिक्त भेदनीति के द्वारा उनमें परस्पर का विरोध फैलाकर उनको निर्बल करने का उद्योग भी करता

रहा; जैसे कि मेवाड़ का बल तोड़ने के लिये वि० सं० १६२६ (ई० स० १५६६) में बूंदी के राव सुर्जन हाड़ा ने आंबेर के राजा भगवानदास की सलाह से बादशाही सेवा स्वीकार कर राणा की अधीनता से मुख मोड़ा और राणा का रणथंभोर का गढ़ बादशाह को सौंप नई जागीर स्वीकार की। ऐसे ही अकबर ने रामपुरे के चंद्रावत सीसोदिया राव दुर्गा को मेवाड़ से स्वतंत्र कर वि० सं० १६३८ (ई० स० १५८१) में अपना सेवक बनाया। जब वह महाराणा प्रताप को अपने वश में न ला सका तो उनके भाई जगमाल को अपना सेवक बनाकर सिरोही का आधा राज्य उसको दे दिया। इसी प्रकार जोधपुर, बीकानेर, जैसलमेर, करौली आदि के राजाओं को भी अपने अधीन कर उसने राजपूताने पर अपना आतंक जमाया। बादशाह अकबर कालिंजर, गुजरात, मालवा, बिहार, बंगाल, कश्मीर आदि प्रदेश अपने राज्य में मिलाकर एक विशाल साम्राज्य का स्वामी हो गया। इन देशों को विजय करने में राजपूतों से उसको बड़ी सहायता मिली थी।

जहांगीर और शाहजहां का बर्ताव भी राजपूतों के साथ बहुधा वैसा ही रहा जैसा कि अकबर का था। जहांगीर ने जोधपुर के मोटे राजा उदयसिंह के पुत्र कृष्णसिंह को सेठोलाव की जागीर दी। कृष्णसिंह ने अपने नाम से कृष्णगढ़ बसाकर वहां राजधानी स्थापित की। इसी से उसके राज्य का नाम कृष्णगढ़ (किशनगढ़) प्रसिद्ध हुआ। शाहजहां ने अपने सन् जुलूस (राज्यवर्ष) तीसरे (वि० सं० १६८६-८७) में बूंदी के राव रतन हाड़ा के पुत्र माधवसिंह को कोटा और पलायता के परगने जागीर में देकर बूंदी से स्वतंत्र किया। इस प्रकार कोटे का अलग राज्य स्थिर हुआ।

वि० सं० १७१५ (ई० स० १६५८) में शाहजहां को कैद कर उसका बेटा औरंगज़ेब दिल्ली का बादशाह बना और अपने भाई भतीजों को मारकर उसने अपना मार्ग निष्कंटक किया। उसने दक्षिण को विजय कर अकबर से भी अपना राज्य अधिक बढ़ाया, परंतु धर्मद्वेष और कुटिल व्यवहार से राजपूत एवं हिंदूमात्र उसके विरोधी हो गये। दक्षिण में शिवाजी का उपद्रव मचा। जोधपुर के महाराजा जसवंतसिंह की मृत्यु होने पर औरंगज़ेब ने जोधपुर खालसे कर लिया और कुछ समय के लिये जयपुर के साथ भी वैसा ही बर्ताव किया। उदयपुर के महाराणा राजसिंह की कार्रवाइयों से अप्रसन्न होकर मेवाड़ पर भी उसने चढ़ाई कर दी। उसके साथ लड़ते समय राजसिंह का देहांत हो गया और

वि० सं० १७३८ (ई० स० १६८१) में महाराणा जयसिंह ने बादशाह से सुलह कर ली। महाराणा से सुलह होने पर बादशाह दक्षिण को चला गया और जोधपुर तथा जयपुर के राजाओं ने अपने अपने राज्यों पर पीछा अधिकार कर लिया। औरंगज़ेब का देहांत वि० सं० १७६३ (ई० स० १७०७) में अहमदनगर (दक्षिण में) में हुआ। जिस मुग़ल साम्राज्य की इमारत बादशाह अकबर ने खड़ी की थी, उसकी नींव औरंगज़ेब ने हिला दी और उसके मरते ही बादशाहत के लिये उसके पुत्रों में लड़ाइयां हुई। शाहज़ादे मुअज़्ज़म ने अपने भाई आज़म को लड़ाई में मारा और बहादुरशाह नाम धारण कर वह दिल्ली के तख़्त पर बैठा। उसने जयपुर और जोधपुर के राजाओं को बादशाह की आज्ञा के बिना अपने राज्यों पर अधिकार कर लेने के लिये सज़ा देने का विचार किया था, परन्तु पंजाब में सिक्खों का उपद्रव मच जाने से वह कुछ न कर सका और उधर चला गया।

बहादुरशाह के पीछे ११ बादशाह दिल्ली के तख़्त पर बैठे जो नाममात्र के बादशाह रहे। उनमें से शाहआलम (दूसरे) ने माचेड़ी के स्वामी नरूका प्रतापसिंह को राव राजा का ख़िताब और पांच हज़ारी मनसब आदि देकर वि० सं० १८३१ में स्वतंत्र राजा बनाया। इस प्रकार अलवर का नया राज्य स्थिर हुआ। मुग़ल साम्राज्य की इस अवनत दशा में अवध, बंगाल, दक्षिण आदि के बड़े बड़े सूबेदार स्वतंत्र बन बैठे, मरहटों का बल प्रतिदिन बढ़ता गया, यहां तक कि दिल्ली की सल्तनत का कुल काम सिंधिया के हाथ में रहा और बादशाह को सालियाना ख़र्च भी उसी से मिलने लगा। उधर अंग्रेज़ों का प्रताप भी दिन दिन बढ़ता ही जाता था। वि० सं० १८६० (ई० स० १८०३) में मरहटों को शिकस्त देकर लॉर्ड लेक दिल्ली पहुंचा और शाहआलम को मरहटों के पंजे से छुड़ाकर अपनी रक्षा में लिया। शाहआलम के पीछे अकबर (दूसरा) और बहादुरशाह (दूसरा) नाममात्र के लिये दिल्ली के तख़्त पर बिठलाये गये। ई० स० १८५७ (वि० सं० १९१४) के ग़दर में अंग्रेज़ों के विरुद्ध होने के कारण बहादुरशाह को उन्होंने क़ैद कर रंगून भेज दिया। इस प्रकार ३३० वर्ष के बाद हिंदुस्तान के मुग़ल-साम्राज्य का अंत हो गया।

मरहटों का संबंध

मरहटों[1] का संबंध राजपूताने के साथ बहुत रहा है अतएव हम यहां

(१) दक्षिण के महाराष्ट्र देश के रहनेवाले लोग सामान्य रूप से 'महाराष्ट्र' या मरहटे

बहुत ही संक्षेप रूप से उनका परिचय देना उचित समझते हैं।

मरहटा जाति दक्षिणी हिन्दुस्तान की रहनेवाली है। उसके प्रथम राजा छत्रपति शिवाजी के वंश का मूल पुरुष मेवाड़ के सीसोदिया राजवंश में से माना जाता है[1]। कर्नल टॉड ने उसको महाराणा अजयसिंह के पुत्र सज्जनसिंह का वंशज बतलाया है[2]। मुंहणोत नैणसी उसको महाराणा क्षेत्रसिंह के पासवानिये (अनौरस) पुत्र चाचा की सन्तान कहता[3] है, और ख़फ़ीख़ां की फारसी

कहलाये, जैसे कि कश्मीर से कश्मीरी, मारवाड़ से मारवाड़ी आदि। दक्षिण में भी पहले भारतवर्ष के अन्य विभागों के समान चारों वर्ण थे ऐसा पुराने शिलालेखों तथा ताम्रपत्रों से पाया जाता है। वि० सं० की १४वीं शताब्दी के आसपास वहां के ब्राह्मणों ने पुराणों के इस कथन पर कि 'नंदवंशी तथा उनसे पीछे के राजा शूद्र होंगे' विश्वास कर दक्षिण में केवल दो वर्ण ब्राह्मण और शूद्र स्थिर कर दिये और ब्राह्मणों की प्रबलता तथा मुख्यता के कारण उनका आदेश चल निकला, परंतु वास्तव में देखा जाय तो मरहटों में क्षत्रिय जाति अब तक विद्यमान है जैसा कि उनके उपनाम मोरे (मौर्य, मौरी), गुप्ते (गुप्तवंशी), पंवार (परमार), चाळके (चालुक्य, सोलंकी), जादव आदि से पाया जाता है। पीछे से ब्राह्मणों ने वहां के क्षत्रियों को भी शूद्र मानकर उनकी धर्म-क्रियाएं वैदिक रीति से नहीं, किंतु पौराणिक पद्धति से कराना शुरू कर दिया और वही रीति उनके यजमानों के अज्ञान के कारण चल गई। कमलाकर पंडित ने 'शूद्रकमलाकर' (शूद्रधर्मतत्त्व) नामक ग्रंथ लिखकर उनकी धर्मक्रियाओं की पौराणिक विधि भी स्थिर कर दी। जब दक्षिण के क्षत्रिय (राजपूत) इस प्रकार शूद्रों की गणना में आने लगे तो राजपूताना आदि अन्य प्रदेशों के राजपूतों से उनका विवाह-संबंध छूट गया।

(१) उदयपुर राज्य के 'वीरविनोद' नामक बृहत् इतिहास में शिवाजी का महाराणा अजयसिंह के वंश में होना लिखा है ('वीरविनोद'; खंड २, पृ० १५८१-८२)। शिवाजी और उनके वंशज मेवाड़ के सीसोदिया राजवंश से निकले हुए होने के कारण सितारे के राजा शाहू के कोई संतान न होने से उसने उदयपुर के महाराणा जगतसिंह (दूसरे) के छोटे भाई नाथजी को सितारे की गद्दी के लिये दत्तक लेना चाहा था, परंतु इसके पूर्व ही राजपूतों का विवाह-संबंध उनके साथ होना छूट गया था इसलिये महाराणा ने उसे स्वीकार न किया।

(२) टॉ. रा.; जि० १, पृ० ३१४। कर्नल टॉड ने जहां शिवाजी के वंश का परिचय और वंशावली दी है वहां तो उसका महाराणा अजयसी के पुत्र सज्जनसिंह के वंश में होना लिखा है, परंतु आगे (पृ० ३७१ में) बणवीर (बनवीर) के वृत्तांत में लिखा है कि नागपुर के भोंसले उस (बणवीर) के वंश में हैं जो विश्वास के योग्य नहीं है।

(३) मुंहणोत नैणसी की ख्यात; पत्र ४। १।

नैणसी का कथन विश्वसनीय नहीं है और समय के हिसाब से भी उसको ठीक नहीं कह सकते।

तवारीख़ 'मुन्तख़बुल्लुबाब' में उसका चित्तोड़ के राजाओं की शाखा में होना लिखा है। शिवाजी के पूर्वजों की जो वंशावली मिलती है उसमें ये नाम हैं—

१-महाराणा अजयसिंह, २-सज्जनसिंह, ३-दुलीसिंह, ४-सिंह, ५-भोंसला, ६-देवराज, ७-इन्द्रसेन, ८-शुभकर्ण, ९-रूपसिंह, १०-भूमीन्द्र, ११-रापा, १२-बरहट, १३-खेला, १४-कर्णसिंह, १५-शंभा, १६-बाबा, १७-मालू, १८-शाहजी, १९-शिवाजी, २०-शंभा (दूसरा), २१-साहू, २२-रामराजा (दत्तक), २३-साहू दूसरा (दत्तक) और २४-प्रतापसिंह।

कर्नल टॉड ने वंशावली इस प्रकार दी है[1]—

१-अजयसी, २-सजनसी, ३-दलीपजी, ४-शीओजी, ५-भोरजी, ६-देवराज, ७-उगरसेन, ८-माहलजी, ९-खेलूजी, १०-जनकोजी, ११-सत्तूजी, १२-संभाजी, १३-सिवाजी (मरहटों के राज्य का स्थापक), १४-संभाजी (दूसरा) और १५-रामराजा, जिससे पेशवा ने राज्य छीन लिया।

पहले के सोलह व्यक्तियों का कोई प्रामाणिक वृत्तान्त नहीं मिलता अतएव हम यहां शिवाजी के दादा मालूजी भोंसला से मरहटों के राज्य का सिलसिला शुरू करते हैं। मालूजी वि० सं० १६५७ (ई० स० १६००) में अहमदनगर के सुलतान का नौकर हुआ। वि० सं० १६५० (ई० स० १५९३) में उसके शाहजी नामक पुत्र उत्पन्न हुआ था। लूटमार के द्वारा मालूजी ने बहुतसी संपत्ति जोड़कर अपना बल बढ़ाया तथा अहमदनगर के सुलतान ने भी उसको पूना और सोपारा की जागीर प्रदान की। उसने अपने पुत्र शाहजी का विवाह एक मरहटे सरदार जादूराव की कन्या के साथ किया। वि० सं० १६७६ (ई० स० १६१९) में मालूजी का देहान्त होने पर शाहजी उसका उत्तराधिकारी हुआ। पहले तो वह मुग़ल सम्राट् शाहजहां के विरुद्ध होकर ख़ानेजहां लोदी का तरफ़दार हो गया था, परंतु फिर उसने शाहजहां की सेवा स्वीकार कर ली। अंत में किसी कारण से वह उसकी सेवा छोड़कर दौलताबाद की तरफ़ चला गया। वि० सं० १६९० (ई० स० १६३३) में शाहजहां ने बीजापुर पर चढ़ाई की उस वक़्त शाहजी ९००० सवारों की सेना सहित बीजापुर के पक्ष में रहकर बादशाही फ़ौज से लड़ा था। दक्खन के सूबेदार ख़ानेजहां लोदी ने जब बाग़ी सरदार निज़ामुल्मुल्क को क़ैद कर दिल्ली भेजा तब शाहजी ने दूसरे निज़ाम को

(१) टॉ. रा.; जि० १, पृ० ३१४, टिप्पण ३।

उसके स्थान में बैठा दिया, तथा उसके भी कैद हो जाने पर तीसरे को स्थपित किया और बीजापुर व अहमदनगर के राज्यों की सम्मिलित सेना के साथ बादशाही फौज पर कई हमले कर उसको परास्त कर दिया। फिर अवसर पाकर आप निज़ाम के राज्य पर हाथ बढ़ाने लगा। जब शाहजहां के साथ अहमदनगर और बीजापुरवालों की संधि हो गई और शाहज़ादा औरंगज़ेब वि० सं० १६६३ (ई० स० १६३६) में दक्षिण के सूबों पर नियत हुआ तब शाहजी भी बीजापुर में जा रहा और अपने पिता की जागीर के परगने पूना और सूपा, जो बीच में बीजापुरवालों ने छीन लिये थे, पीछे उसको मिल गये। कर्णाटक की लड़ाई में शाहजी ने बीजापुर की सेना के साथ अच्छी सेवा बजाई इसलिए उधर कोलहार, बंगलोर और बालापुर आदि परगने भी उसको जागीर में दिये गये और उनके सिवा सतारे के दक्षिणी ज़िले कराड़ में २२ गांवों की देशमुखी भी प्रदान हुई। शाहजी की एक स्त्री से शंभा और शिवाजी तथा दूसरी से व्यंका नामक पुत्र उत्पन्न हुआ था।

शिवाजी का जन्म वि० सं० १६८४ (ई० स० १६२७) में हुआ था। जब वे बालक थे तब उनकी माता जीजीबाई बादशाह शाहजहां की सेना में कैद होकर आई थी, परंतु अपने पीहरवालों की सिफ़ारिश से छूट गई, जो उस समय बादशाही नौकर थे। वि० सं० १६९३ (ई० स० १६३६) तक छः वर्ष तो शिवाजी व उनकी माता शाहजी से पृथक् रहे, परंतु अंत में वे उनके पास बीजापुर चले गये। शिवाजी का पहला विवाह निम्बालकर की कन्या सईबाई के साथ हुआ। जब शाहजी कर्णाटक की तरफ गया तो उसने शिवाजी व उनकी माता को पूने भेजकर दादा कोणदेव पंडित को शिवाजी का शिक्षक और अपनी जागीर का निरीक्षक बनाया। उस पंडित के श्रम तथा उद्योग से सैनिक शिक्षा में तो शिवाजी प्रवीण हो गये, परंतु पढ़ने-लिखने पर उन्होंने बहुत थोड़ा ध्यान दिया। हां, महाभारत, रामायण और पुराणादि धर्मग्रंथों की कथावार्ताओं को श्रवण करते रहने से विधर्मियों (मुसलमानों) के साथ उनको घृणा-सी हो गई थी। अपनी जागीर के पर्वतीय भाग के निवासी मावली लोगों के समागम से उन्होंने देश की विकट घाटियों और विषम पर्वतमार्गों का ज्ञान भलीभांति प्राप्त कर लिया था। शिकार और वनविहार ही में वे अपना बहुत-सा समय बिताने लगे। दादा कोणदेव ने उनकी उग्र प्रकृति देखकर उनको

बहुत समझाया, परंतु शिवाजी के मन में यही धुन समा रही थी कि मैं किसी प्रकार स्वतंत्र राजा बन जाऊं। सर्दी, गर्मी और मेह-पानी की कुछ भी परवाह न करके स्वामिभक्त मावलियों को साथ लिये वे दूर दूर के जंगल व पहाड़ों में जाने लगे और अपने मिलनसार स्वभाव के कारण उन्होंने मुसलमान अधिकारियों और मरहटे सरदारों से भी मेलजोल पैदा कर लिया। वे बातचीत करने में चतुर, स्वभाव के वीर और राज-दरबार की रीति-भांति को भी भली प्रकार जानते थे।

मरहटों के प्रताप को भारतवर्ष में चमकानेवाले शिवाजी दक्षिण के मुसलमानी राज्य बीजापुर, गोलकुंडा आदि की दुर्व्यवस्था से लाभ उठाकर अपने पुरुषार्थ और पराक्रम के द्वारा कई गढ़ गढ़ी बनाते और परगने दबाते रहे। उन्होंने कई नगर लूटकर उनकी संपत्ति से अपने सैन्यबल में वृद्धि की और एक ज़मींदार से महाराजा बन गये। अपना बल उन्होंने इतना बढ़ाया कि केवल दक्षिण के सुलतानों ही से नहीं, किंतु औरंगज़ेब जैसे शक्तिशाली और कट्टर मुग़ल बादशाह से भी भय न खाकर दिल्ली के दक्षिणी इलाक़ों पर भी हाथ बढ़ाने लगे और उधर के सूबेदारों से कई लड़ाइयां लड़ीं। यद्यपि औरंगज़ेब शिवाजी को पहाड़ी चूहा और मरहटों को जंगली लुटेरे कहा करता था, परंतु जब उसने देखा कि उस चूहे का उपद्रव प्रतिदिन बढ़ता जाता है तो पहले उसने शायस्ताख़ां को उसका उत्पात मिटाने के वास्ते भेजा। जब उक्त खां को उस उपद्रव के शमन करने में असमर्थ पाया और शिवाजी ने धोखे के साथ उसके पुत्र व साथियों को मारकर उसकी उंगलियां ही नहीं उड़ा दीं, किंतु बादशाही फ़ौज को भी बुरी तरह परास्त करके भगा दिया तब शाहज़ादा मुअज़्ज़म और जोधपुर के महाराजा जसवन्तसिंह दक्खन में भेजे गये। इनसे भी बादशाह को सन्तोषजनक सफलता होने की सूरत नज़र न आई तब आंबेर के कछवाहे मिर्ज़ा राजा जयसिंह और दिलेरख़ां को वि० सं० १७२१ (ई० स० १६६४) में रवाना किया। मिर्ज़ा राजा ने अपनी क्रियाकुशलता और बल-बुद्धि द्वारा शिवाजी से बहुतसे गढ़-गढ़ी छीनकर अंत में उन्हें बादशाही सेवा स्वीकार कर लेने को बाध्य किया और उनके पुत्र शंभा सहित उन्हें शाही दरबार में आगरे भेज दिया। वहां पहुंचने पर जब शिवाजी ने देखा कि बादशाह की नीयत मेरी तरफ़ साफ़ नहीं है तो वे बड़ी चतुराई के साथ अपने पुत्र सहित भागकर कई कठिनाइयां सहते हुए पीछे

दक्षिण में पहुंच गये। मिर्ज़ा राजा जब दक्षिण में आया और अपनी फौजी कार्रवाई करने लगा उस वक़ शिवाजी ने एक पत्र लिखवाकर राजा को भेजा था जिसमें अन्यान्य विषयों का वर्णन करते हुए यह भी जतला दिया कि 'आप और हम मिलकर बातचीत कर लें। इससे आप यह कदापि न समझें कि अफ़ज़लखां की तरह आपके साथ व्यवहार किया जायगा। अफ़ज़लखां ने तो धोखे के साथ मुझे मारने या क़ैद करने का प्रबंध कर बारह सौ सवार गुप्त रीति से घात में लगा रक्खे थे। यदि उस वक़ मैं अपने बचाव के वास्ते उसे न मार लेता तो आज की चिट्ठी आपको कौन लिखता'' इत्यादि।

जब मिर्ज़ा राजा के पास यह खबर पहुंची कि शिवाजी भाग गये हैं और उसने यह भी सुना कि बादशाह को मेरे बेटे रामसिंह पर उसके भगा देने का संदेह हो गया है तो वह बड़े विचार में पड़ा और शिवाजी को पीछा काबू में लाने के लिये उसने अनेक उपाय रचे, परंतु कुछ भी सफलता न हुई। शिवाजी का संबंध राजपूताने के साथ कुछ भी न रहा इसलिये उनकी कार्रवाइयों का विशेष वृत्तान्त यहां देना उपयोगी न समझकर केवल इतना ही लिखना पर्याप्त है कि वि० सं० १७३१ (ई० स० १६७४) में शिवाजी बड़ी धूमधाम के साथ रायगढ़ में राज्यसिंहासन पर बैठे, 'राजा' पदवी धारण की, अपनी मोहर छाप में 'क्षत्रियकुलावतंस श्री राजा शिवा छत्रपति[२]' शब्द अंकित करवाये और अपने नाम के सिक्के भी चलाये[३]। अपने राज्य की अच्छी व्यवस्था की और बुद्धिमान् तथा योग्य मंत्रियों एवं शूरवीर रणपरिचित सेनापतियों की सहायता से राजकाज करने लगे, परंतु इस पद का उपभोग वे बहुत काल तक न कर सके, क्योंकि गद्दी बैठने के छः वर्ष पीछे ही वि० सं० १७३७ (ई० स० १६८०) में मृत्यु के दूत ने उनको आ सम्हाला और ५३ वर्ष की अवस्था में उनका देहान्त हो गया। अपनी नीतिनिपुणता और उत्तम बर्ताव से शिवाजी ने मरहटेमात्र के

(१) ना. प्र. प; भा० ३, पृ० १४६-६३।

(२) ग्रैंट डफ; 'हिस्टरी ऑफ़ दी मराठाज़'; जि० १, पृ० २०७, टिप्पण २ (ऑक्सफर्ड संस्करण)।

(३) शिवाजी का सोने का सिक्का भी मिला है जिसपर 'छत्रपति महाराजा शिवाजी' लेख है (प्रोग्रेस रिपोर्ट ऑफ़ दी आर्कियालॉजिकल् सर्वे, वेस्टर्न सर्कल; ई० स० १६१६, पृ० ६ और ५८।

अंतःकरण में एक प्रकार का जोश और जातीय भाव उत्पन्न कर दिया था, जिसके द्वारा पीछे उनकी उन्नति का नक्षत्र थोड़ासा चमका, परंतु फिर परस्पर की ईर्षा, द्वेष, फूट और लूटमार का बाज़ार गरम रखने से राष्ट्रीय संगठन की रक्षा करने के बदले उन्होंने उसका विध्वंस कर दिया और उस उन्नति के नवांकुरित पौधे का शीघ्र ही नाश हो गया। शिवाजी ने चार विवाह किये थे उनमें से सईबाई और एक दूसरी स्त्री तो उनके जीतेजी ही मर गई, तीसरी पुत्तलबाई पति के देहांत से थोड़े दिन पीछे सती हो गई और चौथी सोयराबाई राजाराम[1] की माता थी, जिसपर शिवाजी का बड़ा प्रेम था। सईबाई के गर्भ से शंभा ने जन्म लिया था।

शंभा—यद्यपि पाटवी होने से शिवाजी के पीछे गद्दी का हक उसी का था, परंतु उसके दुश्चरित्र होने और किसी ब्राह्मण की स्त्री पर बलात्कार करने के दंड में शिवाजी ने उसको कैद कर रक्खा था, जहां से किसी ढब से निकलकर वह बादशाही सूबेदार दिलेरखां के पास चला गया, किंतु जब औरंगज़ेब ने दिलेरखां को लिखा कि शंभा को हमारे पास भेज दो तो उसने उसको अपनी प्रतिज्ञा का पालन करने के वास्ते चुपके से भगा दिया, क्योंकि वह अपने स्वामी की नीति को जानता था। लाचार शंभा पीछा पिता की शरण में आया और पन्हाले के गढ़ में क़ैद किया गया। शिवाजी का देहांत होने पर सरदारों ने बालक राजाराम को गद्दी पर बिठा दिया। जब शिवाजी की मृत्यु के समाचार शंभा ने सुने तब उसने उक्त गढ़ पर अधिकार कर लिया और वह अपनी सेना सहित रायगढ़ पहुंचा। दूसरे सरदार भी उससे मिल गये और वह अपने पिता की गद्दी पर बैठा। उसने राजाराम की माता को गढ़ से नीचे गिराकर मरवा दिया, राजाराम को भी क़ैद कर लिया और अपने पिता के स्वामिभक्त सरदार और सेनापतियों में से कितनों ही को तो मरवा डाला और कई एक को क़ैद किया। आगरे से भागते वक्त शिवाजी ने जिस कवि कलश नामक ब्राह्मण के पास शंभा को छोड़ा था उसी को शंभा ने पंडितराज की पदवी देकर अपना मंत्री बनाया। शिवाजी के गुरु स्वामी रामदास ने शंभा को बहुत समझाया, परंतु उनकी शिक्षा का कुछ भी प्रभाव उसपर न पड़ा। औरंगज़ेब का शाहज़ादा अकबर अपने पिता के कोप से भयभीत होकर कुछ काल तक शंभा के पास रहा जिससे घबराकर बादशाह

(१) राजाराम के स्थान पर रामराजा भी लिखा मिलता है।

राजपूताने में महाराणा जयसिंह के साथ की लड़ाई को जैसे तैसे समाप्त कर औरंगाबाद पहुंचा और ग़ाज़ीउद्दीनखां को बड़ी सेना देकर शंभा पर भेजा। जब औरंगज़ेब बीजापुर और गोलकुंडे को विजय करने में लगा था उस समय शंभा भी कभी कभी बादशाही सेना के साथ थोड़ी बहुत लड़ाई करता रहा, परंतु जब उसने उन दोनों राज्यों को जीतकर दिल्ली की बादशाहत में मिला लिया तब वि० सं० १७४४ (ई० स० १६८७) में शंभा का नाश करने पर कमर बांधी और शाहज़ादे मुहम्मद आज़म को ४०००० सेना देकर उसपर भेजा। वि० सं० १७४५ (ई० स० १६८६) में बादशाही सेनापति मुकर्रबखां पन्हाले की तरफ भेजा गया। उस समय शंभा पन्हाले को छोड़कर संगमनेर तीर्थ के एक बाग़ में प्रेमपात्रिकाओं को साथ लिए आनन्द उड़ा रहा था। वह यह समझे हुए था कि ऐसे विकट मार्ग को पार कर इस सुरक्षित स्थान में शत्रु नहीं पहुंच सकेगा। मुकर्रबखां अपनी चुनी हुई सेना सहित वहां जा पहुंचा। शंभा शराब के नशे में चूर हो रहा था, जब उसके सेवक ने शत्रु की सेना सिर पर आ जाने की सूचना उसे दी तो उसने क्रोध में आकर उस बिचारे को बहुत कुछ भला बुरा कहा। इतने में तो मुकर्रबखां आ पहुंचा; शंभा ने उससे युद्ध किया, परंतु वह घायल होकर पकड़ा गया। कवि कलश भी, जो उसके साथ था, शत्रु से लड़कर सख़्त घायल हुआ। मुकर्रबखां ने दोनों को कैद कर बादशाह के पास पहुंचा दिया। जब शंभा दरबार में लाया गया तो औरंगज़ेब तख़्त से उतरकर खुदा का शुक्रिया करते हुए नमाज़ पढ़ने लगा; उस समय कवि कलश ने शंभा को कहा कि देख, तेरा प्रताप कैसा है कि तुझको मान देने के वास्ते बादशाह तख़्त छोड़कर तेरे सामने सिर झुकाता है। औरंगज़ेब ने चाहा कि शंभा मुसलमान हो जाय, परंतु उसने कई अपशब्दों के साथ बादशाह का अनादर किया जिसपर क्रोध में आकर बादशाह ने शंभा और कवि कलश दोनों को उनके कई साथियों सहित मरवा डाला।

शंभा के मारे जाने पर बादशाही सेनापति ऐतक़ादखां ने रायगढ़ फतह कर लिया। शंभा की राणी यीशूबाई अपने बालक पुत्र शाहू समेत क़ैद की जाकर बादशाह के पास पहुंचाई गई, और शिवाजी का दूसरा पुत्र राजाराम किसी ढब से भाग निकला। राजाराम ने गद्दी पर बैठकर बादशाही सेना से कई लड़ाइयां कीं, परंतु अन्त में ज़ुल्फ़िक़ारखां से हार खाकर वि० सं० १७५४ (ई० स० १६६७) में वह सतारे चला गया और उस नगर को अपनी

राजधानी बनाया। राजाराम के मरने पर उसका बालक पुत्र शिवाजी (दूसरा) गद्दी पर बैठा और राज्य का काम उसकी माता ताराबाई सम्हालने लगी। इसके समय में मरहटों ने अपने खोए हुए बहुतसे गढ़-गढ़ी पीछे ले लिये थे। वि० सं० १७६४ (ई० स० १७०७) में जब बादशाह औरंगज़ेब अहमदनगर में मर गया, तब शाहज़ादे आज़म ने शंभा के पुत्र शाहू को क़ैद से छोड़ दिया। उसने वि० सं० १७६४ (ई० स० १७०७) में ताराबाई से सतारे का राज्य छीन लिया और वह अपने बालक पुत्र को लेकर कोल्हापुर चली गई, जहां उसने अपना स्वतंत्र राज्य स्थापित कर लिया।

शाहू राजा ने बालाजी विश्वनाथ को अपना पेशवा (प्रधान) बनाया था। यह पहला ही पेशवा था जिसने अवसर पाकर राज्य का सारा काम अपने हस्तगत कर लिया, इसलिये धन्ना यादव के पुत्र चंद्रसेन और उसके बीच परस्पर शत्रुता हो गई। वि० सं० १७७० (ई० स० १७१३) में उन दोनों में लड़ाई हुई। शाहू राजा ने पेशवा की सहायता के लिये हैबतराव निंबालकर को भेजा, जिससे हार खाकर चन्द्रसेन पहले तो कोल्हापुर चला गया; फिर निज़ाम के पास जा रहा। पेशवा की सत्ता प्रतिदिन बढ़ने लगी और वि० सं० १७७५ (ई० स० १७१८) में दिल्ली जाकर उसने बादशाह फ़र्रुख़सियर से कई जागीरों की सनदें, दक्खन की चौथ[1] और सरदेशमुखी[2] के हक हासिल किये। फिर वहां से पीछा आने बाद वि० सं० १७७८ (ई० स० १७२१) में वह मर गया। यहीं से पेशवों का राज्य शुरू होकर शाहू केवल नाममात्र का राजा रह गया।

बाजीराव (बालाजी विश्वनाथ का पुत्र)-यह वि० सं० १७७८ (ई० स० १७२१) में पेशवा बना और उसका प्रताप इतना बढ़ा कि सारे हिन्दुस्तान का राज्य अपने अधिकार में कर लेने की नीयत से उसने जहां तहां अपने नायब भेजे। फिर तो शिवाजी के वंश के राजा नाममात्र के राजा कहलाते रहे। उसने मल्हारराव होल्कर, राणोजी सिंधिया और पीलाजी गायकवाड़ आदि मरहटे सरदारों को बड़े बड़े ओहदे देकर मालवे और गुजरात पर अपने नायब के तौर नियत किया। जिस समय मालवे की सूबेदारी

(१) आमद का चौथा हिस्सा।

(२) सरदेशमुखी एक कर था जिसमें आमद का १०वां हिस्सा लिया जाता था और यह कर चौथ से अलग लगता था।

पर बादशाह मुहम्मदशाह की तरफ से आंबेर का महाराजा सवाई जयसिंह था तब मरहटों ने नर्मदा को पार कर अपनी बाग उत्तर भारत की ओर उठाई। महाराजा जयसिंह ने कुछ शर्तों पर मालवा बाजीराव के सुपुर्द कर दिया।

वि० सं० १७९७ (ई० स० १७४०) में बाजीराव पेशवा के मरने पर उसका पुत्र बालाजीराव (बालाजी बाजीराव) तीसरा पेशवा हुआ। वि० सं० १८०६ (ई० स० १७४९) में राजा शाहू का देहान्त हुआ। शाहू की राणी सकरबाई (सकवारबाई) ने कोल्हापुर से राजा शंभा को गोद लेना चाहा, परंतु दूसरी राणी ताराबाई के प्रयत्न से शिवाजी (दूसरा, रामराजा का पुत्र) नाममात्र के लिये सतारे की गद्दी पर बिठलाया गया। शाहू राजा के समय से ही राज्य की सारी सत्ता पेशवा के हाथ में थी, तो भी वह प्रधान कहलाता था। शाहू के मरते ही बालाजी महाराजाधिराज बन गया और उसने वि० सं० १८०७ में पूने में अपनी राजधानी स्थापित की तथा अपने सैनिक अफ़सर होल्कर, सिंधिया और पंवार में मालवे का देश बांट दिया।

वि० सं० १८१८ (ई० स० १७६१) में अहमदशाह अब्दाली, जो पहले हमले में पेशवा के भाई रघुनाथराव से परास्त होकर लौट गया था, फिर हिन्दुस्तान पर चढ़ आया। इस बार सदाशिवराव की बातों में आकर पेशवा ने युद्धकुशल रघुनाथराव को सेनापति के पद से अलग कर सदाशिवराव को उसके स्थान पर नियत किया और समग्र मरहटा दलबल सहित उसको अहमदशाह से लड़ने के लिये भेजा। पानीपत के घोर युद्ध में मरहटे परास्त हुए, उनके सहस्रों सैनिक खेत रहे और कई बड़े बड़े अफ़सर, पेशवा के पुत्र विश्वासराव और सेनापति सदाशिवराव सहित, मारे गये। अपने पुत्र की मृत्यु एवं इस पराजय की खबर सुनकर बालाजीराव पेशवा का भी उसी वर्ष देहान्त हो गया।

बालाजी बाजीराव के पीछे उसका पुत्र माधोराव गद्दी पर बैठा और उसका चचा रघुनाथराव पेशवा बनने का उद्योग करने लगा। वि० सं० १८२९ (ई० स० १७७२) में माधोराव भी काल-कवलित हो गया और पेशवा की गद्दी उसके छोटे भाई नारायणराव को मिली। एक वर्ष के भीतर ही वह रघुनाथराव (राघोबा) के यत्न से मारा गया और रघुनाथराव ने अपने को पेशवा मान लिया, परंतु नारायणराव की स्त्री के गर्भ था और पुत्र उत्पन्न होने पर

वही बालक माधोराव दूसरे के नाम से गद्दी पर बिठलाया गया। राज्य का कार्य्य सखाराम बापू और नाना फड़नवीस आदि करने लगे। उधर रघुनाथराव सरकार अंग्रेज़ी की सहायता से पेशवा बनने का उद्योग करने लगा, परन्तु उसमें उसको सफलता प्राप्त न हुई। रघुनाथराव के दो पुत्र बाजीराव और चिमनाजी थे।

माधोराव (दूसरे) को नाना फड़नवीस का दबाव दुःखदायक प्रतीत हुआ जिससे उसने हताश होकर वि० सं० १८५२ (ई० स० १७९५) में महल पर से गिरकर आत्मघात कर लिया। तब नाना ने रघुनाथराव के पुत्र बाजीराव को पेशवा बनाया।

रामराजा के दत्तक पुत्र शाहु ने स्वतंत्रता धारण कर सतारे पर अधिकार कर लिया था, परंतु अन्त में वह भी कैद हुआ। वि० सं० १८५९ (ई० स० १८०२) में बाजीराव, जसवन्तराव होल्कर से पराजित होकर, पूने से भाग आया। फिर उसी साल उसने अंग्रेज़ सरकार से अहदनामा किया।

इधर होल्कर, सिंधिया और धार के परमार आदि सरदारों का बल बढ़ने लगा और पेशवा की सत्ता घटती ही गई। उधर अंग्रेज़ों का प्रभाव प्रतिदिन बढ़ता ही जाता था। वि० सं० १८७४ (ई० स० १८१७) में बाजीराव के साथ अंग्रेज़ों की लड़ाई हुई, जिसमें वह पराजित होकर भागा, पूने पर अंग्रेज़ों का अधिकार हो गया और कोरेगांव के पास जनरल स्मिथ ने मरहटों की सेना को हराकर सतारे पर भी अधिकार कर लिया। अन्त में पेशवा (बाजीराव दूसरा) सर जॉन मालकम की शरण में चला गया और उसको सरकार ने ८००००० रुपये वार्षिक पेंशन पर बिठूर भेज दिया।

राजा शाहु की जगह उसके बेटे प्रतापसिंह को गद्दी पर बिठाकर राजकाज की देखरेख के लिये कप्तान ग्रेंट डफ नियत किया गया। सयाने होने पर प्रतापसिंह को राज्य के अधिकार दिये गये, परन्तु स्वतंत्र होने का प्रपंच करने पर अंग्रेज़ सरकार ने उसे गद्दी से उतारकर वि० सं० १८९६ (ई० स० १८३९) में उसको नज़रकैदी के तौर बनारस भेज दिया और उसके भाई शाहजी को सतारे का मालिक बनाया। वि० सं० १९०५ (ई० स० १८४८) में उसके निःसंतान मरने से उसके राज्य पर अंग्रेज़ों ने अधिकार कर लिया। इस प्रकार शिवाजी के वंश और पेशवा के राज्य दोनों की समाप्ति हो गई और केवल कोल्हापुर का राज्य अब शिवाजी के वंश में अवशेष रह गया है।

हम ऊपर बतला चुके हैं कि मालवा मुसलमानों के अधिकार से निकलकर दूसरे पेशवा बाजीराव के अधिकार में आया। बाजीराव का प्रताप दिन दिन बढ़ा और उसने मालवे का मुल्क होल्कर, सिंधिया और परमार (पंवार) वंशों के अपने सैनिक अफसरों को बांट दिया। फिर होल्कर के वंश में इंदौर का, सिंधिया के वंश में ग्वालियर का और परमार के वंश में धार का राज्य स्थिर हुआ। इन तीनों में भी ग्वालियरवालों का प्रताप खूब बढ़ा। इन मरहटों ने मुग़ल बादशाहों की अवनति के समय राजपूताने के राज्यों को हानि पहुंचाने में कुछ भी कसर न रक्खी। मुग़लों के समय में तो राजपूत राज्यों की दशा खराब न हुई, परंतु मरहटों ने तो उनको जर्जरित कर दिया और सब-से अधिक हानि मेवाड़ (उदयपुर राज्य) को पहुंचाई। मरहटों के अन्याचारों तथा आक्रमणों का वर्णन आगे भिन्न भिन्न राज्यों के इतिहास में विस्तार से लिखा जायगा, यहां तो उनका नाममात्र को परिचय दिया जाता है।

सिंधिया (सिंदे) घराने के मूल पुरुष कन्नेरखेड़ा (सतारे से १६ मील पूर्व) गांव के वंशपरंपरागत पटेल (मुखिया) थे। और इस घराने की एक कन्या का विवाह राजा शाहू (शंभा के पुत्र) के साथ भी हुआ था। राणोजी सिंधिया, जो ग्वालियर राज्य का संस्थापक हुआ, पेशवा बाजीराव की सेवा में रहता था। बाजीराव ने उसकी वीरता और सेवा से प्रसन्न होकर उसको उच्च पद पर नियत कर दिया। मालवे पर पेशवा का अधिकार होने पर उसने मल्हारराव होल्कर और पुंआर (परमार, धारवालों का पूर्वज) के साथ उसको मालवे में चौथ और सरदेशमुखी लेने का अधिकार दिया और उसी को अपना प्रतिनिधि बना-कर बादशाही दरबार में दिल्ली भेजा। उसी ने पेशवा की तरफ से अहदनामे पर दस्तखत किये। राणोजी ने अपना निवासस्थान उज्जैन में रक्खा। वि० सं० १८०२ (ई० स० १७४५) में शुजालपुर में राणोजी का देहांत हुआ, तब से उस गांव का नाम राणगंज पड़ा। अंत समय में ६५००००० रुपये वार्षिक आय का मुल्क राणोजी सिंधिया के अधिकार में था। उसके दो स्त्रियों से पांच पुत्र जयआपा, दत्ता, जट्टोबा (जोतिबा), तुका और माधोराव (महादजी) उत्पन्न हुए। जयआपा अपने पिता का उत्तराधिकारी बना, परंतु वह शीघ्र ही नागोर (मारवाड़ में) में महाराजा विजयसिंह के इशारे से दो राजपूतों के हाथ से छलपूर्वक मारा गया। दत्ता दिल्ली के पास की एक लड़ाई में काम आया और

जट्टोबा डीग के पास के युद्ध में मारा गया था। फिर जब आपा का पुत्र जनकूजी राज्य का स्वामी हुआ। पानीपत के प्रसिद्ध युद्ध में जनकूजी के खेत रहने पर राणोजी का सबसे छोटा पुत्र माधोराव सिंधिया उसका क्रमानुयायी हुआ। उसकी विभूति और सैन्यबल बहुत बढ़ गया और उसने फ्रेंच अफसरों को नौकर रखकर अपनी सेना की सजावट नये ढंग से की। मल्हारराव होल्कर के मरने पर माधोराव का प्रभाव बहुत बढ़ा और मालवा तथा राजपूताना आदि प्रदेश होल्कर व सिंधिया के अधिकार में समझे जाने लगे। वहां के कई राज्यों पर कर लगाकर माधोराव एक स्वतंत्र महाराज्य का स्वामी हो गया। केवल नाममात्र के वास्ते वह पेशवा का अधीनस्थ कहलाता और उसी के नाम से अपनी मुल्की व फौजी कार्रवाइयां करता था, परंतु वास्तव में उसे हिन्दुस्तान का शासक कहना चाहिये। उसने दिल्ली के बादशाह को अपनी रक्षा में लिया। जयआपा की मूंडकटी (मारने के एवज़) में जोधपुरवालों को अजमेर उसे देना पड़ा। फिर वह राजपूताने के राज्यों को हानि पहुंचाने लगा। मुग़लों की निर्बलता के कारण राजपूताने के राजा भी निरंकुश होकर परस्पर लड़ने लगे तथा कई राज्यों में उनके सामन्तों ने सिर उठाकर राज्य की भूमि दबाना और राजा की आज्ञा को टालना शुरू किया। इन लड़ाई-झगड़ों में उभय पक्षवाले अपना अपना मनोरथ सिद्ध करने के लिये होल्कर, सिंधिया अथवा अन्य मरहटे सरदारों को सहायतार्थ बुलाने लगे। ये लोग राजाओं से ठहराया हुआ फौज खर्च लेने के अतिरिक्त उनके देश को भी लूटते और धनाढ्य लोगों को क़ैद करके ले जाते तथा उनको मुक्त करने के बदले में बहुतसा धन लेते थे। सरकार अंग्रेज़ी का बढ़ता हुआ प्रताप देखकर वह उनसे द्वेषभाव रखता था। वि० सं० १८५१ (ई० स० १७६४) में उसका देहांत पूने में हो गया। उसके कोई पुत्र न होने से, उसके भाई तुकाजी के तीसरे पुत्र आनंदराव का बेटा दौलतराव दत्तक लिया जाकर उसका उत्तराधिकारी बनाया गया। सरकार अंग्रेज़ी के साथ उसने लड़ाइयां कीं, परन्तु अंत में हार खाकर अहदनामा कर लिया। फिर तो राजपूताने से सिंधिया का अधिकार उठ गया और अंग्रेज़ों का हो गया।

होल्कर—मरहटों के राज्य का दूसरा सुदृढ स्तंभ होल्कर का वंश था, जिसकी राजधानी मालवे में इन्दौर का नगर है। इस राज्य के स्थापनकर्ता मल्हारराव का पिता खंडोजी होल गांव (पूने से ४० मील) का रहनेवाला था। वि० सं०

१७५० (ई० स० १६९३) के लगभग मल्हारराव का जन्म हुआ। अपने पिता के मर जाने पर वह माता सहित अपने ननिहाल खानदेश में जा रहा। साहसी और वीर प्रकृति का पुरुष होने के कारण बाजीराव पेशवा ने उसे अपनी नौकरी में लिया और एक बड़ी सेना का नायक बना दिया। निज़ाम के साथ की, और कौंकण की लड़ाइयों में अच्छा काम कर दिखाने से वह पेशवा के बड़े सामंतों में गिना गया। उसकी मातहती में जो सेना थी उसके खर्च के लिये इन्दौर का बड़ा ज़िला उसको दिया गया, जो अब तक उसके खान्दान में चला आता है। उसने कई बार दिल्ली व आगरे तक पहुंचकर बादशाही मुल्क लूटा। पानीपत की प्रसिद्ध लड़ाई में घायल होकर भागने के बाद वह अपने राज्य का प्रबंध करने में लगा। जयपुर के महाराजा सवाई जयसिंह की मृत्यु के पीछे उनके दूसरे पुत्र माधोसिंह को जयपुर का राज्य दिलाने के वास्ते उदयपुर के महाराणा जगतसिंह (दूसरे) ने मल्हारराव की मदद ली। उस समय उसने मेवाड़ से बहुतसे रुपये फौज-खर्च के लेकर कुछ इलाक़ा भी दबा लिया। इस प्रकार राजपूताने के राज्यों पर दबाव डालता और अपना भंडार भरता हुआ मल्हारराव वि० सं० १८२५ (ई० स० १७६८) में परलोक को सिधारा। उसका पुत्र खंडेराव भरतपुर के जाटों के मुकाबले में पहले ही मारा गया था जिससे उसका बालक पुत्र मालेराव राजा बना और उसकी माता अहिल्याबाई राज्य का काम चलाती रही। अहिल्याबाई ने उत्तमता से राज्य का काम चलाया और अपनी धर्मनिष्ठा, बुद्धिमानी, दया, दान और परोपकार के कार्यों से वह भारतवर्ष में एक प्रसिद्ध महिला हो गई। अहिल्याबाई के मरने पर होलकर के वंश के तुकोजीराव ने दो एक वर्ष तक राज्य किया। उसके पीछे उसका चौथा पुत्र जसवन्तराव अपने भाई मल्हारराव दूसरे को मारकर इन्दौर-राज्य का स्वामी हो गया। उसने अमीरखां पठान को अपनी सेवा में रखकर राजपूताने पर बहुत कुछ अन्याचार कराया और अंग्रेज़ों से भी कई लड़ाइयां लड़ीं। अन्त में उसके पागल होकर मर जाने पर उसकी स्त्री तुलसीबाई ने कुछ अर्से तक राज्य का काम चलाया, परंतु अंत में सैनिकों ने उपद्रव खड़ाकर उसे मार डाला और जसवंतराव के पुत्र मल्हारराव को गद्दी पर बिठाया। जसवंतराव के समय में होलकर और सिंधिया के बीच भी कई लड़ाइयां हुई थीं। ये दोनों अपना अपना अवसर देखकर राजपूताने में आते और यहां के राज्यों में लूटमार कर चले जाते

थे। पिंडारियों के सरदार अमीरखां के साथी निर्दयी पठानों ने भी राजपूताने की प्रजा को सताने में कसर न रक्खी। अमीरखां ने अपना सैनिक बल बढ़ाकर मेवाड़, मारवाड़ और जयपुर के राज्यों में अपनी धाक जमा ली थी। परस्पर की फूट और निर्बलता के कारण कोई भी राजा अकेला लुटेरे पठान और मरहटों का मुकाबला न कर सकता था और मिलकर शत्रु को मारने के बदले उलटे वे लोग अपने घरेलू झगड़ों में मरहटों को मदद के लिये बुलाते, जो बिल्ली बन्दर के जैसा न्याय कर उन राज्यों पर आपत्ति लाते और उनके इलाक़े भी छीन लेते थे। सिंधिया ने राजपूताने में अपने प्रतिनिधि अंबाजी इंगलिया को रक्खा और वह मानो राजपूत राज्यों के भाग्य का निर्णय करने में धाता विधाता सा बन गया। सिंधिया, होल्कर और धार आदि के राजाओं ने राजपूताने के राज्यों से खिराज ठहराये, फौज-खर्च में उनसे कई परगने ले लिये और जगह जगह अपने अधिकारी रखकर राजा व प्रजा दोनों को पीड़ा पहुंचाने में कमी न रक्खी। देश उजड़ होता गया, खेती-बाड़ी व व्यापार बंद सा हो गया और चारों ओर लुटेरों एवं डाकुओं के झुण्ड फिरते रहते थे। वे लोग जहां जहां पहुंचते वहां नगरों तथा गाँवों को लूटते और उनको जला देते थे। इसी से लोगों के धन और प्राण प्रतिक्षण संकट में रहने लगे। उनके अत्याचार से राजपूताने के राज्यों की नाक में दम आ गया और दीनता एवं दरिद्रता चारों ओर से मुंह फाड़ उनको भक्षण करने के निमित्त संमुख आकर उपस्थित हुई, जिससे लाचार अपने बचाव के लिये राजपूताने के राज्यों को सरकार अंग्रेज़ी की शरण में जाना पड़ा।

शिवाजी ने मुसलमानी राज्य को भारत में से नष्ट कर देने के वास्ते हिन्दुओं में एकता का भाव उत्पन्न कर उनके जातीय संगठन द्वारा पीछा हिन्दू राज्य स्थापित कर देना ही अपना मुख्य अभिप्राय प्रकट किया और मरहटा जाति में एक प्रकार का जोश उत्पन्न कर दिया, परंतु शिवाजी ने जिस महाराज्य की नींव डाली थी वह राष्ट्रीय भावों की सुदृढ़ चट्टान पर नहीं, किंतु बालू की पोली भूमि में खड़ी की जाने से मरहटों के विराट् राज्यरूपी अंग प्रत्यंग में शीघ्र ही परस्पर की फूट और वैरभाव की बीमारी फैल गई। प्रत्येक व्यक्ति अपने अपने स्वार्थ पर दृष्टि रखकर एक दूसरे को कुचल देने में प्रवृत्त हुआ। साम्राज्य स्थिर करने के उदार और उत्कृष्ट भावों से अनभिज्ञ होने के कारण मरहटा जाति ने लूट-खसोट, अन्याय और अनर्थ के द्वारा स्वार्थ सिद्ध करलेना

ही राज्य बढ़ाने का मूलमंत्र समझा, जिसका परिणाम यह हुआ कि समुद्र-पार से आई हुई तीसरी बुद्धिमान् और नीतिकुशल जाति ने उनके बल का विध्वंस कर भारत का राज्य उनसे छीन लिया।

अंग्रेज़ों का संबंध

प्राचीन काल में भारत के बने हुए छींट, मलमल इत्यादि वस्त्र तथा गरम मसाला आदि अनेक दूसरे पदार्थों का व्यापार यूरोपवालों के साथ मिसर और अरब के निवासियों द्वारा होता था जिससे हिन्दुस्तान के माल का मुनाफ़ा वे लोग उठाते थे। यूरोप के लोग चाहते थे कि भारत को जाने के लिये कोई जल-मार्ग मालूम हो जाय और वहां जाकर वहां की वस्तुएं स्वयं खरीद लावें तो विशेष लाभ हो, क्योंकि कई व्यापारियों के द्वारा माल के पहुंचने से क्रमशः उसका मूल्य बढ़ता जाता था और उसका लाभ बीचवाले लोग ही उठाते थे। इसी विचार से यूरोप के साहसिक पुरुष अपने अपने अनुमान के अनुसार हिन्दुस्तान का समुद्र-मार्ग ढूंढने लगे, परन्तु यहां का पूरा हाल मालूम न होने के कारण उस मार्ग से यहां पहुंचना भी कठिन कार्य्य था। सुप्रसिद्ध कोलंबस भारत की तलाश में रवाना हुआ, परंतु मार्ग से परिचित न होने के कारण अमेरिका में जा निकला। पुर्तगाल का बार्थोलोमियो नामक नाविक हिन्दुस्तान को आफ्रिका के पूर्व में मानकर ई० स० १४८६ (वि० सं० १५४३) में लिस्बन नगर से निकला और आफ्रिका के दक्षिणी अंतरीप (Cape of Good Hope) तक पहुंच गया, परन्तु समुद्र में तूफ़ान अधिक होने के कारण आगे न बढ़ सका। ई० स० १४६८ (वि० सं० १५५५) में उसी देश का एक दूसरा नाविक वास्कोडिगामा अपने बादशाह की आज्ञा से तीन जहाज़ों सहित पुर्तगाल से आफ्रिका की परिक्रमा करता हुआ मलबार के कालीकट नामक बंदरगाह में पहुंच गया, जहां के राजा ने सत्कार के साथ व्यापार करने की आज्ञा उसे दे दी, परन्तु मुसलमान व्यापारियों (अरबों) ने राजा को बहकाकर पुर्तगालवालों के साथ उसकी अनबन करा दी, जिससे वास्कोडिगामा अपने देश को लौट गया। इस पर पुर्तगाल के बादशाह ने पेड्रो केब्रल नामक सेनापति की अध्यक्षता में १२०० सैनिकों सहित तेरह जहाज़ कालीकट भेजे। केब्रल को व्यापार के लिये कोठी बनाने की आज्ञा राजा की तरफ से मिल गई, किन्तु मुसलमानों के साथ उसका द्वेष यहां तक बढ़ा कि वह कोठी उड़ा दी गई और केब्रल ने मुसलमानों के

दस जहाज़ लूटकर उनको जला दिया। इससे पुर्तगालवालों को यह निश्चय हो गया कि हिन्दुस्तान में व्यापार की उन्नति सैनिक बल से ही हो सकती है। इस प्रकार हिन्दुस्तान का जल-मार्ग ज्ञात हो जाने से डच, फ्रेंच, अंग्रेज़ आदि व्यापारियों के लिये भारत के व्यापार का मार्ग खुल गया।

ई० स० १६०२ (वि० सं० १६५६) में हिन्दुस्तान के व्यापार के लिये 'डच ईस्ट इंडिया कंपनी' बनी और ५० वर्ष के भीतर ही इस कंपनी ने हिन्दुस्तान, सीलोन (लंका), सुमात्रा, ईरान की खाड़ी और लाल समुद्र आदि के कई स्थानों में अपनी कोठियां बना लीं और कुछ समय तक उनकी उन्नति होती रही।

फ्रेंच लोगों ने भी हिन्दुस्तान में व्यापार करने के लिये कंपनी स्थापित की। फिर चार कंपनियां और बनीं तथा अन्त में वे पांचों मिलकर एक कंपनी हो गई। फ्रेंचों को कुछ समय बाद कलकत्ते के पास चंद्रनगर मिल गया और दक्षिण में इनका ज़ोर बढ़ता गया जिससे वे अपने पीछे आनेवाले अंग्रेज़ों के प्रतिद्वंद्वी बन गये।

ई० स० १६०० (वि० सं० १६५७) में इंगलिस्तान में भी 'ईस्ट इंडिया कंपनी' बनी जिसने वहां की महाराणी एलिज़ाबेथ से इस आशय की सनद प्राप्त की कि इस कंपनी की आज्ञा के बिना इंगलिस्तान का कोई भी पुरुष पूर्वी देशों में व्यापार न करे। ई० स० १६०६ (वि० सं० १६६६) में सर हेनरी मिडलटन तीन जहाज़ लेकर सूरत में आया, परन्तु वहां के हाकिम से अनबन हो जाने के कारण उसको वहां कोठी खोलने की आज्ञा न मिली। तब कप्तान हॉकिन्स इंग्लैंड के बादशाह जेम्स (प्रथम) और ईस्ट इंडिया कंपनी की तरफ से वकील के तौर पर दिल्ली के बादशाह जहांगीर के पास पहुंचा। ई० स० १६१३ (वि० सं० १६७०) में हेनरी मिडलटन को सूरत, घोघा, खंभात और अहमदाबाद में व्यापार करने की आज्ञा मिली। सूरत की कोठी के निरीक्षण में अजमेर में भी अंग्रेज़ों की कोठी खुली। ई० स० १६१५ (वि० सं० १६७२) में इंगलिस्तान के बादशाह की तरफ से सर टॉमस रो जहांगीर के दरबार में वकील बनकर आया और उसके द्वारा बादशाही मुल्क में व्यापार करने का मार्ग किसी प्रकार खुल गया। फिर मछलीपट्टन, आरगांव (कोरोमंडल के किनारे) आदि स्थानों में भी कोठियां खुलीं और ई० स० १६३६ (वि० सं० १६६६) में अंग्रेज़ों ने चंद्रगिरि के राजा से भूमि मोल लेकर मद्रास बसाया और पास ही सेंट जॉर्ज नामक क़िला

बनाया। ई० स० १६३३ (वि० सं १६६०) में राल्फ़ कार्टराइट ने बंगाल में सर्वप्रथम हरिहरपुर और बालासोर आदि स्थानों में कोठियां स्थापित कीं और डाक्टर गेब्रियल बॉग्टन् के प्रयत्न से ई० स० १६५१ (वि० सं० १७०८) में अंग्रेज़ ने हुगली में, जो व्यापार के लिये उपयुक्त स्थान था, जम गये। ई० स० १६६८ (वि० सं० १७२५) में इंग्लैंड के बादशाह चार्ल्स (दूसरे) ने बंबई का टापू, जो उसको पुर्तगालवालों से दहेज में मिला था, १०० रुपये वार्षिक पर कंपनी को दे दिया। कंपनी ने इस टापू को पश्चिमी हिन्दुस्तान में अपने व्यापार का मुख्य स्थान बनाया। इसके बाद कलकत्ते को विशेष रूप से आबाद कर अंग्रेज़ों ने वहां फ़ोर्ट विलियम् नामक क़िला बनाया। ई० स० १७१५ (वि० सं० १७७२) में कलकत्ते के प्रेसिडेण्ट ने दो अंग्रेज़ वकीलों को दिल्ली के बादशाह फर्रुख़सियर के पास भेजा। उस समय बादशाह बीमार था, जिसको उन वकीलों के साथ के डाक्टर ने आराम किया। इससे प्रसन्न होकर बादशाह ने डाक्टर से कहा कि जो तुम्हारी इच्छा हो वह मांगो। इसपर उस देशभक्त डाक्टर ने अपने लिये कुछ न मांगा और कंपनी का लाभ विचार कर दो बातों की याचना की, अर्थात् एक तो कंपनी को बंगाल में ३८ गांव ख़रीदने की आज्ञा मिले और दूसरी यह कि जो माल कलकत्ते के प्रेसिडेण्ट के हस्ताक्षर होकर रवाना हो उसका महसूल न लिया जाय। बादशाह ने ये दोनों बातें स्वीकार कर लीं, परन्तु बंगाल के सूबेदार ने ज़मींदारों को रोक दिया जिससे ज़मींदारी तो हाथ न लगी किन्तु महसूल माफ़ हो गया।

बादशाह औरंगज़ेब के देहान्त होने पर दक्षिण के प्रदेश स्वतंत्र हो गये, निज़ामुल्मुल्क हैदराबाद का स्वामी बना और कर्नाटक का नव्वाब हैदराबाद की अधीनता में राज्य करने लगा। ई० स० १६७४ (वि० सं० १७३१) से पांडिचरी पर फ्रेंचों का अधिकार चला आता था; जब यूरोप में अंग्रेज़ और फ्रेंचों के बीच लड़ाई छिड़ी तो ईसवी सन् १७४६ (वि० सं० १८०३) में फ्रेंच लोगों ने पांडिचरी से फौज लेजाकर मद्रास को जा घेरा तथा उस नगर को अंग्रेज़ों से खाली करवा लिया, जिससे क्लाइव आदि अंग्रेज़ वहां से निकलकर फ़ोर्ट सेंट डेविड में जा ठहरे। फ्रांस और इंग्लैंड के बीच ई० स० १७४८ (वि० सं० १८०५) में संधि होने पर मद्रास पीछा अंग्रेज़ों को मिल गया। भारत के फ्रेंच स्थानों का गवर्नर डुपले फ्रेंच-राज्य की जड़ दक्षिण भारत में जमाकर अंग्रेज़ों को वहां से

निकालना चाहता था। उधर तंजोर के बालक राजा प्रतापसिंह को उसका भाई शाहूजी वहां से अलग करना चाहता था। उसने इसके लिये देवीकोटे का इलाक़ा देना स्वीकार कर अंग्रेज़ों से मदद चाही तो क्लाइव ने सहायता देकर शाहूजी को तंजोर का स्वामी बना दिया। इस प्रकार देवीकोटे का इलाक़ा अंग्रेज़ों के हाथ आया। जब दक्षिण के सूबेदार आसिफ़जाह की मृत्यु हुई उस समय उसके बेटे-पोते राज्य के लिये लड़ने लगे तो डुपले ने उसके पोते मुज़फ़्फ़रजंग को गद्दी पर बिठाकर कृष्णा नदी से कन्याकुमारी तक का देश उससे ले लिया। इसी तरह जब आरकट की गद्दी के लिये झगड़ा होने लगा तो डुपले ने चंदा साहब को वहां की गद्दी पर बिठला दिया, परन्तु अंग्रेज़ों ने चंदा साहब के विरोधी मुहम्मदअली (वालाजाह) की सहायता कर आरकट ले लिया और कुछ समय तक लड़ाई रहने के बाद उसको आरकट का नव्वाब बना दिया। इस प्रकार दक्षिण भारत में अंग्रेज़ और फ्रेंच देशी राजाओं की सहायता कर अपना स्वार्थ सिद्ध करने लगे। फ्रेंचों ने 'उत्तरी सरकार' पर अपना अधिकार जमाया, परन्तु फ्रांसवालों ने डुपले को पीछा बुला लिया जिससे अंग्रेज़ों के लिये सुबीता हो गया। ई० स० १७६० (वि० सं० १८१७) में कर्नल (सर आयर) कूट ने वांडीवाश की लड़ाई में फ्रेंच जनरल लाली को परास्त कर जिंजी का क़िला ले लिया।

ई० स० १७५६ (वि० सं० १८१३) में बंगाल के नव्वाब अलीवर्दीख़ां के मरने पर उसके भतीजे का पुत्र सिराजुद्दौला बंगाल, बिहार और उड़ीसे का स्वामी बना। उसने अंग्रेज़ों से अप्रसन्न होकर कासिम बाज़ार की कोठी उनसे छीन ली और कलकत्ते के क़िले को जा घेरा। बहुत से अंग्रेज़ किश्तियों में बैठकर निकल भागे और शेष को उसने क़ैद कर लिया। इसकी सूचना मद्रास पहुंचने पर ६०० अंग्रेज़ और १५०० सिपाही लेकर क्लाइव कलकत्ते पहुंचा। सिराजुद्दौला बड़ी सेना सहित कलकत्ते पर चढ़ा और अन्त में सुलह हो गई, परन्तु सिराजुद्दौला फ्रेंचों को नौकर रखने लगा। इसपर अंग्रेज़ों ने अप्रसन्न होकर अलीवर्दीख़ां के बहनोई मीरजाफ़र को सिराजुद्दौला की गद्दी पर बिठलाना चाहा। उसके साथ एक गुप्त अहदनामा हुआ जिसमें एक शर्त यह भी थी कि फ्रेंच लोग बंगाल से निकाल दिये जावें। फिर क्लाइव बड़ी सेना के साथ कलकत्ते से चला; उधर सिराजुद्दौला भी लड़ने को आया और पलासी के मैदान में

ई० स० १७५७ (वि० सं० १८१४) में घोर युद्ध हुआ, जिसमें सिराजुद्दौला हारकर भागा। मीर जाफ़र उसके राज्य का स्वामी बनाया गया, और क्लाइव कलकत्ते का गवर्नर नियत हुआ। इसी लड़ाई के समय से भारतवर्ष में अंग्रेज़ों के राज्य का प्रारंभ समझना चाहिये।

फिर मीर जाफ़र के दामाद मीर कासिम ने बर्दवान, मिदनापुर और चटगांव के ज़िले तथा कई लाख रुपये देना स्वीकार कर यह चाहा कि मीर जाफ़र के स्थान पर वह बंगाल का नव्वाब बनाया जाय, जिसपर अंग्रेज़ों ने वैसा ही किया। फिर महसूल के मामले में अंग्रेज़ों से अनबन होने पर मीर कासिम मुंगेर में जा रहा। मिस्टर एलिस ने नव्वाब की कार्रवाई का घोर विरोध किया जिससे उसने अत्यन्त क्रुद्ध होकर पटने में २०० अंग्रेज़ों को कत्ल करवा दिया। तदनंतर कुछ लड़ाइयों में परास्त होकर मीर कासिम ने अवध में शरण ली और उसके स्थान पर वृद्ध मीर जाफ़र पीछा नव्वाब बनाया गया। ई० स० १७६५ (वि० सं० १८२१) में मीर जाफ़र का देहान्त होने पर उसका पुत्र नजमुद्दौला नाममात्र के लिये बंगाल का नव्वाब हुआ।

ई० स० १७६४ (वि० सं० १८२१) में बक्सर में मीर कासिम से अंग्रेज़ों का प्रसिद्ध युद्ध हुआ जिसमें अवध का नव्वाब-वज़ीर शुजाउद्दौला उसका सहायक हुआ था। इस युद्ध में अंग्रेज़ों की विजय हुई और पलासी के युद्ध के बाद इतिहास में यही एक घटना ऐसी हुई जिससे अंग्रेज़ों के राज्य की उत्तरोत्तर वृद्धि के चिह्न भारत के अन्य राजाओं को स्पष्ट दीखने लगे। इस युद्ध के बाद ई० स० १७६५ (वि० सं० १८२२) में इलाहाबाद में संधि हुई जिससे बादशाह शाहआलम को अवध के इलाहाबाद और कोड़ा ज़िले मिले और उसको २६००००० रुपये वार्षिक देना नियत हुआ, जिसके बदले में कंपनी को शाहआलम से समस्त बंगाल, बिहार एवं उड़ीसे की दीवानी मिली अर्थात् एक तरह से इन प्रदेशों पर अंग्रेज़ों का अधिकार हो गया। इसी समय से शाहआलम इलाहाबाद में रहने लगा, परन्तु ई० स० १७७१ (वि० सं० १८२८) में सिंधिया के बुलाने पर उसने दिल्ली जाकर उसकी अधीनता में रहना स्वीकार कर लिया।

इस समय मरहटों का ज़ोर बहुत बढ़ रहा था और दिल्ली पर भी उनका प्रभाव पड़ा जिससे शाहआलम नाममात्र का बादशाह रह गया। ई० स० १७७१ (वि० सं० १८२८) में वॉरन हेस्टिंग्ज़ हिन्दुस्तान के अंग्रेज़ी इलाके का

गवर्नर होकर आया और दो वर्ष बाद वह गवर्नर-जनरल बना दिया गया। बादशाह के दिल्ली चले जाने के कारण वॉरन हेस्टिंग्ज़ ने इलाहाबाद और कोड़ा के इलाके अवध के नवाब शुजाउद्दौला को बेच दिये।

दक्षिण भारत में इस समय हैदरअली का बल बढ़ता जा रहा था। अंग्रेज़ों ने हैदरअली तथा उसके पुत्र टीपू सुलतान की ताक़त तोड़ने के लिये मरहटों और निज़ाम से मैत्री जोड़ी। हैदरअली और टीपू के साथ अंग्रेज़ों की अलग अलग समय में चार लड़ाइयां हुईं जिन में भी इनको कुछ न कुछ भूमि मिलती ही गई। ई० स० १७६६ (वि० सं० १८५५) में चौथी लड़ाई में टीपू लड़ता हुआ मारा गया और माइसोर का राज्य वहां के पुराने हिन्दू राजवंशियों को दे दिया गया।

जब लॉर्ड वेलेज़ली ई० स० १७६८ (वि० सं० १८५५) में ब्रिटिश भारत का गवर्नर-जनरल होकर आया तो उसने यह देखा कि उसके पूर्व के गवर्नर-जनरल सर जॉन शोर ने देशी राज्यों के मामलों में हस्ताक्षेप न करने की जिस नीति का अवलंबन किया था उससे अंग्रेज़ों के राज्य को लाभ की अपेक्षा हानि ही अधिक पहुंचेगी, क्योंकि इस समय तक अंग्रेज़ों ने भारत की इतनी भूमि पर अपना अधिकार जमा लिया था कि अब उनके लिये चुपचाप बैठे रहना सर्वथा असंभवसा था। इस गवर्नर-जनरल ने भारत के देशी राजाओं से संबंध जोड़ने के लिये एक नई नीति का प्रारंभ किया। उसके अनुसार राजाओं को कंपनी से अहदनामे करने पड़ते और अपने अपने देश से फ्रेंच लोगों को निकालकर अंग्रेज़ी सेना रखनी पड़ती, जिसका ख़र्च भी उन राजाओं को उठाना होता था और यदि वे सेना के खर्च के रुपये न दे सकें तो उनको उसके बदले उतनी ही आय का कोई ज़िला कंपनी को देना पड़ता था। लॉर्ड वेलेज़ली ने देशी राजाओं से मैत्री करने की इस नीति का प्रयोग सर्वप्रथम ई० स० १७६८ में हैदराबाद के निज़ाम पर किया। ई० स० १७६५ (वि० सं० १८५२) में निज़ाम ने मरहटों के संयुक्त बल का सामना कुर्दला में किया, जिससे उसकी सेना का सर्वनाश होने के साथ ही उसका बल भी बिल्कुल टूट गया। ऐसी कमज़ोर हालत होने से निज़ाम ने ई० स० १७६८ (वि० सं० १८५५) में गवर्नर-जनरल की सब शर्तों को स्वीकार कर लिया और सेना के खर्च के बदले में अंग्रेज़ों को बिलारी और कुडप्पा के ज़िले दिये। उसी समय से आज तक निज़ाम सदैव

अंग्रेज़ सरकार का मित्र बना हुआ है। इस प्रकार निज़ाम को अंग्रेज़ों ने अपने अधीन किया।

पेशवा बाजीराव ने लॉर्ड वेलेज़ली की सब शर्तों को ई० स० १८०२ (वि० सं० १८५६) में बसीन की संधि से स्वीकार कर लीं और पेशवा का राज्य किस प्रकार अंग्रेज़ों के हस्तगत हुआ, यह ऊपर (पृ० २८८ में) बतलाया जा चुका है। जब पेशवा बाजीराव ने अंग्रेज़ों से बसीन की संधि कर ली उस समय दौलतराव सिंधिया और राघोजी भोंसला (नागपुर का) अंग्रेज़ों से यह कहते हुए कि तुमने हमारे सिर से पगड़ी उतार ली है, बहुत क्रुद्ध हुए और लॉर्ड वेलेज़ली की शर्तों को अस्वीकार कर उन्होंने युद्ध का निश्चय कर लिया। अंग्रेज़ों की सेनाएं दो तरफ से भेजी गई थीं—एक दक्षिण की तरफ से जिसका सेनापति आर्थर वेलेज़ली था और दूसरी जनरल लेक की अध्यक्षता में उत्तर से भेजी गई थी। दक्षिण में आर्थर वेलेज़ली ने असई और अरगांव आदि स्थानों में विजय प्राप्त की और उत्तर भारत में जनरल लेक ने सिंधिया की फ्रेंच सेनापतियों द्वारा तैयार की हुई सेना को तितर-बितर कर दिया; अलीगढ़ और अलवर राज्य के लसवारी गांव में सिंधिया की सेना से जमकर लड़ाइयां लड़ीं तथा दिल्ली और आगरे को ले लिया (ई० स० १८०३)। दिल्ली लेने पर बूढ़े शाह-आलम ने अंग्रेज़ों की अधीनता स्वीकार कर ली और ई० स० १८०३ (वि० सं० १८६०) में सिंधिया और भोंसला ने भी क्रमशः सुरजी अर्जुनगांव तथा देवगांव में अंग्रेज़ों से संधियां कर लीं। सिंधिया ने जमना नदी से उत्तर का अपना समस्त राज्य, ग्वालियर का गढ़ तथा गोहद का इलाका अंग्रेज़ों को दिया। देवगांव की संधि से अंग्रेज़ सरकार को कटक का प्रदेश मिला। इस प्रकार सिंधिया और भोंसला ने अंग्रेज़ों की अधीनता स्वीकार कर उनसे मैत्री जोड़ ली।

अब मरहटों में एक होल्कर (जसवंतराव) ही ऐसा रहा जो पूर्ण स्वतंत्रता धारण किये हुए अंग्रेज़ों की अधीनता से बाहर था। इस समय होल्कर का ज़ोर राजपूताना आदि प्रदेशों पर बढ़ रहा था और मरहटों में सबसे बलवान राजा भी वही रह गया था। होल्कर ने, जो इस समय तक मरहटों की लड़ाइयों से अलग ही रहा था, अंग्रेज़ों से युद्ध करने का विचार किया और इधर लॉर्ड वेलेज़ली ने भी उसके साथ लड़ाई छेड़ दी। गवर्नर-जनरल ने चाहा था कि होल्कर की सेना चारों ओर से घिर जाय, इसलिये जनरल लेक तो उत्तर में नियत किया

गया, आर्थर वेलेज़ली को दक्षिण से बढ़ने की आज्ञा दी गई और कर्नल मरे गुजरात से होल्कर की सेना पर हमला करने को मुकर्रर हुआ। लेक ने कर्नल मॉन्सन को कई सवारों सहित होल्कर की सेना को रोकने के लिये भेजा। मॉन्सन और मरे, इन दोनों सेनापतियों ने आज्ञा का यथेष्टरूप से पालन न कर लड़ाई के कार्य्य में उलटी गड़बड़ी मचा दी। राजपूताने में कोटे से तीन मील दक्षिण मुकुंद्रा की घाटी में कर्नल मॉन्सन की सेना ने बुरी तरह शिकस्त खाई और बची हुई सेना तितर-बितर होकर किसी प्रकार आगरे पहुंची। मॉन्सन की सेना को इस तरह पराजित हुई देखकर कंपनी के शत्रुवर्ग में हिम्मत बढ़ी और भरतपुर के जाट राजा रणजीतसिंह ने अंग्रेज़ों से मैत्री तोड़कर होल्कर को दिल्ली पर हमला करने में सहायता दी, परन्तु ऑक्टरलोनी और बर्न नामक दो अंग्रेज़ सेनापतियों ने नौ दिन तक वहां के क़िले की रक्षा की और आक्रमणकारियों को पीछा लौटना पड़ा। १३ नवंबर सन् १८०४ को डीग के युद्ध में होल्कर की पराजय हुई और दूसरे महीने में १०० तोपों सहित डीग का दुर्ग अंग्रेज़ों के हस्तगत हुआ। इसके बाद ई० स० १८०५ (वि० सं० १८६२) के प्रारंभ में जनरल लेक ने भरतपुर के दुर्ग का घेरा डाला। सुयोग्य सेना से भली भांति रक्षित होने के कारण जनरल लेक के चार बार आक्रमण करने पर भी यह क़िला न लिया जा सका और अंग्रेज़ों की तरफ़ ३००० से अधिक मनुष्यों की हानि हुई। अन्त में भरतपुर का राजा भी थक गया था इसलिये उसने बीस लाख रुपये हरजाने के देकर अंग्रेज़ों की अधीनता स्वीकार कर ली।

इतने ही में लॉर्ड वेलज़ली इंग्लैंड चला गया और नये गवर्नर-जनरल लॉर्ड कॉर्नवालिस का भारत में आने के कुछ ही महीने बाद देहान्त हो जाने पर सर जॉर्ज बार्लो गवर्नर-जनरल नियुक्त हुआ। इस समय जनरल लेक ने होल्कर का एक स्थान से दूसरे स्थान पर पीछा करते हुए उसको व्यास नदी के तट पर भगा दिया और दिसंबर सन् १८०५ (वि० सं० १८६२) में इसी नदी पर के राजपुरघाट नामक स्थान में अंग्रेज़ों से उसकी संधि हुई, जो अंग्रेज़ सरकार का होल्कर के साथ प्रथम ही संबंध जोड़ना बतलाती है। इस संधि के अनुसार होल्कर को राजपूताने के कुछ इलाक़े छोड़ने पड़े। इधर सर जॉर्ज बार्लो ने इस बात पर ज़ोर दिया कि होल्कर का बल किसी प्रकार न तोड़ा

जाय और उसको इस बात का यक़ीन दिलाया कि वह अपनी इच्छानुसार राजपूत रियासतों में लूटमार कर उनसे कर आदि ले सके। इस प्रकार यहां तो होलकर को अधीन करने का कार्य्य अपूर्ण ही रहा। फिर ई० स० १८११ (वि० सं० १८६८) में जसवन्तराव होलकर का देहान्त हुआ और उसकी मृत्यु के बाद उसके राज्य की दशा बिगड़ने लगी, राज्यसत्ता लूटमार करनेवाले लोगों के हाथ में चली गई तथा उन सब पर एक स्त्री (तुलसीबाई) का शासन हुआ। ई० स० १८१७ (वि० सं० १८७४) में पेशवा से अंग्रेज़ों का युद्ध छिड़ जाने पर इन्दौर दरबार ने भी अपना रुख़ बदला। सर थॉमस हिस्लोप ने महीदपुर में इंदौर की सेना को हराया और होलकर ने विवश ६ जनवरी १८१८ को मंदसोर में अंग्रेज़ों से संधि कर ली, जिसके अनुसार आज तक अंग्रेज़ सरकार और इन्दौर के बीच संबंध जारी रहा है।

ई० स० १८०५ (वि० सं० १८६२) में लॉर्ड कॉर्नवालिस की नीति के अनुसार गोहद और ग्वालियर सिंधिया को पीछे दे दिये गये और चंबल नदी उसके राज्य की उत्तरी सीमा मानी गई। राजपूताने के राज्यों में किसी प्रकार हस्तक्षेप न करने का भी सरकार अंग्रेज़ी ने इक़रार किया, इसलिये अंग्रेज़ सरकार से इन राज्यों की संधि होने तक यह देश मरहटों के अन्याय और अत्याचार का घर बना रहा। जब मरहटों को उत्तर, दक्षिण और दूसरी दिशाओं में भी कहीं अंग्रेज़ी फौज ने दम न लेने दिया तब उन्होंने राजपूताने में अपना पड़ाव डाला और यहीं रहकर इस देश को लूटने तथा दूसरे देशों में भी छापे मारने लगे। पिंडारियों के सरदार अमीरख़ां पठान ने भी, जिसको जसवंतराव होलकर ने अपनी सेवा में रखकर उसके द्वारा लूटमार का बाज़ार गरम करवाया था, मारवाड़ के राज्य में अपनी छावनी डाल दी। इसी प्रकार सिंधिया के नायब अंबाजी इंगलिया ने मेवाड़ में अपना सदर मुकाम स्थापित किया और पिंडारियों के दल चारों ओर लूटमार करते हुए फिरने लगे। ई० स० १८१६ (वि० सं० १८७३) में अंग्रेज़ों ने पिंडारियों का उपद्रव शान्त करने के लिये सिंधिया से मदद चाही और उसने ई० स० १८१७ में एक नया अहदनामा कर अजमेर का इलाक़ा अंग्रेज़ सरकार के सुपुर्द कर दिया। उस समय राजपूताने की दशा बहुत ही बिगड़ी हुई थी जिससे यहां के रईसों ने देखा कि अब सरकार अंग्रेज़ी की शरण लिये बिना इन लुटेरों से पिंड छुड़ाना दुस्तर

है और साथ ही अंग्रेज़ों ने भी जान लिया कि देश से इन डाकूदलों का उपद्रव मिटा देने के लिये देशी राज्यों की सहायता करना आवश्यक है और उनसे संधि किये बिना सुख-शांति स्थापित नहीं हो सकती, अतएव ई० स० १८११ में दिल्ली के रेज़िडेंट सर चार्ल्स मेटकाफ़ ने अपनी सरकार से इस विषय में मंजूरी लेकर अंग्रेज़ी फ़ौज राजपूताने में भेजने का निश्चय कर लिया। ई० स० १८१७ व १८१८ में कई राज्यों के साथ अहदनामे होकर वे अंग्रेज़ों की रक्षा में आ गये। मरहटों ने राजपूताने के राजाओं से जो इलाके ज़बर्दस्ती छीन लिये थे उनमें से बहुतसे पीछे दिलवाये गये। राजाओं तथा सामन्तों के पारस्परिक झगड़े भी मिटा दिये गये और देश में शांति स्थापित हो जाने से राजपूताने के उजड़े हुए घर पीछे बसे[१]। खेती-बाड़ी तथा व्यापार की प्रतिदिन उन्नति होने से राज्यों की वार्षिक आय बढ़ने लगी और प्रजा की आर्थिक दशा भी सुधरने लगी। राजपूताने में पिछले सैकड़ों वर्षों से शिक्षा का प्रायः अभावसा हो गया था और देश में से कला-कौशल भी जाते रहे थे, परन्तु अब सैकड़ों स्कूल और कितने एक कॉलेज बन जाने से सहस्रों छात्र वहां विद्याध्ययन करते हैं। धन एवं प्राणों की रक्षा के भी सारे साधन उपस्थित हैं; मार्ग में ठग, चोर और डाकुओं का भय भी जाता रहा, रेल भी कोसों तक फैल गई है और शिक्षा के प्रभाव से लोगों के हृदय में अपनी आर्थिक, सामाजिक एवं राजनैतिक दशा सुधारने के उन्नत भाव भी जागृत होते जाते हैं।

(१) जोधपुर के रेज़िडेंट कर्नल पाउलेट साहब बड़े लोकप्रिय और मिलनसार सज्जन थे। एक बार दौरा करते हुए वे एक किसान के खेत पर पहुंचे और उसकी खटिया पर बैठकर बड़ी प्रीति से उससे पूछने लगे कि कहो भाई, तुम लोग मरहटों के राज्य में सुखी थे या अब अंग्रेज़ सरकार के राज्य में सुखी हो। किसान ने नम्रतापूर्वक उत्तर दिया कि हुज़ूर, और सब तरह से तो अब सुख है, परन्तु मरहटों के समय में एक बात में हम बहुत सुखी थे। चकित होकर उक्त साहब ने पूछा कि पटेल, वह कौनसी बात है। उसने उत्तर में कहा कि मरहटों के समय उनके दल ५-७ वर्षों में एक बार लूटमार के लिये आ जाया करते थे और धन के लोभ से गांवों में महाजनों के घर लूटने के उपरान्त वे उनमें आग भी लगा देते थे, जिससे उनके बहीखाते आदि जलकर नष्ट हो जाते और उस समय तक के उनके ऋण से हम लोग सहज ही मुक्त हो जाते थे, परन्तु अब तो वे महाजन पुश्तों तक हमारा पीछा नहीं छोड़ते हैं। जोधपुर के महामहोपाध्याय कविराजा मुरारीदानजी (स्वर्गवासी) ने, जो पाउलेट साहब के मित्रवर्ग में से थे, यह बात मुझे कही थी।

इस इतिहास के पहले चार अध्याय सारे राजपूताने से संबंध रखते हैं। उनमें राजपूताने का भूगोलसंबंधी वृत्तान्त संक्षिप्त रूप में लिखने के उपरान्त राजपूत जाति को क्षत्रिय न माननेवाले विद्वानों की तद्विषयक दलीलों की जांच कर सप्रमाण यह बतलाया है कि जो आर्य क्षत्रिय लोग हज़ारों वर्ष पूर्व भारतभूमि पर शासन करते थे उन्हीं के वंशधर आजकल के राजपूत हैं। आर्य क्षत्रिय जाति के राज्य भारत में ही नहीं, किंतु सारे मध्य और पश्चिमी एशिया में तथा उससे परे, एवं पूर्व में भी स्थापित हुए थे और वहां भी आर्य सभ्यता का प्रचार था। वही आर्य क्षत्रिय जाति महाभारत से पूर्व तथा उसके पीछे आज तक राजपूताने पर शासन करती रही है। समय के परिवर्तन और देशकालानुसार राजपूतों के रहन-सहन और रीति-रिवाजों में कुछ अंतर पड़ना बिल्कुल स्वाभाविक बात है, तो भी उनमें आर्यों के बहुत से प्राचीन रीतिरिवाज अब तक पाये जाते हैं। उनकी प्राचीन शासनपद्धति, युद्ध-प्रणाली, स्वामिभक्ति एवं वीरता के परिचय के साथ ही यह भी दिखलाने का प्रयत्न किया है कि राजपूत जाति में स्त्रियों का कितना आदर होता था और वे वीरपत्नी तथा वीरमाता कहलाने में ही अपना गौरव मानती थीं। उन वीरांगनाओं के पातिव्रत धर्म, शूरवीरता और साहस आदि का भी कुछ उल्लेख कर राजपूत जाति के अधःपतन के मुख्य मुख्य कारण बतलाये गये हैं।

तदुपरान्त वर्तमान समय में राजपूताने पर राज्य करनेवाले क्षत्रिय राजवंशों के अतिरिक्त पहले जिन जिन राजवंशों का संबंध इस देश के साथ रहा उनका बहुत ही संक्षिप्त परिचय दिया गया है, जिससे पाठकों को विदित हो जाय कि सिकंदर तथा उसके यूनानी साथी भारत में आये और मौर्यवंशी महाराज चंद्रगुप्त ने उनको यहां से कैसे निकाला; शक, कुशन और हूण नामक मध्य एशिया की आर्य जातियों का आगमन यहां कैसे हुआ और उनके साथ यहां के क्षत्रिय राजवंशियों का बर्ताव किस ढंग का रहा; गुप्तवंशियों का प्रताप किस प्रकार बढ़ा; श्रीहर्ष (हर्षवर्द्धन) ने अपना साम्राज्य कैसे स्थापित किया; राजपूताने के भीनमाल नगर के प्रतिहार राजपूतों ने कन्नौज का साम्राज्य विजय कर भारत के दूरवर्ती प्रदेशों में कहां तक अपने राज्य का विस्तार बढ़ाया और राजपूताने से ही जाकर आबू के परमारों ने मालवे में अपना साम्राज्य किस प्रकार स्थापित किया, इत्यादि। उन राजवंशों का परि-

चय देते हुए यह भी दिखलाया गया है कि राजपूत जाति अपना प्राचीन इतिहास यहां तक भूल गई कि भाटों ने अपनी पुस्तकों में यहां के राजाओं के मनमाने कृत्रिम नाम और झूठे संवत् भी धर दिये। जहां तक हो सका उन राजवंशों की वंशावलियां शुद्ध कर कितने ही राजाओं के निश्चित संवत् भी, जो प्राचीन शोध से ज्ञात हुए, दिये गये हैं।

तदनन्तर अनेक देवी-देवताओं को माननेवाली अरब की विभिन्न जातियों में एकेश्वरवादी इस्लाम धर्म की उत्पत्ति और प्रचार होकर एक ही धर्म एवं जातीयता के सूत्र में बंधी हुई मुसलमान जाति ने-क्रमशः अपना बल बढ़ाकर बड़े बड़े प्राचीन राज्यों तथा वहां की सभ्यता को नष्ट करते और उन देशों में बलात् अपना धर्म फैलाते हुए-कितने थोड़े समय में भारत पर आक्रमण किया; फिर यहां के राजाओं को, जिनमें परस्पर की फूट और ईर्ष्या ने घर कर रक्खा था, परास्त कर राजपूताने में मुसलमानों ने किस तरह अपना आधिपत्य जमाया, इसका बहुत ही संक्षिप्त वृत्तान्त दिया गया है। मुसलमानों के अधःपतन के पीछे मरहटों के उदय और राजपूताने में उनका प्रवेश होने पर यहां किये जानेवाले उनके अन्याचारों का दिग्दर्शनमात्र कराकर, इंग्लैंड जैसे सुदूर देश से भारत में व्यापार के निमित्त आई हुई बुद्धिमान् और नीतिनिपुण अंग्रेज़ जाति ने यहां के हिन्दू तथा मुसलमान राजाओं में घर की फूट और राज्य का लोभ देखकर उनके झगड़ों में कभी एक, और कभी दूसरे पक्ष की सहायता करने के बदले में धीरे धीरे उनसे इलाके लेकर किस प्रकार अपने राज्य की नींव इस देश में डाली उसका थोड़ासा परिचय दिया गया है। कई लड़ाइयां लड़ने के पश्चात् अंग्रेज़ों ने दिल्ली के राज्य को अपने हस्तगत किया और मरहटों के अन्याचारों से बहुत ही तंग आकर राजपूताने के समस्त राज्यों ने अंग्रेज़ सरकार से अहदनामे कर उसकी शरण ली, जिससे राजपूताने में शान्ति की स्थापना हुई।

अब आगे क्रमशः प्रत्येक राज्य का इतिहास लिखा जाता है।

उदयपुर राज्य का इतिहास

पहला अध्याय

भूगोलसंबंधी वर्णन

संस्कृत शिलालेखों तथा पुस्तकों में उदयपुर राज्य का नाम 'मेदपाट'[1] मिलता है और भाषा में उसको 'मेवाड़' कहते हैं। जब से राजधानी उदयपुर नगर में हुई तब से मेवाड़ के स्थान में 'उदयपुर राज्य' का भी प्रयोग होने लगा है।

---

(१) इस देश पर पहले मेद अर्थात् मेव या मेर जाति का अधिकार रहने से इसका नाम मेदपाट (मेवाड़) पड़ा। मेवाड़ का एक हिस्सा अब तक मेवल कहलाता है, जो मेवों के राज्य का स्मरण दिलाता है। मेवाड़ के देवगढ़ की तरफ के इलाके में और अजमेर-मेरवाड़े के मेरवाड़ा प्रदेश में, जिसका अधिकतर अंश मेवाड़ से ही लिया गया है, अब तक मेरों की आबादी अधिक है। कितने एक विद्वान् मेर (मेव, मेद) लोगों की गणना हूणों में करते हैं, परंतु मेर लोग शाकद्वीपी ब्राह्मणों की नाईं अपना निकास ईरान की तरफ के शाकद्वीप (शकस्तान) से बतलाते हैं और मेर (मिहिर) नाम भी यही सूचित करता है, अतएव संभव है कि वे लोग पश्चिमी क्षत्रपों के अनुयायी या वंशज हों (ना. प्र. प.; भाग २, पृ० ३३५)।

चित्तोड़ के क़िले से ७ मील उत्तर में मध्यमिका नाम की प्राचीन नगरी के खंडहर हैं और उसको इस समय 'नगरी' कहते हैं। वहां से मिलनेवाले कई तांबे के सिक्कों पर वि० सं० के पूर्व की तीसरी शताब्दी के आसपास की ब्राह्मी लिपि में 'मझिमिकाय शिबिजनपदस' (शिबिदेश की मध्यमिका का-सिक्का) लेख है। इससे अनुमान होता है कि उस समय मेवाड़ (या उसका चित्तोड़ के आसपास का अंश) शिबि नाम से प्रसिद्ध था। पीछे से वही देश मेदपाट या मेवाड़ कहलाया और उसका प्राचीन नाम (शिबि) लोग भूल गये (ना. प्र. प.; भाग २, पृ० ३३४-३५)।

करनबेल (जबलपुर के निकट) के एक शिलालेख में प्रसंगवशात् मेवाड़ के गुहिल-वंशी राजा हंसपाल, वैरिसिंह और विजयसिंह का वर्णन आया है जिसमें उनको 'प्राग्वाट' के राजा कहे हैं। अतएव प्राग्वाट मेवाड़ का ही दूसरा नाम होना चाहिये। संस्कृत शिलालेखों

स्थान और क्षेत्रफल

उदयपुर राज्य राजपूताने के दक्षिणी विभाग में २३° ४६' से २५° २८' उत्तर अक्षांश और ७३° १' से ७५° ४६' पूर्व देशांतर के बीच फैला हुआ है। उसका क्षेत्रफल १२६६१ वर्ग मील है।

सीमा

उदयपुर राज्य के उत्तर में अजमेर-मेरवाड़ा और शाहपुरे (फूलिये) का इलाका; पश्चिम में जोधपुर और सिरोही राज्य; नैर्ऋत्य कोण में ईडर; दक्षिण में डूंगरपुर, बांसवाड़ा और प्रतापगढ़ राज्य; पूर्व में सिंधिया का परगना नीमच, टोंक का परगना, नींबाहेड़ा और बूंदी तथा कोटा राज्य हैं; और ईशान कोण में देवली के निकट जयपुर का इलाका आ गया है। इस राज्य के भीतर ग्वालियर का परगना गंगापुर, जिसमें १० गांव हैं, और आगे पूर्व में इंदौर का परगना नंदवास (नंदवाय) आ गया है[1] जिसमें २६ गांव हैं।

पर्वत-श्रेणियां

अर्वली (आड़ावळा) पहाड़ की श्रेणियां अजमेर और मेरवाड़े में होती हुई दीवेर के निकट मेवाड़ में प्रवेश करती हैं। वहां इनकी ऊंचाई और चौड़ाई कम है, परंतु नैर्ऋत्य कोण में मारवाड़ के किनारे किनारे बढ़ती गई हैं। कुंभलगढ़ पर इनकी ऊंचाई ३५६८ फुट तक पहुंच गई है और जर्गा की पहाड़ी पर, जो गोगुंदा से १५ मील उत्तर में है, ऊंचाई ४३१५ फुट हो गई है। ये पर्वत-श्रेणियां राज्य के वायव्य कोण से लगाकर सारे पश्चिमी तथा दक्षिणी हिस्से में फैल गई हैं। उत्तर में खारी नदी से लगाकर चित्तोड़ से कुछ दक्षिण तक और चित्तोड़ से देबारी तक समान भूमि है। दूसरी पर्वत-श्रेणी राज्य के ईशान कोण में देवली के पास से शुरू होकर भीलवाड़े तक चली गई है। तीसरी श्रेणी देवली के पास से निकलकर राज्य के पूर्वी हिस्से में जहाज़पुर[2],

---

तथा पुस्तकों में 'पोरवाड़' महाजनों के लिये 'प्राग्वाट' नाम का प्रयोग मिलता है और वे लोग अपना निकास मेवाड़ के 'पुर' कसबे से बतलाते हैं, जिससे संभव है कि प्राग्वाट देश के नाम पर से वे अपने को प्राग्वाटवंशी कहते रहे हों (ना. प्र. प.; भाग २, पृ० ३३६)।

(१) टोंक का परगना नींबाहेड़ा तीन तरफ मेवाड़ से और एक तरफ ग्वालियर राज्य से मिला हुआ है। सिंधिया का आंचोर का परगना चारों ओर मेवाड़ से घिरा हुआ है; ऐसे ही सिंधिया के जाठ, सिंगोली और खेड़ी के इलाके अधिकतर मेवाड़ के भीतर आ गये हैं। ये सब इलाके पहले मेवाड़ के ही थे, परंतु पीछे से समय के हेर-फेर में मेवाड़ से छूट गये।

(२) जहाज़पुर से ही यह पहाड़ियों की श्रेणी विस्तृत और ऊंची होती चली गई है और मांडलगढ़ से आगे जाकर उसके ऊपर समान भूमि आ गई है जिससे इसको 'ऊपरमाळ' कहते हैं। यह श्रेणी पूर्व में कोटे से आगे चली गई है और यह 'पथार' भी कहलाती है। ऊपरमाळ की भूमि उपजाऊ है और जल भी वहां बहुतायत से है।

मांडलगढ़, बीजोल्यां, भैंसरोड़गढ़ और मैनाल होती हुई चित्तोड़ से दक्षिण तक जा पहुंची है। इस श्रेणी की ऊंचाई २००० फुट से अधिक नहीं है। देवारी से लगाकर राज्य का सारा पश्चिमी और दक्षिणी हिस्सा पहाड़ियों से भरा हुआ है। मेवाड़ की पहाड़ियां बहुधा घने जंगलों से भरी हुई हैं और वहां जल की भी बहुतायत है।

इस राज्य के पूर्वी विभाग में उपजाऊ समतल प्रदेश है, परंतु दक्षिणी और पश्चिमी विभाग में घने जंगलों से भरी हुई पहाड़ियां आ गई हैं, जिनके बीच में जगह जगह खेती के योग्य भूमि है। दक्षिण में डूंगरपुर की सीमा से लगाकर पश्चिम में सिरोही की सीमा तक सारा प्रदेश पहाड़ी होने से 'मगरा' कहलाता है जहां बहुधा भीलों आदि जंगली लोगों की बस्ती है।

नालें

पर्वत-श्रेणी में होकर निकलनेवाले तंग रास्तों को यहां नाल कहते हैं; ऐसी नालें इस राज्य में बहुत हैं जिनमें मुख्य नीचे लिखी हुई हैं—

जीलवाड़ा की नाल—इसको लोग पगल्या नाल भी कहते हैं। यह अनुमान ४ मील लम्बी तथा बहुत सँकड़ी है और मारवाड़ से मेवाड़ में आने का रास्ता है।

सोमेश्वर की नाल—यह नाल देसूरी (मारवाड़ में) से कुछ मील उत्तर की ओर है। यह बहुत लंबी और विकट है इसलिये जीलवाड़े की नाल के खुल जाने पर लोगों ने इससे बहुधा आना-जाना बंद कर दिया है।

हाथीगुड़ा की नाल—देसूरी से दक्षिण में ५ मील की दूरी पर यह नाल है। इसके मुंह पर एक मोरचेबन्द फाटक है और मेवाड़ के सिपाहियों का वहां पहरा रहता है। कुंभलगढ़ का पहाड़ी क़िला इस नाल के ठीक ऊपर है और केलवाड़े का क़स्बा उसके निकट ही है। इस नाल में लड़ाई में मारे जानेवाले वीर पुरुषों के स्मारकरूप चबूतरे भी बने हुए हैं।

नदियां

सालभर बहनेवाली मेवाड़ में एक भी नदी नहीं है। चंबल भी वास्तव में मेवाड़ की नदी नहीं कही जा सकती, क्योंकि उसका बहाव इस राज्य में केवल भैंसरोड़गढ़[1] के निकट अनुमान ६ मील है।

बनास—यह नदी कुंभलगढ़ के निकट से निकलकर नाथद्वारे के पास

(१) उदयपुर राज्य में भैंसरोड़गढ़ से तीन मील पर 'चूलियां' नामी स्थान पर चंबल ६० फुट की ऊंचाई से गिरती है, जिससे वहां बड़े बड़े भंवर पड़ते हैं। वहां का दृश्य बड़ा ही मनोहर है।

बहती हुई मांडलगढ़ के समीप पहुंचती है। वहां पर दाहिनी ओर से आकर बेड़च इसमें मिलती है। उसी स्थान पर मैनाली नदी भी इसमें मिल गई है, जिससे वह स्थान त्रिवेणी तीर्थ कहलाता है। वहां से उत्तर की तरफ आगे बढ़ने पर कोटेसरी (कोठारी) भी इसमें जा मिली है। फिर जहाज़पुर की पहाड़ियों में होती हुई देवली के निकट इस राज्य में १८० मील बहने के बाद अजमेर और जयपुर की सीमा में बहती हुई यह रामेश्वर तीर्थ (ग्वालियर राज्य में) में चंबल में मिल जाती है।

बेड़च—यह नदी उदयपुर के पश्चिम की पहाड़ियों से निकलती हुई आहाड़ के पास बहती है, जिससे वहां इसको 'आहाड़ की नदी' कहते हैं। वहां से आगे बढ़कर उदयसागर तालाव में गिरकर उसे भरती है। वहां से निकलने पर यह उदयसागर का नाला कहलाती है; फिर आगे जाने पर बेड़च नाम धारण कर चित्तोड़ के पास बहती हुई मांडलगढ़ के निकट बनास से जा मिलती है। इसका बहाव १३० मील है।

कोटेसरी—इसको कोठारी भी कहते हैं। यह अर्वली की पर्वतश्रेणी से निकलकर दीवेर से दक्षिण में ६० मील बहने के पश्चात् नंदराय से दो मील की दूरी पर बनास से जा मिलती है।

खारी—यह मेवाड़ की नदियों में सबसे उत्तर में है। दीवेर की पहाड़ियों से यह निकलती है और देवगढ़ के निकट बहती हुई अजमेर की सीमा पर देवली से थोड़ी दूर पर बनास में मिलती है।

जाकुम—यह नदी छोटी सादड़ी के निकट राज्य के नैर्ऋत्य कोण की पहाड़ियों से निकलती है और प्रतापगढ़ राज्य के नैर्ऋत्य कोण में बहती हुई मेवाड़ में धरियावद के पास होकर सोम में जा मिलती है।

वाकल—यह गोगूंदा के पश्चिम की पहाड़ियों से निकलती है और अनुमान ५० मील दक्षिण में ओगणा और मानपुर के पास बहती हुई उत्तर-पश्चिम में मुड़कर कोटड़े की छावनी के पास पहुंचती है। वहां से ५ मील तक पश्चिमवाहिनी होकर आगे ईडर राज्य में साबरमती में मिल जाती है।

सोम—यह बीचावेड़ा के समीप राज्य के नैर्ऋत्य कोण की पहाड़ियों से निकलकर डूंगरपुर राज्य की सीमा के पास बहती हुई उक्त राज्य में मही में जा मिलती है।

जयसमुद्र

मेवाड़ में छोटी बड़ी झीलें बहुत हैं जिनमें मुख्य नीचे लिखी हुई हैं—

झीलें

जयसमुद्र—इसको ढेबर भी कहते हैं। यह झील राजधानी उदयपुर से ३२ मील दक्षिण-पूर्व में है और वहां तक पक्की सड़क बनी हुई है। वि० सं० १७४४ और १७४८ (ई० स० १६८७ और १६९१) के बीच चार वर्षों में महाराणा जयसिंह ने लाखों रुपये खर्च कर यह झील बनवाई थी। इसके भर जाने पर इसकी अधिक से अधिक लंबाई ९ मील से कुछ ऊपर और चौड़ाई ६ मील से कुछ अधिक हो जाती है। इसके भीतर कुछ वर्ग मील विस्तार के तीन टापू हैं जिनपर मीणे (मीने), साधु आदि लोग बसते हैं। इनमें से दो टापुओं को 'बाबा के मगरे' और तीसरे को 'प्यारी' कहते हैं। इनपर रहनेवाले लोग लकड़ी के बने हुए भेलों (तमेड़ों) पर झील से बाहर आते हैं और उन्हीं भेलों पर अपने पशुओं को बाहर ले जाते और लाते हैं। इसका बांध दो पहाड़ों के बीच संगमरमर का बना है, जो १००० फुट लंबा और ९५ फुट ऊंचा है। उसकी नीचे की चौड़ाई ५० फुट और ऊपर की, सीढ़ियां छूटने के कारण, १५ फुट रह गई है। उसके पीछे एक दूसरा बांध भी उतना ही ऊंचा बांधा गया था जो १३०० फुट लंबा है। इन दोनों बांधों के बीच का हिस्सा १८३ वर्ष तक बिना भरे ही पड़ा रहा, परंतु जल की तरफ का बांध इतना सुदृढ था कि वह कभी नहीं टूटा। वि० सं० १९३२ (ई० स० १८७५) की अतिवृष्टि को देखकर महाराणा सज्जनसिंह ने दोनों बांधों के बीच के विस्तृत खड्डे का $\frac{1}{3}$ हिस्सा दो लाख रुपये व्यय कर बड़े बड़े पत्थर, मिट्टी और चूने से भरवा दिया। बाकी का काम वर्तमान महाराणा साहब ने पूरा करवाया। अब दोनों बांधों के बीच विस्तृत समभूमि बन गई है जहां वृक्ष लगाये गये हैं। जल की तरफ के बांध पर ६ सुंदर छत्रियां बनी हैं और प्रत्येक छत्री के सामने नीचे की ओर वेदियों पर मध्यम क़द के एक एक पत्थर के बने हुए ६ हाथी खड़े हैं। बांध के उत्तरी छोर पर वर्तमान महाराणा साहब ने महल बनवाये हैं और दक्षिणी छोर पर के महल 'महाराजकुमार के महल' कहलाते हैं। दक्षिणी छोर की पहाड़ी पर महाराणा जयसिंह के बनवाये हुए महल हैं, जिनका जीर्णोद्धार महाराणा सज्जनसिंह ने करवाया था। उक्त बांध पर महाराणा जयसिंह का बनवाया हुआ संगमरमर का नर्मदेश्वर नामक शिवालय भी है। बांध से थोड़े ही अंतर पर एक पहाड़ी की आड़ आ जाने के

कारण बांध पर से झील का अधिक विस्तार दृष्टिगोचर नहीं होता, परंतु किश्ती में या भेले पर बैठकर आगे जाने से दर्शक को उसका विस्तार और महत्त्व मालूम होता है। इस झील के आसपास का पहाड़ी प्रदेश सघन वृक्षों और घने जंगलों से आच्छादित है, जहां नाहर, चीते, तेंदुए, सूअर, रीछ, सांभर, चीतल, रोझ (नीलगाय), हिरण आदि जंगली जानवर बहुतायत से पाये जाते हैं। वर्तमान महाराणा साहब बहुधा शीतकाल में शिकार के लिये यहां निवास करते हैं।

यह प्रदेश दर्शकों को बड़ा ही रमणीय प्रतीत होता है। मनुष्य की बनाई हुई संसार भर की झीलों में यह सबसे बड़ी[1] मानी जाती है, परंतु मालवे के परमार राजा भोज की बनाई हुई भोजपुर (भोपाल) की झील अवश्य इससे बहुत बड़ी थी, परंतु अब वह नहीं रही, क्योंकि मालवे के सुलतान होशंगशाह ने उसे तुड़वा दिया था, जिससे उसके स्थान में कितने ही गांव आबाद हो गये हैं[2]।

राजसमुद्र—यह झील उदयपुर नगर से ४० मील उत्तर में है। इसकी लंबाई ४ मील, चौड़ाई १¾ मील और १९४ वर्ग मील भूमि का जल इसमें आता है। गोमती नाम की नदी इसमें गिरती है और जल के निकास के लिये तीन स्थान रक्खे गये हैं। इसका प्रारंभ महाराणा राजसिंह ने वि० सं० १७१८ (ई० स० १६६२) माघ वदि ७ को किया; वि० सं० १७३२ (ई० स० १६७६) माघ सुदि १५ को प्रतिष्ठा हुई और वि० सं० १७३४ (ई० स० १६७८) के आषाढ़ तक इसका काम चलता रहा। इस झील की बनवाई, प्रतिष्ठा, उत्सव तथा इनाम इकराम आदि में १०५०७४८४ रुपये खर्च हुए थे। इसका बांध धनुषाकृति में तीन मील लंबा है और उसका राजनगर की तरफ का छोर, जो दो पहाड़ियों के बीच में है, २०० गज़ लंबा और ७० गज़ चौड़ा तथा सुंदर सीढ़ियों सहित सारा राजनगर की खान के संगमरमर का बना हुआ है। बांध के इस हिस्से पर संगमरमर के तीन सुन्दर मंडप बने हुए हैं, जिनके स्तंभों एवं छत में कहीं सूर्य का रथ, कहीं ब्रह्मादि देवता, कहीं अप्सराओं का नृत्य, कहीं कबूतरों की लड़ाई आदि दृश्य उत्तम कारीगरी के साथ अंकित किये गये हैं।

(१) इं. ऍ; जि० १, पृ० ५५–५६।

(२) वही; जि० १७, पृ० ३४८ के पास का नक़शा।

राजसमुद्र (नौचौकी का दृश्य)

उदयसागर

यहीं तुलादान के पांच तोरण भी बने हुए हैं, जिनमें से तीन अच्छी स्थिति में और दो टूटे पड़े हैं। बांध के इस सुन्दर हिस्से को 'नौचौकी' कहते हैं और इस झील की प्रतिष्ठा का उत्सव भी यहीं हुआ था। यहीं पर खड़ा रह-कर देखनेवाला व्यक्ति इस झील की सुन्दरता और भव्यता का अच्छी तरह अनुमान कर सकता है। नौचौकी के राजनगर की तरफ के किनारेवाली पहाड़ी पर महाराणा राजसिंह के बनवाये हुए महल हैं जो इस समय टूटी फूटी दशा में हैं। बांध के ऊपर महाराणा सज्जनसिंह का बनाया हुआ महल भी है।

महाराणा राजसिंह ने इस झील के लिये मेवाड़ का इतिहास भी संग्रह करवाया और तैलंग भट्ट मधुसूदन के पुत्र रणछोड़ भट्ट ने उसके आधार पर 'राजप्रशस्ति' नाम का महाकाव्य लिखा, जो पाषाण की बड़ी बड़ी २५ शिलाओं पर खुदवाया जाकर नौचौकी के बांध पर अलग अलग ताकों में लगाया गया है। पहली शिला पर देवताओं की स्तुति और बाकी की २४ शिलाओं पर उक्त काव्य के २४ सर्ग खुदे हैं, जिनमें इस झील के संबंध का विस्तृत वर्णन भी है। शिलाओं पर खुदी हुई अब तक कई पुस्तकें मिली हैं, परंतु इतनी बड़ी और कोई नहीं है।

उदयसागर—यह झील उदयपुर से ६ मील पूर्व में है। इसकी लंबाई २½ मील, चौड़ाई २ मील और १८५ वर्ग मील भूमि का जल इसमें आता है। आहाड़ की नदी भी इसी में गिरती है। इसका बांध, जो एक पहाड़ी की नाल के एक किनारे से दूसरे तक बनाया गया है, बहुत ऊंचा और १८० फुट चौड़ा है। इस झील को महाराणा उदयसिंह ने वि० सं० १६१६ से १६२१ (ई० स० १५५९ से १५६४) तक, ५ वर्षों में बनवाया था। इसकी शोभा बड़ी रमणीय होने से वर्तमान महा-राणा साहब ने बांध के सामने के तट पर मेड़ी मगरी नाम के स्थान में महल बनवाये हैं। इस झील के आसपास की पहाड़ियां घने जंगल से ढकी हुई होने के कारण उनपर शिकार के लिये ओदियां (मूल) बनी हुई हैं।

पीछोला—यह झील वि० सं० की १५वीं शताब्दी में महाराणा लाखा (लक्ष-सिंह) के समय एक बनजारे ने बनवाई थी, ऐसी प्रसिद्धि है। इसके निकट पी-छोली गांव होने के कारण इसका नाम 'पीछोला' पड़ा है। इसकी लंबाई २½ मील, चौड़ाई १½ और ५६ वर्ग मील भूमि का जल इसमें आता है। इसके पूर्वी किनारे की पहाड़ी पर उदयपुर शहर का अधिकांश और राजमहल बने हैं। इसके

किनारे किनारे बड़ी दूर तक कहीं एक ओर तथा कहीं दोनों ओर सुन्दर घाट, मंदिर और हवेलियां बनी हैं। इसका बांध ३३४ गज़ लम्बा है जिसके ऊपर के भाग की चौड़ाई ११० गज़ और नीचे उससे भी अधिक है। चातुर्मास में जब पहाड़ियां हरी हो जाती हैं तब यहां की शोभा कश्मीर की सी दीख पड़ती है। इस झील का यह बांध वि० सं० १८५२ (ई० स० १७६५) में टूट गया जिससे शहर का कितना एक हिस्सा बह गया, इसलिये महाराणा भीमसिंह ने नया बांध ऐसा सुदृढ़ बनवाया कि वि० सं० १९३२ (ई० स० १८७५) की अतिवृष्टि में उसकी कुछ भी हानि न हुई। इस झील के अंदर के टापुओं पर जगमंदिर, जगनिवास आदि महल बड़े ही रम्य बने हुए हैं जिनका वर्णन आगे किया जायगा। इन जलमहलों को देखने के लिये अनेक देशी और विदेशी लोग किश्तियों में बैठकर बड़ी चाह से जाते हैं और उनके लिये नावघाट पर राज्य की तरफ़ से किश्तियां हर वक़्त तैयार रहती हैं।

फतहसागर—उदयपुर से उत्तर के देवाली गांव के पास पहले एक छोटासा तालाब बना हुआ था जिसको देवाली का तालाब कहते थे। बांध ऊंचा न होने के कारण उसका जल दक्षिण में बहुत दूर तक नहीं फैल सकता था, इसलिये वर्तमान महाराणा साहब ने उसका सुदृढ़ और ऊंचा बांध नये सिरे से बंधवाया, जिससे अब उसका जल दक्षिण में दूर दूर तक फैलता हुआ पीछोले के उत्तरी अंत से भी आगे तक पहुंच गया है। अब इस झील को महाराणा साहब के नाम पर फतहसागर कहते हैं। इन झीलों के बीच का अंतर बहुत ही थोड़ा रह जाने के कारण एक नहर काटकर दोनों जोड़ दी गई हैं। उस नहर के अंत पर फतहसागर के किनारे एक मज़बूत लकड़ी का द्वार बना हुआ है। जब ये दोनों सरोवर भरे हुए होते हैं तब यह द्वार खोल देने से नाव और जल सुगमतापूर्वक पीछोले से फतहसागर में जा सकते हैं। यह झील डेढ़ मील लंबी है और इसकी सबसे अधिक चौड़ाई एक मील है। फतहसागर को भरने के लिये देवाली ग्राम से लगभग चार मील दूर की एक नदी में बांध बांधकर नहर द्वारा उसका जल लाया गया है। फतहसागर का बांध २८०० फुट लंबा है। श्रीमान् ड्यूक ऑफ़ कॉनाट (Duke of Connaught) के हाथ से इसकी नींव रक्खी जाने के कारण इसका नाम 'कॉनाट बांध' है। इस झील के किनारे किनारे पहाड़ियों

फ़तहसागर

को काटकर पाषाण के सुंदर कटहरेवाली एक सड़क बनाई गई है, जो अनुमान एक मील लंबी होगी। बांध के ऊपर छत्रियां बनी हुई हैं और ठीक मध्य-भाग में संगमरमर का एक छोटासा महल है, जो पहले शिवनिवास महल के द्वार के समीप बना हुआ था और जिसको वहां से हटाकर यहां स्थापित कर दिया है।

बांध पर आनेवाली घुमावदार सड़क की एक तरफ़ सघन वृक्षों से आच्छादित पहाड़ियां, दूसरी ओर बहुत दूर तक सरोवर का जल और संध्या समय अस्तंगम सूर्य की रक्त किरणों का जल में प्रतिबिम्ब आदि दृश्य दर्शक के चित्त में आनंद की लहर उत्पन्न करते हैं। बांध के पास जल की गहराई ४० फुट से भी अधिक है।

जलवायु

मेवाड़ का जलवायु सामान्य रीति से आरोग्यप्रद समझा जाता है, परंतु पहाड़ी विभाग के जल में खनिज पदार्थ और वनस्पति का अंश मिला हुआ होने से वह भारी होता है और वहां के रहनेवाले प्रायः बारिश के अंत में मलेरिया ज्वर से पीड़ित रहते हैं तथा तिल्ली की भी शिकायत उनमें अधिक रहती है। भूमि की ऊंचाई के कारण यहां सर्दी के दिनों में न तो अधिक सर्दी और उष्णकाल में न अधिक गर्मी होती है।

वर्षा

उदयपुर में वर्षा का औसत २४ इंच और पहाड़ी विभाग में २६ से ३० इंच तक है। वि० सं० १९३२ (ई० स० १८७५) में वर्षा इतनी अधिक हुई कि कई नदियों के पुल टूट गये और राजधानी में तथा दूसरी जगह भी सैकड़ों मकान गिरने से कितने ही मनुष्य दबकर मरे; इसी प्रकार नदियों की बाढ़ से पशुओं की भी बहुत हानि हुई।

ज़मीन और पैदावारी

यहां की समतल भूमि पैदावारी के लिये बहुत अच्छी है। उसमें खरीफ़ (सियालू) और रबी (उनालू) दोनों फसलें होती हैं। रबी की फसल विशेष-कर कुओं से और थोड़ी तालावों से होती है। माळ की ज़मीन इस राज्य में बहुत थोड़ी है। पहाड़ी प्रदेश में मक्की अधिकता से होती है और पहाड़ों के ढालों में, जहां हल नहीं चल सकते, ज़मीन को खोदकर खेती की जाती है, जिसको यहां 'वालरा' (प्राकृत वल्लर) कहते हैं। पहाड़ियों के बीच के हिस्सों में, जहां पानी भरा रहता है, चावल भी पैदा होते हैं। ज़मीन की पैदावारी में मुख्य गेहूं, मक्की, जवार, मूंग, उड़द, चना, चावल, तिल, सरसों, जीरा, धनिया, रुई, तंबाकू, ईख और अफ़ीम हैं,

जिनमें से अफीम और रुई विशेषकर बाहर जाती थी, परंतु अब तो अफीम की खेती नाममात्र की रह गई है।

जंगल

मेवाड़ का बहुतसा हिस्सा पहाड़ी प्रदेश होने से यहां जंगल विशेष हैं, जिनमें आम, इमली, महुआ, सागवान, धामण (फालसा), टींबरू (आबनूस), बड़, पीपल, चंदन, नीम, सीसम, खैर, गूलर, जामुन, खिजूर, खेजड़ा, बंबूल, रूंजड़ा, आंवला, बेहड़ा, धौ, हलदू, हिंगोटा, कचनार, कालियासिरस (शिरीष), सालर, मोखा, सेमल, गूगल, कड़ाया आदि पेड़ बहुतायत से पाये जाते और कहीं कहीं बांस भी बहुत होते हैं। बानसी और भरियावद के जंगलों में इमारती काम की कीमती लकड़ी विशेष रूप से होती है। जंगल की पैदाइश में सागवान आदि इमारती लकड़ी, गूंद, बेहड़ा, लाख, महुआ आदि हैं। मेवाड़ में आम बहुतायत से होते और अच्छे भी होते हैं।

जंगली जानवर, पक्षी और जलजन्तु

हिंसक जानवरों में नाहर (सुनहरी), बघेरा (जिसको यहां अधबेसरा भी कहते हैं और टीमर्या, चौफुलया आदि जिसके और भी भेद प्रसिद्ध हैं), चीता और भेड़िया (जिसको यहां बग्गड़ा और ल्याळी भी कहते हैं) कितने एक पहाड़ी हिस्सों में मिल आते हैं। नाहर (सुनहरी) अब कम मिलते हैं, क्योंकि वर्तमान महाराणा साहब ने सैकड़ों को मार डाला और बचे हुओं को वे मारते ही जाते हैं। अन्य जानवर बंदर, रीछ, सूअर, सांभर, रोझ (नीलगाय), चीतल (जो सांभर की किस्म का सींगदार पशु है और जिसके बदन के भूरे रंग में सफेद धब्बे होते हैं), हिरण (जिसकी कई किस्में हैं काला, चीतला और चौसींगा अर्थात् भेड़ला आदि), करू (जंगली कुत्ते), बनबिलाव, लोमड़ी, गीदड़ (सियार), जरख (लकड़बग्घा), खरगोश, सियागोश आदि हैं।

जंगली पक्षियों में गिद्ध (गृध्र), चील, शिकरा, बाज, मोर, तोता, कोयल, कौआ, जंगली मुर्गे, तीतर, कबूतर, बटेर, हरियल आदि अनेक हैं। जल के निकट रहनेवाले पक्षियों में कौंच, सारस, बगुला, हंजा, घरट, टिटहरी, बतक, जलमुर्गे आदि। जलजन्तुओं में मगर, कछुए, अनेक प्रकार की मछलियां, केंकड़े, जलमानस आदि झीलों और नदियों में पाये जाते हैं।

इस राज्य में पहले लोहा बहुत निकलता था। बीगोद, गुंढली (मांडलगढ़ ज़िले में), मनोहरपुर (जहाज़पुर ज़िले में), पारसोला (बड़ी सादड़ी से कुछ

खानें

मील दूर) में अब भी थोड़ा बहुत लोहा मिलता है, परंतु विदेशी लोहा सस्ता मिलने के कारण उसका निकलना कम पड़ गया है, तो भी बीगोद की खानों से लोहा कुछ अधिक निकाला जाता है, क्योंकि वहां का लोहा अच्छा समझा जाता है और उसके बर्तन महंगे मिलने पर भी लोग उन्हें ख़रीदते हैं। चांदी और सीसे की खान जावर (मगरा ज़िले में) में है, जहां से पहले ३०००००) रुपये सालाना की चांदी निकलती थी, परंतु अब वह बंद है। जावर में मूसों के टुकड़ों के बड़े बड़े ढेर पड़े हुए हैं इतना ही नहीं, किंतु कितने एक पुराने मकानों की दीवारें भी मूसों की बनी हुई दीख पड़ती हैं। इसी खान के सबब से पहले यह एक नगरसा था, परंतु अब बहुधा वहां भीलों ही की बस्ती है। दरीबे में भी सीसे की खान थी, परंतु अब वह भी बंद है। तामड़े (रक्तमणि), भोडल तथा स्फटिक की खानें भी इस राज्य में हैं, परंतु इस समय वे बंदसी हैं। राजनगर में संगमरमर की खानें हैं, जिनका पत्थर मकराणे से कुछ हलका है। चित्तौड़ के निकट मादलदा, सेंती आदि में काला पत्थर मिलता है। चित्तौड़ के स्टेशन से इस पत्थर के चौके फ़र्श की जड़ाई के लिये रेल द्वारा बाहर जाते हैं। ढींकली के पास चक्की बनाने का पत्थर निकलता है और पत्थर की बड़ी बड़ी पट्टियां उदयपुर के निकट तथा कई अन्य स्थानों में भी पाई जाती हैं।

किले

मेवाड़ में प्रसिद्ध क़िले (गढ़) चित्तोड़गढ़, कुंभलगढ़ और मांडलगढ़ हैं, जिनका वर्णन इसी प्रकरण में आगे प्रसिद्ध और प्राचीन स्थानों के साथ किया जायगा। इनके सिवा छोटे-बड़े गढ़ और गढ़ियां भी अनेक हैं।

रेल्वे

बॉम्बे बड़ौदा एण्ड सेंट्रल इंडिया रेल्वे की अजमेर से खंडवा जानेवाली छोटे नापवाली रेल की सड़क मेवाड़ में होकर निकली है और उसके रूपाहेली से लगाकर शंभुपुरा तक के स्टेशन इस राज्य में हैं। चित्तोड़गढ़ जंक्शन से उदयपुर तक ६९ मील रेल की सड़क उदयपुर राज्य की तरफ़ से बनाई गई है, जो 'उदयपुर-चित्तोड़गढ़ रेल्वे' कहलाती है।

सड़कें

नसीराबाद से नीमच को जानेवाली सरकारी सड़क इस राज्य में होकर निकली है। राज्य की तरफ़ से बनी हुई पक्की सड़कें उदयपुर से खेरवाड़े तक, उदयपुर से नाथद्वारे तक, और उदयपुर से जयसमुद्र तक हैं। उदयपुर-चित्तोड़गढ़ रेल्वे के बनने के पहले उदयपुर से चित्तोड़गढ़ तक भी

पक्की सड़क बनी हुई थी, परंतु रेल खुल जाने के बाद उसपर लोगों का आना-जाना बहुत कम हो गया है। इनके अतिरिक्त 'नाथद्वारा रोड' से नाथद्वारे तक भी पक्की सड़क बन गई है और नाथद्वारे से कांकड़ोली तक बन रही है।

जनसंख्या

इस राज्य में अब तक मनुष्यगणना पांच बार हुई है। यहां की जनसंख्या ई० स० १८८१ (वि० सं० १९३७) में १४९४२२०, ई० स० १८९१ (वि० सं० १९४७) में १८४५००८, ई० स० १९०१ (वि० सं० १९५७) में[1] १०१८८०५, ई० स० १९११ (वि० सं० १९६७) में १२९३७७६ और ई० स० १९२१ (वि० सं० १९७७) में १३८००६३ थी, जिसमें ७१२१०० मर्द और ६६७९६३ औरतें थीं। इस हिसाब से प्रत्येक वर्ग मील भूमि पर १०८·७४ मनुष्यों की आबादी की औसत आती है।

धर्म

यहां के लोगों में मुख्य धर्म वैदिक (ब्राह्मण), जैन और इस्लाम हैं। वैदिक धर्म के माननेवालों में शैव, वैष्णव, शाक्त आदि अनेक भेद हैं। जैन धर्म में श्वेतांबर, दिगंबर और थानकवासी (ढूंढिये) आदि भेद हैं। मुसलमानों में सुन्नी और शिया नाम के दो भेद हैं, जिनमें सुन्नियों की संख्या अधिक है और शिया मत के माननेवालों में दाऊदी बोहरे मुख्य हैं।

ई० स० १९२१ (वि० सं० १९७७) की मनुष्यगणना के अनुसार भिन्न भिन्न धर्मावलंबियों की संख्या नीचे दी जाती है—

हिन्दू १३३१५६३, इनमें ब्राह्मण धर्म को माननेवाले १०६९०४६, आर्य (आर्य-समाजी) १७१, ब्राह्मो १, सिक्ख ९, जैन ६३१३२ और भैरव आदि देवताओं को माननेवाले भील, मीणे आदि लोग १९९२०४ हैं। मुसलमान ४८२९५, ईसाई १७६ और पारसी २९ हैं[2]।

हिन्दुओं में ब्राह्मण, राजपूत, महाजन, कायस्थ, चारण, भाट, सुनार, दरोगा, दर्ज़ी, लुहार, सुथार (बढ़ई), कुम्हार, माली, नाई, धोबी, जाट, गूजर,

---

(१) ई० स० १९०१ की मनुष्य-गणना में जनसंख्या की बड़ी कमी होने के मुख्य कारण वि० सं० १९५६ (ई० स० १८९९-१९००) का भयंकर दुष्काल और महामारी (हैज़ा) तथा वि० सं० १९५७ का भीषण ज्वर था, जिन्होंने लाखों मनुष्यों का संहार कर दिया।

(२) ई० स० १९२१ की मनुष्य-गणना की रिपोर्ट में आर्य, सिक्ख, जैन, ब्राह्मो, भील, मीणे आदि को हिन्दुओं से भिन्न बतलाया है, परंतु वास्तव में इन सब का समावेश हिंदुओं में ही होता है, इनमें केवल मत-भेद है।

जातियां

अहीर, मेर, कोली, घांची, कुनबी, मोची, बलाई, रेगर, भांबी, गाडरी, धाकड़, ढोली, बोला, महतर, आदि अनेक हैं। ब्राह्मण, महाजन आदि कई एक जातियों की अनेक उपजातियां भी बन गई हैं तथा उनमें परस्पर विवाह-संबंध आदि नहीं होता और ब्राह्मणों की उपजातियों में तो बहुधा परस्पर भोजन-व्यवहार भी नहीं है। जंगली जातियों में भील, मीणे, गिरासिये, मोगिये, बावरी, सांसी आदि हैं। भील, मीणे पहले चोरी-धाड़े अधिक किया करते थे, परंतु अब वे खेती और मज़दूरी करने लग गये हैं, तो भी दुष्काल वग़ैरा में वे अपना पुराना पेशा करना नहीं छोड़ते। मुसलमानों में शेख़, सैयद, मुग़ल, पठान आदि कई हैं।

यहां के लोगों में से अधिकतर खेती करते हैं, कितने ही पशुपालन पर अपना निर्वाह चलाते हैं और कोई व्यापार, नौकरी, दस्तकारी, मज़दूरी या

पेशा

लेनदेन करते हैं। व्यापार करनेवाली जातियों में मुख्य महाजन और बोहरे हैं। ब्राह्मण विशेषकर पाठ पूजन तथा पुरोहिताई करते और कोई व्यापार, नौकरी एवं खेती भी करते हैं। राजपूतों में अधिकतर सैनिक सेवा और कितने ही खेती करते हैं।

यहां के पुरुषों की सामान्य पोशाक पगड़ी, कुरता, लंबा अंगरखा और धोती है। ग्रामीण और भील आदि जंगली लोग पगड़ी के स्थान पर पोतिया (मोटा वस्त्र)

पोशाक

बांधते हैं। राजकीय सेवक पजामा और अंगरखा पहनकर कमर बांधते और अंगरखे के ऊपर छोटा कोट पहनते हैं। यह रीति शहर और बड़े क़सबों के धनाढ्य लोगों में भी चल पड़ी है। साफ़े का प्रचार भी होता जाता है और टोपी भी व्यवहार में आने लगी है। बोहरे तथा मुसलमान प्रायः पजामा पहनते हैं।

स्त्रियों की पोशाक में घाघरा (लहँगा), साड़ी, और कांचली (कंचुलिका) मुख्य है और कोई कोई कुरती, अंगरखी या वास्कट भी पहनती हैं। भीलों, किसानों, और ग्रामीण लोगों की स्त्रियां के घाघरे कुछ ऊंचे होते हैं। मुसलमानों की स्त्रियां बहुधा पजामे पहनती हैं और बोहरों की स्त्रियां बाहर जाने पर बहुधा लहँगा ही पहनती हैं तथा मुंह पर नकाब डाले रहती हैं।

यहां की मुख्य भाषा मेवाड़ी है, जो हिन्दी का ही एक विकृत रूप है। राज्य के दक्षिणी और पश्चिमी विभागों के लोगों तथा भीलों की भाषा वागड़ी है, जिसका

भाषा

गुजराती से विशेष संबंध है। राज्य के पूर्वी (खैराड़ की तरफ के) हिस्से में खैराड़ी बोली जाती है जो मेवाड़ी, ढूंढाड़ी और हाड़ौती का मिश्रण है।

लिपि

यहां की राजकीय और प्रचलित लिपि नागरी है, जो लकीर खींचकर घसीट रूप में लिखी जाती है। राजकीय अदालतों आदि में उसे कुछ अशुद्ध रूप में लिखते और उसमें फारसी शब्द भी अधिक मिलाते हैं। महाजनों तथा अन्य लोगों के पत्रव्यवहार आदि की लिपि भी यही है, परंतु उसमें शुद्धता का विचार कम रहता है।

दस्तकारी

शहर उदयपुर में लहरियां आदि कई प्रकार की तलवारें, भाले, छुरी, कटार आदि शस्त्र बनते हैं और तलवारों की मूठों, छुरियों के दस्तों एवं कटारों पर तरह तरह का सोने का काम अच्छा बनता है। रंगाई के काम में लहरिये, मोठड़े, एवं स्त्रियों की भिन्न भिन्न प्रकार की साड़ियां आदि वस्त्र तथा रंगीन कपड़ों पर सोने और चांदी के वरकों की छपाई का काम बहुत होता है। ऐसे ही रंग रंग के लकड़ी के खिलौने आदि भी अच्छे बनते हैं। भीलवाड़े में बर्तनों पर पक्की कलई करने का काम होता है और चित्तोड़ में बहुधा मोटे कपड़ों की रंगाई व छपाई का काम ही विशेष रूप से होता है। हाथीदांत, नारियल तथा लाख के चूड़े उदयपुर में और अन्यत्र भी तैयार होते हैं। सोने चांदी के ज़ेवर तथा तांबे और पीतल के बर्तन आदि राजधानी एवं बड़े क़स्बों में बनते हैं। मीनाकारी का काम केवल नाथद्वारे में ही होता है।

व्यापार

व्यापार के लिये उदयपुर राज्य प्रसिद्ध नहीं है। पहले यहां मुख्य व्यापार अफीम और रुई का था, परंतु अब तो अफीम का बोना बंदसा हो गया है। बाहर जानेवाली वस्तुओं में मुख्य रुई है, और तिल, सरसों, घी, चमड़ा, शस्त्र, लकड़ी के खिलौने, ऊन, गोंद, मोम तथा भेड़, बकरी आदि जानवर भी हैं। बाहर से आनेवाली वस्तुओं में मुख्य गुड़, शक्कर, नमक, तम्बाकू, मिट्टी का तेल, हाथीदांत, सब तरह का कपड़ा, लोहा, सीसा, तांबा पीतल, सोना, चांदी तथा नाना प्रकार की अन्य आवश्यक वस्तुएं हैं।

यहां हिन्दुओं के मुख्य त्योहार होली, दिवाली, दशहरा और श्रावणी (रक्षाबन्धन) हैं। इनके अतिरिक्त गनगौर और तीज (श्रावणी तथा काजली)

त्यौहार

स्त्रियों के मुख्य त्यौहार हैं। दशहरा (नवरात्रि) राजपूतों का और रक्षाबंधन खास कर ब्राह्मणों का त्यौहार है। नवरात्रि और गनगौर के समय महाराणा साहब की सवारियां बड़ी धूमधाम से निकलती हैं और गनगौर की सवारियों के अवसर पर पीछोले में दरबार की नावों का जमघट तथा उसके तट पर स्त्री-पुरुषों की भीड़ का दृश्य भी देखने योग्य होता है। पहले दशहरे के बाद एक दिन 'मोहल्ला' (मुसल्लह) नाम की सवारी भी होती थी, जिसमें महाराणा, उनके सरदार, बड़े बड़े अहलकार तथा राजपूत लोग पुराने समय के युद्ध के भेष में घोड़ों पर सवार होकर निकलते थे। उनके सिर पर लोहे का टोप, शरीर पर पूरा कवच (बख्तर), हाथ में बर्छा, कमर में तलवार, कटार या जमधर, और पीठ पर ढाल रहती तथा घोड़ों पर पाखरें[1] (प्रक्खरा) डाली जाती थीं। इस सवारी को देखने से राजपूतों के पुराने समय के युद्धसंबंधी ठाट-बाट का अनुमान होता था इतना ही नहीं, किंतु उनके शस्त्र और बख्तर आदि भी साल भर में एक बार साफ़ हो जाते थे। मैंने एक बार यह सवारी देखी थी, परंतु गत ३४ वर्षों से इसका होना बंद हो गया है। मुसलमानों के मुख्य त्यौहार दोनों ईद और ताज़िये हैं।

मेले

मेवाड़ में ऐसा प्रसिद्ध कोई मेला नहीं होता जहां पशुओं या माल की बिक्री यथेष्ट रूप से होती हो। वैशाख सुदि १५ को मातृकुण्डियां (राश्मी ज़िले में) का, भाद्रपद सुदि ११ को चारभुजा का, और चैत्र वदि ८ को ऋषभदेव (केसरियानाथ) का मेला भरता है। इन मेलों में कई हज़ार मनुष्य एकत्र होते हैं। फाल्गुन सुदि ११ को आहाड़ में भीलों का मेला होता है जहां भील बहुत जाते हैं।

डाकखाने

इस राज्य में सरकार अंग्रेज़ी के डाकखाने शहर उदयपुर, भीलवाड़ा, चित्तोड़गढ़, खैरवाड़ा, नाथद्वारा, बदनोर, बनेड़ा, बड़ी और छोटी सादड़ी, बानसी, बेगूं, भादोड़ा, भींडर, देलवाड़ा, देवगढ़, गंगराड़, घोसुंडा, हमीरगढ़, हुरड़ा, जहाज़पुर, कांकड़ोली, कपासण, खेमली, कोटड़ा, लांबिया, मांडल,

---

(१) जैसे युद्ध-समय योद्धे अपने शरीर की रक्षा के लिये बख़्तर, टोप आदि पहनते थे वैसे ही हाथी और घोड़ों की रक्षा के लिये उनपर पाखरें (झूल के समान) डाली जाती थीं, जो लोहे की बारीक गुंथी हुई कड़ियों से अथवा मोटे कपड़े के अंदर लोहे की शलाकाएं डालकर बनाई जाती थीं।

मांडलगढ़, मावली, पारसोली, ऋषभदेव, सलूंबर, सनवाड़ और सराड़े में हैं। राज्य के कागज़-पत्र आदि परगनों में पहुंचाने के लिये राज्य की तरफ से भी प्रबंध है, जिसे 'बामणी डाक' कहते हैं, परंतु उसके लिये डाकखाने नियत नहीं हैं।

तारघर

सरकार अंग्रेज़ी के तारघर—उदयपुर शहर, चित्तोड़गढ़, खैरवाड़ा, भीलवाड़ा और नाथद्वारे में डाकखानों के साथ हैं। इनके अतिरिक्त 'बॉम्बे बड़ौदा एंड सेंट्रल इंडिया रेल्वे' के रूपाहेली, सरेड़ी, लांबिया, मांडल, हमीरगढ़, गंगराड़, चंदेरिया और शंभुपुरा के स्टेशनों तथा 'उदयपुर चित्तोड़गढ़ रेल्वे' के घोसुंडा, पांडोली, कपासण, करेड़ा, कांकड़ोली रोड़, नाथद्वारा रोड़ और खेमली के स्टेशनों से भी आसपास के गांवों के तार लिये और पहुंचाये जा सकते हैं।

छावनियां

उदयपुर राज्य में सरकार अंग्रेज़ी की छावनियां खैरवाड़े और कोटड़े में हैं। खैरवाड़े की अपेक्षा कोटड़े में सिपाही कम रहते हैं और इन छावनियों में सिपाही अधिकतर भील हैं।

शिक्षा

इस राज्य में शिक्षा का प्रबंध पहले राज्य की तरफ से नहीं था। खानगी पाठशालाओं में प्रारंभिक शिक्षा और कुछ हिसाब-किताब की पढ़ाई होती थी। संस्कृत पढ़नेवाले पंडितों के यहां और फारसी तथा उर्दू पढ़नेवाले मौलवियों के घरू मक्तबों में पढ़ते थे। अंग्रेज़ी ढंग की पढ़ाई के लिये पहले पहल महाराणा शंभुसिंह ने 'शंभुरत्नपाठशाला' स्थापित की, जहां हिन्दी, संस्कृत, उर्दू, फारसी और अंग्रेज़ी की पढ़ाई शुरू हुई और एक कन्या पाठशाला भी खोली गई। महाराणा सज्जनसिंह ने उसी पाठशाला को हाई स्कूल बनाकर उसका नाम 'महाराणा हाई स्कूल' रक्खा, जिसमें एंट्रेन्स तक की अंग्रेज़ी पढ़ाई के साथ हिन्दी, संस्कृत, उर्दू, फारसी का भी अलग प्रबंध किया गया। वर्तमान महाराणा साहब के समय में विद्याविभाग की पहले से विशेष उन्नति हुई और दो वर्ष पूर्व इंटरमीजिएट तक की पढ़ाई के लिये महाराणा हाई स्कूल 'कालेज' बना दिया गया। इसी तरह चित्तोड़गढ़, भीलवाड़ा और जहाज़पुर में मिडल तक अंग्रेज़ी की पढ़ाई भी होती है और चालीस के लगभग हिन्दी पाठशालाएं देहातों में कई जगह खुल गई हैं। सरदारों के लड़कों की पढ़ाई के लिये दो वर्ष पूर्व महाराजकुमार सर भूपालसिंहजी के नाम से 'भूपाल नोबल स्कूल' भी खुला है, जहां एक सौ से अधिक राजपूत सरदारों के

लड़के हिन्दी, संस्कृत और अंग्रेज़ी की शिक्षा पाते और वहीं रहते हैं। राजधानी और उसके आसपास के गाँवों में ईसाइयों के स्कॉटिश मिशन की तरफ से लड़कों के ७ स्कूल और १ लड़कियों का मदरसा भी है। ऐसे ही शहर में 'हरिश्चन्द्र आर्यविद्यालय' नाम की पाठशाला भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के स्मरण में कई वर्षों से स्थापित है, जहां अंग्रेज़ी तथा हिन्दी की पढ़ाई होती है। इनके अतिरिक्त और भी खानगी पाठशालाएं चल रही हैं।

उदयपुर नगर में सर्वप्रथम महाराणा शंभुसिंह के समय में राज्य की तरफ से एक अस्पताल खुला और महाराणा सज्जनसिंह के राज्यसमय उसी का नाम 'सज्जन हॉस्पिटल' रक्खा गया। वर्तमान महाराणा साहब ने हॉस्पिटल के लिये सुन्दर मकान बनवाकर उसका नाम 'लैन्सडाउन हॉस्पिटल' रक्खा, क्योंकि उसका खातमुहूर्त हिन्दुस्तान के वायसराय लॉर्ड लैन्सडाउन साहब के हाथ से हुआ था। महाराणा सज्जनसिंह ने मेवाड़ के रेज़िडेण्ट कर्नल वॉल्टर के नाम से 'वॉल्टर फ़ीमेल हॉस्पिटल' नामक एक ज़नाना अस्पताल खोला, जिसके लिये वर्तमान महाराणा साहब ने एक सुन्दर मकान बनवाया है। इसके अतिरिक्त शहर में एक मिशन अस्पताल भी है। ऐसे ही बहुधा प्रत्येक ज़िले के मुख्य स्थान में अस्पताल बन गया है और नाथद्वारे में गोस्वामीजी महाराज की तरफ से भी एक अस्पताल स्थापित है।

अस्पताल

राज्य-प्रबंध के लिये मेवाड़ के १६ विभाग किये गये हैं, जो ज़िले या परगने कहलाते हैं। प्रत्येक ज़िले या परगने में एक हाकिम और प्रत्येक तहसील पर उसकी मातहती में एक एक नायब हाकिम रहता है। उन हाकिमों को दीवानी फौजदारी तथा माल के मुक़द्दमे तय करने का नियमित अधिकार है और उनके किये हुए मुक़द्दमों की अपीलें उदयपुर नगर की अदालतों में होती हैं। इन ज़िलों में से १० में पैमाइश होकर पक्का बन्दोबस्त हो जाने से वहां ज़मीन का हासिल रुपयों में लिया जाता है और बाकी के ज़िलों में पुराने ढंग का प्रबंध होने के कारण वहां अन्न आदि का लाटाकूंता होता है, अर्थात् पैदावारी का हिस्सा लिया जाता है। ये ज़िले और परगने नीचे लिखे अनुसार हैं—

ज़िले

(१) गिरवा (गिर्दनवाह)—इस ज़िले का मुख्य स्थान उदयपुर है और इसमें उदयपुर तथा उससे मिले हुए कितने एक प्रदेश का समावेश होता है। इसके दो विभाग—भीतरी गिरवा और बाहरी गिरवा—हैं। उदयपुर के आस-

पास का पर्वतश्रेणी से घिरा हुआ अंश 'भीतरी गिरवा'[1] और उक्त श्रेणी से बाहर का समतल प्रदेश 'बाहरी गिरवा' कहलाता है। इसके अंतर्गत गिरवा (भीतरी गिरवा), लसाड़िया, मावली और ऊंटाला की तहसीलें हैं। नाई के सिवा प्रत्येक तहसील में नायब हाकिम नियत है। शहर उदयपुर के अतिरिक्त इसके अंतर्गत ४८६ गांव हैं।

(२) छोटी सादड़ी—यह ज़िला राज्य के अग्निकोण में है और इसमें क़स्बा छोटी सादड़ी तथा २०६ गांव हैं। इसके अंतर्गत दो तहसीलें—छोटी सादड़ी और करजू—हैं।

(३) कपासण—यह ज़िला राज्य के मध्य भाग में है और इसमें १४२ गांव हैं। इसके अधीन तीन तहसीलें—कपासण, आकोला और आसमा—हैं।

(४) चित्तोड़—इस ज़िले का मुख्य स्थान क़स्बा चित्तोड़ है। उसके अतिरिक्त इसमें ४४० गांव और इसमें तीन तहसीलें—चित्तोड़, कणेरा तथा मगावली—हैं।

(५) रास्मी—यह ज़िला भी मेवाड़ के मध्य में है और इसमें १०० गांव तथा दो तहसीलें—रास्मी और गलूंड—हैं।

(६) भीलवाड़ा—इसमें मुख्य क़स्बे भीलवाड़ा और पुर, तथा २०५ गांव हैं। इसमें भीलवाड़ा और मांडल तहसीलें हैं।

(७) सहाड़ां—यह ज़िला राज्य के नैर्ऋत्य कोण में है और इसमें २७४ गांव एवं तीन तहसीलें-सहाड़ां, रायपुर और रेलमगरा—हैं।

(८) मांडलगढ़—यह ज़िला राज्य के ईशान कोण में है। इसमें २५८ गांव और कोटड़ी तथा मांडलगढ़ की तहसीलें हैं।

(९) जहाज़पुर—यह ज़िला उदयपुर राज्य के ईशान कोण में है। इसमें क़स्बा जहाज़पुर एवं ३०६ अन्य गांव तथा जहाज़पुर और रूपान की तहसीलें हैं।

(१०) राजनगर—यह परगना राज्य के पश्चिमी विभाग में है और इसमें १२३ गांव हैं।

(११) सायरा—यह परगना राज्य के पश्चिमी विभाग में अर्वली की पर्वतश्रेणी में है और इसके अंतर्गत ५८ गांव हैं।

---

(१) भीतरी गिरवे में बंदोबस्त नहीं हुआ, वहां लाटाकूंता ही होता है।

(१२) कुंभलगढ़—यह परगना भी राज्य के पश्चिमी विभाग में अर्वली की पहाड़ियों के बीच है और इसमें १६५ गांव हैं। यहां का हाकिम कुंभलगढ़ के नीचे केलवाड़ा नामक गांव में और नायब हाकिम रींछेड़ में रहता है।

(१३) मगरा—यह ज़िला राज्य के दक्षिण और दक्षिण-पश्चिमी विभाग में है। इसमें ३२८ गांव तथा चार तहसीलें—सराड़ा, खैरवाड़ा, कल्याणपुर और जावर—हैं। यहां का हाकिम सराड़े में रहता है।

(१४) बागोर—इस परगने में ६४ गांव हैं। पहले यह बागोर के महाराज की जागीर थी, परंतु इस समय खालसे में है।

(१५) आसींद—यह परगना पहले आसींद के रावत का ठिकाना था, परंतु थोड़े ही समय पूर्व यह खालसे कर लिया गया है।

(१६) कुआखेड़ा—यह जहाज़पुर ज़िले का ही एक विभाग है, परंतु इन्हीं दिनों यह अलग परगना बनाया गया, ऐसा सुना है। इसमें कितने गांव आये यह ज्ञात नहीं हुआ।

न्याय

राजधानी में न्याय के लिये सदर दीवानी और सदर फौजदारी अदालतें हैं। ज़िलों और परगनों के हाकिमों के दीवानी फैसलों की अपील सदर दीवानी अदालत में होती है। दीवानी मामलों में ज़िलों के हाकिमों को ५००० रुपये तक के मुक़द्दमे फैसल करने का अधिकार है और सदर दीवानी का हाकिम १०००० रुपये तक का दावा सुन सकता है। ऐसे ही फौजदारी मामलों में ज़िलों के हाकिमों को एक साल तक की कैद और ५०० रुपये तक जुर्माना करने का अधिकार है। उनके मुक़द्दमों की अपील सदर फौजदारी में होती है। सदर फौजदारी के हाकिम को तीन साल तक की कैद और १००० रुपये तक जुर्माना करने का अधिकार है तथा वह १२ बेंत भी लगवा सकता है। दीवानी और फौजदारी के सब फैसलों की अपील 'महद्राजसभा' में होती है, जिसके प्रेसिडेंट स्वयं महाराणा साहब हैं। उक्त सभा के मेम्बरों के इजलास को 'इजलास मामूली' कहते हैं और इस इजलास को मगरे ज़िले के सिवा सब मुक़द्दमों में १५००० रुपये तक के दीवानी दावे सुनने और फैसले करने, तथा फौजदारी मुक़द्दमों में सात बरस तक की क़ैद और ५००० रुपये तक जुर्माना करने, एवं २४ तक बेंत लगवाने का अधिकार है। संगीन

और बड़े मुक़द्दमे फैसल करने के समय स्वयं महाराणा साहब सभा में उपस्थित रहते हैं और उसको 'इजलास कामिल' कहते हैं। महद्राजसभा के फैसल किये हुए सब मुक़द्दमों के लिखित फैसले स्वीकृति के लिये महाराणा साहब के पास जाते हैं और उनकी स्वीकृति हो जाने पर उनकी तामील कराई जाती है।

न्याय विभाग के अतिरिक्त राज्य के सब माली और मुल्की काम 'महकमा खास' के अधीन हैं। महकमे खास के हाकिम (जो अब दो रहते हैं) पहले के प्रधान के स्थान पर समझे जाते हैं। दूसरे राज्यों से संबंध रखनेवाली उदयपुर राज्य की कुल कार्रवाई भी इसी महकमे के द्वारा होती है। ज़िलों तथा परगनों के हाकिम महाराणा साहब की स्वीकृति से नियुक्त होते और पलटे जाते हैं।

ऐसा माना जाता है कि यदि मेवाड़ की भूमि के १३½ विभाग किये जावें तो उनमें से ७ विभाग जागीरदार और भोम के, ३ शासन के और ३½ विभाग राज्य के खालसे के होते हैं। जागीर यहां दो प्रकार की है अर्थात् एक तो सैनिक सेवा के बदले में मिली हुई और दूसरी राजा की कृपा से प्रधान आदि अधिकारियों तथा अन्य पुरुषों को उनकी अच्छी सेवा के निमित्त दी हुई। सैनिक सेवा के बदले में जिनको परगने, गांव या ज़मीन दी गई है वे लोग 'काले पट्टे के जागीरदार' कहलाते हैं। महाराणा अमरसिंह (प्रथम) के समय से यह नियम प्रचलित हुआ था कि सरदार (उमराव) के रहने के खास गांव को छोड़कर बाकी के गांव समय समय पर पलट दिये जावें, परंतु इसमें प्रजा की हानि देखकर महाराणा अमरसिंह (दूसरे) ने यह प्रबंध कर दिया कि जब तक सरदार नौकरी अच्छी तरह देता रहे और सरकारी हक़ पूरे अदा करता रहे तब तक उसके पट्टे (जागीर) के गांव बदले न जावें। तभी से जागीरों की स्थिरता हुई है।

मेवाड़ में सरदारों की तीन श्रेणियां हैं। प्रथम श्रेणी के सरदार 'सोला' (सोलह) कहलाते हैं, क्योंकि महाराणा अमरसिंह (दूसरे) ने अपने प्रथम श्रेणी के सरदारों की संख्या १६ नियत की थी, जिनके ठिकानों के नाम निम्नलिखित हैं—

(१) सादड़ी, (२) बेदला, (३) कोठारिया, (४) सलूंबर, (५) घाणेराव, (६) बीजोल्यां, (७) देगम (बेगूं), (८) देवगढ़, (९) देलवाड़ा,

(१०) आमेट, (११) गोगूंदा, (१२) कानोड़, (१३) भींडर, (१४) बदनौर, (१५) बानसी और (१६) पारसोली।

पीछे से महाराणा अरिसिंह (दूसरे[1]) ने भैंसरोड़, महाराणा भीमसिंह ने कुरावड़, महाराणा जवानसिंह ने आसींद तथा महाराणा शंभुसिंह ने मेजा के सरदारों को प्रथम श्रेणी में दाखिल किया, जिससे उनकी संख्या २० हो गई; परंतु घाणेराव के मारवाड़ में चले जाने से संख्या १६ ही रही, तो भी उनकी बैठकों की संख्या अब तक १६ ही नियत है। पीछे से जो चार बढ़ाए गये हैं वे उपर्युक्त १६ में से किसी नियत सरदार की अनुपस्थिति के समय दरबार में उपस्थित होते हैं।

द्वितीय श्रेणी के सरदारों की संख्या महाराणा अमरसिंह (दूसरे) के समय ३२ होने से, उनको 'बत्तीस' कहते हैं, परन्तु अब उनकी संख्या ३२ से अधिक है। पहले की नियत की हुई संख्या में से कुछ तीसरी श्रेणी में आ गये, कितने एक नये भी बढ़ाए गये और थोड़े से, मेवाड़ से जो इलाके निकल गये उनके साथ, अन्य राज्यों में चले गये जिससे उनका संबंध अब मेवाड़ के साथ नहीं रहा। अब जो सरदार इस वर्ग में हैं उनके ठिकानों के नाम नीचे लिखे जाते हैं—

(१) हंमीरगढ़, (२) चावंड, (३) भदेसर, (४) बोहेड़ा, (५) भूंणास, (६) पीपल्या, (७) बेमाली, (८) तांणा, (९) रामपुरा, (१०) भैराबाद, (११) महुआ, (१२) लूंणदा, (१३) थाणा, (१४) बंबोरा, (१५) जरखाणा (धनेरिया), (१६) कैलवा, (१७) बड़ी रूपाहेली, (१८) भगवानपुरा, (१९) रूपनगर, (२०) बाबा दूलहसिंह, (२१) नेतावल, (२२) पीलाधर, (२३) लसाड़ा, (२४) बाठरड़ा, (२५) बंबोरी, (२६) बाबा मदनसिंह (अब यह जागीर नहीं रही), (२७) सनवाड़, (२८) करेड़ा, (२९)

---

(१) मेवाड़ के इतिहास की कुछ पुस्तकों में वहां के राजाओं की नामावली में अरिसिंह नाम के तीन राजाओं का उल्लेख है—प्रथम, विजयसिंह का पुत्र; द्वितीय, हम्मीरसिंह का पिता; और तृतीय, राजसिंह दूसरे का पुत्र। राणा हम्मीरसिंह का पिता अरिसिंह कभी मेवाड़ का स्वामी नहीं हुआ, और कुंवरपदे में ही वह अपने पिता लक्ष्मणसिंह सहित अलाउद्दीन खिलजी से लड़ने में मारा गया था। वह तो सीसोदे की जागीर का स्वामी भी नहीं हुआ था, अतएव उसका नाम मेवाड़ के राजाओं की नामावली में दर्ज करना भ्रम है। वास्तव में अरिसिंह नाम के दो ही राजा हुए।

अमरगढ़, (३०) लसाणी, (३१) धरियावद, (३२) फर्लाचड़ा, (३३) संग्रामगढ़ और (३४) विजैपुर।

तीसरी श्रेणी के सरदारों को 'गोळ के सरदार' कहते हैं, जिनकी संख्या कई सौ है। प्रथम और द्वितीय श्रेणी के सब सरदारों को ताज़ीम दी जाती है और गोळ के सरदारों में भी कुछ ताज़ीमी सरदार हैं। मेवाड़ के समस्त ताज़ीमी सरदारों का संक्षिप्त वृत्तान्त इस राज्य के इतिहास के अंत में दिया जायगा। मेवाड़ के सरदारों को राजपूताने के अन्य राज्यों के सरदारों की अपेक्षा अधिक हक़ प्राप्त है, जिसका विवेचन आगे किया जायगा।

भोम भी एक प्रकार की जागीर है और भोमिये लोगों को गांवों का रक्षण करना तथा हाकिमों के पास रहना पड़ता है। भोमियों को खुराक-खर्च, और यदि घोड़ा हो तो उसका घासदाना भी, राज्य से मिलता है। ये लोग राज्य की सेवा के अतिरिक्त 'भोम बराड़' नामक कर भी देते हैं। भोमट ज़िले में कई छोटे छोटे भोमिये सरदार हैं, जो नियत खिराज दिया करते हैं।

देवमंदिर, ब्राह्मण, चारण, भाट, यति, संन्यासी, नाथ, फकीर आदि को पुण्यार्थ दी हुई भूमि को यहां शासन कहते हैं। ये लोग न तो कोई हासिल और न नौकरी ही देते हैं, परंतु किसी किसी से कुछ लागतें वसूल की जाती हैं। जो देवमंदिर राज्य के अधिकार में हैं, उनके लिये एक अधिकारी नियत है, जो 'हाकिम देव-स्थान' कहलाता है।

सेना

इस राज्य में कुल सेना ६०१५ सिपाहियों की है, जिसमें २५४९ कवायदी और ३४६६ बेक़वायदी हैं। क़वायदी सेना में १७५० पैदल, ५६० सवार और २३९ गोलंदाज और तोपखाने के सिपाही हैं। बेक़वायदी सेना में ३००० पैदल और ४६६ सवार हैं। इनके अलावा सरदारों की 'जमियत' भी राजसेवा में रहा करती है। इस सेना के अतिरिक्त १४१ सवार 'इंपीरियल सर्विस ट्रूप्स' के भी हैं।

इस राज्य की सालाना आमद अनुमान ५१०००००[1] कलदार रुपये और खर्च उससे कुछ ही कम है। आमद के मुख्य सीगे ज़मीन का हासिल, दाण (सायर),

(१) ये अंक 'दी इंडियन स्टेट्स' नामक गवर्नमेंट की प्रकाशित पुस्तक से उद्धृत किये गये हैं: (ई० स० १९२१ का संस्करण)।

आमद-खर्च

गवर्नमेंट से मिलनेवाले नमक के रुपये, उदयपुर-चित्तोड़गढ़ रेल्वे की आमद, सरदारों की छटूंद तथा स्टैंप आदि हैं। खर्च के मुख्य सीगे सेना, पुलिस, हाथखर्च, महलों का खर्च, अदालती खर्च, अस्तबल खर्च, गवर्नमेंट का खिराज, धर्मादा, रेल-खर्च, सड़कें तथा इमारतें आदि हैं।

सिक्का

इस राज्य में प्राचीन काल से ही सोने, चांदी और तांबे के सिक्के चलते थे। चांदी के सिक्के द्रम्म, रूपक और तांबे के कार्षापण कहलाते थे। यहां से मिलनेवाले सबसे पुराने सिक्के चांदी और तांबे के हैं, जिनपर कोई लेख नहीं, किन्तु मनुष्य, पशु, पक्षी, सूर्य, चन्द्र, धनुष, वृक्ष आदि चिह्न बने होते हैं। वे प्रारंभ में चौखूंटे होते थे और पीछे से उनके किनारों पर कुछ गोलाई भी आती रही। ऐसे चांदी और तांबे के सिक्के 'नगरी' (मध्यमिका) में अधिक मिलते हैं। लेखवाले सबसे पुराने सिक्के नगरी से ही प्राप्त हुए हैं, जो विक्रम संवत् पूर्व की तीसरी शताब्दी के हों, ऐसा उनपर के अक्षरों की आकृति से प्रतीत होता है। वहीं से यूनानी राजा मिनेंडर के द्रम्म भी मिले हैं। पश्चिमी क्षत्रपों के कई चांदी के सिक्के चित्तोड़ के बाज़ार में मुझे मिले और गुप्तों के सोने के सिक्के भी मेवाड़ में कभी कभी मिल आते हैं। हूणों के प्रचलित किये हुए चांदी और तांबे के गधिये सिक्के आहाड़ आदि कई स्थानों में पाये जाते हैं। वर्तमान राजवंश के संस्थापक राजा गुहिल के चांदी के सिक्कों का एक बड़ा संग्रह आगरे से प्राप्त हुआ है। 'गुहिलपति' लेखवाले सिक्कों का भी पता लगा है, परंतु गुहिलपति एक बिरुद होने से यह ज्ञात नहीं होता कि वे सिक्के किस राजा के हैं। शील (शीलादित्य) का एक तांबे का सिक्का और उसके उत्तराधिकारी बापा (कालभोज) की सोने की मोहर भी मिली है। खुम्माण (प्रथम) और महाराणा मोकल तक के राजाओं का कोई सिक्का अब तक प्राप्त नहीं हुआ। फिर महाराणा कुंभकर्ण के तीन प्रकार के तांबे के सिक्के भी पाये गये हैं और उसके चांदी के सिक्के भी चलते थे, ऐसा उल्लेख मिलता है। इसी तरह महाराणा सांगा, रत्नसिंह, विक्रमादित्य और उदयसिंह के सिक्के भी मिल आते हैं।

महाराणा अमरसिंह (प्रथम) ने बादशाह जहांगीर से सुलह की, तभी से मेवाड़ की टकसाल बंद हो गई, क्योंकि मुसलमानों के राज्यसमय अपने तथा अपने अधीनस्थ राज्यों में सिक्का उन्हीं का चलता था। जब बादशाह अकबर ने चित्तोड़ ले लिया तब वहां अपने नाम के सिक्के चलाये और टकसाल

भी खोली। चित्तोड़ की टकसाल के अकबर के ही सिक्के मिलते हैं। जहांगीर तथा उसके पिछले बादशाहों के समय बाहरी टकसालों के बने हुए उन्हीं के सिक्के यहां चलते रहे, जिनका नाम पुराने बहीखातों में 'सिक्का एलची' मिलता है। मुहम्मद शाह और उसके पिछले बादशाहों के समय उनकी अवनत दशा में राजपूताने के भिन्न भिन्न राज्यों ने बादशाह के नामवाले सिक्कों के लिये शाही आज्ञा से अपने अपने यहां टकसालें जारी कीं। तब मेवाड़ में भी चित्तोड़, भीलवाड़े और उदयपुर में टकसालें खुलीं। उन टकसालों के बने हुए रुपये चित्तोड़ी, भीलाड़ी और उदयपुरी कहलाते हैं और उनपर शाहआलम (दूसरे) का लेख रहता है। इन रुपयों का चलना जारी होने पर एलची सिक्के बंद होते गये और पहले के लेन-देन में तीन एलची रुपयों के बदले में चार चित्तोड़ी, उदयपुरी आदि दिये जाने लगे। सरकार अंग्रेज़ी के साथ अहदनामा होने के बाद महाराणा स्वरूपसिंह ने अपने नाम का रुपया चलाया जिसको 'सरूपसाही' कहते हैं[1]। उसकी एक तरफ़ 'चित्रकूट उदयपुर' और दूसरी ओर 'दोस्ति लंधन' (इग्लैंड का मित्र) लेख नागरी लिपि में है। सरूपसाही अठन्नी, चवन्नी, दुअन्नी और अन्नी भी अब तक बनती रही है। सरूपसाही मुहर भी बनती हैं, परंतु उनका चलन नहीं है। मेवाड़ में कई तरह के तांबे के सिक्के चलते हैं, जो उदयपुरी (ढींगला), भीलवाड़ी (भीलाड़ी), त्रिशूलिया, भींडरिया, नाथद्वारिया आदि नामों से प्रसिद्ध हैं और वे भिन्न भिन्न तोल और मोटाई के होते हैं। उनपर कहीं अस्पष्ट फारसी अक्षर या त्रिशूल, वृक्ष आदि चिह्न बने होते हैं।

प्रसिद्ध और प्राचीन स्थान

उदयपुर राज्य में प्राचीन स्थान बहुत हैं। यदि उनका सविस्तर वर्णन किया जाय तो एक बड़ी पुस्तक बन सकती है, परंतु यहां इतना स्थान नहीं है, अतएव उनमें से मुख्य मुख्य का बहुत ही संक्षिप्त वृत्तान्त नीचे लिखा जाता है—

---

(१) महाराणा भीमसिंह की बहिन चंद्रकुंवर बाई के स्मरण में उक्त महाराणा के समय में 'चांदोड़ी' रुपया, अठन्नी, चवन्नी आदि भी बनाई गई। उनपर पहले फारसी अक्षर थे, परंतु महाराणा स्वरूपसिंह ने फारसी अक्षरों को निकलवाकर उनके स्थान में बेल-बूटों के चिह्न बनवाये। ये सिक्के अब तक दान-पुण्य या विवाह आदि के अवसर पर देने के काम में आते हैं।

पीछोला तालाब और उसके पूर्वी तट का
नगर का दृश्य
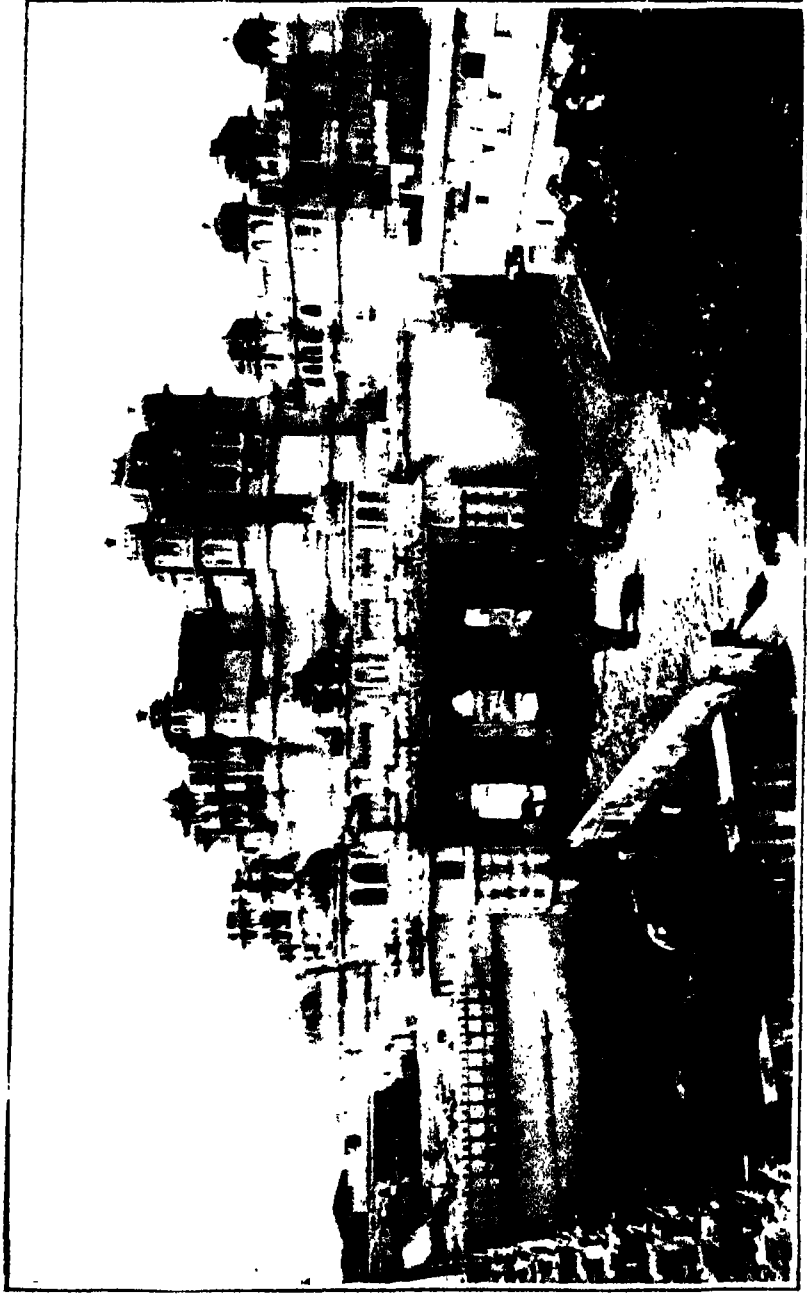
त्रिपोलियों की तरफ़ से राजमहलों का दृश्य

उदयपुर[1] शहर पीछोला तालाब के पूर्वी किनारे की उत्तर-दक्षिण स्थित पहाड़ी के दोनों पार्श्व पर बसा हुआ है। इसके पूर्व तथा उत्तर में समान भूमि आ गई है, जिधर नगर बढ़ता जाता है। शहर पुराने ढंग का बना हुआ है और एक बड़ी सड़क को छोड़कर बहुधा सब रास्ते व गलियां तंग हैं। इसकी तीन तरफ़ पक्की शहरपनाह है, जिसमें स्थान स्थान पर बुर्जें बनी हुई हैं। नगर के उत्तर तथा पूर्व में, जहां शहरपनाह पर्वतमाला से दूर है, एक चौड़ी खाई कोट के पास पास खुदी हुई है। शहर के दक्षिणी भाग में पहाड़ी की ऊंचाई पर पीछोले के किनारे पुराने राजमहल बड़े ही सुन्दर और प्राचीन शैली के बने हुए हैं। पुराने महलों में मुख्य छोटी चित्रशाली, सूरज चौपाड़, पीतमनिवास, मानिकमहल, मोतीमहल, चीनी की चित्रशाली, दिलखुशाल, बाड़ीमहल (अमर-विलास) मुख्य हैं। पुराने महलों के आगे अंग्रेज़ी तर्ज़ का शंभुनिवास नाम का नया महल, और उसके निकट वर्तमान महाराणा साहब का बनवाया हुआ शिव-निवास नामक सुविशाल महल लाखों रुपयों की लागत से तैयार हुआ है। राज-महल शहर के सबसे ऊंचे स्थान पर बनाये जाने के कारण और इनके नीचे ही विस्तीर्ण सरोवर होने से उनकी प्राकृतिक शोभा बहुत बढ़ी-चढ़ी है। राजमहलों के नीचे सज्जननिवास नाम का बड़ा ही रमणीय और विस्तृत बाग़ आ गया है, जिसमें जगह जगह फव्वारे छूटते हैं। इस बाग़ में एक तरफ़ शेर, नाहर, चीते आदि जानवरों; और रोझ, हिरण, ज़ेबरा, रींछ आदि जन्तुओं एवं तरह तरह के पक्षियों के रहने के स्थान निर्माण किये गये हैं। एक तरफ़ विक्टोरिया हॉल नामक विशाल भवन बना हुआ है, जिसके सामने महारानी विक्टोरिया की पूरे क़द की मूर्ति खड़ी है और भवन में पुस्तकालय, वाचनालय, अजायबघर आदि बने हैं। पुस्तका-लय में ऐतिहासिक पुस्तकों का बड़ा संग्रह है और अजायबघर में पुराने शिला-

(१) पहले राजधानी चित्तोड़गढ़ थी, परंतु वह गढ़ सुदृढ होने पर भी एक ऐसी लंबी पहाड़ी पर बना हुआ है, जो अन्य पर्वतश्रेणियों से पृथक् आ गई है; अतएव शत्रु उसका घेरा डालकर क़िलेवालों के पास बाहर से रसद आदि का पहुंचना सहज ही बंद कर सकता है। यही कारण था कि यहां कई बार बड़ी बड़ी लड़ाइयों में क़िले के लोगों को, भोजनादि सामग्री खतम हो जाने पर, विवश दुर्ग के द्वार खोलकर शत्रुसेना से युद्ध करने के लिये बाहर आना पड़ा। इसी असुविधा का अनुभव करके महाराणा उदय-सिंह ने चारों तरफ़ पर्वतों से घिरे हुए सुरक्षित स्थान में उदयपुर नगर बसाकर उसे अपनी दूसरी राजधानी बनाया।

लेख तथा प्राचीन मूर्तियां भी यथेष्ट संख्या में हैं। शहर में देखने योग्य स्थान जगदीश का मन्दिर भी है। महाराणा जगत्सिंह प्रथम ने वि० सं० १७०६ (ई० स० १६५२) में लाखों रुपये व्यय कर इस देवालय का निर्माण किया था। यह विशाल और सुंदर शिखरबंद मंदिर एक ऊंचे स्थान पर बना हुआ होने के कारण बड़ा ही भव्य दीखता है। इस मंदिर के बाहरी भाग में चारों ओर अत्यंत सुंदर खुदाई का काम बना हुआ है, जिसमें गजथर, अश्वथर तथा संसारथर भी प्रदर्शित किये गये हैं। गजथर के कई हाथी और बाहरी द्वार के पास का कुछ भाग औरंगज़ेब की चढ़ाई के समय मुसलमानों ने तोड़ डाला था, जो नया बनाया गया है। इस के सिवा खंडित हाथियों की पंक्ति में नये हाथी भी यथास्थान लगा दिये हैं। उदयपुर में शिव, विष्णु, देवी आदि के तथा जैनों के कई मंदिर हैं, परन्तु ऐसा भव्य कोई भी नहीं है।

नगर के पश्चिमी किनारे पर पिछोला नामक विस्तीर्ण सरोवर आ गया है, जिसमें कई छोटे-बड़े टापू हैं और उनपर भिन्न भिन्न समय के कई सुंदर स्थान बने हुए हैं जिनमें से दो विशेष उल्लेखनीय हैं। राजमहलों के सामने और नगर के समीप जगनिवास नामक महल हैं, जिनको महाराणा जगत्सिंह द्वितीय ने एक टापू पर बनवाया था। इनमें बगीचे, हौज़ और फव्वारे इत्यादि कई वस्तुएं दर्शनीय हैं। प्राचीन महलों में संगमरमर का बना हुआ 'धोला-महल' देखने योग्य है। इसके सामने ही नहर का हौज़ बना हुआ है, जिसके चारों तरफ भूलभुलैया के रूप में बनी हुई नालियां, पुष्पों की क्यारियां एवं ताड़ के ऊंचे ऊंचे वृक्ष लगे हुए हैं, जिनसे यहां हरियाली की अच्छी छटा बनी रहती है। महाराणा शंभुसिंह तथा सज्जनसिंह ने अपने अपने नाम से शंभुप्रकाश और सज्जननिवास नामक महल बनवाये। सज्जननिवास महल में तैरने के लिये एक विशाल कुंड तथा फव्वारों की पंक्तियां और कुंड के दोनों तरफ बने हुए दालानों में बड़े बड़े दर्पण लगे हुए हैं। इसकी दूसरी मंज़िल में सिंहादि हिंसक जन्तुओं के आखेटसंबंधी चित्र, तथा चौक के एक दूसरे भाग में हाथियों से अन्य पशुओं के युद्ध के दृश्य अनेक रंगीन चित्रों द्वारा अंकित किये गये हैं, जिससे दर्शक का बड़ा मनोरंजन होता है। आजकल महाराजकुमार साहब सज्जननिवास की ऊपरी मंज़िल के पास एक नया महल बनवा रहे हैं, जिससे जगनिवास के इस भाग की शोभा और भी बढ़ जायगी। ये महल जल
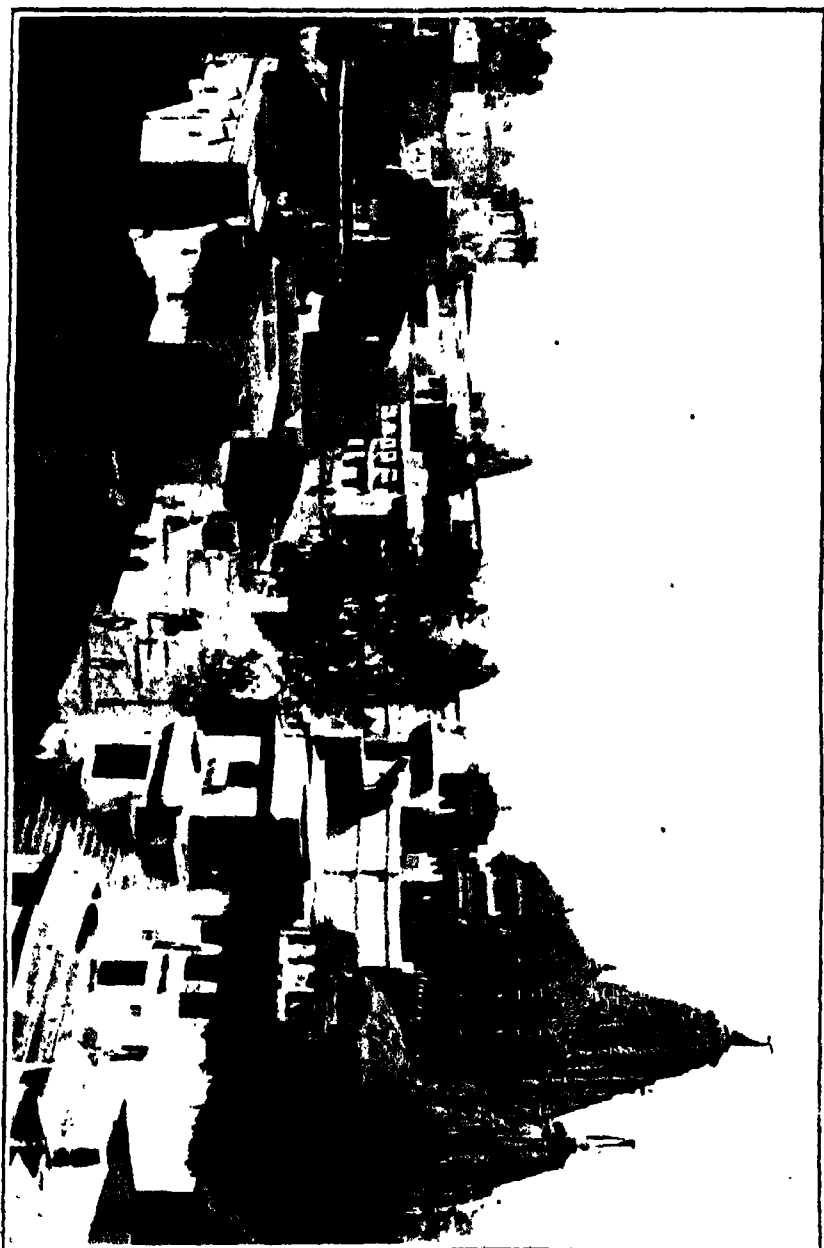
जगदीश का मंदिर और नगर का भाग
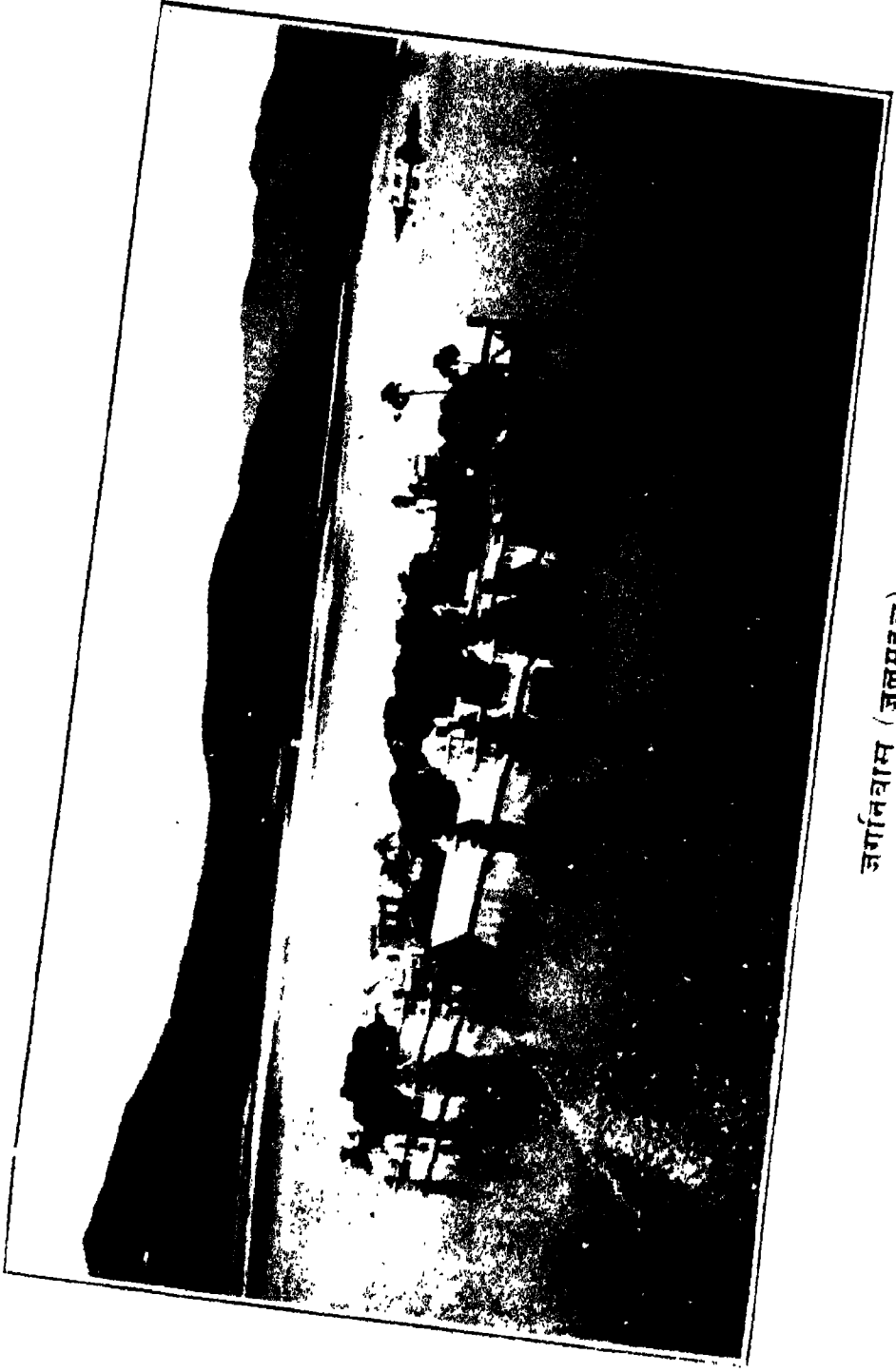
जगनिवास (जलमहल)

के मध्य में बने हुए होने के कारण उष्ण काल में यहां बड़ी ठंडक रहती है। इस महल की दूसरी मंज़िल से सरोवर, राजमहल एवं नगर का दृश्य ऐसा रमणीय दीख पड़ता है कि सैकड़ों कोस दूर से उदयपुर तक आने के सारे श्रम को यात्री क्षण भर में भूल जाता है और उसके हृदय में नैसर्गिक आनंद की लहर उमड़ उठती है।

जगनिवास से अनुमान आध मील दक्षिण में एक दूसरे विशाल टापू पर जगमंदिर नामक पुराने महल बने हुए हैं। महाराणा कर्णसिंह ने इनको बनवाना प्रारंभ किया था, परन्तु उनका काम अधूरा ही रहा जिसको उनके पुत्र महाराणा जगत्सिंह (प्रथम) ने समाप्त किया, इसी से ये महल जगमंदिर कहलाते हैं। जगमंदिर के बाहर तालाव के किनारे पर पत्थर के हाथियों की एक पंक्ति बनी हुई है। जगनिवास की अपेक्षा जगमंदिर प्राचीन है और इसमें इतिहास-प्रेमी के लिये दर्शनीय स्थान भी अधिक हैं। इस महल में केवल प्राचीनता ही है और आजकल की तरह भांति भांति की सजावट यहां दृष्टिगोचर नहीं होती। जगमंदिर में मुख्य स्थान एक गुंबज़दार महल है, जिसको 'गोल महल' कहते हैं। इसके विषय में वहांवालों का यह कथन है कि शाहज़ादा खुर्रम (पीछे से बादशाह शाहजहां) अपने पिता जहांगीर से विद्रोह करने पर उदयपुर आकर कुछ समय तक रहा था, और उसी के लिये महाराणा कर्णसिंह ने यह महल बनवाया था, परंतु विशेषतः संभव तो यह है कि जब शाहज़ादा खुर्रम शाही फौज का सेनापति बनकर उदयपुर में रहा था, उस समय उसने उक्त महल बनवाया हो। इस महल को देखने से ज्ञात होता है कि इसका निर्माण करने में आगरे के कारीगरों का हाथ अवश्य था, क्योंकि इसके गुंबज़ आदि में पत्थर की पच्चीकारी का जो काम है, वह मेवाड़ की शैली का नहीं, किंतु आगरे के सुप्रसिद्ध ताजमहल के ढंग का है। आश्चर्य्य नहीं कि इसी महल के गुंबज़ की शैली पर ताजमहल का गुंबज़ भी बना हो, क्योंकि यह ताजमहल से पहले का बना हुआ है। इस महल के सामने एक विशाल चौक है, जिसके मध्य में एक बड़ा हौज़ बना हुआ है। इस हौज़ के चारों किनारों पर एवं चौक के मध्य में फव्वारों की पंक्तियां बनी हुई हैं, जो ताजमहल के सामने के फव्वारों का स्मरण दिलाती हैं; परंतु अब ये बिगड़ी हुई दशा में हैं, जिससे जलधाराओं के छूटने का आनंद दर्शक को प्राप्त नहीं होता। इनके सिवा कई एक दालान और छोटे बड़े

अन्य स्थान भी हैं, जो पीछे से महाराणा संग्रामसिंह द्वितीय के समय में बने हैं। जगमंदिर में बहुत बड़ा बगीचा लग जाने से इसकी बहुत कुछ शोभावृद्धि हुई है। गोल महल के पूर्व पार्श्व में संगमरमर की केवल बारह बड़ी बड़ी शिलाओं से बना हुआ एक महल है। ई० स० १८५७ (वि० सं० १९१४) के सिपाही-विद्रोह के समय नीमच के कई एक अंग्रेज़ कुटुंबों को महाराणा स्वरूपसिंह ने अपने यहां लाकर सत्कारपूर्वक इन्हीं महलों में रक्खा था।

पीछोले के 'बड़ीपाल' नामक बांध के दक्षिणी किनारे से प्रारंभ होकर तालाब के दक्षिणी तट के पास पास पहाड़ियों की एक शृंखला चली गई है। बांध के समीप की ऊंची पहाड़ी 'माछला मगरा' (मत्स्य-शैल) कहलाती है और उसपर एकलिंगगढ़ नामक प्राचीन दुर्ग बना हुआ है, जहां कुछ तोपें भी रहती हैं। उदयपुर पर मरहटों के आक्रमण के समय इस दुर्ग ने नगर की रक्षा करने में बहुत कुछ सहायता की थी। दक्षिण में अर्वली पर्वतमाला की इन श्यामवर्ण पहाड़ियों की पंक्ति आ जाने से तालाब की शोभा बढ़ गई है। इधर दक्षिणी तट पर 'खास ओदी' नामक एक स्थान है जहां सिंह-शूकर-युद्ध के लिये चौकोर मकान बना हुआ है, जिसकी छत पर बैठकर यह युद्ध देखने में बड़ा ही आनंद रहता है। खास ओदी से कुछ दूर पश्चिम में सरोवर के दक्षिणी सिरे के निकट सीसारमा गांव है, जहां वैद्यनाथ नामक शिवालय देखने योग्य है। इस शिवालय को महाराणा संग्रामसिंह द्वितीय की माता देवकुमारी ने बनवाया था। अपनी मातृभक्ति के कारण महाराणा संग्रामसिंह ने लाखों रुपये व्यय कर इस देवालय की प्रतिष्ठा वि० सं० १७७२ माघ सुदि १२ को बड़ी धूमधाम से की थी, जिसके उत्सव में कोटे के महाराव भीमसिंह, डूंगरपुर के रावल रामसिंह तथा कई प्रसिद्ध राजवंशी विद्यमान थे[1] और राजमाता ने सुवर्ण का तुलादान किया था। मंदिर में दो बड़ी बड़ी शिलाओं पर खुदी हुई

---

(१) *प्रासादवैद्याद्यविधिं दिदृक्षुः कोटाधिपो भीमनृपोभ्यगच्छत् ।*
रथाश्वपत्तिद्विपनद्धसैन्यो दिल्लीपसम्मानितबाहुवीर्यः ॥ १५ ॥
यो डूंगराख्यस्य पुरस्य नाथो दिदृक्षया रावलरामसिंहः ।
सोऽप्यागमत्तत्र समग्रसैन्यो देशान्तरस्था अपि चान्यभूपाः ॥ १६ ॥

वैद्यनाथ के मंदिर की प्रशस्ति, प्रकरण पांचवां.

जगमंदिर (जलमहल)
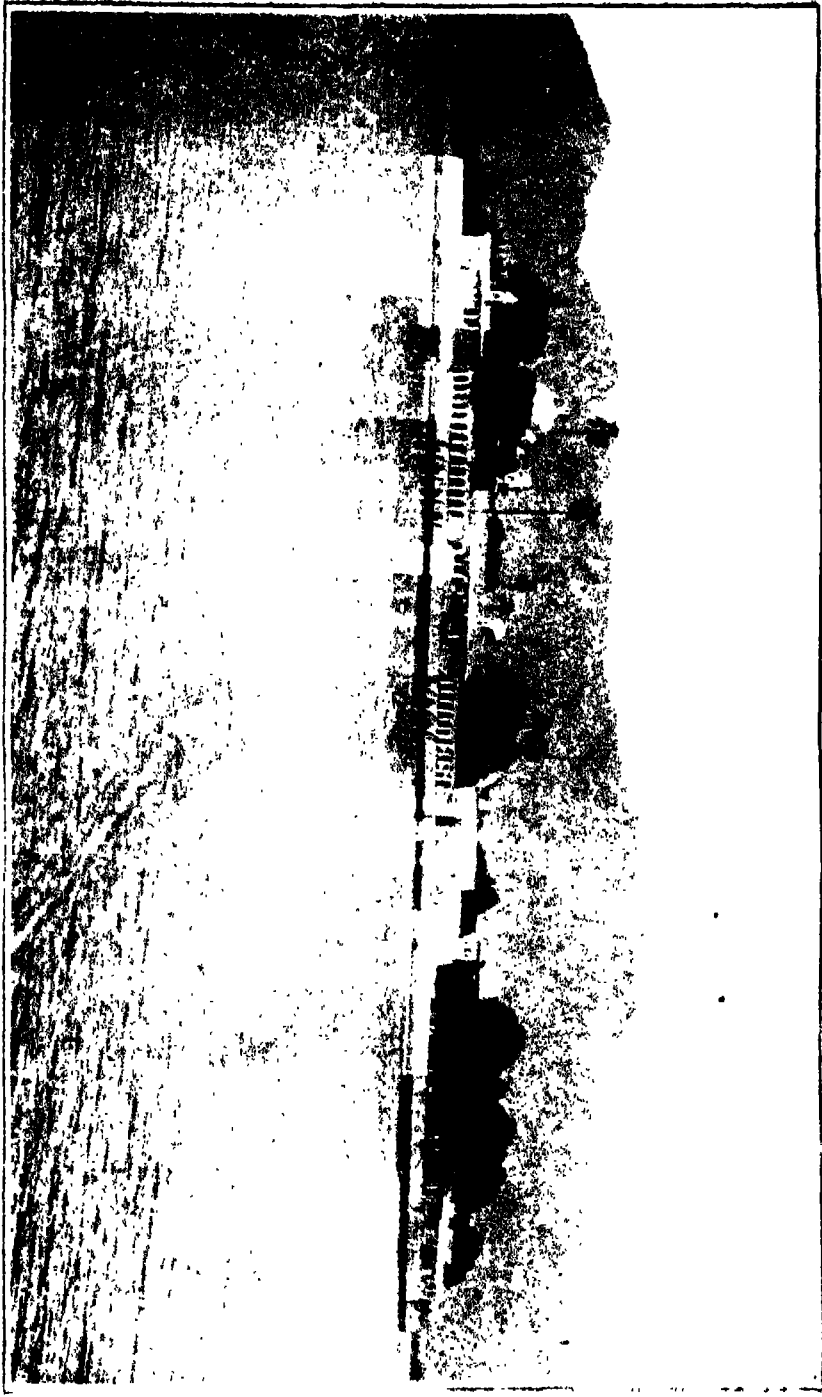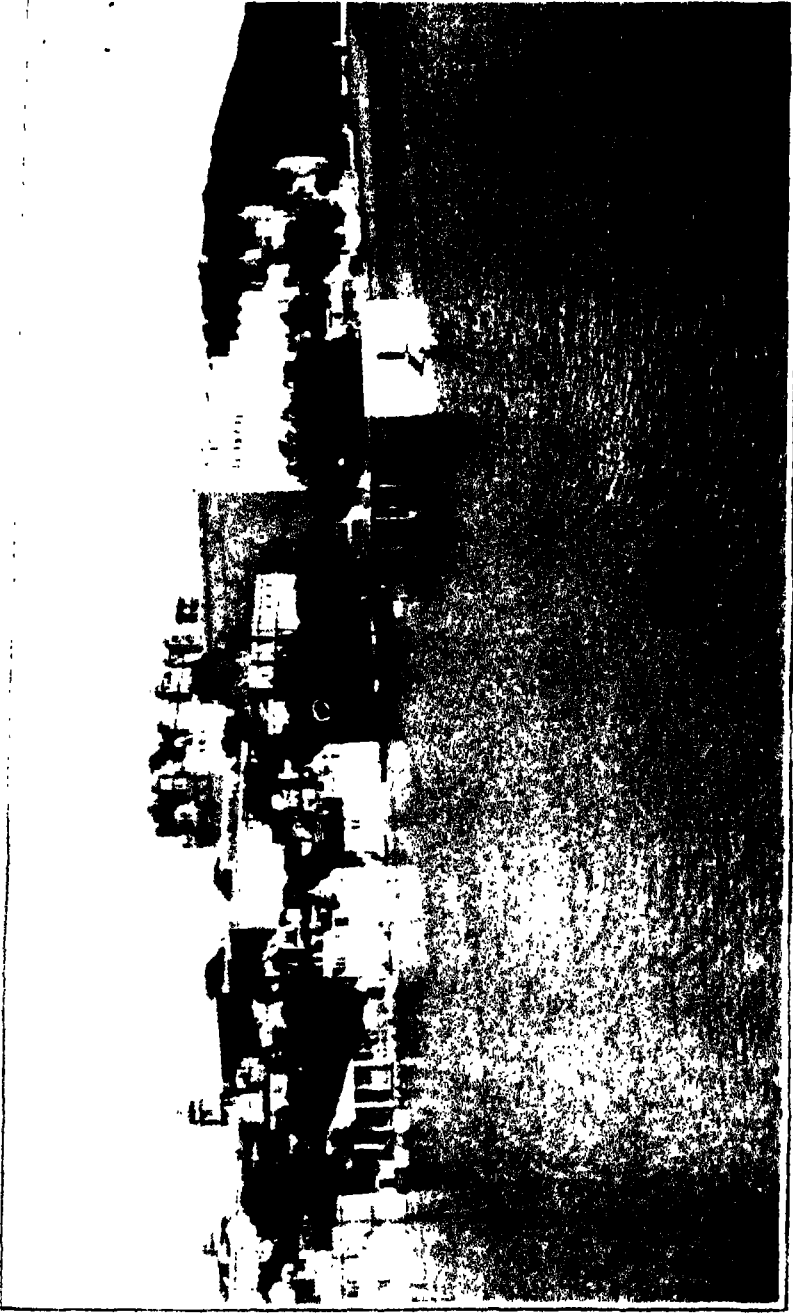
वि० सं० १७७५ की प्रशस्ति लगी है, जिसमें उक्त उत्सव का विस्तृत वर्णन है। यह प्रशस्ति इतिहास एवं इतिहासप्रेमियों के लिये बड़े महत्त्व की है।

उदयपुर के पश्चिम में एक कोस दूर बांसदरा पहाड़ पर, जो समुद्र की सतह से ३१०० फुट ऊंचा है, महाराणा सज्जनसिंह ने सुंदर महल बनवाना आरंभ किया था और उसका नाम सज्जनगढ़ रक्खा था। सज्जनगढ़ के महलों में जो काम महाराणा सज्जनसिंह के समय में अपूर्ण रह गया उसे वर्तमान महाराणा साहब ने पूर्ण कराया। इसकी पहली मंज़िल में पत्थर की खुदाई का काम बड़ा ही सुंदर बना हुआ है। ऊंचाई होने के कारण यहां से पीछोला, राज-महल, नगर, फतहसागर, दूर दूर के कई गांव एवं चारों ओर की पर्वतमाला का दृश्य देखने में अपूर्व आनंद आता है, इस कारण दर्शक दो मील की चढ़ाई चढ़कर ऊपर जाने पर अपना सारा श्रम क्षण भर में भूल जाता है। उष्ण काल में यहां गरमी कम रहती है और प्रकृति-सौंदर्य के निरीक्षण के लिये यह सर्वोत्तम स्थान है।

नगर के हाथीपोल दरवाज़े के बाहर ही थोड़ी दूर पर रेज़िडेन्सी का भवन बना हुआ है और यहां से पश्चिम में जाने पर फतहसागर के बांध के नीचे ही 'सहेलियों की बाड़ी' नामक बाग़ आता है। यहां भी मामूली ढंग का एक महल बना हुआ है, जिसके आगे के चौक में एक बहुत बड़ा हौज़ है। इस बाड़ी में महलों की अपेक्षा फव्वारों का दृश्य बड़ा ही चित्ताकर्षक है। हौज़ के चारों तरफ फव्वारों की पंक्तियां लगी हुई हैं, जिनसे सैकड़ों धाराओं के एक साथ छूटने पर दर्शक को ऐसा मालूम होता है कि मानो एक जल-भित्ति खड़ी हो गई हो। हौज़ के चारों किनारों पर बनी हुई छत्रियों के छज्जों आदि विभिन्न भागों तथा उनके ऊपर बने हुए चिड़िया आदि भांति भांति के पक्षियों की चोंचों से ऊंची धाराएं चारों ओर छूटती हैं और हौज़ के बीच की छत्री के छज्जों में से चारों तरफ जल इस प्रकार गिरता है, जैसे एक प्रपात फूट निकला हो। इस बाग़ में फूलों से लदी हुई क्यारियों और हरी हरी दूब की अद्भुत छटा के साथ साथ स्थान स्थान पर छोटे बड़े फव्वारों की ऐसी विचित्र रचना की गई है कि उनके सौंदर्य का ठीक अनुमान देखने से ही हो सकता है। यहां एक विशाल अंडाकृति कुंड है, जिसमें कमल-वन लगा हुआ है। कुंड के चारों तरफ चार चार इंच के अंतर पर फव्वारों के छिद्र बने हैं तथा मध्य में एक विशाल

फव्वारा लगा हुआ है और उस कुंड के आमने-सामने एक एक पत्थर के बने हुए चार हाथी हैं। कमल-वन के मध्य का विशाल फव्वारा जब चलने लगता है तब हाथियों की सूंडों से मोटी मोटी धाराएं बहुत दूर तक छूटती हैं और सहस्रों धाराओं के एक साथ निकलने पर दर्शक को यह अद्भुत दृश्य ऐसा प्रतीत होता है, मानो वर्षारंभ हो गया हो। फव्वारों के बड़े वेग से छूटने का कारण यह है कि इनमें जल बड़ी ऊंचाई पर स्थित फतहसागर से नलों द्वारा पहुंचाया जाता है। राजपूताने में फव्वारों की सुंदर छटा के लिये भरतपुर राज्य का डीग नामक स्थान प्रसिद्ध है; परंतु जिन्होंने डीग के फव्वारे छूटते हुए देखे हैं वे भी इन फव्वारों की मनोमोहक छटा के आगे डीग के फव्वारों की शोभा को कहीं फीकी बतलाते हैं। फव्वारों की यह अद्भुत रचना वर्तमान महाराणा साहब की इच्छा के अनुसार की गई है। श्रावण मास की हरियाली अमावास्या के अवसर पर इस बाड़ी में नगर निवासियों का बड़ा मेला लगता है। उदयपुर में यह बाड़ी भी मन-बहलाव के लिये एक उपयुक्त स्थान है।

उदयपुर में नगर का भाग तो प्राचीन ढंग का बना हुआ है और जगदीश के मंदिर तथा राजमहलों के अतिरिक्त देखने योग्य भव्य भवन विशेष नहीं हैं, तो भी इस नगर के आसपास का प्राकृतिक दृश्य इतना मनोहर है कि उसका ठीक अनुमान देखने से ही हो सकता है। नगर के पास दो सुविशाल सरोवर, मध्य में हरियाली एवं सुरम्य महलोंवाले टापू, कहीं बांध की शोभा, उसके पीछे बड़े बड़े बाग़ और तालाब के किनारे पहाड़ी पर राजमहलों का दृश्य आदि उदयपुर के विषय में विशेष उल्लेखनीय हैं। यहां के प्रकृति-सौंदर्य को देखकर दर्शक के हृदय से यही उद्गार उठने लगते हैं कि प्रकृति देवी के सौंदर्य के सम्मुख मनुष्य की बाह्य आडंबरवाली सजावट कितनी नीरस हो जाती है। यही कारण है कि सुदूर देशों से सैकड़ों यात्री इस अपूर्व शोभा को देखने के लिये प्रतिवर्ष उदयपुर आते हैं और यहां की प्राकृतिक छटा की मुक्तकंठ से प्रशंसा करते हुए अपने यात्रा-श्रम को सफल मानते हैं[1]।

उदयपुर नगर से अनुमान डेढ़ मील के अंतर पर ईशान कोण में रेल्वे स्टेशन के समीप आहाड़ नामी प्राचीन नगर के खंडहर हैं। इसको जैन ग्रंथों तथा प्राचीन

(१) उदयपुर नगर तथा आसपास के स्थानों के विस्तृत वर्णन के लिये देखो, 'माधुरी'; वर्ष १, खंड १; पृ० ४८०-६६ और ५६३-६०१।

सहेलियों की बाड़ी में महलों के सामनेवाले
हौज़ के फ़व्वारों का दृश्य

आहाड़ शिलालेखों में आघाटपुर अथवा आटपुर लिखा है। यहां गंगोद्भेद (गंगोभेव) नामक एक पुरातन तीर्थरूप चतुरस्र कुंड है, और उसके मध्य में एक प्राचीन छत्री बनी हुई है, जिसको लोग उज्जयिनी के प्रसिद्ध राजा विक्रमादित्य के पिता गंधर्वसेन का स्मारक बतलाते हैं। यहां पर यह कुंड बड़ा ही पवित्र माना जाता है और सैकड़ों नागरिक समय समय पर स्नानार्थ यहां आते हैं। अत्यन्त प्राचीन होने के कारण यह कुंड जीर्ण-शीर्ण हो गया था, परंतु उदयपुर के भूतपूर्व दीवान कोठारी बलवंतसिंहजी के यत्न से इसका जीर्णोद्धार हो जाने के कारण लोगों के लिये स्नानादि का सुबीता हो गया। कुंड के दक्षिण में शिवालय के सामने एक दूसरा चतुरस्र कुंड तथा तिबारियां बनी हुई हैं। इन्हीं कुंडों के निकट अहाते से घिरा हुआ महाराणाओं का दाहस्थान है, जिसको यहां 'महासती' कहते हैं। महाराणा प्रताप के बाद राणाओं का अंत्येष्टि संस्कार बहुधा यहीं होता रहा। बहुतसी छोटी-बड़ी छत्रियों में से महाराणा अमरसिंह (प्रथम), अमरसिंह द्वितीय तथा संग्रामसिंह द्वितीय की छत्रियां बड़ी भव्य बनी हुई हैं।

प्राचीन काल में आहाड़ एक समृद्धिशाली नगर था, जिसमें कितने ही देवालय आदि बने हुए थे। मालवे के परमार राजा मुंज (वाक्पतिराज, अमोघवर्ष) ने, वि० सं० १०३० के आसपास इस नगर पर आक्रमण कर इसे तोड़ा था। इसके बाद भी यह नगर आबाद रहा, परंतु कहते हैं, पीछे से भूकंप के कारण नष्ट हो गया। इन खंडहरों में धूलकोट नामक एक ऊंचा स्थान है, जहां पर खोदने से बड़ी बड़ी ईंटें, मूर्तियां एवं प्राचीन सिक्के मिल आते हैं। आजकल प्राचीन नगर के स्थान में उसी नाम का नवीन ग्राम है, जो कुछ शताब्दियों पूर्व बसाया गया था। यहां के नये बने हुए मंदिरों में पुराने मंदिरों के बहुतसे पत्थरों का उपयोग किया गया है, जिनके साथ कई मूर्तियां तथा शिलालेख भी तोड़-फोड़ कर चाहे जहां लगा दिये गये हैं। यहां नये बने हुए चार जैन मंदिरों में भी जहां-तहां प्राचीन मूर्तियां दीवारों में लगी हुई दीखती हैं। मेवाड़ के राजा भर्तृभट द्वितीय के समय का वि० सं० १००० का एक शिलालेख तोड़कर उपर्युक्त दूसरे कुंड की दीवार में लगाया गया है। एक प्राचीन शिलालेख से जैन मंदिर की और दूसरे से हस्तमाता के मंदिर की सीढ़ी बनाई गई थी और राजा अल्लट के समय के वि० सं० १०१० के शिलालेख से

सारणेश्वर के मंदिर का छबना बनाया गया है, परंतु इन चार में से दो शिला-लेख विक्टोरिया हॉल के संग्रहालय में सुरक्षित किये गये हैं। राजा अल्लट के समय का लेख मूल में वाराह के मंदिर में लगा हुआ था, जो मेवाड़ के इतिहास के लिये बड़े महत्त्व की वस्तु है। हमारे प्राचीन इतिहास के सच्चे प्रामाणिक साधनरूप इन शिलालेखों को सुरक्षित रखने की बड़ी आवश्यकता है।

उदयपुर से १३ मील उत्तर में एकलिंगजी का प्रसिद्ध मंदिर है, जो दो पहाड़ियों के बीच में बना हुआ है। जिस गांव में यह मंदिर है उसको कैलाशपुरी कहते हैं। एकलिंगजी महाराणा के इष्टदेव हैं, इतना ही नहीं किंतु मेवाड़ के राज्य के मालिक भी एकलिंगजी ही माने जाते हैं और महाराणा उनके दीवान कहलाते हैं, इसी से महाराणा को राजपूताने में 'दीवाणजी' कहते हैं। यह सुविशाल मंदिर एक ऊंचे कोट से घिरा हुआ है। प्रारंभ में इस मंदिर को किसने बनवाया, इसका कोई लिखित प्रमाण तो नहीं मिलता, परंतु जनश्रुति से प्रसिद्ध है कि सर्वप्रथम राजा बापा (बापा रावल) ने उसे बनाया था; फिर मुसलमानों के हमले में टूट जाने के कारण महाराणा मोकल ने उसका जीर्णोद्धार कराकर एक कोट बनवाया। तदनंतर महाराणा रायमल ने नये सिर से वर्तमान मंदिर का निर्माण किया। इस मंदिर में पूजन बड़े ठाट के साथ होता है और प्रत्येक पूजन के में कई घंटे लग जाते हैं, क्योंकि यहां की पूजा विशेष रूप से तैयार की हुई एक पद्धति[1] के अनुसार होती है। एकलिंगजी की मूर्ति चौमुखी है, जिसकी प्रतिष्ठा महाराणा रायमल ने की थी। मंदिर के दक्षिणी द्वार के सामने एक ताक में महाराणा रायमल की १०० श्लोकों-वाली एक प्रशस्ति लगी हुई है, जो मेवाड़ के इतिहास तथा इस मंदिर के वृत्तांत के लिये बड़े महत्त्व की है।

एकलिंगजी

इस मंदिर के अहाते में कई और भी छोटे बड़े मंदिर बने हुए हैं, जिनमें से एक महाराणा कुंभा (कुंभकर्ण) का बनवाया हुआ विष्णु का मंदिर है, जिसको

(१) उक्त पद्धति के अनुसार उत्तर के मुख को विष्णु का सूचक मानकर विष्णु के भाव से उसका पूजन किया जाता है, परंतु वास्तव में यह, पद्धति प्रचलित करनेवालों की भूल ही है, क्योंकि शिव की ऐसी कई मूर्तियां मिल चुकी हैं, जिनमें चारों ओर मुख के स्थान में उनके सूचक देवताओं की मूर्तियां बनी हुई हैं; अर्थात् पूर्व में सूर्य की, उत्तर में ब्रह्मा की, पश्चिम में विष्णु की, और दक्षिण में रुद्र (शिव) की हैं। ऐसी दो प्राचीन मूर्तियां राजपूताना म्यूज़ियम् (अजमेर) में तथा इंडियन म्यूज़ियम् (कलकत्ता) आदि में भी सुरक्षित हैं।

एकलिंगजी का मंदिर-समूह

लोग 'मीरांबाई का मंदिर' कहते हैं और आजकल घी, तेल आदि सामान रखने के लिये इसका दुरुपयोग होता है। एकलिंगजी के मंदिर से दक्षिण में कुछ ऊंचाई पर यहां के मठाधिपति ने वि० सं० १०२८ (ई० स० ९७१) में लकुलीश[1] का मंदिर बनवाया था और इस मंदिर से कुछ नीचे विंध्यवासिनी देवी का मंदिर है। बापा का गुरु नाथ (साधु) हारीतराशि एकलिंगजी के मंदिर का महंत था और उसके पीछे पूजा का कार्य उसकी शिष्यपरंपरा के अधीन रहा। इन नाथों का पुराना मठ एकलिंगजी के मंदिर से पश्चिम में बना हुआ है। पीछे से नाथों का आचरण बिगड़ता गया और वे स्त्रियां भी रखने लगे, जिससे उनको अलग कर संन्यासी मठाधिपति नियत किया गया, तभी से यहां के मठाधीश संन्यासी ही होते हैं, और वे गुसाईंजी (गोस्वामीजी) कहलाते हैं। गुसाईंजी की अध्यक्षता में तीन चार ब्रह्मचारी रहते हैं, वे ही लोग यहां का पूजन किया करते हैं, और स्वयं महाराणा

(१) लकुलीश या लकुटीश शिव के १८ अवतारों में से एक माना जाता है। प्राचीन काल में पाशुपत (शैव) सम्प्रदायों में लकुलीश सम्प्रदाय बहुत प्रसिद्ध था, और अब तक सारे राजपूताना, गुजरात, मालवा, बंगाल, दक्षिण आदि में लकुलीश की मूर्तियां पाई जाती हैं। लकुलीश की मूर्ति के सिर पर जैन मूर्तियों के समान केश होते हैं, जिससे कोई कोई उसको जैन मूर्ति मान लेते हैं, परंतु वह जैन नहीं, किंतु शिव के एक अवतार की मूर्ति है। वह द्विभुज होती है, उसके बायें हाथ में लकुट (दंड) रहता है, जिसपर से लकुलीश तथा लकुटीश नाम पड़े, और दाहिने हाथ में बीजोरा नामक फल होता है, जो शिव की त्रिमूर्तियों के मध्य के दो हाथों में से एक में पाया जाता है। यह मूर्ति पद्मासन से बैठी हुई होती है—

न(ल)कुलीशं ऊर्ध्वमेढ्रं पद्मासनसुसंस्थितं।
दक्षिणे मातुलिंगं च वामे दण्डं प्रकीर्तितम्॥

विश्वकर्मावतार—वास्तुशास्त्रम्।

लकुलीश की किसी किसी मूर्ति के नीचे नंदी और कहीं कहीं दोनों तरफ एक एक जटाधारी साधु भी बना हुआ होता है। लकुलीश ऊर्ध्वरेता (जिसका वीर्य कभी स्खलित न हुआ हो) माना जाता है, जिसका चिह्न (ऊर्ध्वलिंग) मूर्ति पर स्पष्ट होता है। इस समय इस प्राचीन सम्प्रदाय का अनुयायी कोई नहीं रहा, परंतु प्राचीन काल में इसके माननेवाले बहुत थे, जिनमें मुख्य साधु होते थे। माधवाचार्यरचित-'सर्वदर्शनसंग्रह' में इस संप्रदाय के सिद्धान्तों का कुछ विवरण पाया जाता है, और इसका विशेष वृत्तान्त प्राचीन शिलालेखों तथा विष्णुपुराण आदि में मिलता है। इस संप्रदाय के साधु कनफड़े (नाथ) होते हों, ऐसा अनुमान होता है।

साहब भी कभी कभी पूजा करते हैं। पूजन की सामग्री आदि पहुंचाने के लिए कई परिचारक नियत हैं जो टहलुए कहलाते हैं।

एकलिंगजी के मंदिर से थोड़े ही अंतर पर मेवाड़ के राजाओं की पुरानी राजधानी नागदा नगर है, जिसको संस्कृत शिलालेखों आदि में 'नागह्रद' या 'नागद्रह' लिखा है। पहले यह बहुत बड़ा और समृद्धिशाली नगर था, परंतु अब तो बिल्कुल ऊजड़ पड़ा हुआ है। यहां प्राचीन काल में अनेक शिव, विष्णु आदि के एवं जैन मंदिर बने हुए थे, जिनमें से कितने एक अब तक विद्यमान हैं। दिल्ली के सुलतान शमसुद्दीन अल्तमश ने अपनी मेवाड़ की चढ़ाई में इस नगर को तोड़ा, तभी से इसकी अवनति होती गई, और महाराणा मोकल ने इसके निकट अपने भाई बाघसिंह के नाम से बाघेला तालाव बनवाया, जिससे इस नगर का कुछ अंश जल में डूब गया। इस समय जो मंदिर यहां विद्यमान हैं, उनमें से दो संगमरमर के बने हुए हैं, जिनको 'सास बहू के मंदिर' कहते हैं। इनमें से दक्षिण की तरफ सास के मंदिर की खुदाई बड़ी ही सुन्दर है और उसका समय वि० सं० ११वीं शताब्दी के आसपास अनुमान किया जा सकता है। एक विशाल जैन-मंदिर भी टूटी फूटी दशा में खड़ा है, जिसको 'खुमाण रावल का देवरा' कहते हैं। उसमें भी खुदाई का काम अच्छा है। दूसरा जैन-मंदिर अद्बदजी का मंदिर कहलाता है, उसके भीतर ६ फुट ऊंची शांतिनाथ की बैठी हुई मूर्ति है। इस अद्भुत मूर्ति के कारण ही लोगों ने इसका नाम अदबदजी (अद्भुतजी) का मंदिर रख लिया है। उक्त मूर्ति के लेख से ज्ञात होता है कि महाराणा कुंभकर्ण (कुंभा) के राज्य-समय वि० सं० १४९४ (ई० स० १४३७) में ओसवाल सारंग ने यह मूर्ति बनवाई थी। इन मंदिरों के अतिरिक्त और भी कई छोटे छोटे मंदिर वहां विद्यमान हैं, परंतु विस्तार भय से हमने उनका हाल यहां लिखना उचित नहीं समझा।

नागदा

उदयपुर से ३० मील और एकलिंगजी से १७ मील उत्तर में नाथद्वारा नामक स्थान में वल्लभ संप्रदायवाले वैष्णवों के मुख्य उपास्य देवता श्रीनाथजी का मंदिर है। समस्त भारत के वैष्णव नाथद्वारे को अपना पवित्र तीर्थ मानकर यात्रार्थ यहां आते हैं और बहुत कुछ भेट चढ़ाते हैं। अन्य देवालयों के समान यहां दर्शन घंटों तक नहीं होते, किन्तु पुष्टिमार्ग के नियमानुसार समय समय पर ही होते हैं, जिनको 'झांकी' कहते हैं। वल्लभ संप्रदाय के संस्थापक श्रीवल्लभाचार्यजी तैलंग जाति के सोमयाजी यज्ञनारायण

श्रीनाथजी

भट्ट के वंशज और लक्ष्मण भट्ट के पुत्र थे। इनका जन्म वि० सं० १५३५ (ई० स० १४७८) में चम्पारण्य में हुआ था। इन्होंने वेदादि शास्त्रों का अध्ययन किया और कई जगह शास्त्रार्थों में विजयी होकर शुद्धाद्वैत संप्रदाय का, जिसको वल्लभ संप्रदाय भी कहते हैं, प्रचार किया, और दिन दिन इस संप्रदाय के अनुयायियों की संख्या बढ़ती गई। गोवर्धन पर्वत पर इनको श्रीनाथजी की मूर्ति मिली थी, ऐसी प्रसिद्धि है। वल्लभाचार्य के द्वितीय पुत्र विट्ठलनाथजी को गुसाईं (गोस्वामी) की पदवी मिली तभी से उनकी संतान गुसाईं कहलाई। विट्ठलनाथजी के सात पुत्र हुए जिनके पूजन की मूर्तियां अलग अलग थीं। ये वैष्णवों में 'सात स्वरूप' नाम से प्रसिद्ध हैं। उनके ज्येष्ठ पुत्र गिरिधरजी टीकायत (तिलकायत) थे इसी से उनके वंशज नाथद्वारे के गुसाईंजी टीकायत महाराज कहलाते हैं और श्रीनाथजी की मूर्ति गिरिधरजी के पूजन में रही। जब बादशाह औरंगज़ेब ने हिन्दुओं की मूर्तियां तोड़ने की आज्ञा दी, उस समय इस मूर्ति के तोड़े जाने के भय से उक्त गिरिधरजी महाराज के पुत्र दामोदरजी (बड़े दाऊजी) श्रीनाथजी की प्रतिमा को लेकर वि० सं० १७२६ (ई० स० १६६६) में गुप्त रीति से गोवर्धन से निकल गये और आगरा, बूंदी, कोटा, पुष्कर और कृष्णगढ़ में ठहरते हुए चांपासणी गांव में, जो जोधपुर से तीन कोस दूर है, पहुंचे, परन्तु जोधपुर के महाराज जसवंतसिंह के अधिकारियों की दृढ़ता न देखकर गोस्वामीजी के काका गोपीनाथजी उदयपुर के महाराणा राजसिंह के पास आये और श्रीनाथजी के विषय में अपनी इच्छा प्रकट की, जिसपर महाराणा ने उत्तर दिया कि आप प्रसन्नतापूर्वक श्रीनाथजी को मेवाड़ में पधरावें। मेरे एक लाख राजपूतों के सिर कट जावेंगे उसके बाद औरंगज़ेब इस मूर्ति के हाथ लगा सकेगा। इसपर गोपीनाथजी बड़े प्रसन्न होकर चांपासणी को लौटे और वि० सं० १७२८ (ई० स० १६७१) कार्तिक सुदि १५ को वहां से प्रस्थान कर मेवाड़ की तरफ चले। जब मेवाड़ की सीमा में पहुंचे तो महाराणा पेशवाई कर श्रीनाथजी को ले आये और बनास नदी के किनारे सिहाड़ गांव के पासवाले खेड़े में वि० सं० १७२८ फाल्गुन वदि ७ को उनकी स्थापना हुई। वहां नया गांव बसने लगा, और दिन दिन उसकी उन्नति होते हुए अब एक अच्छा क़स्बा बन गया है, जिसमें ८५२४ मनुष्यों की बस्ती है। वर्तमान टीकायत महाराज गोस्वामीजी गोवर्धनलालजी हैं। इनके समय में नाथद्वारे की विशेष उन्नति हुई और कई बड़ी

बड़ी धर्मशालाएं बनीं, जिससे यात्रियों के ठहरने का सब तरह से सुबीता हो गया है। गोवर्धनलालजी महाराज ने नाथद्वारे में संस्कृत पाठशाला, अंग्रेज़ी तथा हिंदी के मदरसे, देशी औषधालय, अस्पताल, पुस्तकालय आदि स्थापित किये हैं और वे संस्कृत के कई विद्वानों को आदरपूर्वक अपने पास रखते हैं। सुप्रसिद्ध संस्कृत विद्वान् भारतमार्तण्ड पण्डित गट्टूलालजी को इन्होंने बड़े आग्रह के साथ कई बरसों तक नाथद्वारे में रक्खा था। आप बड़े ही विद्याप्रेमी, मिलनसार, गुणग्राहक और श्रीनाथजी की सेवा में तत्पर हैं। उदयपुर के महाराणा, राजपूताना एवं अन्य बाहरी राज्यों के राजाओं तथा बहुतसे सरदारों की तरफ से कई गांव, कुए आदि श्रीनाथजी के भेट किये गये हैं। गुसाईंजी महाराज को अपने इलाक़े में दीवानी तथा फ़ौजदारी के नियमित अधिकार भी हैं।

कांकड़ोली

नाथद्वारे से १० मील उत्तर में राजसमुद्र के बांध के पास ही कांकड़ोली गांव बसा है। यहां वल्लभ संप्रदाय का द्वारिकाधीश (द्वारिकानाथजी) का मंदिर बना है। यहां की मूर्ति सात स्वरूपों में से एक होने के कारण यह भी वैष्णवों का एक तीर्थ है और नाथद्वारे आनेवाले वैष्णवों में से बहुतसे यहां भी दर्शनार्थ जाते हैं। औरंगज़ेब के भय से ही यह मूर्ति श्रीनाथजी से कुछ पहले मेवाड़ में लाई जाकर स्थापित की गई थी। यहां के गुसाईंजी महाराणाओं के वैष्णव गुरु हैं।

चारभुजा

कांकड़ोली से अनुमान १० मील पश्चिम के गड़बोर गांव में चारभुजा का प्रसिद्ध विष्णु-मंदिर है। मेवाड़ तथा मारवाड़ आदि के बहुतसे लोग यात्रार्थ यहां आते हैं और भाद्रपद सुदि ११ को यहां बड़ा मेला होता है। यहां के पुजारी गूजर हैं। चारभुजा का मंदिर किसने बनवाया यह ज्ञात नहीं हुआ, परंतु प्राचीन देवालय का जीर्णोद्धार कराकर वर्तमान मंदिर वि० सं० १५०१ (ई० स० १४४४) में खरवड़ जाति के रा० (रावत या राव) महीपाल, उसके पुत्र लखमण (लक्ष्मण), उस (लक्ष्मण) की स्त्री दाामिणी तथा उसके पुत्र झांझा, इन चारों ने मिलकर बनवाया, ऐसा वहां के शिलालेख से पाया जाता है। उक्त लेख में इस गांव का नाम बदरी लिखा है और लोग चारभुजा को बदरीनाथ का रूप मानते हैं।

चारभुजा से अनुमान तीन मील पर सेवंत्री गांव में रूपनारायण का प्रसिद्ध विष्णु-मंदिर है। वहां भी यात्रा के लिये बहुतसे लोग दूर दूर से आते
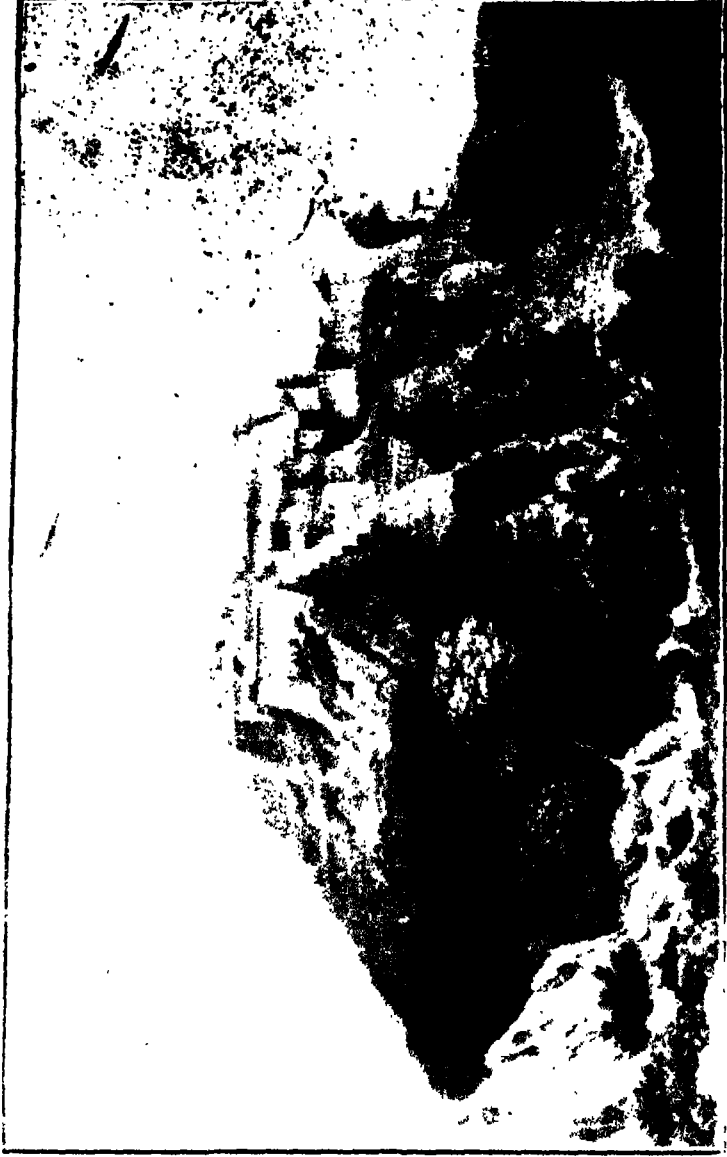
कुंभलगढ़ का दृश्य

रूपनारायण

हैं। इस मंदिर को वि० सं० १७०९ (ई० स० १६५२) में महाराणा जगत्सिंह (प्रथम) के राज्यसमय मेड़तिया राठोड़ चांदा के पौत्र और रामदास के पुत्र जगत्सिंह ने ५१००१ रुपये लगाकर, कोठारी कुंभा के द्वारा बनवाया था। पहले का मंदिर जीर्ण होकर उसका कुछ अंश नष्ट हो गया था, जिससे उसी के स्थान पर यह नया मंदिर बनवाया गया है।

नाथद्वारे से अनुमान २५ मील उत्तर में अर्वली की एक ऊंची श्रेणी पर कुंभलगढ़ का प्रसिद्ध क़िला बना हुआ है। समुद्र की सतह से इसकी ऊंचाई

कुंभलगढ़

३५६८ फुट है और महाराणा कुंभा (कुंभकर्ण) ने यह क़िला वि० सं० १५१५ (ई० स० १४५८) में बनवाया था, जिससे इसको कुंभलमेर (कुंभलमेरु) या कुंभलगढ़ कहते हैं। इस दुर्ग के स्मरणार्थ महाराणा कुंभा ने सिक्के भी बनवाये थे, जिनपर इसका नाम अंकित है। केलवाड़े के क़स्बे से पश्चिम में कुछ दूर जाकर ७०० फुट ऊंची नाल चढ़ने पर इस क़िले का 'आरेठ पोल' नामक दरवाज़ा आता है जहां राज्य का पहरा रहता है। यहां से अनुमान एक मील के अंतर पर हल्ला पोल है, जहां से थोड़ी दूर आगे बढ़ने पर हनुमान पोल में पहुंचते हैं जहां महाराणा कुंभा की स्थापित की हुई एक हनुमान की मूर्ति है। फिर विजय पोल नामक दरवाज़ा आता है जहां कुछ भूमि समतल और कुछ नीची आ गई है, और यहीं से प्रारंभ होकर पहाड़ी की एक चोटी बहुत ऊंचाई तक चली गई है।

समान भूमि में हिन्दुओं तथा जैनों के कई मंदिर हैं, जिनमें से अधिकतर इस समय जीर्ण-शीर्ण दशा में पड़े हुए हैं। यहां पर नीलकंठ महादेव का एक मंदिर है, जिसके चारों ओर ऊंचे ऊंचे सुंदर स्तंभवाले बरामदे बने हुए हैं। इस तरह के बरामदेवाले मंदिर अन्यत्र देखने में नहीं आये। मंदिर की इस शैली को देखकर कर्नल टॉड ने इसको ग्रीक (यूनानी) मंदिर मान लिया है, परंतु वास्तव में इसमें ग्रीक शैली का कुछ भी काम नहीं है और न यह उतना पुराना ही कहा जा सकता है। दूसरा उल्लेखनीय स्थान 'वेदी' है। यह एक दुमंज़िला भवन है, जिसके उन्नत गुंबज़ के नीचे का भाग धुआं निकलने के लिये चारों ओर से खुला हुआ है। महाराणा कुंभा ने, जो शिल्पशास्त्र के अच्छे ज्ञाता थे, इस यज्ञस्थान को शास्त्रोक्त रीति से बनवाया था। कुंभलगढ़ की प्रतिष्ठा का यज्ञ भी इसी वेदी पर हुआ था, और इस समय राजपूताने में प्राचीन काल के

यज्ञ-स्थानों का यही एक स्मारक देखने को रह गया है। पहले महाराणाओं के ठहरने योग्य कुंभलगढ़ पर कोई अच्छा महल न होने से वर्तमान महाराणा साहब ने इस यज्ञ-स्थान में इधर उधर चुनाई कराकर उपयुक्त स्थान बना लिया है। अब तो किले के सर्वोच्च भाग पर नये भव्य महल भी बन गये हैं, इसलिये क्या ही अच्छा हो कि महाराणा साहब वेदी के स्थान में बनवाये हुए चुनाई के नये काम को तुड़वाकर इस अद्वितीय स्थान को पीछा अपनी पूर्वस्थिति में परिणत कर दें।

नीचेवाली भूमि में झाली वाव (बावड़ी) और मामादेव का कुंड है। इसी कुंड पर बैठे हुए महाराणा कुंभा अपने ज्येष्ठ पुत्र उदयसिंह (ऊदा) के हाथ से मारे गये थे। इसी कुंड के निकट महाराणा कुंभा ने मामावट स्थान में कुंभस्वामी नामक विष्णु-मंदिर बनवाया था जो इस समय टूटी-फूटी दशा में पड़ा हुआ है। उसके बाहरी भाग में विष्णु के अवतारों, देवियों, पृथ्वी, पृथ्वीराज, कुबेर आदि की कई मूर्तियां स्थापित की गई थीं और वहीं बड़ी बड़ी पांच शिलाओं पर खुदी हुई प्रशस्ति में उक्त राणा ने अपने समय तक के मेवाड़ के राजाओं की वंशावली तथा उनमें से कुछ का संक्षिप्त परिचय और अपनी भिन्न भिन्न विजयों का विस्तृत वर्णन अंकित कराया था। इन पांच शिलाओं में से तीन अर्थात् पहली, तीसरी और चौथी प्राप्त हो गई हैं जो मेवाड़ के इतिहास के लिये बड़े ही महत्त्व की हैं। मैंने इन शिलाओं को वहां से लाकर उदयपुर के विक्टोरिया हॉल में सुरक्षित कर दी हैं। बाकी की शिलाओं के लिये खुदाई करवाई तो मुझे दूसरी शिला के ऊपर का एक छोटासा टुकड़ा ही मिला। मामावट के निकट ही राणा रायमल के प्रसिद्ध पुत्र वीरवर पृथ्वीराज का दाहस्थान बना हुआ है।

पहाड़ी की जो चोटी विजय पोल से प्रारंभ होकर बहुत ऊंचाई तक चली गई है उसी पर किले का सबसे ऊंचा भाग बना हुआ है, जिसको कटारगढ़ कहते हैं। विजय पोल से आगे बढ़ने पर क्रमशः भैरव पोल, नींबू पोल, चौगान पोल, पागड़ा पोल और गणेश पोल आती हैं। गणेश पोल के सामने की समान भूमि में गुंबज़दार महल और देवी का स्थान था। यहां से कुछ सीढ़ियां और चढ़ने पर महाराणा उदयसिंह की राणी झाली का महल था, जिसको 'झाली का माळिया' कहते थे। वर्तमान महाराणा साहब ने गणेश पोल के सामने के पुराने महल आदि को गिरवाकर उनके स्थान में नये महल बनवाये हैं, जो बड़े ही भव्य
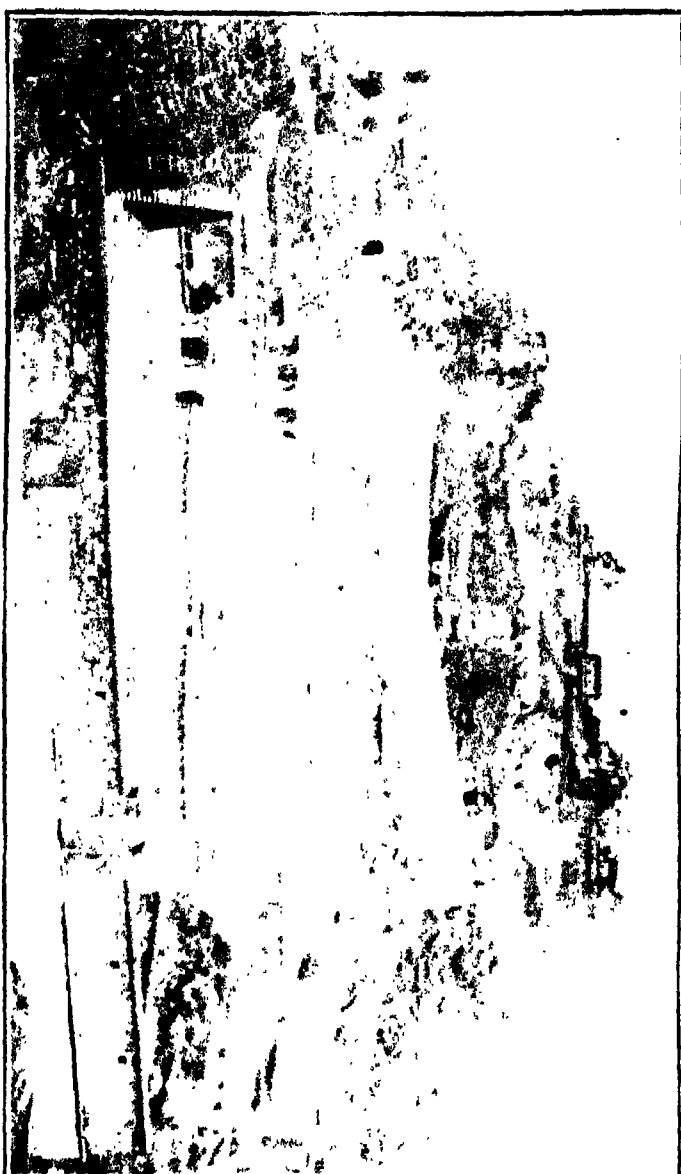
कुंभलगढ़

(मंदिरों के निकट का गुंबज़वाला स्थान 'वेदी' है)

और ऊंचाई पर होने के कारण उष्ण काल में आबू के समान ही ठंडे रहते हैं। इस किले पर मुसलमानों की कई चढ़ाइयां और बड़ी बड़ी लड़ाइयां हुई, जिनका वृत्तान्त आगे यथाप्रसंग लिखा जायगा।

उदयपुर से अनुमान २० मील दक्षिण में जावर नाम का प्राचीन स्थान है। महाराणा लाखा के समय चांदी और सीसे की खान निकल आने से यहां की आबादी अच्छी बढ़ी। यहां पर कई जैन-मंदिर तथा 'जावर माता' नामक देवी का, और शिव एवं विष्णु के भी मंदिर हैं। जावर के दो विभाग हैं—नया जावर और पुराना जावर। महाराणा कुंभा की राजकुमारी रमाबाई, जो गिरनार (जूनागढ़, काठियावाड़ में) के राजा मंडलीक (चौथे) को ब्याही गई थी, पति से अनबन होने पर अपने भाई महाराणा रायमल के समय गिरनार से मेवाड़ में चली आई और जावर में रही। उसने यहां रमाकुंड नाम का एक विशाल जलाशय तथा उसके तट पर रामस्वामी नामक सुंदर विष्णु-मंदिर वि० सं० १५५४ (ई० स० १४९७) में बनवाया, ऐसा उसी मंदिर की दीवार में लगे हुए उक्त संवत् के शिलालेख से ज्ञात होता है। महाराणा रायमल का राजतिलक भी यहीं हुआ था। जब से चांदी की खान का काम बंद हुआ तभी से यहां की आबादी कम होती गई और अब तो नये जावर में थोड़ीसी बस्ती रह गई है, जिसमें अधिकतर भील इत्यादि ही हैं। महाराणा सज्जनसिंह ने चांदी की खान को फिर जारी करने का उद्योग किया था, परंतु मुनाफ़ा विशेष न रहने से काम बंद करना पड़ा। यह स्थान पर्वत-मालाओं के बीच आ गया है और एक ऊंची पहाड़ी के मध्य में 'जावर माळा' नामक स्थान है जहां महाराणा प्रताप अकबर के साथ की लड़ाइयों के समय कभी कभी रहा करते थे। वहीं पहाड़ी के भीतर जल का एक स्थान भी है।

जावर

उदयपुर से खैरवाड़े जानेवाली सड़क पर परसाद गांव से अनुमान ६ मील पूर्व में चावंड नाम का पुराना गांव है, जहां एक जैन-मंदिर भी है। गांव से अनुमान आध मील दूर की एक पहाड़ी पर महाराणा प्रताप के महल बने हुए हैं और उनके नीचे देवी का एक मंदिर है। यह स्थान विकट पहाड़ियों की श्रेणी के बीच आ गया है। महाराणा प्रताप का स्वर्गवास यहीं हुआ और यहां से अनुमान डेढ़ मील के अंतर पर बंडोली गांव के पास बहनेवाले एक छोटेसे नाले के तट पर उक्त महाराणा का अग्निसंस्कार

चावंड

हुआ था, जहां उनके स्मारकरूप श्वेत पाषाण की आठ स्तंभवाली एक छोटीसी छत्री बनी हुई है, जो इस समय जीर्ण शीर्ण हो रही है और इसके गुंबज़ के सब पत्थर हिल रहे हैं; इसलिये यदि इस छत्री की मरम्मत न हुई तो कुछ ही वर्षों में यह टूटकर महाराणा प्रताप का यह स्मारक सदा के लिये लुप्त हो जायगा।

उदयपुर से ३९ मील दक्षिण में खैरवाड़े की सड़क के निकट कोट से घिरे हुए धूलेव नामक क़स्बे में ऋषभदेव का प्रसिद्ध जैन मंदिर है। यहां की मूर्ति पर केसर[1] बहुत चढ़ाई जाती है, जिससे इनको केसरियाजी या केसरियानाथजी भी कहते हैं। मूर्ति काले पत्थर की होने के कारण भील लोग इनको 'काळाजी' कहते हैं। ऋषभदेव विष्णु के २४ अवतारों में से आठवें अवतार होने से हिन्दुओं का भी यह पवित्र तीर्थ माना जाता है। भारतवर्ष भर के श्वेतांबर तथा दिगंबर जैन एवं मेवाड़, मारवाड़, डूंगरपुर, बांसवाड़ा, ईडर आदि राज्यों के शैव, वैष्णव आदि यहां यात्रार्थ आते हैं। भील लोग काळाजी को अपना इष्टदेव मानते हैं और उन लोगों में इनकी भक्ति यहां तक है कि केसरियानाथ पर चढ़े हुए केसर को जल में घोलकर पी लेने पर वे—चाहे जितनी विपत्ति उनको सहन करनी पड़े—झूठ नहीं बोलते।

ऋषभदेव

हिंदुस्तान भर में यही एक ऐसा मंदिर है, जहां दिगंबर तथा श्वेतांबर जैन और वैष्णव, शैव, भील एवं तमाम सच्छूद्र स्नान कर समान रूप से मूर्ति का पूजन करते हैं। प्रथम द्वार से, जिसपर नक्कारखाना बना है, प्रवेश करते ही बाहरी परिक्रमा का चौक आता है; वहां दूसरा द्वार है, जिसके बाहर दोनों ओर काले पत्थर का एक एक हाथी खड़ा हुआ है। उत्तर की तरफ़ के हाथी के पास एक हवनकुंड बना है, जहां नवरात्रि के दिनों में दुर्गा का हवन होता है। उक्त द्वार के दोनों ओर के ताकों में से एक में ब्रह्मा की और दूसरे में शिव की मूर्ति है जो पीछे से बिठलाई गई हो ऐसा जान पड़ता है। इस द्वार से दस सीढ़ियां चढ़ने पर मंदिर में पहुंचते हैं और उन सीढ़ियों के ऊपर के मंडप में मध्यम क़द के हाथी पर बैठी हुई मरुदेवी की मूर्ति है। सीढ़ियों से आगे बाईं ओर

(१) यहां पूजन की मुख्य सामग्री केसर ही है और प्रत्येक यात्री अपनी इच्छानुसार केसर चढ़ाता है। कोई कोई जैन तो अपने बच्चों आदि को केसर से तोलकर वह सारी केसर चढ़ा देते हैं। प्रातःकाल के पूजन में जलप्रक्षालन, दुग्धप्रक्षालन, अतरलेपन आदि होने के पीछे केसर का चढ़ना प्रारंभ होकर एक बजे तक चढ़ता ही रहता है।

'श्रीमद्भागवत' का चबूतरा बना है, जहां चातुर्मास में भागवत की कथा बंचती है। यहां से तीन सीढ़ियां चढ़ने पर एक मंडप आता है, जिसको, ६ स्तंभ होने के कारण, 'नौचौकी' कहते हैं। यहां से तीसरे द्वार में प्रवेश किया जाता है। उक्त द्वार के बाहर उत्तर के ताक में शिव की और दक्षिण के ताक में सरस्वती की मूर्ति स्थापित है। इन दोनों के आसनों पर वि० सं० १६७६ के लेख खुदे हैं। तीसरे द्वार में प्रवेश करने पर खेला मंडप (अंतराल) में पहुंचते हैं, वहां से आगे निजमंदिर (गर्भगृह) में ऋषभदेव की प्रतिमा स्थापित है। गर्भगृह के ऊपर ध्वजादंड सहित विशाल शिखर है, और खेला मंडप, नौचौकी तथा मरुदेवी-वाले मंडप पर गुंबज़ हैं। मंदिर के उत्तरी, पश्चिमी और दक्षिणी पार्श्व में देव-कुलिकाओं की पंक्तियां हैं जिनमें से प्रत्येक के मध्य में मंडप सहित एक एक मंदिर बना है। देवकुलिकाओं और मंदिर के बीच भीतरी परिक्रमा है।

इस मंदिर के विषय में यह प्रसिद्धि है कि पहले यहां ईंटों का बना हुआ एक जिनालय था, जिसके टूट जाने पर उसके जीर्णोद्धाररूप पाषाण का यह नया मंदिर बना। यहां के शिलालेखों से पाया जाता है कि इस मंदिर के भिन्न भिन्न विभाग अलग अलग समय के बने हुए हैं। खेला मंडप की दीवारों में लगे हुए दो शिलालेखों में से एक वि० सं० १४३१ वैशाख सुदि ३ बुधवार का है, जिसका आशय यह है कि दिगंबर सम्प्रदाय के काष्ठासंघ के भट्टारक श्रीधर्मकीर्ति के उपदेश से साह (सेठ) बीजा के बेटे हरदान ने इस जिनालय का जीर्णोद्धार करवाया। उसी मंडप में लगे हुए वि० सं० १५७२ वैशाख सुदि ५ के शिलालेख से ज्ञात होता है कि, काष्ठासंघ के अनुयायी काछलू गोत्र के कड़िया पोइया और उसकी स्त्री भरमी के पुत्र हांसा ने धूलीव (धूलेव) गांव में श्रीऋषभनाथ को प्रणाम कर भट्टारक श्रीजसकीर्ति (यशकीर्ति) के समय मंडप तथा नौचौकी बनवाई। इन दोनों शिलालेखों से ज्ञात होता है कि गर्भगृह (निजमंदिर) तथा उसके आगे का खेला मंडप वि० सं० १४३१ में और नौचौकी तथा एक और मंडप वि० सं० १५७२ (ई० स० १५१५) में बने। देवकुलिकाएं पीछे से बनी हैं, क्योंकि दक्षिण की देवकुलिकाओं की पंक्ति के मध्य में मंडप सहित जो मंदिर[1] है उसके द्वार के समीप दीवार में लगे हुए शिलालेख से स्पष्ट है कि

(१) तीनों ओर की देवकुलिकाओं की पंक्तियों के मध्य में बने हुए मंडपवाले तीनों मंदिरों को वहां के पुजारी लोग नेमिनाथ के मंदिर कहते हैं, परंतु इस मंदिर के शिलालेख तथा

काष्ठासंघ के नदीतट गच्छ और विद्यागण के भट्टारक श्रीसुरेंद्रकीर्त्ति के समय में बघेरवाल जाति के गोवालगोत्री संघवी (संघपति) आल्हा के पुत्र भोज के कुटुम्बियों ने यह मंदिर बनवाकर प्रतिष्ठा-महोत्सव किया[1]। इस मंदिर से आगे की देवकुलिका की दीवार में भी एक शिलालेख लगा हुआ है, जिसका आशय यह है कि वि० सं० १७५४ पौष वदि ५ को काष्ठासंघ के नदीतट गच्छ और विद्यागण के भट्टारक सुरेंद्रकीर्ति के उपदेश से हुंबड़ जाति की वृद्धशाखा-वाले विश्वेश्वरगोत्री साह आल्हा के वंशज सेठ भूपत के वंशवालों ने यह लघु प्रासाद बनवाया। इन चारों शिलालेखों से ज्ञात होता है कि ऋषभदेव के मंदिर तथा देवकुलिकाओं का अधिकांश काष्ठासंघ के भट्टारकों के उपदेश से उनके दिगंबरी अनुयायियों ने बनवाया था। शेष सब देवकुलिकाएं किसने बनवाईं, इस विषय का कोई लेख नहीं मिला।

ऋषभदेव की वर्तमान मूर्ति बहुत प्राचीन होने से उसमें कई जगह खड्डे पड़ गये थे, जिससे उनमें कुछ पदार्थ भरकर उनको ऐसे बना दिये हैं कि वे मालूम नहीं होते। यह प्रतिमा डूंगरपुर राज्य की प्राचीन राजधानी बड़ौदे (वटपद्रक) के जैन-मंदिर से लाकर यहां पधराई गई है। बड़ौदे का पुराना मंदिर गिर गया है और उसके पत्थर वहां वटवृक्ष के नीचे एक चबूतरे पर चुने हुए हैं। ऋषभदेव की प्रतिमा बड़ी भव्य और तेजस्वी है; इसके साथ के विशाल परिकर में इंद्रादि देवता बने हैं और दोनों पार्श्व पर दो नग्न काउसगिये (कायोत्सर्ग स्थिति-वाले पुरुष) खड़े हुए हैं। मूर्ति के चरणों के नीचे छोटी छोटी ९ मूर्तियां हैं, जिनको लोग 'नवग्रह' या 'नवनाथ' बतलाते हैं। नवग्रहों के नीचे १६ सपने (स्वप्न[2]) खुदे हुए हैं, जिनके नीचे के भाग में हाथी, सिंह, देवी आदि की

इसके भीतर की मूर्ति के आसन पर के लेख से निश्चित है कि यह तो ऋषभदेव का ही मंदिर है। बाकी के दो मंदिर किन तीर्थंकरों के हैं, यह उनमें कोई लेख न होने से ज्ञात नहीं हुआ।

(१) यह शिलालेख प्राचीन जैन इतिहास के लिये बड़े काम का है, क्योंकि इसमें नदीतट गच्छ की उत्पत्ति तथा उक्त गच्छ के आचार्यों की क्रमपरंपरा दी हुई है।

(२) तीर्थंकर की गर्भवती माता जिन स्वप्नों को देखती है वे जैनों में बड़े पवित्र माने जाते हैं। उनमें हाथी, बैल, सिंह, लक्ष्मी, सूर्य, चंद्र आदि हैं। श्वेतांबर संप्रदाय-वाले ऐसे १४ स्वप्न और दिगंबर १६ मानते हैं। आबू पर देलवाड़े के एक श्वेतांबर मंदिर के द्वार पर १४ स्वप्न खुदे हुए हैं। जैन आचार्यों के पास पुस्तकों के छूटे पत्रों को हाथ में रखकर पढ़ने के लिये ऊपर की तरफ से आधे मुड़े हुए पुट्ठों के रेशमी वस्त्र पर ज़री के

मूर्तियां और उनके नीचे दो बैलों के बीच देवी की एक मूर्ति बनी हुई है। निज-मंदिर की बाहरी पार्श्व के उत्तर और दक्षिण के ताकों तथा देवकुलिकाओं के पृष्ठभागों में भी नग्न मूर्तियां विद्यमान हैं।

मूलसंघ के बलात्कार गणवाले कमलेश्वरगोत्री गांधी विजयचंद ने वि० सं० १८६३ (ई० स० १८०६) में इस मंदिर के चौतरफ एक पक्का कोट बनवाया। वि० सं० १८८९ (ई० स० १८३२) में जैसलमेर के (उस समय उदयपुर के) निवासी ओसवाल जाति की वृद्ध शाखावाले बाफणागोत्री सेठ गुमानचंद के पुत्र बहादुरमल के कुटुंबियों ने प्रथम द्वार पर का नक्कारखाना बनवाकर वर्तमान ध्वजादंड चढ़ाया।

इस मंदिर के खेला मंडप में तीर्थंकरों की २२ और देवकुलिकाओं में ५४ मूर्तियां विराजमान हैं। देवकुलिकाओं में वि० सं० १७५६ की बनी हुई विजयसागर सूरि की मूर्ति भी है और पश्चिम की देवकुलिकाओं में से एक में अनुमान ६ फुट ऊंचा ठोस पत्थर का एक मंदिर-सा बना हुआ है जिसपर तीर्थंकरों की बहुतसी छोटी छोटी मूर्तियां खुदी हैं, इसको लोग 'गिरनारजी का बिंब' कहते हैं। उपर्युक्त ७६ मूर्तियों में से १४ पर लेख नहीं हैं। लेखवाली मूर्तियों में से ३८ दिगंबर सम्प्रदाय की और ११ श्वेतांबरों की हैं। शेष पर लेख अस्पष्ट होने या चूना लग जाने के कारण उनका ठीक ठीक निश्चय नहीं हो सका। लेखवाली मूर्तियां वि० सं० १६११ से १८६३ तक की हैं और उनपर खुदे हुए लेख जैनों के इतिहास के लिये बड़े उपयोगी हैं।

नौचौकी के मंडप के दक्षिणी किनारे पर पाषाण का एक छोटासा स्तंभ खड़ा है जिसके चारों ओर तथा ऊपर-नीचे छोटे छोटे १० ताक खुदे हैं। मुसलमान लोग इस स्तंभ को मसजिद का चिह्न मानते हैं और उसके नीचे की परिक्रमा में खड़े रहकर वे लोबान जलाते, शीरनी (मिठाई) चढ़ाते और धोक देते हैं[1]।

बने हुए ये स्वप्न भी देखने में आये और अन्यत्र इनके रंगीन चित्र भी मिल आते हैं।

(१) मुसलमान लोग मंदिरों को तोड़ देते थे, जिससे उनके समय के बने हुए बड़े मंदिरों आदि में उनका कोई पवित्र चिह्न इस अभिप्राय से बना दिया जाता था कि उसको देखकर वे उनको न तोड़ें। राणपुर के प्रसिद्ध मंदिर के एक भाग में छोटीसी मसजिद की आकृति बनी हुई है; महाराणा कुंभा के बनवाये हुए चित्तोड़ के सुप्रसिद्ध कीर्तिस्तंभ की एक मंज़िल के द्वार की दोनों तरफ श्वेत पाषाण के स्तंभों के मध्य में तीन तीन बार 'अल्लाह' शब्द उभड़े हुए सुंदर अरबी अक्षरों में अंकित है।

उदयपुर राज्य के अधिकार में जो विष्णु-मंदिर हैं, उनके समान यहां भी विष्णु के जन्माष्टमी, जलझूलनी आदि त्यौहार मंदिर की तरफ से मनाये जाते हैं। चौमासे में इस मंदिर में श्रीमद्भागवत की कथा होती है, जिसकी भेट के निमित्त राज्य की तरफ से ताम्रपत्र कर दिया गया है और ऋषभनाथजी के भोग के लिये एक गांव भी भेट हुआ था। मंदिर के प्रथम द्वार के पास खड़े हुए महाराणा संग्रामसिंह (दूसरे) के शिलालेख में वेगार की मनाई करने, ऋषभदेवजी की रसोई का काम नाथजी के सुपुर्द करने तथा उस संबंध का ताम्रपत्र अखेहजी नाथजी (भंडारी) के पास होने का उल्लेख है। पहले अन्य विष्णु-मंदिरों के समान यहां भोग भी लगता था और भोग तैयार होने के स्थान को 'रसोड़ा' कहते थे। अब तो इस मंदिर में पहले की तरह भोग नहीं लगता और भोग के स्थान में, भंडार की तरफ से होनेवाले स्नात्रपूजन में फल और सूखे मेवे आदि के साथ, कुछ मिठाई रख दी जाती है।

महाराणा साहब इस मंदिर में द्वितीय द्वार से नहीं, किंतु बाहरी परिक्रमा के पिछले भाग में बने हुए एक छोटे द्वार से प्रवेश करते हैं, क्योंकि दूसरे द्वार के ऊपर की छत में पांच शरीर और एक सिरवाली एक मूर्त्ति खुदी हुई है, जिसको लोग 'छत्रभंग' कहते हैं। इसी मूर्ति के कारण महाराणा साहब इसके नीचे होकर दूसरे द्वार से मंदिर में प्रवेश नहीं करते।

मंदिर का सारा काम पहले भंडारियों के अधिकार में था और इसकी सारी आमद उनकी इच्छानुसार खर्च की जाती थी, परंतु पीछे से राज्य ने मंदिर की आय में से कुछ हिस्सा उनके लिये नियत कर बाकी के रुपयों की व्यवस्था करने के लिये एक जैन कमेटी बना दी है और देवस्थान के हाकिम का एक नायब मंदिर के प्रबंध के लिये वहां रहता है।

मंदिर में पूजन करनेवाले यात्रियों के लिये नहाने-धोने का अच्छा प्रबंध है। पूजन करते समय स्त्री-पुरुषों के पहनने के लिये शुद्ध वस्त्र भी वहां हर वक़ तैयार रहते हैं और जिनको आवश्यकता हो उनको वे मिल सकते हैं। मंदिर एवं जैन धनाढ्यों की तरफ से कई एक धर्मशालाएं भी बन गई हैं, जिससे यात्रियों को धूलेव में ठहरने का बड़ा सुबीता रहता है। उदयपुर से ऋषभदेव तक का सारा मार्ग बहुधा भीलों ही की बस्तीवाले पहाड़ी प्रदेश में होकर निकलता है, परंतु वहां पक्की सड़क बनी हुई है और वर्तमान महाराणा

साहब ने यात्रियों के आराम के लिये ऋषभदेव के मार्ग पर काया, बारापाल तथा टिड्डी गांवों में पक्की धर्मशालाएं बनवा दी हैं। परसाद में भी पुरानी कच्ची धर्मशाला बनी हुई है। मार्ग निर्जन वन तथा पहाड़ियों के बीच होकर निकलता है तो भी रास्ते में स्थान स्थान पर भीलों की चौकियां बिठला देने से यात्रियों को लुट जाने का भय बिल्कुल नहीं रहा। प्रत्येक चौकी पर राज्य की तरफ से नियत किये हुए कुछ पैसे ही देने पड़ते हैं। ऋषभदेव जाने के लिये उदयपुर में बैलगाड़ियां तथा तांगे मिलते हैं और अब तो मोटरों का भी प्रबंध हो गया है।

चित्तोड़गढ़

बॉम्बे बड़ौदा एंड सेंट्रल इंडिया रेल्वे की अजमेर से खंडवा जानेवाली शाखा पर चित्तोड़गढ़ जंक्शन से दो मील पूर्व में एक विलग पहाड़ी पर राजपूताने का ही नहीं वरन् भारत का सुप्रसिद्ध क़िला, चित्तोड़गढ़, बना हुआ है। राजपूत जाति के इतिहास में यह दुर्ग एक अत्यन्त प्रसिद्ध स्थान है जहां असंख्य राजपूत वीरों ने अपने धर्म और देश की रक्षा के लिये अनेक बार असिधारारूपी तीर्थ में स्नान किया और जहां कई राजपूत वीरांगनाओं ने सतीत्व-रक्षा के निमित्त, धधकती हुई जौहर की अग्नि में कई अवसरों पर अपने प्रिय बाल-बच्चों सहित प्रवेश कर जो उच्च आदर्श उपस्थित किया वह चिरस्मरणीय रहेगा। राजपूतों ही के लिये नहीं, किन्तु प्रत्येक स्वदेशप्रेमी हिन्दू संतान के लिये क्षत्रिय-रुधिर से सिंची हुई यहां की भूमि के रजकण भी तीर्थ-रेणु के तुल्य पवित्र हैं।

यह किला मौर्य वंश के राजा चित्रांगद ने बनवाया था जिससे इसको चित्र-कूट (चित्तोड़) कहते हैं। विक्रम संवत् की आठवीं शताब्दी के अंत में मेवाड़ के गुहिलवंशी राजा बापा ने राजपूताने पर राज्य करनेवाले मौर्य वंश के अंतिम राजा मान से यह क़िला अपने हस्तगत किया। फिर मालवे के परमार राजा मुंज ने इसे गुहिलवंशियों से छीनकर अपने राज्य में मिलाया। वि० सं० की बारहवीं शताब्दी के अन्त में गुजरात के सोलंकी राजा जयसिंह (सिद्धराज) ने परमारों से मालवे को छीना, जिसके साथ ही यह दुर्ग भी सोलंकियों के अधिकार में गया। तदनन्तर जयसिंह के उत्तराधिकारी कुमारपाल के भतीजे अजयपाल को परास्त कर मेवाड़ के राजा सामन्तसिंह ने वि० सं० १२३१ (ई० स० ११७४) के आसपास इस किले पर गुहिलवंशियों का आधिपत्य पीछा

जमा दिया। उस समय से आज तक यह इतिहास-प्रसिद्ध दुर्ग प्रायः—यद्यपि बीच में कुछ वर्षों तक मुसलमानों के अधीन भी रहा था—गुहिलवंशियों (सीसोदियों) के ही अधिकार में चला आता है।

चित्तोड़गढ़ जंक्शन से क़िले के ऊपर तक पक्की सड़क बनी हुई है। स्टेशन से रवाना होकर अनुमान सवा मील जाने पर गंभीरी नदी आती है, जिसपर अलाउद्दीन ख़िलजी के शाहज़ादे ख़िज़रख़ां का बनवाया हुआ पाषाण का एक सुदृढ पुल है। नदी का जल बहने के लिये इस पुल में दस महराब बने हैं, जिनमें से नौ के ऊपर के सिरे नुकीले और नदी के पश्चिमी तट से छठे का अग्रभाग अर्धवृत्ताकार है। अलाउद्दीन ख़िलजी ने महारावल रत्नसिंह के समय वि० सं० १३६० (ई० स० १३०३) में यह दुर्ग विजय कर अपने पुत्र को यहां का हाकिम नियत किया, उस समय यह पुल बना था[1]।

पुल से थोड़ी दूर जाने पर कोट से घिरा हुआ चित्तोड़ का क़स्बा आता है जिसको 'तलहटी' (तलहट्टिका) कहते हैं। क़स्बे में ज़िले की कचहरी है जिसके पास से क़िले की चढ़ाई आरंभ होती है। सबसे पहले 'पाडल पोल' नामक क़िले का दरवाज़ा मिलता है, जिसके बाहर की तरफ़ एक चबूतरे पर प्रतापगढ़ के रावत बाघसिंह का स्मारक बना हुआ है। महाराणा विक्रमादित्य के राज्य-समय गुजरात के सुलतान बहादुरशाह ने वि० सं० १५९१ (ई० स० १५३४) में चित्तोड़ पर चढ़ाई की, उस समय बालक होने के कारण महाराणा क़िले से बाहर भेज दिये गये थे और बाघसिंह उनका प्रतिनिधि बनकर लड़ता हुआ इसी दरवाज़े के पास—जहां यह स्मारकरूप चबूतरा बना हुआ है—मारा गया था। थोड़ी दूर उत्तर में चलने पर भैरव पोल आती है, जिसके पास ही दाहिने हाथ की तरफ़ दो छत्रियां बनी हुई हैं। इनमें से पहली चार थंभोंवाली प्रसिद्ध राठोड़ जैमल के कुटुंबी कल्ला और इसके समीप ही ६ स्तंभवाली छत्री स्वयं जैमल की

(१) कुछ लोगों का कथन है कि राणा लक्ष्मणसिंह के पुत्र अरिसिंह ने, जो अलाउद्दीन के साथ की लड़ाई में मारा गया था, इस पुल को बनवाया था (डॉक्टर जे० पी० स्ट्रैटन; 'चित्तोर ऍड दी मेवार फ़ैमिली,' पृ० ६७); परन्तु यह कथन विश्वास के योग्य नहीं है, क्योंकि अरिसिंह कभी चित्तोड़ का स्वामी नहीं हुआ। दूसरी बात यह है कि इस पुल का शिल्प हिन्दू शैली का नहीं, किन्तु मुसलमान (सारसेनिक्) शैली का है और कई हिन्दू एवं जैन मंदिरों को गिराकर उनके पत्थरों का इस पुल में उपयोग किया गया है, जो राजपूत लोग कभी नहीं करते।
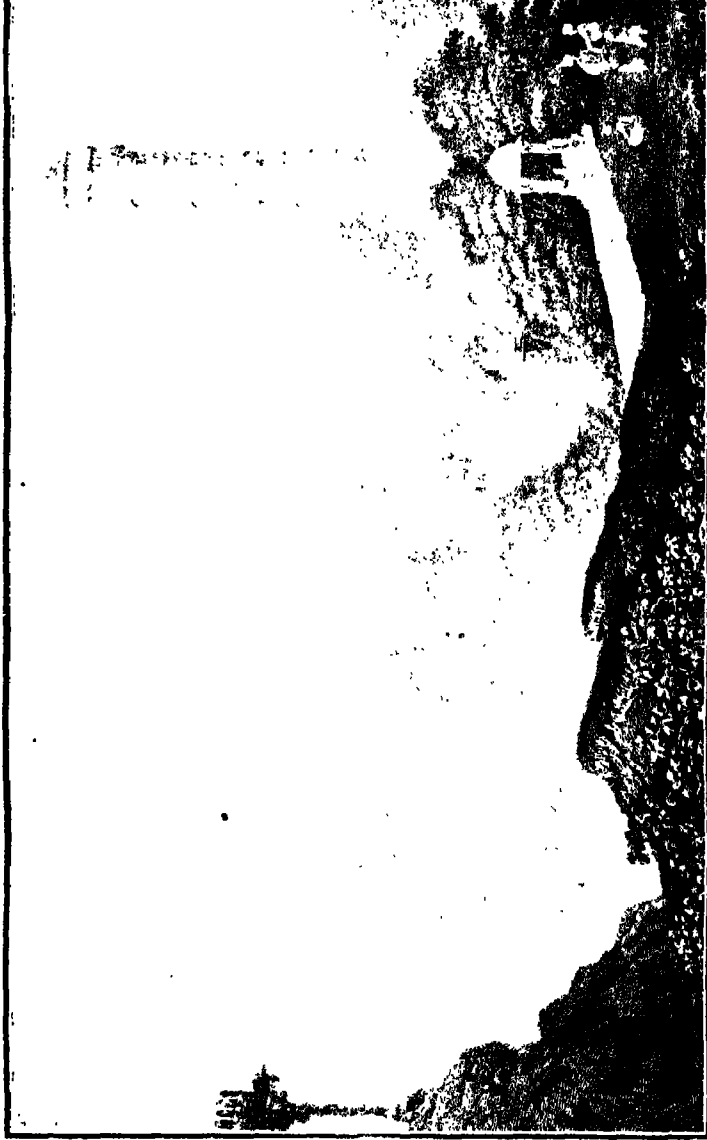
चित्तोड़गढ़

है, जहां ये दोनों राठोड़ वीर मारे गये थे। वि० सं० १६२४ (ई० स० १५६७) में बादशाह अकबर ने चित्तोड़गढ़ पर चढ़ाई की, उस समय सीसोदिया पत्ता (प्रताप, आमेटवालों का पूर्वज) और मेड़तिया राठोड़ जैमल, दोनों, महाराणा उदयसिंह की अनुपस्थिति में दुर्ग के रक्षक नियुक्त हुए थे और अंतिम दिवस की लड़ाई में लड़ते हुए ये दोनों भिन्न भिन्न स्थानों में वीरोचित गति को प्राप्त हुए। इन छत्रियों से थोड़ी दूर पर हनुमान पोल आती है जहां से कुछ आगे जाकर सड़क दक्षिण की ओर मुड़ती है और इस मोड़ पर गणेश पोल बनी हुई है। गणेश पोल के आगे लक्ष्मण पोल के पास से सड़क फिर उत्तर की तरफ मुड़ जाती है और इस घुमाव पर ही जोड़ला पोल आती है। फिर कुछ दूर चलने से राम पोल नामक पश्चिमाभिमुख प्रवेश-द्वार में होकर किले पर पहुंच जाते हैं, जहां पहाड़ी की चढ़ाई समाप्त होकर समतल भूमि आती है।

राम पोल में प्रवेश करते ही सामने की तरफ एक चबूतरे पर उपर्युक्त सीसोदिये पत्ता के स्मारक का पत्थर खड़ा है, जहां वह लड़ता हुआ काम आया था। राम पोल में प्रवेश करने के बाद सड़क उत्तर में भी मुड़ती है। उधर थोड़ी ही दूर पर दाहिने हाथ की ओर कुकड़ेश्वर का कुंड आता है जिसके ऊपर के भाग में कुकड़ेश्वर का मंदिर बना हुआ है। आगे बढ़ने पर दाहिनी ओर सड़क से कुछ दूर हिंगलू आहाड़ा के महल आते हैं[1]। ये महल महाराणा रत्नसिंह के

---

(१) बूंदी के वंशभास्कर नामक इतिहास तथा उसके सारांशरूप वंशप्रकाश में लिखा है कि 'वि० सं० १२६८ (ई० स० १२४१) में मीणों से देवीसिंह ने बूंदी ली। उसके छोटे भाइयों में से एक का पुत्र हिंगलू राणाजी के पास रहा तथा अलाउद्दीन के साथ के महाराणा के युद्ध में लड़ता हुआ वह मारा गया जिसके महल चित्तोड़ में हैं'। यह सारा कथन कल्पनामात्र है, क्योंकि देवीसिंह ने महाराणा हम्मीरसिंह की सहायता से वि० सं० १४०० (ई० स० १३४३) के आसपास या उससे कुछ वर्ष पीछे मीणों से बूंदी ली थी और इन महलों से बूंदी के हाड़ा हिंगलू का कोई संबंध भी नहीं है। आहाड़ में रहने के कारण मेवाड़ के राजाओं का उपनाम 'आहाड़ा' हुआ और डूंगरपुर तथा बांसवाड़े के राजा भी आहाड़ा कहलाते रहे ("संवत् १५२० वर्षे शाके १३८६ प्रवर्तमाने वैशाष (ख) सुदि ३ तृतीयायां तिथौ सोमदिने रोहिणीनक्षत्रे आहडवंशोत्पन्न राउल श्री कर्मसिंहोद्भव राउल…"—डूंगरपुर राज्य के ढेसां गांव का शिलालेख (जो अजमेर के राजपूताना म्यूज़ियम् में सुरक्षित है)। हिंगलू डूंगरपुर का आहाड़ा सरदार था और इन महलों में रहता था जिससे ये महल 'हिंगलू आहाड़ा के महल' कहलाये। पिछले समय में आहाड़ा नाम भूल जाने और बूंदीवालों का हाड़ा नाम प्रसिद्ध होने के कारण लोग इन महलों को 'हिंगलू हाड़ा के महल' कहने लगे।

रहने के थे, जहां रत्नेश्वर का कुंड और मंदिर है। यहां से कुछ दूर चलने पर पहाड़ी के उत्तरी किनारे के निकट पहुंचते हैं, जहां से सड़क पूर्व की तरफ घूमती है। पहाड़ी के पूर्वी किनारे के समीप एक खिड़की बनी हुई है, जिसको 'लाखोटा की बारी' कहते हैं। यहां से राजटीले तक सड़क सीधी दक्षिण में चली गई है। मार्ग में पहले बाई ओर सात मंज़िलवाला जैन कीर्तिस्तंभ आता है, जिसको दिगंबर संप्रदाय के बघेरवाल महाजन सा (साह, सेठ) नाय के पुत्र जीजा ने वि० सं० की चौदहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में बनवाया था। यह कीर्तिस्तंभ आदिनाथ का स्मारक है, इसके चारों पार्श्व पर आदिनाथ की एक एक विशाल दिगंबर (नग्न) जैन मूर्ति खड़ी है और बाकी के भाग पर अनेक छोटी छोटी जैन मूर्तियां खुदी हुई हैं। इस कीर्तिस्तंभ के ऊपर की छत्री बिजली गिरने से टूट गई और इस स्तंभ को भी बड़ी हानि पहुंची थी, परन्तु वर्तमान महाराणा साहब ने अनुमान ८०००० रुपये लगाकर ठीक वैसी ही छत्री पीछी बनवा दी और स्तंभ की भी मरम्मत हो गई है। जैन कीर्तिस्तंभ के पास ही महावीर स्वामी का मंदिर है, जिसका जीर्णोद्धार महाराणा कुंभा के समय वि० सं० १४६५ (ई० स० १४३८) में ओसवाल महाजन गुणराज ने कराया था; इस समय यह मंदिर टूटी-फूटी दशा में पड़ा हुआ है। आगे बढ़ने से नीलकंठ महादेव का मंदिर और उसके बाद सूरज पोल नामक क़िले का पूर्वी दरवाज़ा आता है, जहां से इस दुर्ग के नीचे मैदान में जाने के लिये एक रास्ता बना हुआ है। इस दरवाज़े के निकट सलूंबर के रावत साईंदास का चबूतरा है, जहां वह अकबर की लड़ाई के समय वीरता से लड़ता हुआ मारा गया था। यहां से दक्षिण की तरफ जाने पर दाहिनी ओर अदबदजी (अद्भुतजी) का मंदिर आता है, जो महाराणा रायमल के राज्य-समय वि० सं० १५४० (ई० स० १४८३) में बना था। इसमें शिवलिंग और दीवार से सटी हुई शिवजी की एक विशाल त्रिमूर्ति है; इस अद्भुत प्रतिमा को देखकर लोगों ने इसका नाम अदबदजी (अद्भुतजी) रख दिया है। यहां से थोड़ी ही दूर पर राजटीला नामक एक ऊंचा

अलाउद्दीन के समय तो हिंगलू हाड़ा का जन्म भी नहीं हुआ था। खरतर गच्छ के यति कवि खेता ने वि० सं० १७४८ (ई० स० १६९१) में 'चित्तोड़ की गज़ल' नामक पुस्तक लिखी जिसमें भी इन महलों को 'आहड़ महल' कहा है—

आहड़ महल अति ऊंचा कि। जाइ असमान कुं पोहचा कि॥११॥ ऐसा ही डॉक्टर स्ट्रैटन ने लिखा है ('चित्तोर ऐंड दी मेवार फ़ैमिली;' पृ० ७३)।

पद्मिनी के महल (प्राचीन)

स्थान है जहां पहले मौर्यवंशी राजा मान के महल थे, ऐसी प्रसिद्धि है। इस स्थान के पास से सड़क पश्चिम में मुड़ जाती है और सड़क के पश्चिमी सिरे के पास चित्रांगद मौर्य्य का निर्माण कराया हुआ तालाब है, जिसको 'चत्रंग' कहते हैं। यहां से अनुमान पौन मील दक्षिण में चित्तोड़ की पहाड़ी समाप्त होती है और उसके नीचे कुछ ही अंतर पर चित्तोड़ी नाम की एक छोटी पहाड़ी है। चत्रंग तालाब से सड़क उत्तर को जाती है।

उत्तर में थोड़ी दूर आगे बढ़ने पर दाहिनी ओर चहारदीवारी से घिरा हुआ एक छोटासा स्थान है, जिसको लोग 'भाक्सी' कहते हैं और इसके विषय में ऐसी प्रसिद्धि है, कि मालवे का सुलतान उसमें क़ैद रहा था, परन्तु यह केवल कल्पना ही है, क्योंकि इस जगह रहने योग्य कोई स्थान दृष्टिगोचर नहीं होता। यहां से आगे कुछ अंतर पर पश्चिम की तरफ बूंदी, रामपुरा और सलूंबर की हवेलियों के खंडहर थोड़ीसी ऊंचाई पर दीख पड़ते हैं। इनके पूर्व में पुराना चौगान आ गया है, जहां पहले सेना की क़वायद हुआ करती थी, और इसको लोग 'घोड़े दौड़ाने का चौगान' कहते हैं। इसके समीप एक जलाशय के किनारे पर रावल रत्नसिंह की राणी पद्मिनी के महल बने हुए हैं। एक छोटा महल तालाब के भीतर भी है, जहां पहुंचने के लिये किश्ती की आवश्यकता रहती है। उक्त महलों से दक्षिण-पूर्व में दो गुंबज़दार मकान हैं जिनको वहां के लोग 'गोरा और बादल के महल' कहते हैं, परन्तु उनकी बनावट तथा वर्तमान दशा देखते हुए उनको इतने पुराने नहीं मान सकते। पद्मिनी के महलों से उत्तर में बाईं ओर कालिका माता का सुन्दर, विशाल और ऊंची कुरसीवाला एक मंदिर है, जिसके थंभों, छतों तथा निजमंदिर के द्वार पर की खुदाई का सुंदर काम देखते हुए यही प्रतीत होता है कि यह मंदिर वि० सं० की दसवीं शताब्दी के आसपास का बना हुआ हो। वास्तव में यह कालिका का नहीं, किन्तु सूर्य का मंदिर था, ऐसा निजमंदिर के द्वार पर की सूर्य की मूर्ति, तथा गर्भगृह के बाहरी पार्श्व के ताकों में स्थापित सूर्य की मूर्तियों से निश्चय होता है। संभव है कि मेवाड़ के गुहिलवंशी राजाओं ने यह मंदिर बनवाया हो। मुसलमानों के समय में यहां की मूर्ति तोड़ दी गई और बरसों तक यह मंदिर सूना पड़ा रहा, जिससे पीछे से इसमें कालिका की मूर्ति स्थापित की गई है। महाराणा सज्जनसिंह ने इस मंदिर का जीर्णोद्धार कराया था। इस मंदिर से उत्तर-पूर्व में एक विशाल कुंड

बना हुआ है, जिसको सूरजकुंड कहते हैं। यहां से आगे पत्ता और जैमल की हवेलियां हैं। जैमल की हवेली से पूर्व में एक तालाव है जो 'जैमलजी का तालाव' कहलाता है। इस जलाशय के तट पर बौद्धों के ६ स्तूप खड़े थे, जो इस समय तोपखाने के मकान के पास पड़े हुए हैं। इन स्तूपों से अनुमान होता है कि उक्त तालाव के निकट प्राचीन काल में बौद्धों का कोई मंदिर या तीर्थ-स्थान अवश्य होगा। इस तालाव से आगे पूर्व में हाथी कुंड और पश्चिम में 'गोमुख' नाम का प्रसिद्ध तीर्थ है, जहां दो दालानों में तीन जगह गोमुखों से शिवलिंगों पर जल गिरता है और प्रथम दालान में द्वार के सामने विष्णु की एक विशाल मूर्ति खड़ी हुई है। इन दालानों के सामने ही गोमुख नामक निर्मल जल का सुविशाल कुंड है, जहां लोग स्नान करते हैं। गोमुख के निकट महाराणा रायमल के समय का बना हुआ एक छोटासा जैन मंदिर है, जिसकी मूर्ति दक्षिण से यहां लाई गई थी, क्योंकि उस मूर्ति के ऊपर प्राचीन कनड़ी लिपि का लेख है और नीचे के भाग में उस मूर्ति की यहां प्रतिष्ठा किये जाने के संबंध में वि० सं० १५४३ का लेख पीछे से नागरी लिपि में खोदा गया है। गोमुख के कुंड के उत्तरी छोर पर समिद्धेश्वर (समाधीश्वर, शिव) का भव्य प्राचीन मंदिर है, जिसके भीतरी और बाहरी भाग में खुदाई का काम बड़ा ही सुंदर बना है। मालवे के सुप्रसिद्ध विद्यानुरागी परमार राजा भोज ने इस मंदिर को निर्माण कराया था और उसके बिरुद 'त्रिभुवननारायण' पर से इसको त्रिभुवननारायण का शिवालय और भोजजगती (भोज का मंदिर) भी कहते थे, ऐसा उल्लेख शिलालेखों में मिलता है। इसके गर्भगृह (निजमंदिर) के नीचे के भाग में शिवलिंग और पीछे की दीवार में शिव की विशाल त्रिमूर्ति बनी हुई है, जिसकी अद्भुत आकृति के कारण लोग इसको अदबदजी (अद्भुतजी) का मंदिर कहते हैं। चित्तोड़ पर यह दूसरा प्राचीन मंदिर है। महाराणा मोकल ने वि० सं० १४८५ (ई० स० १४२८) में इसका जीर्णोद्धार करवाया जिससे इसको लोग 'मोकलजी का मंदिर' भी कहते हैं। अजमेर के चौहान राजा आना (अर्णोराज) को परास्त कर गुजरात का सोलंकी राजा कुमारपाल चित्तोड़ देखने आया था। उसने यहां पूजन किया और एक गांव इस मंदिर को भेट कर वि० सं० १२०७ (ई० स० ११५०) में यहां अपना शिलालेख लगाया जो अब तक विद्यमान है। मंदिर के साथ ही एक मठ भी बना था जो टूटी-फूटी दशा में अब भी दीख पड़ता है। इस मंदिर

और महाराणा कुंभा के कीर्तिस्तंभ के बीच चित्तोड़ के राजाओं का दाह-स्थान (महासती) है, जिसके चारों ओर रावल समरसिंह ने एक बड़े द्वार सहित कोट बनवाया था, और दो बड़ी बड़ी शिलाओं पर प्रशस्ति खुदवाकर उसके द्वार में लगाई थी, जिनमें से पहली शिला वहां विद्यमान है, परंतु दूसरी नष्ट हो जाने के कारण उसका स्थान खाली पड़ा हुआ है।

पास ही महाराणा कुंभा का बनवाया हुआ विशाल कीर्तिस्तंभ खड़ा है जो भारतवर्ष में अपने ढंग का एक ही स्तंभ है। उपर्युक्त जैन कीर्तिस्तंभ से यह अधिक ऊंचा और चौड़ा होने तथा प्रत्येक मंज़िल में झरोके बने हुए होने से इसके भीतरी भाग में प्रकाश भी काफी रहता है। इसमें जनार्दन, अनंत आदि विष्णु के भिन्न भिन्न रूपों एवं अवतारों की, तथा ब्रह्मा, विष्णु, शिव, भिन्न भिन्न देवियों, अर्धनारीश्वर (आधा शरीर पार्वती का और आधा शिव का), उमामहेश्वर, लक्ष्मीनारायण, ब्रह्मासावित्री, हरिहर (आधा शरीर विष्णु और आधा शिव का), हरिहरपितामह (विष्णु, शिव और ब्रह्मा तीनों एक मूर्ति में), ऋतु, आयुध (शस्त्र), दिक्पाल तथा रामायण और महाभारत के पात्रों आदि की सैकड़ों मूर्तियां खुदी हुई हैं। वास्तव में यह हिन्दुओं के पौराणिक देवताओं का एक अमूल्य कोश है और साथ ही इसमें विशेषता यह है कि प्रत्येक मूर्ति के ऊपर या नीचे उसका नाम खुदा हुआ है। इसलिये प्राचीन मूर्तियों का ज्ञान संपादन करनेवालों के लिये यह एक अपूर्व साधन है। मैंने अनेक बार इस कीर्तिस्तंभ में बैठकर प्राचीन मूर्तियों के संबंध की अपनी शंकाएं निवृत्त की हैं। इसकी प्रतिष्ठा वि० सं० १५०५ माघ वदि १० को हुई थी और इसका प्रारंभ वि० सं० १४९७ में होना चाहिये। इसके विषय में ऐसी प्रसिद्धि है कि वि० सं० १४९७ (ई० स० १४४०) में मालवे के सुलतान महमूद शाह खिलजी को प्रथम बार परास्त कर उसकी यादगार में राणा कुंभा ने अपने इष्टदेव विष्णु के निमित्त यह कीर्तिस्तंभ बनवाया था। इसके ऊपर की छत्री बिजली गिरने से टूट गई थी जिससे महाराणा सरूपसिंह ने उसकी मरम्मत करवाई। कीर्तिस्तंभ से उत्तर में जटाशंकर नामक शिवालय है और थोड़े ही अंतर पर महाराणा कुंभा का निर्माण कराया हुआ विष्णु के वराह अवतार का कुंभस्वामी (कुंभश्याम) नामक भव्य मंदिर बना हुआ है, जिसको लोग भ्रम से 'मीरांबाई का मंदिर' कहते हैं। यह मंदिर भी वि० सं० १५०५

से युद्ध करने के लिये बाहर आना पड़ा। राजपूतों के अदम्य उत्साह तथा बड़ी वीरता से लड़ने पर भी शत्रुओं की संख्या कहीं अधिक होने से अंत में सब रक्षकों के वीरगति पाने पर गढ़ शत्रुओं के अधिकार में चला गया। इसका पुराना कोट जीर्ण-शीर्ण हो गया था जिससे महाराणा सज्जनसिंह ने कई हज़ार रुपये सालाना इसपर लगाना निश्चय कर नये सिरे से एक सुदृढ प्राकार बनवाना प्रारंभ किया, जिसका काम अभी तक जारी है और उसका बहुतसा हिस्सा बन चुका है; इससे क़िले की मज़बूती और भी बढ़ गई है, परंतु इस समय तो बड़ी बड़ी तोपों तथा वायुयान आदि पाश्चात्य यंत्र-साधनों का प्रचार होने से संसार के प्रायः सभी क़िले निरुपयोगी हो रहे हैं।

नगरी

चित्तोड़ के क़िले से ७ मील उत्तर में नगरी नाम का अति प्राचीन स्थान बेदले के चौहान सरदार की जागीर के अंतर्गत है। यह भारतवर्ष के प्राचीन नगरों में से एक था, जिसके खंडहर दूर दूर तक दीख पड़ते हैं और यहां से कितने एक प्राचीन शिलालेख तथा सिक्के मिले हैं। इसकी पश्चिम तरफ बेड़च नदी बहती है, जिसके निकट बड़े बड़े पत्थरों से बने हुए, कोट से घिरे हुए, राजप्रासाद का होना अनुमान किया जाता है। इस स्थान में घड़े हुए बड़े बड़े पत्थरों के ढेर जगह जगह पड़े हैं और हज़ारों गाड़ियां भरकर यहां के पत्थर लोग दूर दूर तक ले गये और वहां उनसे बावड़ी, महलों के कोट आदि बनाये गये। महाराणा रायमल की राणी शृंगारदेवी की बनवाई हुई घोसुंडी गांव की बावड़ी भी नगरी से ही पत्थर लाकर बनाई गई है। नगरी का प्राचीन नाम मध्यमिका था। बर्ली गांव (अजमेर ज़िले में) से मिले हुए वीर संवत् ८४ (वि० सं० पूर्व ३८६=ई० स० पूर्व ४४३) के शिलालेख में मध्यमिका का उल्लेख मिलता है। पतंजलि ने अपने 'महाभाष्य' में मध्यमिका पर यवनों (यूनानियों, मिनैंडर) के आक्रमण का उल्लेख किया है। वहां से मिलनेवाले शिलालेखों में से तीन वि० सं० पूर्व की तीसरी शताब्दी के आसपास की लिपि में हैं। इनमें से एक पर दो पंक्तियों में कुछ अक्षर हैं, जिनका आशय यह है कि 'सर्व भूतों (जीवों) की दया के निमित्त......बनवाया'। संभवतः यह लेख बौद्धों या जैनों से संबंध रखता हो। ठीक उसी लिपि का दूसरा शिलालेख उपर्युक्त घोसुंडी गांव की बावड़ी बनाने के लिये यहां से जो पत्थर ले गये उनके साथ वहां पहुंचा और एक मामूली पत्थर के समान वह चुनाई में लगा दिया गया। वह

दोनों ओर से खंडित है और उसपर बड़े बड़े अक्षरों की तीन पंक्तियां खुदी हैं। पहली पंक्ति का आशय 'पाराशरी पुत्र गाजायन ने'; दूसरी का, 'भगवान् संकर्षण और वासुदेव के निमित्त' तथा तीसरी का 'पूजा के निमित्त नारायण वट [स्थान] पर शिलाप्राकार बनवाया' है। इससे पाया जाता है कि वि० सं० पूर्व की तीसरी शताब्दी के आसपास विष्णु की पूजा होती थी और उनके मंदिर भी बनते थे।

उसी लिपि के तीसरे लेख का एक छोटा टुकड़ा घोसुंडी और बसी गांवों की सीमा पर मिला, जिसपर एक ही पंक्ति है और उसमें '[ते]न सर्वतातेन अश्वमेध' (उस सर्वतात ने अश्वमेध—यज्ञ किया) शब्द खुदे हुए हैं। अश्वमेध यज्ञ बड़े राजा ही करते थे, अतएव सर्वतात यहां का कोई बड़ा राजा होना चाहिये। वि० सं० की चौथी शताब्दी की लिपि का दोनों किनारों से टूटा हुआ एक लेख का टुकड़ा नगरी से मिला है। उसपर के लेख से ज्ञात होता है कि यहां.........ने वाजपेय यज्ञ किया था, और उसके पुत्रों ने उसका यूप (यज्ञस्तंभ) खड़ा करवाया था। मालव (विक्रम) संवत् ४८१ का एक पांचवां शिलालेख भी यहां से मिला है जिसमें एक विष्णुमंदिर के बनने का उल्लेख है। यह इस समय राजपूताना म्यूज़ियम् में सुरक्षित है।

गांव से थोड़े ही अंतर पर 'हाथियों का बाड़ा' नाम का एक विस्तृत स्थान है, जिसकी चहारदीवारी बहुत लंबे, चौड़े और मोटे तीन तीन पत्थर एक एक के ऊपर रखकर बनाई गई है। ऐसे विशाल पत्थरों को उठाकर एक दूसरे पर रखना भी सहज काम नहीं है। संभव है कि उपर्युक्त दूसरे शिलालेख का 'शिलाप्राकार' इसी स्थान का सूचक हो। यहां से कुछ दूर बड़े बड़े पत्थरों से बनी हुई एक चतुरस्र मीनार है, जिसको लोग 'ऊभदीवट' कहते हैं और उसके संबंध में कहा जाता है कि बादशाह अकबर ने चित्तोड़ पर चढ़ाई की उस समय इस मीनार पर रोशनी की जाती थी। यह कथन सत्य हो वा असत्य, परंतु इस मीनार के लिये पत्थर उक्त हाथियों के बाड़े से ही तोड़कर ले जाये गये थे, ऐसा स्पष्ट दीख पड़ता है। नगरी के निकट तीन स्तूपों के चिह्न भी मिलते हैं और वर्तमान गांव के भीतर माताजी के खुले स्थान में प्रतिमा के सामने एक सिंह की प्राचीन मूर्ति ज़मीन में कुछ गड़ी हुई है; पास ही चार बैलों की मूर्तियोंवाला एक चौखूंटा बड़ा पत्थर रक्खा हुआ है। ये दोनों प्राचीन

विशाल स्तंभों के ऊपर के सिरे होने चाहियें।

उदयपुर से १०० मील उत्तर-पूर्व में मांडलगढ़ का क़िला है, जिसको किसने बनवाया यह अभी तक अनिश्चित है। इसके संबंध में जनश्रुति तो यह है कि

मांडलगढ़

'मांडिया नामी भील को बकरी चराते समय पारस नाम का पत्थर मिला जिसपर उसने अपना तीर घिसा तो वह सुवर्ण का हो गया। यह देखकर उस पत्थर को वह चांनणा नामक गूजर के पास ले गया, जो वहां अपने पशु चरा रहा था, और उससे कहा कि इस पत्थर पर घिसने से मेरा तीर खराब हो गया है। चांनणा उस पत्थर की करामात को समझ गया, जिससे उसने मांडिया से उसे ले लिया और उसके द्वारा धनाढ्य हो जाने पर उसने यह क़िला बनवाकर मांडिया के नाम से इसका नाम 'मांडलगढ़' रक्खा'। यह दंतकथा कल्पनामात्र प्रतीत होती है। एक शिलालेख में इसको 'मंडलाकृति (वृत्ताकार) गढ' कहा है[1], अतएव संभव है कि इसकी आकृति मंडल (वृत्त) के समान होने से ही इसका नाम मंडलगढ़ (मांडलगढ़) प्रसिद्ध हुआ हो।

यह क़िला पहले अजमेर के चौहानों के राज्य में था और संभव है कि उन्होंने ही इसे बनवाया हो। जब कुतुबुद्दीन ऐबक ने अजमेर का राज्य सम्राट् पृथ्वीराज के भाई हरिराज से छीना तब इस क़िले पर मुसलमानों का अधिकार हुआ, परंतु थोड़े ही समय बाद हाड़ौती के चौहानों ने इसे मुसलमानों से छीन लिया और जब हाड़ों को महाराणा खेता (क्षेत्रसिंह) ने अपने अधीन किया तभी यह दुर्ग मेवाड़ के अधिकार में आया। फिर बीच में कई बार मुसलमानों ने सीसोदियों से इसे लेकर दूसरों को भी दे दिया, परंतु मेवाड़वाले पीछा इसे लेते ही रहे जिसका विवरण आगे यथाप्रसंग लिखा जायगा।

यह गढ़ समुद्र की सतह से १८५० फुट ऊंची पहाड़ी के अग्रभाग पर बना है और इसके चारों ओर अनुमान आध मील लंबाई का बुर्जों सहित कोट बना हुआ है। क़िले से उत्तर की ओर अनुमान आध मील से भी कम

---

(१) *सोपिक्षेत्रमहीभुजा निजभुजप्रौढप्रतापादहो*
भग्नो विश्रुतमंडलाकृतिगढो जित्वा समस्तानरीन् ॥ ७ ॥
(शृंगी ऋषि के स्थान का वि० सं० १४८५ का अप्रकाशित शिलालेख ।

अंतर पर एक पहाड़ी (नकटी का चौड़, वींजासण) आ गई है, जो क़िले के लिये हानिकारक है। गढ़ में सागर और सागरी नाम के दो जलाशय हैं, जिनका जल दुष्काल में सूख जाया करता था, इसलिये वहां के अध्यक्ष (हाकिम) महता अगरचंद ने सागर में दो कुए खुदवा दिये, जिनमें जल कभी नहीं टूटता। यह किला कुछ समय तक बालनोत सोलंकियां की जागीर में भी रहा था। यहां ऋषभदेव का एक जैन-मंदिर, ऊंडेश्वर और जलेश्वर के शिवालय, अलाउद्दीन नामक किसी मुसलमान अफसर की क़ब्र और किशनगढ़ के राठोड़ रूपसिंह के, जिसके अधिकार में बादशाह की तरफ़ से कुछ समय तक यह क़िला रहा था, महल भी हैं।

जहाज़पुर उक्त नाम के ज़िले का मुख्य स्थान तथा मेवाड़ के पुराने स्थलों में से एक है। लोगों का कथन है कि राजा जनमेजय ने नागों को होमने का यज्ञ यहीं किया था, जिससे इसका नाम 'यज्ञपुर' हुआ और उसका अपभ्रंश 'जाजपुर' (जहाज़पुर) है। इस क़स्बे से अग्नि कोण में अनुमान डेढ़ मील के अंतर पर नागेला तालाब है, जिसके बांध पर जनमेजय के यज्ञ का होना माना जाता है। उक्त तालाब से नागदी नाम की एक छोटी नदी निकल कर जहाज़पुर के क़स्बे के पास बहती है। इस नदी के पूर्वी किनारे पर १२ मंदिर एक स्थान में बने हुए हैं, जिनको 'बारा देवळां' कहते हैं। इन मंदिरों के विषय में यह दंतकथा है कि राजा जनमेजय ने यहां सोमनाथ की मूर्ति की प्रतिष्ठा अपने हाथ से की थी। यह दंतकथा विश्वास के योग्य नहीं है, परंतु इतना अवश्य है कि सोमनाथ का देवालय प्राचीन एवं तीर्थ-स्थान माना जाता है, क्योंकि वहां एक चबूतरे पर खड़े हुए, गोहिल नामक पुरुष के, स्मारक-स्तंभ पर वि० सं० १०८५ फाल्गुन वदि १३ को उसका स्वर्गवास होना लिखा है।

जहाज़पुर

जहाज़पुर के आसपास के प्रदेश में कई प्राचीन स्थान हैं, जहां चौहानों के शिलालेख मिलते हैं। उक्त क़स्बे से ७ मील दूर अग्नि कोण में धौड़ गांव है जहां रूठी राणी के मंदिर के एक स्तंभ पर वि० सं० १२२५ ज्येष्ठ वदि १३ का अजमेर के चौहान राजा पृथ्वीराज दूसरे (पृथ्वीभट) का लेख खुदा है। उक्त लेख में पृथ्वीराज की राणी का नाम सुहवदेवी लिखा है, जो रूठी राणी के नाम से लोगों में प्रसिद्ध है। दूसरे स्तंभ पर चौहान राजा सोमेश्वर के दो लेख खुदे हैं, जिनमें से एक वि० सं० १२२८ ज्येष्ठ सुदि १० का और दूसरा सं० १२२६

श्रावण सुदि १२ का है।

जहाज़पुर से ८ मील पर लोहारी गांव के बाहर भूतेश्वर का शिवालय है, जिसके स्तंभ पर चौहान राजा वीसलदेव (विग्रहराज चौथे) के समय का वि० सं० १२११ का लेख खुदा है। उसी मंदिर के बाहर एक सती का स्तंभ खड़ा हुआ है जिसके लेख से पाया जाता है कि 'वि० सं० १२३६ आषाढ वदि १[२] को पृथ्वीराज (चौहान पृथ्वीराज, तीसरे) के राज्य-समय वागड़ी सलखण के पुत्र जलसल का यह स्मारक उसकी माता काल्हीं ने स्थापित किया था'। यह स्तंभ मैंने उदयपुर के विक्टोरिया हॉल में सुरक्षित किया है।

जहाज़पुर से १३ मील दक्षिण-पश्चिम में आंवलदा गांव है, जिसके बाहर एक कुंड के पास सती के स्तंभ पर दो लेख खुदे हुए हैं, जिनमें से एक वि० सं० १२३४ भाद्रपद सुदि ४ का महाराजाधिराज श्रीसोमेश्वरदेव के राज्य-समय का है; उसमें डोड (डोड़िया) रा (राव या रावत) सिंघरा (सिंहराज) के पुत्र सिंदराउ (सिंदराज) की मृत्यु का उल्लेख है। दूसरा वि० सं० १२४५ फाल्गुन सुदि ११ का महाराजाधिराज पृथ्वीराज (पृथ्वीराज तृतीय) के समय का है, जिसमें डूड (डोड़िया) रा जेहड की मृत्यु का उल्लेख है।

बीजोल्यां

बीजोल्यां परमार सरदार की जागीर का मुख्य स्थान है, जिसका पुराना नाम यहां के शिलालेखों में 'विंध्यवल्ली' मिलता है, और इसी शब्द का अपभ्रंश 'बीजोल्यां' हुआ है। पहले यहां पर कई मंदिर थे जो जीर्ण होकर गिर जाने से उनके बहुतसे पत्थर बीजोल्यां के क़स्बे का कोट बनाने में लगा दिये गये। अब भी जो मंदिर यहां विद्यमान हैं वे अपनी प्राचीनता के लिये कम महत्त्व के नहीं हैं। बीजोल्यां के पूर्व में कोट के निकट तीन शिवमंदिर हैं, जिनमें से एक हजारेश्वर (सहस्रलिंग) महादेव का है और इसमें शिवलिंग के ऊपर छोटे छोटे सैकड़ों लिंग खुदे हुए हैं, जिससे इसको 'सहस्रलिंग का मंदिर' भी कहते हैं। इसमें निजमंदिर के द्वार पर लकुलीश की मूर्ति बनी हुई है। दूसरा मंदिर महाकाल का है जिसके द्वार पर भी लकुलीश की मूर्ति है। तीसरे वैजनाथ के मंदिर में खुदाई का काम बड़ा ही सुंदर हुआ है। इनके अतिरिक्त ऊंडेश्वर महादेव का भी एक मंदिर है जिसमें खुदे हुए एक लेख में वि० सं० १२३× (इकाई का अंक नष्ट हो गया) है। ये मंदिर वि० सं० १२२६ से पहले के बने हुए होने चाहियें, क्योंकि उक्त संवत् के जैन-मंदिर के शिलालेख

में यहां के तथा कुछ दूर तक के कई मंदिरों का नामोल्लेख किया है, जिनमें से एक महाकाल का भी है। यहीं मंदाकिनी नामक एक कुंड है, जहां बहुतसे यात्री आकर स्नान करते हैं और कई लोग वहां अपने नाम शिलाओं पर खुदवा गये हैं। बीजोल्यां के क़स्बे से अग्नि कोण में अनुमान एक मील के अंतर पर एक जैन-मंदिर है, जिसके चारों कोनों पर एक एक छोटा मंदिर और बना हुआ है। इन मंदिरों को पंचायतन कहते हैं और ये पांचों मंदिर कोट से घिरे हुए हैं। इनमें से मध्य का अर्थात् मुख्य मंदिर पार्श्वनाथ का है। मंदिर के बाहर दो चतुरस्त्र स्तंभ बने हुए हैं जो भट्टारकों की निषेधिकाएं (नसियां) हैं। इन देवालयों से थोड़ी दूर पर जीर्ण-शीर्ण दशा में 'रेवती कुंड' है। पहले दिगंबर संप्रदाय के पोरवाड़ महाजन लोलाक ने यहां पार्श्वनाथ का तथा सात अन्य मंदिर बनवाये थे, जिनके टूट जाने पर ये पांच मंदिर नये बनाये गये हैं। यहां पर पुरातत्त्ववेत्ताओं का ध्यान विशेष आकर्षित करनेवाली दो वस्तुएं हैं, जिनमें से एक तो लोलाक का खुदवाया हुआ अपने निर्माण कराये हुए देवालयों के संबंध का शिलालेख और दूसरा 'उन्नतशिखरपुराण' नामक दिगंबर जैन ग्रंथ है। बीजोल्यां के निकट भिन्न भिन्न आकृति के चपटे कुदरती चट्टान अनेक जगह निकले हुए हैं। ऐसे ही कई चट्टान इन मंदिरों के पास भी हैं, जिनमें से दो पर ये दोनों खुदवाये गये हैं। विक्रम संवत् १२२६ फाल्गुन वदि ३ का चौहान राजा सोमेश्वर के समय का लोलाक का खुदवाया हुआ शिलालेख इतिहास के लिये बड़े ही महत्त्व का है, क्योंकि उसमें सामंत से लगाकर सोमेश्वर तक के सांभर और अजमेर के चौहान राजाओं की वंशावली तथा उनमें से किसी किसी का कुछ विवरण भी दिया है। इस लेख में दी हुई चौहानों की वंशावली बहुत शुद्ध है, क्योंकि इसमें खुदे हुए नाम शेखावाटी के हर्षनाथ के मंदिर में लगी हुई वि० सं० १०३० की चौहान राजा सिंहराज के पुत्र विग्रहराज के समय की प्रशस्ति, किनसरिया (जोधपुर राज्य में) से मिले हुए सांभर के चौहान राजा दुर्लभराज के समय के वि० सं० १०५६ के शिलालेख तथा 'पृथ्वीराजविजय' महाकाव्य में मिलनेवाले नामों से ठीक मिल जाते हैं। उक्त लेख में लोलाक के पूर्व पुरुषों का विस्तृत वर्णन और स्थान स्थान पर बनवाये हुए उनके मंदिरादि का उल्लेख है। अजमेर के चौहान राजा पृथ्वीराज (दूसरे) ने मोराकुरी गांव और सोमेश्वर ने रेवणा गांव पार्श्वनाथ के उक्त मंदिर के लिये भेट किया था।

'उन्नतशिखरपुराण' भी लोलाक ने उसी संवत् में यहां खुदवाया था और इस समय इस पुराण की कोई लिखित प्रति कहीं विद्यमान नहीं है। बीजोल्यां के राव कृष्णसिंह (स्वर्गवासी) ने इन दोनों चट्टानों पर पक्के मकान बनवाकर उनकी रक्षा का प्रशंसनीय कार्य किया है।

बीजोल्यां से अनुमान पांच मील अंतर पर जाड़ोली गांव है जिससे थोड़ी दूर पर कई टूटे-फूटे मंदिर हैं। उनमें सबसे बड़ा वैजनाथ का शिवालय है जिसके भीतर शिवलिंग, और द्वार पर लकुलीश की मूर्ति बनी हुई है। शिवलिंग के पीछे शिव की प्रतिमा और उसके ऊपरी भाग में नवग्रहों की मूर्तियां खुदी हुई हैं। एक ताक में दशभुजा देवी की मूर्ति है, जिसके नीचे सप्तमातृकाओं में से तीन तीन दोनों ओर खुदी हैं और सातवीं उक्त देवी को ही समझना चाहिये। गांव के भीतर ऊंडेश्वर[1] नामक एक शिवालय भी है। बीजोल्यां से अनुमान चार मील पश्चिम में वृंदावन नाम का गांव है जिसके पासवाले टूटे हुए शिवालय को लोग 'कलोरी की पूतली' कहते हैं। यह भी एक प्राचीन मंदिर है और इसके द्वार पर भी लकुलीश की मूर्ति बनी हुई है।

जाड़ोली से ६ मील पूर्व में तिलस्मा गांव है जहां कई प्राचीन स्थान हैं, जिनमें से मुख्य भवेश्वर (तलेश्वर) नामक शिवालय है। इस मंदिर के द्वार पर भी लकुलीश की प्रतिमा विराजमान है और ऊपर नवग्रह बने हुए हैं। यह मंदिर वि० सं० की ११वीं शताब्दी का बना हुआ हो ऐसा प्रतीत होता है।

मैनाल

मैनाल बेगूं के सरदार की जागीर का गांव है, जो क़रीब क़रीब ऊजड़ पड़ा हुआ है। यहां पहले अच्छी आबादी होने के चिह्न दृष्टिगोचर होते हैं। यहां श्वेत पाषाण का बना हुआ महानालदेव का विशाल शिवालय मुख्य है, और इसी के नाम से इस गांव का नाम मैनाल पड़ा है। मंदिर के द्वार पर लकुलीश की मूर्ति बनी है। इस मंदिर के पीछे एक सुंदर कुआ है जहां से ऊंचे ऊंचे स्तंभों पर बनी हुई पाषाण की नाली के द्वारा मंदिर में जल पहुंचता था। मंदिर के आगे सुंदर खुदाईवाला तोरण बना हुआ है। इस मंदिर के साथ दुमंज़िला मठ भी है, जिसकी दूसरी

(१) जिन शिवालयों में शिवलिंग मंडप की सतह से नीचा (ऊंडा) होता है, ऐसे मंदिरों को लोग ऊंडेश्वर कहते हैं। वास्तव में 'ऊंडेश्वर' मंदिर का नाम नहीं है, केवल लोगों ने इस प्रकार के शिवालयों का नाम 'ऊंडेश्वर' रख लिया है।

बाडोली के मंदिर के द्वार का
एक पार्श्व

मंज़िल के एक स्तंभ पर अजमेर के चौहान राजा पृथ्वीराज दूसरे (पृथ्वीभट) के समय का वि० सं० १२२६ का लेख (मास नहीं दिया) खुदा है, जिससे पाया जाता है कि यह मठ उक्त राजा के राज्यसमय भावब्रह्म मुनि (साधु) ने बनवाया था।

महानाल के मंदिर के आगे कई शिवमंदिर भग्नावस्था में पड़े हुए हैं, जो वहां के महंतों की समाधियों पर बने हुए प्रतीत होते हैं। यहां से कुछ अंतर पर पृथ्वीराज दूसरे की राणी सुहवदेवी (रूठी राणी) के महल और उसी का बनवाया हुआ सुहवेश्वर नामक शिवालय है, जो वि० सं० १२२४ में बना था, ऐसा वहां के लेख से ज्ञात होता है।

मैनाल में एक सुन्दर विशाल कुंड भी इस समय गिरी हुई दशा में है। कर्नल टॉड को यहां से एक शिलालेख वि० सं० १४४६ का मिला, जो हाड़ा शाखावाले चौहानों के प्राचीन इतिहास के लिये बड़ा उपयोगी है, परंतु अब वहां पर उसका पता नहीं लगता। शायद कर्नल टॉड अन्य शिलालेखों के साथ उसे भी इंग्लैंड ले गये हों।

भैंसरोड़गढ़ से चंबल को पार कर तीन मील जंगल में जाने पर बाड़ोली के प्रसिद्ध मंदिर आते हैं। मेवाड़ में ही नहीं, किंतु भारतवर्ष में भी कारीगरी के विचार से इन मंदिरों की समता करनेवाला—आबू के प्रसिद्ध जैन-मंदिरों तथा नागदा के 'सास के मंदिर' को छोड़कर—और कोई नहीं है। ये मंदिर २५० गज़ लंबे और उतने ही चौड़े अहाते के भीतर बने हुए हैं। इनमें मुख्य घटेश्वर का शिवालय है, जिसके आगे तोरण के दो स्तंभ खड़े थे, जिनमें से एक टूट गया है। इस मंदिर के सामने (मंदिर से विलग) एक सुंदर मंडप बना हुआ है, जिसको लोग 'राजा हूण की चौरी' कहते हैं। घटेश्वर के मंदिर के सिवा यहां गणेश, नारद, सप्तमातृका, त्रिमूर्ति और शेषशायी नारायण के मंदिर भी हैं और अहाते के बाहर एक कुंड है। यहां के मंदिरों की कारीगरी की जितनी प्रशंसा की जाय थोड़ी है। भारतीय शिल्प के अद्वितीय ज्ञाता फर्गुसन ने यहां के मंदिरों की कारीगरी की मुक्तकंठ से प्रशंसा करते हुए इनको उस समय के देवालयों में अद्वितीय माना है, और शेषशायी नारायण की मूर्ति के संबंध में तो यहां तक लिखा है कि 'मेरी देखी हुई हिंदू मूर्तियों में यह सर्वोत्कृष्ट है'। कर्नल टॉड ने भी इन मंदिरों की शैली और सुन्दर खुदाई की बहुत कुछ प्रशंसा की है। ये मंदिर कब बने, इसका

बाड़ोली

ठीक ठीक निर्णय नहीं हो सका, परंतु वहां पर खुदे हुए छोटे छोटे लेखों में से एक वि० सं० ६८३ का है। यह लेख इन मंदिरों के बनने के संबंध का नहीं है, तो भी इससे इतना तो निश्चित है कि उक्त संवत् से पूर्व ये मंदिर बन गये थे। ये देलवाड़े (आबू) के मंदिरों से भी प्राचीन हैं, परंतु उदयपुर से वहां जाना श्रमसाध्य है, क्योंकि मार्ग विकट पर्वतश्रेणियों में होकर निकलता है, इसी से भारत के इन सर्वश्रेष्ठ मंदिरों को देखने का सौभाग्य अब तक अधिक पुरुषों को प्राप्त नहीं हुआ। दर्शकों के लिये कोटे से भैंसरोड़गढ़ पहुंचना सुगम है, वहां से ३ मील पर ये मंदिर हैं।

मांडलगढ़ से पूर्व के बीजोल्यां, मैनाल, बाड़ोली आदि के जिन शिवमंदिरों का वर्णन किया है और जिनके द्वार पर लकुलीश की मूर्तियां बनी हुई हैं, उनके महंत लकुलीश संप्रदाय के नाथ (कनफड़े साधु) होने चाहियें और संभव है कि वे अजमेर के चौहानों के गुरु हों। इन मंदिरों को देखते हुए चौहानों के अधीनस्थ इस प्रदेश की विपुल समृद्धि का बहुत कुछ अनुमान हो सकता है।

देलवाड़ा

एकलिंगजी से चार मील उत्तर में देलवाड़ा (देवकुलपाटक) गांव वहां के झाला सरदार की जागीर का मुख्य स्थान है। यहां पहले बहुतसे श्वेतांबर जैन-मंदिर थे, उनमें से तीन अब तक विद्यमान हैं, जिनको वसी (वसही, वसति) कहते हैं। इनमें से एक आदिनाथ का और दूसरा पार्श्वनाथ का है। इन मंदिरों तथा इनके तहखानों में रक्खी हुई भिन्न भिन्न तीर्थंकरों, आचार्यों एवं उपाध्यायों की मूर्तियों के आसनों, तथा पाषाण के भिन्न भिन्न पट्टों आदि पर खुदे हुए लेख वि० सं० १४६४ से १६८६ तक के हैं। पहले यहां अच्छे धनाढ्य जैनों की आबादी थी और प्रसिद्ध सोमसुंदर सूरि का, जिनको 'वाचक' पदवी वि० सं० १४५० (ई० स० १३६३) में मिली थी, कई बार यहां आगमन हुआ, उनका यहां बहुत कुछ सम्मान हुआ और उनके यहां आने के प्रसंग पर उत्सव भी मनाये गये थे, ऐसा 'सोमसौभाग्य' काव्य से पाया जाता है। कुछ वर्ष पूर्व यहां के एक मंदिर का जीर्णोद्धार करते समय मंदिर के कोट के पीछे के खेत में से १२२ जिनप्रतिमाएं तथा दो एक पाषाणपट्ट निकले थे। ये प्रतिमाएं मुसलमानों की चढ़ाइयों के समय मंदिरों से उठाकर यहां गाड़ दी गई हों, ऐसा अनुमान होता है। महाराणा लाखा के समय से पूर्व का यहां कोई शिला-लेख नहीं मिलता। महाराणा मोकल और कुंभा के समय यह स्थान अधिक

संपन्न रहा हो, ऐसा उनके समय की बनी हुई कई मूर्तियों के लेखों से अनुमान होता है। देलवाड़े से बाहर एक कलाल के मकान के सामने के खेत में कई विशाल मूर्तियां गड़ी हुई हैं, ऐसी खबर मिलने पर मैंने वहां खुदवाया तो चार बड़ी बड़ी मूर्तियां निकलीं, जो खंडित थीं और उनमें से कोई भी महाराणा कुंभा के समय से पूर्व की न थी।

करेड़ा

उदयपुर-चित्तोड़गढ़ रेल्वे के करेड़ा स्टेशन के पास ही श्वेत पाषाण का बना हुआ पार्श्वनाथ का विशाल मंदिर है। मंदिर के मंडप की दोनों तरफ छोटे छोटे मंडपवाले दो और मंदिर बने हुए हैं। उनमें से एक के मंडप में अरबी का एक लेख है, जो पीछे से मरम्मत कराने के समय वहां लगा दिया गया हो, ऐसा अनुमान होता है। मंडप में जंजीर से लटकती हुई घंटियों की आकृतियां बनी हैं, जिसपर से लोगों ने यह प्रसिद्धि की है कि इस मंदिर के बनाने में एक बनजारे ने सहायता दी थी, जिससे उसके बैलों के गले में बांधी जानेवाली जंजीर सहित घंटियों की आकृतियां यहां अंकित की गई हैं, परंतु यह भी कल्पनामात्र है, क्योंकि जैन, शैव एवं वैष्णवों के अनेक प्राचीन मंदिरों के थंभों पर ऐसी आकृतियां बनी हुई मिलती हैं, जो एक प्रकार की सुंदरता का चिह्नमात्र था। मंडप के ऊपर के भाग में एक ओर मसजिद की आकृति बनी हुई है, जिसके विषय में लोग यह प्रसिद्ध करते हैं कि जब बादशाह अकबर यहां आया था तब उसने इस मंदिर में यह मसजिद की आकृति इस अभिप्राय से बनवा दी थी कि भविष्य में मुसलमान इसे न तोड़ें, परंतु वास्तव में मंदिर के निर्माण करानेवालों ने मुसलमानों का यह पवित्र चिह्न इसी विचार से बनवाया है कि इसको देखकर वे मंदिर को न तोड़ें, जैसा कि मुसलमानों के समय के बने हुए अन्य मंदिरादि के संबंध में ऊपर उल्लेख किया गया है। मंदिर में श्यामवर्ण पाषाण की बनी हुई पार्श्वनाथ की एक मूर्ति है, जिसपर खुदे हुए लेख से पाया जाता है कि वह वि० सं० १६५६ में बनी थी। लोग यह भी कहते हैं कि यहां मूर्ति के ठीक सामने के भाग में एक छिद्र था, जिसमें होकर पौष शुक्ला १० को सूर्य की किरणें इस प्रतिमा पर पड़ती थीं, उस समय यहां एक बड़ा मेला भरता था, परंतु महाराणा सरूपसिंह के समय से यह मेला बंद हो गया। पीछे से जीर्णोद्धार कराते समय उधर की दीवार ऊंची बनाई गई, जिससे अब सूर्य की किरणें मूर्ति पर नहीं गिरतीं। थोड़े समय पूर्व इस मंदिर की फिर मरम्मत

होकर सारे मंदिर पर चूना पोत दिया गया जिससे इसके श्वेत पाषाण की शोभा नष्ट हो गई है। कई देशी एवं विदेशी श्वेतांबर जैन यहां यात्रार्थ आते हैं और एक धर्मशाला भी यहां बन गई है।

अंग्रेज़ सरकार में तोपों की सलामी

उदयपुर के महाराणाओं की सरकार अंग्रेज़ी में १६ तोपों की नियत सलामी है और वर्तमान महाराणा साहब की व्यक्तिगत सलामी २१ तोपों की है ।

दूसरा अध्याय

उदयपुर का राजवंश

प्राचीन भारत में जो राजा राज्य करते थे उनमें से मुख्य मुख्य को पुराण आदि ग्रंथों में सूर्यवंशी और चंद्रवंशी कहा है, और उनमें भी सूर्य वंश अधिक प्रतिष्ठित और पूज्य समझा जाता है। मर्यादा-पुरुषोत्तम भगवान् श्रीरामचंद्र, जिनको हिन्दू ईश्वर का अवतार मानते हैं, इसी वंश में उत्पन्न हुए थे। बुद्धदेव ने भी इसी वंश में जन्म लिया था और जैनों के प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव का भी इस वंश में होना प्रसिद्ध है। रामचंद्र के ज्येष्ठ पुत्र कुश के वंश में उदयपुर के राजवंश का होना माना जाता है[1]।

कुश के वंश के अंतिम राजा सुमित्र तक की नामावली पुराणों में दी हुई है, फिर उस वंश में वि० सं० ६२५ (ई० स० ५६८) के आसपास मेवाड़ में गुहिल नाम का प्रतापी राजा हुआ, जिसके नाम से उसका वंश 'गुहिल वंश' कहलाया। संस्कृत शिलालेखों तथा पुस्तकों में इस वंश का नाम 'गुहिल[2]',

नाम

१–कर्नल टॉड ने रामचन्द्र के दूसरे पुत्र लव के वंश में उदयपुर के राजवंश का होना माना है जो सर्वथा भ्रम है, क्योंकि 'टॉड-राजस्थान' के वंशवृक्ष में रामचंद्र के ज्येष्ठ पुत्र का नाम लव तथा छोटे का कुश दिया है और कुश का पुत्र कूरम या कछवा होना मानकर लिखा है कि उससे कछवाहा वंश चला। फिर लव के वंश में अतिथि से लगाकर सुमित्र तक की नामावली पुराणों (भागवत) के अनुसार दी है, परंतु भागवत या किसी अन्य पुराण में अतिथि से सुमित्र तक के राजाओं का लव के वंश में होना कहीं नहीं लिखा है।

(२) *राजा श्रीगुहिलान्वयामलपयोराशौ स्फुरद्दीधिति-*
ध्वस्तध्वान्तसमूहदुष्टसकलव्यालावलेपान्तकृत् ।
श्रीमानित्यपराजितः क्षितिभृतामभ्यर्चितो मूर्धभि-
र्वृत्तस्वच्छतयैव कौस्तुभमणिर्जातो जगद्भूषणं ॥

मेवाड़ के राजा अपराजित के समय का वि० सं० ७१८ का शिलालेख

(ए. इं; जि० ४, पृ० ३१)।

प्रत्यर्थिवामनयनानयनांबुधारासंवर्धितः क्षितिभृतां शिरसि प्ररूढः ।

'गुहिलपुत्र'[1], 'गोभिलपुत्र'[2] 'गुहिलोत'[3] या 'गौहिल्य'[4] मिलते हैं और भाषा में 'गुहिल', 'गोहिल', 'गहलोत' और 'गैलोत' प्रसिद्ध हैं। संस्कृत के गोभिल और गौहिल्य नाम भाषा के गोहिल के, तथा गुहिलपुत्र और गोभिलपुत्र गहलोत नाम के संस्कृत शैली के रूप हैं। पीछे से इस वंश की एक शाखा सीसोदा गांव में रही, जिससे उक्त शाखावाले उस गांव के नाम पर से सीसोदिये[5] कहलाये। इस समय इसी सीसोदिया शाखा के वंशधर उदयपुर के महाराणा हैं।

यः कुंठितारिकरवालकुठारधारस्तं ब्रूमहे गुहिलवंशमपारशाखं ॥

रावल समरसिंह की वि० सं० १३३१ की चित्तोड़ के क़िले की प्रशस्ति

(भावनगर इन्स्क्रिप्शन्स, पृ० ७४)

(१) *श्रीएकलिङ्गहराराधनपाशुपताचार्यहारीतराशि ······ क्षत्रियगुहिलपुत्रसिंहलब्धमहोदयाः ······* ।

रावल समरसिंह के समय के वि० सं० १३३५ के शिलालेख से, जो उदयपुर के विक्टोरिया हॉल में सुरक्षित है।

(२) *अस्ति प्रसिद्धमिह गोभिलपुत्रगोत्रन्तत्राजनिष्ट नृपतिः किल हंसपालः ॥*
शौर्याघसज्जितनिरर्गलसैन्यसंघनम्रीकृताखिलमिलद्रिपुचक्रवालः ॥

भेराघाट का शिलालेख (ए. इं; जि० २, पृ० ११–१२)।

(३) *गूहिलोतान्वयव्योममण्डनैकशरच्छशी* ।

वि० सं० १२२५ का हांसी का शिलालेख (इं. ऐं; जि० ४१, पृ० १६)।

(४) *यस्मादधौ गुहिलवर्णनया प्रसिद्धां गौहिल्यवंशभवराजगणोऽत्र जातिं* ।

रावल समरसिंह की वि० सं० १३३१ की चित्तोड़ की प्रशस्ति (भावनगर इन्स्क्रिप्शन्स, पृ० ७५)

(५) इतिहास के अंधकार में प्राचीन नामों की उत्पत्ति के विषय में लोगों ने विलक्षण कल्पनाएं की हैं। सीसोदिया नाम की उत्पत्ति के संबंध में यह कल्पना भी की गई है कि इस वंश के एक राजा ने अजान में दवा में मिलाये हुए मद्य का पान कर लिया। इस बात को जानने पर उसने उसके प्रायश्चित्त के लिये सीसा गलवाकर पी लिया, जिससे उसके वंश का नाम सीसोदिया हुआ। यह निरी गढ़ंत बात है। वास्तव में सीसोदा गांव में रहने से इस वंश के लोग सीसोदिये कहलाये हैं, जैसे कि आहाड़ में रहने से आहाड़ा, केलपुर (केलवे) में रहने से केलपुरा आदि।

उदयपुर का राजवंश वि० सं० ६२५ (ई० स० ५६८) के आसपास से लगाकर आज तक समय के अनेक हेर-फेर सहते हुए उसी प्रदेश पर राज्य करता चला आ रहा है। इस प्रकार १३५० से अधिक वर्ष तक एक ही प्रदेश पर राज्य करनेवाला संसार भर में दूसरा कोई राजवंश शायद ही विद्यमान हो। जिस समय कन्नौज के महाराज्य पर हर्ष (हर्षवर्द्धन) का राज्य था, उस समय मेवाड़ का शासन राजा शीलादित्य कर रहा था, ऐसा उसके समय के वि० सं० ७०३ (ई० स० ६४६) के सामोली गांव से मिले हुए शिलालेख से पाया जाता है। हर्ष का महाराज्य तो उसके मरते ही नष्ट हो गया, परंतु शीलादित्य का वंश अब तक मेवाड़ पर राज्य कर रहा है।

राजवंश की प्राचीनता

फिरिश्ता लिखता है कि "राजा विक्रमादित्य (उज्जैनवाले) के पीछे राजपूतों ने तरक्की की। मुसलमानों के हिंदुस्तान में आने के पहले यहां पर बहुतसे स्वतंत्र राजा थे, परंतु सुलतान महमूद ग़ज़नवी तथा उसके वंशजों ने बहुतों को अपने अधीन किया, फिर शहाबुद्दीन गोरी ने अजमेर और दिल्ली के राजाओं को जीता, बाकी रहे-सहे को तैमूर के वंशजों ने अधीन किया; यहां तक कि विक्रमादित्य के समय से जहांगीर बादशाह के समय (हि० स० १०१५= वि० सं० १६६३=ई० स० १६०६) तक कोई पुराना राजवंश न रहा, परंतु राणा ही ऐसे राजा हैं, जो मुसलमान धर्म की उत्पत्ति से पहले भी विद्यमान थे और आज तक राज्य करते हैं।" ऐसे ही अन्य मुसलमान और अंग्रेज़ इतिहास-लेखकों ने महाराणा के वंश की प्राचीनता को स्वीकार किया है।

उदयपुर का राजवंश गौरव में सूर्यवंशियों में भी सर्वोपरि माना जाता है और भारत के सभी राजपूत राजा उदयपुर के महाराणाओं को शिरोमणि मानकर उनकी ओर सदा पूज्य भाव रखते आये और अब भी रखते हैं। उनके इस महत्त्व के कई कारण हैं, जिनमें मुख्य उनकी स्वातंत्र्यप्रियता और अपने धर्म पर दृढ रहना है, जैसा कि उनके राज्यचिह्न में अंकित 'जो दृढ राखै धर्म को, तिहिं राखै करतार' शब्दों से पाया जाता है। गत १४०० वर्षों में हिन्दुस्तान में कई प्राचीन राज्य लुप्त हो गये, अनेक नये स्थापित हुए, भारतभूमि के भाग्य ने अनेक पलटे खाये, मुसलमानों के राज्य की प्रबल शक्ति के आगे सैंकड़ों हिन्दू राजाओं ने सिर झुकाकर अपनी वंशपरंपरा की मान-मर्यादा को उसके चरणों में समर्पित कर दिया, परंतु एक उदयपुर

राजवंश का गौरव

का ही राजवंश, जो समस्त संसार के राजवंशों में सबसे प्राचीन है, नाना प्रकार के कष्ट और अनेक आपत्तियां सहकर अपनी मान-मर्यादा, कुल-गौरव तथा स्वातंत्र्यप्रियता के लिये सांसारिक सुख-संपत्ति और ऐश्वर्य को निछावर करते हुए भी अपने अटल पथ से विचलित न हुआ। इसी कारण भारतवासी हिन्दूमात्र उदयपुर के महाराणाओं को पूज्य दृष्टि से देखते हैं और 'हिन्दुआ सूरज' कहते हैं। इसमें तो कोई आश्चर्य की बात नहीं, किंतु हिन्दुओं के विरोधी स्वयं मुसलमान बादशाहों तथा मुसलमान इतिहास-लेखकों ने उक्त वंश के महत्त्व का उल्लेख किया है, जिसके कुछ उदाहरण नीचे उद्धृत किये जाते हैं।

बाबर बादशाह ने अपनी दिनचर्या की पुस्तक 'तुज़ुके बाबरी' में लिखा है कि "हिन्दुओं में बीजानगर (विजयनगर) के सिवा दूसरा प्रबल राजा राणा सांगा है, जो अपनी वीरता तथा तलवार के बल से शक्तिशाली हो गया है। उसने मांडू (मालवे) के बहुतसे इलाके—रणथंभोर, सारंगपुर, भिलसा और चंदेरी—ले लिये हैं"। आगे फिर लिखा है कि "हमारे हिन्दुस्तान में आने से पहले राणा सांगा की शक्ति इतनी बढ़ गई थी कि दिल्ली, गुजरात और मांडू (मालवे) के सुलतानों में से एक भी बड़ा सुलतान हिन्दू राजाओं की सहायता के बिना अकेला उसका सामना नहीं कर सकता था। मेरे साथ की लड़ाई में बड़े बड़े राजा व रईस राणा सांगा की अध्यक्षता में लड़ने को आये थे। मुसलमानों के अधीनस्थ देशों में भी २०० शहरों में राणा का झंडा फहराता था, जहां मसजिदें तथा मकबरे बर्बाद हो गये थे और मुसलमानों की औरतें तथा बाल-बच्चे कैद कर लिये गये थे। उसके अधीन १०००००००० रुपये की आमद का मुल्क है, जिसमें हिन्दुस्तान के क़ायदे के अनुसार एक लाख सवार रह सकते हैं"।

बादशाह जहांगीर ने अपनी 'तुज़ुके जहांगीरी' में लिखा है कि "राणा अमरसिंह हिंदुस्तान के सबसे बड़े सरदारों तथा राजाओं में से एक है। उसकी तथा उसके पूर्वजों की श्रेष्ठता और अध्यक्षता इस प्रदेश (राजपूताना आदि) के सब राजा और रईस स्वीकार करते हैं। बहुत काल तक उनके वंश का राज्य पूरब में रहा। उस समय उनकी पदवी राजा थी। फिर वे दक्षिण में आये और वहां के कई प्रदेशों पर उन्होंने अपना अधिकार कर लिया तथा रावल

कहलाने लगे; वहां से मेवात (मेवाड़) के पहाड़ी प्रदेश की ओर बढ़ते हुए शनैः शनैः चित्तोड़ का क़िला उन्होंने ले लिया। उस समय से मेरे इस आठवें जुलूस (राज्यवर्ष=वि० सं० १६७०=ई० स० १६१३) तक १४७१ (?) वर्ष बीते हैं। इतने दीर्घ काल में उन्होंने हिंदुस्तान के किसी नरेश के आगे सिर नहीं झुकाया और बहुधा लड़ाइयां लड़ते ही रहे। बादशाह बाबर के साथ इधर के सब राजाओं, रईसों तथा सरदारों को लेकर १८०००० सवार तथा कई लाख पैदल सेना सहित राणा सांगा ने बयाने के पास युद्ध किया। ईश्वर की सहायता और भाग्य के बल से इस्लाम की सेना ने विजय प्राप्त की। मेरे पिता (अकबर बादशाह) ने भी इन सरकशों (विद्रोहियों) को दबाने की बहुत कुछ कोशिश की और कई बार उनपर सेनाएं भेजीं। अपने सन् जुलूस (राज्यवर्ष) १२वें (वि० सं० १६२४=ई० स० १५६७) में चित्तोड़ के क़िले को, जो संसार के बांके गढ़ों में से एक है, छीनने और राणा के राज्य को नष्ट करने के लिये वे (बादशाह) स्वयं गये। चार मास और दस दिन घेरा रहने के बाद क़िला छीना और उसको नष्ट कर वे लौट आये। कई बार बादशाही सेनाओं ने राणा (प्रताप) को इस विचार से तंग किया कि या तो वह क़ैद हो जाय या भागता फिरे, परंतु इसमें निष्फलता ही हुई। जिस दिन वे दक्षिण को विजय करने चढ़े उसी दिन मुझे बड़ी सेना और विश्वासपात्र सरदारों के साथ राणा पर भेजा, परंतु ये दोनों चढ़ाइयां दैवयोग से निष्फल हुईं। मैंने तख़्त पर बैठते ही जो मुख्य मुख्य उमराव उस समय राजधानी में थे उनको साथ देकर शाहज़ादे परवेज़ को राणा पर भेजा और उसके साथ बहुतसा ख़ज़ाना और तोपख़ाना भी भेजा, परंतु खुसरो का झगड़ा खड़ा हो जाने से आगरे की रक्षा के लिये परवेज़ को पीछा बुला लेना पड़ा (वह भी हारकर लौटा था)। फिर महाबतख़ां, अब्दुल्लाख़ां और दूसरे सरदारों की अधीनता में प्रबल सेनाएं भेजीं और उस समय से अब तक लड़ाइयां होती रही हैं, परंतु जब उनसे भी मेरा मनोरथ सिद्ध न होता देखा तब मैं स्वयं आगरे से इसकी सिद्धि के लिये रवाना हुआ और अजमेर में ठहर कर वहां से बाबा ख़ुर्रम (पीछे से बादशाह शाहजहां) की अध्यक्षता में एक प्रबल सेना राणा पर भेजी"।

आगे बादशाह ने फिर लिखा है कि "जब मैं अजमेर के निकट शिकार खेल रहा था तो मुहम्मद बेग सुलतान ख़ुर्रम की अर्ज़ी लेकर पहुंचा, जिसमें

लिखा था कि राणा अपने बेटों सहित मेरे पास उपस्थित हो गया है। यह खबर पढ़कर मैंने ख़ुदा का सिजदा (दंडवत् प्रणाम) शुकर (धन्यवाद) अदा किया और इस ख़ुशख़बरी के इनाम में मुहम्मद बेग को हाथी, घोड़ा, जड़ाऊ खंजर और ज़ुल्फ़िकारखां का ख़िताब दिया[१]"।

महाराणा अमरसिंह ने बादशाह जहांगीर की अधीनता स्वीकार की, परंतु बादशाही दरबार में किसी राजा आदि को बैठक नहीं मिलती थी और उनको घंटों खड़ा रहना पड़ता था इसलिये यह शर्त करा ली गई कि मेवाड़ के महाराणा शाही दरबार में कभी उपस्थित न होंगे और अपने बड़े कुंवर को भेज देंगे। यह शर्त स्वीकार हुई, जिससे मेवाड़ के किसी राणा ने मुसलमान बादशाहों के दरबार में जाकर कभी सिर नहीं झुकाया था।

'एचीसन ट्रीटीज़' में लिखा है कि उदयपुर का राजवंश पद-प्रतिष्ठा में हिन्दुस्तान के राजपूत राजाओं में सबसे बढ़कर है और हिंदू उनको राम का प्रतिनिधि मानते हैं। ऐसे ही बर्नियर, मिल, एल्फिन्स्टन, माल्कम आदि अनेक यूरोपियन इतिहास-लेखकों ने भी इस वंश की महत्ता को स्वीकार किया है।

भारतीय राजवंशों का इतिहास जानने का आधार पहले केवल बड़वे भाटों की पुस्तकों (ख्यातों) और परंपरागत दंतकथाओं पर ही विशेषकर

राजवंश के संबंध में पिछले लेखकों का भ्रम

निर्भर था। कई राजवंशों के प्राचीन दानपत्र, शिलालेख आदि इतिहास के साधन कभी कभी उपलब्ध होने पर भी उनकी लिपि प्राचीन होने के कारण वे नहीं पढ़े जाते थे। इसलिये राजपूत जाति का पुराना हाल प्रायः अंधकार में ही रहा, और भाटों आदि ने उस विषय में पीछे से मनमानी कल्पना की और कई मनगढ़ंत क़िस्से कहानी उसके साथ जोड़कर उस समस्या को और भी जटिल बना दिया। पहले के विद्वानों को उन्हीं का आश्रय लेकर अपने इतिहास लिखने पड़े। राजपूतों का इतिहास लिखनेवालों में सर्वप्रथम बादशाह अकबर का मंत्री अबुल्फ़ज़ल था। उसने अपने बड़े ग्रंथ 'आईने अकबरी' में अकबर के राज्य के प्रत्येक सरकार (सूबे) के वर्णन में वहां का पुराना इतिहास लिखने का यत्न किया, परंतु उस समय प्राचीन संस्कृत ऐतिहासिक पुस्तकों का, जो भिन्न भिन्न स्थानों के पुस्तक-संग्रहों में पड़ी हुई थीं, किसी ने संग्रह भी नहीं

(१) ए. रॉजर्स; 'मैमॉयर्स ऑफ़ जहांगीर'; जि० १, पृ० २७५।

किया था और प्राचीन शिलालेख तथा दानपत्र तो पढ़े ही नहीं जाते थे। ऐसी दशा में अबुल्फ़ज़ल को भिन्न भिन्न राजपूत वंशों का इतिहास भाटों की ख्यातों से ही, जो उसको राजाओं की तरफ से प्राप्त हो सकीं, लिखना पड़ा। अतएव उसका लिखा हुआ राजपूतों का प्राचीन इतिहास इस समय की प्राचीन शोध से जो इतिहास ज्ञात हुआ है, उसके सामने सर्वथा विश्वासयोग्य नहीं है। उस समय तक मेवाड़वालों ने अकबर बादशाह की अधीनता स्वीकार नहीं की थी, जिससे अकबर उनका कट्टर शत्रु हो रहा था और वह उनको नष्ट करना चाहता था, जैसा कि जहांगीर के लिखने से अनुमान होता है।

अबुल्फ़ज़ल ने सरकार (सूबे) अजमेर के प्रसंग में मेवाड़ का प्राचीन इतिहास लिखने का यत्न किया है, जो कुछ भी महत्त्व का नहीं है। उसने मनमानी कल्पना कर मेवाड़ के राजवंश को ईरान के बादशाह नौशेरवां आदिल की संतान होना लिख दिया, परंतु अबुल्फ़ज़ल के पहले की अरबी अथवा फारसी तवारीख़ों, भाटों की ख्यातों, जैनों के पुस्तकों तथा प्राचीन शिलालेख आदि में कहीं इसका उल्लेख नहीं है। यह कल्पना अबुल्फ़ज़ल की मनगढ़ंत होने से आधुनिक विद्वान् इसको कुछ भी प्रामाणिक नहीं समझते[1]।

अबुल्फ़ज़ल के आधार पर 'मासिरुल्उमरा' के कर्त्ता ने भी, और पीछे से हिजरी सन् १२०४[2] (वि० सं० १८४७=ई० स० १७९०) में लक्ष्मीनारायण शफ़ीक़ औरंगाबादी ने अपनी किताब 'बिसातुल ग़नाइम्' में लिखा है कि "यह तो भली भांति प्रसिद्ध है कि उदयपुर के राजा हिंद (हिंदुस्तान) के तमाम राजाओं में सर्वोपरि हैं और दूसरे हिंदू राजा अपने पूर्वजों की गद्दी पर बैठने के पूर्व राजतिलक उदयपुर के राजाओं से प्राप्त करते हैं। उनका खिताब राणा है और वे नौशेरवां के, जिसने कई देशों तथा हिन्दुस्तान के कई विभागों पर विजय प्राप्त की थी, वंशज हैं। उसकी जीवित दशा में उसके पुत्र नौशेज़ाद ने, जिसकी माता रूम (तुर्की) के कैसर की पुत्री थी, अपना प्राचीन धर्म छोड़कर ईसाई मत को ग्रहण किया और वह बड़ी सेना के साथ हिंदुस्तान में

---

(१) बंब. गै; जि० १, भाग १, पृ० १०२; और विलियम क्रुक-संपादित टॉड राजस्थान का सटिप्पण नवीन ऑक्सफर्ड-संस्करण, जि० १, पृ० २७८, टिप्पण २।

(२) टॉड; 'राजस्थान'; जि० १, पृ० २७५-७६।

आया। यहां से बड़ी सेना लेकर वह अपने पिता से लड़ने को ईरान पर चढ़ा, परंतु लड़ाई में मारा गया, तो भी उसकी संतान हिंदुस्तान में रही, उसके वंश में उदयपुर के राणा हैं[1]"।

कर्नल टॉड ने प्रथम तो यह लिखा कि "मेवाड़ के राजा सूर्यवंशी हैं और राणा तथा रघुवंशी कहलाते हैं; हिंदू जाति एकमत होकर मेवाड़ के राजाओं को राम की गद्दी के वारिस मानती है और उनको 'हिंदुआ सूरज' कहती है। राणा ३६ राजवंशों में सर्वोपरि माने जाते हैं[2]"। परंतु आगे चलकर लिखा कि "सूर्य वंश का राजा कनकसेन अपनी राजधानी लोहकोट (लवपुर, लाहोर) छोड़कर सौराष्ट्र में आया और परमार राजा का राज्य छीनकर वहां पर ईसवी सन् की दूसरी शताब्दी (ई० स० १४४) में वीरनगर (वीरपुर) बसाया। उससे चार पीढ़ी बाद विजयसेन हुआ, जिसको आंबेर का राजा (सवाई जयसिंह) नौशेरवां मानता है। उसने सौराष्ट्र में विजयपुर नगर और विदर्भ बसाया, जिसका नाम पीछे से सिहोर हुआ, परंतु उसकी मुख्य राजधानी वलभीपुर (वळा) थी। वि० सं० ५८० में वलभी के राजा शीलादित्य के समय विदेशियों ने वलभी का नाश किया उस समय उसकी राणी पुष्पावती ही जो अंबा भवानी की यात्रा को गई थी बचने पाई और उसका पुत्र गोह (गुरुदत्त) मेवाड़ का राजा हुआ[3]"। आगे चलकर टॉड ने अबुल्फ़ज़ल, मासिरुलउमरा और लक्ष्मीनारायण औरंगाबादी के कथन को उद्धृत कर यह बतलाने की खींच-तान की है कि वलभीपुर के राजा नौशेरवां के बेटे नौशेज़ाद या यज़्दजर्द की लड़की माहबानू के वंशज होने चाहियें।

फिर आगे चलकर लिखा है कि 'यद्यपि यह सर्वथा असंभव प्रतीत होता है कि राणा ईरानी वंश की पुरुष शाखा के वंशधर हों, तो भी यज़्दजर्द की भाग जानेवाली पुत्री माहबानू का विवाह सौराष्ट्र के राजा के साथ होना यह संभव है और कदाचित् वह शीलादित्य की माता सुभगा हो'।

कनकसेन का काठियावाड़ में जाना, उसके वंश में शीलादित्य का होना, उसके समय में वलभी का नाश होना और शीलादित्य के पुत्र गोहा का मेवाड़

(१) टॉड राजस्थान; जि० १, पृ० २७५–७७।

(२) वही; जि० १, पृ० २४७।

(३) वही; जि० १, पृ० २५१–२६०।

का स्वामी होना तथा वलभीपुर के एवं उसी से निकले हुए मेवाड़ के राजवंश का नौशेरवां के पुत्र नौशेज़ाद[1] या यज़्दज़र्द की पुत्री माहबानू के वंश में होना इत्यादि कर्नल टॉड का सारा कथन कपोलकल्पित है, क्योंकि ई० स० १४४ (वि० सं० २००) में सौराष्ट्र (काठियावाड़) का स्वामी कनकसेन नहीं, किंतु क्षत्रप वंश का प्रतापी राजा रुद्रदामा था, जिसके अधीन सारा काठियावाड़ तथा दूर दूर के देश थे, जैसा कि ऊपर पश्चिमी क्षत्रपों के इतिहास (पृ० १०३-५; ११०) में बतलाया गया है। सौराष्ट्र पर परमारों का कभी राज्य ही नहीं रहा। कनकसेन से पांचवीं पीढ़ी में विजयसेन का वहां होना भी कल्पित ही है, क्योंकि उस समय वहां क्षत्रपवंशियों का राज्य था, जैसा कि उनके इतिहास में लिखा गया है। अबुल्फ़ज़ल के कथन पर विश्वास कर आंबेर के राजा (जयसिंह) का विजयसेन को नौशेरवां मानना केवल भ्रम ही है, क्योंकि नौशेरवां आदिल ई० स० ५३१ (वि० सं० ५८८) के आसपास ईरान का बादशाह हुआ; उसके बेटे नौशेज़ाद ने ई० स० ५५१ (वि० सं० ६०८) में अपने पिता से विद्रोह किया और क़ैद होकर वह अंधा किया गया अथवा मारा गया। यज़्दज़र्द ईरान का अंतिम बादशाह था, जिसको खलीफा उमर के सेनापति ने ई० स० ६३६-३७ (वि० सं० ६९३-९४) में परास्त किया और ई० स० ६५१-५२ (वि० सं० ७०८-७०९) में वह अपने एक सामंत के हाथ से मारा गया था[2]। कर्नल टॉड ने वलभी का नाश वि० सं० ५८० (ई० स० ५२४) में होना, वहां के राजा शीलादित्य का युद्ध में मारा जाना, उसकी राणी पुष्पावती का मेवाड़ में आना और वहां गोहा (गुहदत्त) का जन्म होना लिखा है। ये सब घटनाएं नौशेरवां के ई० स० ५३१ में ईरान के तख़्त पर बैठने से पूर्व की हैं, अतएव नौशेज़ाद या माहबानू के वंश में न तो वलभी के राजाओं का और न टॉड के कथनानुसार उनसे निकले हुए मेवाड़ के राजाओं का होना संभव हो सकता है।

श्रीयुत देवदत्त रामकृष्ण भंडारकर ने बंगाल एशियाटिक सोसाइटी के

(१) नौशेज़ाद के हिंदुस्तान में आने का कोई प्रमाण नहीं है; वह तो बग़ावत करने पर मारा गया था (माल्कम, हिस्टरी ऑफ़ पर्शिया; जि० १, पृ० ११२ और आगे; द्वितीय संस्करण)। ऐसा ही टॉड-राजस्थान के ऑक्सफर्ड-संस्करण के संपादक विलियम क्रुक ने भी माना है (टॉ; रा; जि० १, पृ० २७६; टिप्पण २)।

(२) एन्साइक्लोपीडिया ब्रिटैनिका; जि० १८, पृ० ६१३।

जर्नल में एक लेख प्रकाशित कर यह बतलाने का प्रयत्न किया है कि मेवाड़ के राजा ब्राह्मण (नागर) हैं। उक्त लेख में इस कथन की पुष्टि के जो प्रमाण दिये हैं, उनको नीचे लिखकर प्रत्येक के साथ उसकी जांच भी की जाती है—

(१) "आटपुर (आहाड़) से मिले हुए वि० सं० १०३४ के शिलालेख में लिखा है कि 'आनंदपुर (वड़नगर) से निकले हुए ब्राह्मणों के कुल को आनंद देनेवाला महीदेव गुहदत्त, जिससे गुहिल वंश चला, विजयी है'[१]; यह मेवाड़ के गुहिलवंशी राजाओं का ब्राह्मण होना प्रकट करता है"।

जिस श्लोक का अनुवाद ऊपर दिया है उससे तो यही ज्ञात होता है कि गुहदत्त आनंदपुर से निकले हुए ब्राह्मण-कुल का सम्मान करनेवाला था। उसी लेख के छठे श्लोक में गुहिल के वंशज नरवाहन के वर्णन में उसको 'विजय का निवास-स्थान' एवं 'क्षत्रियों का क्षेत्र' अर्थात् क्षत्रियों का उत्पत्ति-स्थान कहा है[२]। इससे स्पष्ट है कि गुहदत्त और उसके वंशज ब्राह्मण नहीं, किंतु क्षत्रियों में श्रेष्ठ थे, परंतु भंडारकर महाशय ने उक्त छठे श्लोक का उल्लेख भी नहीं किया।

अब यह भी देखना चाहिये कि संवत् १०३४ से पूर्व गुहिलवंशियों की उत्पत्ति के विषय में क्या माना जाता था। इसी वंश के राजा बापा (बप्प) का सोने का एक सिक्का मिला है, जिसपर चंवर और छत्र के चिह्नों के बीच सूर्य का भी चिह्न बना हुआ है, जो उनका सूर्यवंशी होना प्रकट करता है[३]। एकलिंगजी के मंदिर के निकट उक्त देवालय के मठाधिपति का बनवाया हुआ पाशुपत संप्रदाय का लकुलीश का मंदिर है, जिसके बाहर लगे हुए वि० सं० १०२८ के मेवाड़ के

---

(१) *आनंदपुरविनिर्गतविप्रकुलानंदनो महीदेवः ।*
जयति श्रीगुहदत्तः प्रभवः श्रीगुहिलवंशस्य ॥

इं. ऐं; जि० ३९, पृ० १९१।

(२) *अविकलकलाधारो धीरः स्फुरद्वरलसत्करो*
विजयवसतिः क्षत्रक्षेत्रं क्षताहतिसंहतिः ।
समजनि जना··············प्रतापतरूद्गतो
विभवभवनं विद्यावेदी नृपो नरवाहनः ॥ [६ ॥]

वही; जि० ३९, पृ० १९१।

(३) ना. प्र. प; भाग १, पृ० २४५–६८।

राजा नरवाहन के समय के शिलालेख में वहां के मठाधिपतियों (तपस्वियों) को 'शाप और अनुग्रह के स्थान, तथा हिमालय से सेतुपर्यंत रघुवंश की कीर्ति को फैलानेवाला कहा है''[1]। ये मठाधीश एकलिंगजी के मंदिर के क्रमागत पुजारी और मेवाड़ के गुहिलवंशी राजाओं के गुरु थे, जिनको उन राजाओं की तरफ से कई सहस्र रुपयों की जागीर मिली हुई थी, अतएव 'रघुवंश की कीर्ति' से यहां अभिप्राय 'मेवाड़ के राजाओं की कीर्ति' से ही है। भंडारकर महाशय ने जहां यह लेख प्रकाशित किया है, वहां मूल में 'रघुवंश' शब्द छपा है, परंतु लेख का सारांश देने में उस शब्द को छोड़कर अर्थ यह किया कि 'उन तपस्वियों की कीर्ति हिमालय से सेतुपर्यन्त फैली हुई है' जो सर्वथा अशुद्ध है।

मेवाड़ में यह जनश्रुति प्रसिद्ध है कि यहां के राजवंश के मूल पुरुष गुहिल (गुहदत्त) का, उसके पिता के मारे जाने पर, एक ब्राह्मण ने पालन किया था। मुंहणोत नैणसी ने भी अपनी ख्यात के प्रारंभ में ही मेवाड़ के राजाओं के विषय में लिखा है कि "सीसोदिये प्रारंभ में गहिलोत (गुहिलोत) कहलाते थे, पहले इनका राज्य दक्षिण में नासिक-त्र्यंबक की तरफ था। इनका पूर्वज सूर्य की उपासना करता था, मंत्राराधना करने पर सूर्य आकर प्रत्यक्ष होता था, जिससे कोई योद्धा उसको नहीं जीत सकता था। उसके पुत्र न हुआ तो उसने पुत्र-प्राप्ति के लिये सूर्य से विनती की, जिसपर सूर्य ने कहा कि अंबा देवी की यात्रा बोलो और पुत्र की इच्छा करो, जिससे राणी के गर्भ रहेगा। राजा ने यात्रा बोली और राणी के गर्भ रहा। जब राणी यात्रा को निकली उस समय राजा की सूर्य की उपासना मिट गई, जिससे शत्रुओं ने उसपर आक्रमण कर दिया। राजा युद्ध में मारा गया और बांसला नामक उसका गढ़ शत्रुओं ने छीन लिया। राणी अंबाजी की यात्रा कर नागदा गांव में पहुंची, जहां उसको अपने पति के मारे जाने के समाचार मिले। वह चिता बनवाकर सती होने को तैयार हुई तो उसको रोकने के लिये ब्राह्मणों ने कहा कि सगर्भा स्त्री के सती होने का निषेध

(१) *तेभ्यो ....*

.... क्लेशसमुद्गतात्ममहसः .... योगिनः ।

शापानुग्रहभूमयो हिमशिलाव(ब)न्धोज्वलादागिरे-

रासेतो रघुवंशकीर्तिपिशुनास्ती .... ॥

बंब० ए० सो० ज; जि० २२, पृ० १६६-६७।

है और आपके प्रसव के दिन भी निकट हैं। इसपर वह रुक गई और पंद्रह दिन बाद उसके पुत्र हुआ। फिर १५ दिन हो जाने पर उसने स्नान किया और चिता तैयार करवाई। राणी जलने को चली और लड़का उसकी गोद में था। वहीं कोटेश्वर महादेव के मंदिर में ब्राह्मण विजयादित्य, पुत्र के लिये आराधना किया करता था। उसको बुलाकर राणी ने वस्त्र में लिपटा हुआ वह बालक दे दिया। विजयादित्य ने माल (दौलत) समझकर उसे ले लिया। इतने में लड़का रोया, जिससे ब्राह्मण ने कहा 'मैं इस राजपूत के लड़के को लेकर क्या करूं? बड़ा होने पर यह शिकार में जानवर मारेगा और दुनिया से लड़ाई-झगड़े करेगा, जिससे मैं पाप में पड़ूंगा और मेरा धर्म जाता रहेगा, अतएव यह दान मुझसे नहीं लिया जाता'। इसपर राणी ने उससे कहा कि तुम्हारा कथन ठीक है, परंतु यदि मैं सती होकर जलती हूं तो मेरा यह वचन है कि इस पुत्र के वंश में जो राजा होंगे, वे १० पुश्त तक तेरे कुल के आचार का पालन करेंगे और तुझको बड़ा आनंद देंगे। तब विजयादित्य ने उस लड़के को रख लिया। फिर राणी ने उसको द्रव्य, भूषण आदि दिया और वह सती हो गई। विजयादित्य के उस लड़के के वंशजों ने १० पीढ़ी तक ब्राह्मण धर्म का पालन किया और वे नागदा (नागर) ब्राह्मण कहलाये। विजयादित्य का यह सूर्यवंशी पुत्र गुहिलोत (गुहिल) सोमदत्त कहलाया। उसके पीछे सीलादत (शीलादित्य) आदि हुए[१]"।

नैणसी की यह कथा प्राचीन काल से चली आती हो, ऐसा प्रतीत होता है, क्योंकि वि० सं० १०३४ के उपर्युक्त शिलालेख में राजा गुहदत्त (गुहिल) को 'आनंदपुर से निकले हुए ब्राह्मण-कुल को आनंद देनेवाला' कहा है, जो उक्त विजयादित्य के कुल का सूचक होना चाहिये।

(२-३) "रावल समरसिंह के समय की वि० सं० १३३१ (ई० स० १२७४) की चित्तोड़ की प्रशस्ति में बापा को 'विप्र[२]' कहा है और वि० सं० १३४२

(१) मुंहणोत नैणसी की ख्यात; पृ० १; ना. प्र. प; भाग १, पृ० २६१-६४।

(२) *जीयादानंदपूर्वं तदिह पुरमिलाखंडसौंदर्यशोभि-*
क्षोणीप्र(पृ)ष्ठस्थमेव त्रिदशपुरमधः कुर्व्वदुच्चैः समृध्या ।
यस्मादागत्य विप्रश्चतुरुदधिमहीवेदिनिक्षिप्तयूपो

(ई० स० १२८५) की उसी राजा के समय की आबू की प्रशस्ति में लिखा है कि "ब्रह्मा के सदृश हारीत से बप्प (बापा) ने पैर के कड़े के बहाने से क्षात्र तेज प्राप्त किया और अपनी सेवा के छल से ब्रह्मतेज मुनि को दे दिया[1]। ये दोनों कथन बापा का ब्राह्मण होना प्रकट करते हैं"।

हम ऊपर बतला चुके हैं कि बापा के सोने के सिक्के पर वंशसूचक सूर्य का चिह्न है, वि० सं० १०२८ में इनको रघुवंशी माना है, वि० सं० १०३४ के लेख में 'क्षत्रियों का उत्पत्ति-स्थान' कहा है और ऊपर दिये हुए नैणसी की ख्यात के कथन से पाया जाता है कि गुहिल की माता ने अपना क्षत्रिय पुत्र विजयादित्य को यह कहकर सौंपा था कि १० पीढ़ी तक इसके वंशज ब्राह्मणकुल के आचार का पालन करेंगे, अतएव आबू की प्रशस्ति के उक्त कथन का अभिप्राय यही होना चाहिये कि बापा के पूर्व के राजाओं ने ब्राह्मण धर्म का भी पालन किया, किंतु बापा ने केवल क्षात्र धर्म धारण कर लिया, क्योंकि उसी श्लोक के उत्तरार्द्ध में स्पष्ट लिखा है कि 'उस वंश के राजा मूर्तिमान् क्षात्रधर्मरूप' आज भी पृथ्वी पर शोभते हैं[2]।

उसी रावल समरसिंह की माता जयतलदेवी ने वि० सं० १३३५ (ई० स० १२७८) में चित्तोड़ पर श्यामपार्श्वनाथ का मंदिर बनवाया, जिसके शिलालेख में गुहिलोतवंशी सिंह के नाम का उल्लेख करते हुए गुहिल को क्षत्रिय बतलाया है[3], परंतु उसका श्रीयुत भंडारकर ने उल्लेख भी नहीं किया।

(४-५) "वि० सं० १५१७ की राणा कुंभा की कुंभलगढ़ की प्रशस्ति में तथा उसी राणा के समय के बने हुए 'एकलिंगमाहात्म्य' में 'आनंदपुर से निकले हुए ब्राह्मण (नागर) वंश को आनंद देनेवाला'—इस अभिप्राय का वि० सं०

बप्पाख्यो वीतरागश्चरणयुगमुपासीत(सीद)हारीतराशेः ॥

चित्तोड़ का लेख, श्लोक ६ (भावनगर इन्स्क्रिप्शन्स, पृ० ७५)।

(१) *हारीतात्किल बप्पकोऽह्रिवलयव्याजेन लेभे महः*
क्षात्रं धातृनिभाद्वितीर्य मुनये ब्राह्मं स्वसेवाच्छलात् ।

(२) *एतेऽद्यापि महीभुजः क्षितितले तद्वंशसंभूतयः*
शोभंते सुतरामुपात्तवपुषः क्षात्रा हि धर्मा इव ॥ ११ ॥

आबू का शिलालेख. (इं० ऐं०; जि० १६, पृ० ३४७)।

(३) देखो ऊपर पृ० ३७०, टिप्पण १।

१०३४ की प्रशस्ति का श्लोक (आनंदपुरविनिर्गत०) उद्धृत किया गया है जो इनका ब्राह्मण होना सूचित करता है"।

वि० सं० १०३४ (ई० स० ९७७) की प्रशस्तिवाले उक्त श्लोक के विषय में हम ऊपर (पृ० ३७८) लिख आये हैं और यह भी बतला चुके हैं कि उसी लेख के छठे श्लोक में राजा नरवाहन को 'क्षत्रियों का क्षेत्र' अर्थात् 'क्षत्रियों का उत्पत्ति-स्थान' भी कहा है, जिसके विषय में भंडारकर महाशय ने कुछ भी नहीं लिखा।

राणा कुंभा के पिता मोकल ने अपनी राणी वाघेली (बघेली) गौरांबिका के पुण्य के निमित्त एकलिंगजी से ६ मील दूर शृंगी ऋषि नामक स्थान पर वि० सं० १४८५ में एक बावड़ी बनवाई, जिसके शिलालेख में कुंभलगढ़ की प्रशस्ति और एकलिंगमाहात्म्य के विरुद्ध उक्त महाराणा मोकल के दादा क्षेत्र (क्षेत्रसिंह, खेता) को 'क्षत्रिय वंश का मंडनमणि' कहा है[1]।

राणा कुंभा के पुत्र रायमल के समय के वि० सं० १५५७ के नारलाई गांव (जोधपुर राज्य में) के जैन मंदिर के शिलालेख में गुहिदत्त (गुहदत्त), बप्प (बापा), खुम्माण आदि राजाओं को सूर्यवंशी बतलाया है[2]।

(६) "मुंहणोत नैणसी की ख्यात का नीचे लिखा हुआ पद्य गुहिलवंशियों का ब्राह्मण होना प्रकट करता है"—

> **आद मूल उतपत्ति ब्रह्म पिण खत्री जाणां।**
> **आणंदपुर सिंगार नगर आहोर वखाणां॥**

इस पद्य के लिखने के पहले नैणसी ने गहलोत (गुहिलोत, गुहिल) वंश के मूल पुरुष के मारे जाने, उसकी सगर्भा राणी के नागदा में पहुंचने और वहां उसके पुत्र उत्पन्न होने, विजयादित्य ब्राह्मण (नागर) को उसे सौंपकर सती होने, विजयादित्य का उस क्षत्रिय बालक का पालन करने, उसके वंशजों का १०

(१) *एवं सर्वमकंटकं समगमद्भूमंडलं भूपति-*
हंमीरो ललनास्मरः सुरपदं संपाल्य काश्चित्समाः।
सम्यग्वर्महरं ततः स्वतनयं सुस्थाप्य राज्ये निजे
क्षेत्रं क्षत्रियवंशमंडनमणिं प्रत्यर्थिकालानलं॥ ५॥

शृंगी ऋषि की बावड़ी का शिलालेख (अप्रकाशित)।

(२) ना. प्र. प; भाग १, पृ० २६८; टिप्पण २३।

(कहीं आठ) पीढ़ी तक ब्राह्मणकुल का आचार पालन करने और गुहदत्त का सूर्यवंशी क्षत्रिय होने का हाल विस्तार से लिखा है, जिसके विषय में भी भंडारकर चुपकी साध गये हैं।

(७) "चाटसू (जयपुर राज्य में) से मिले हुए गुहिलवंशी राजा बालादित्य के शिलालेख में, जो ई० स० की १०वीं शताब्दी का है, लिखा है कि 'गुहिल के वंश में राम के समान पराक्रमी और शत्रुओं का नाश करनेवाला ब्रह्मक्षत्र गुण-युक्त भर्तृपट्ट हुआ'[1]। यहां राम से तात्पर्य परशुराम से है। परशुराम ब्राह्मण वंश का था और क्षात्र कर्म करता था। अतएव 'ब्रह्मक्षत्र' शब्द से यही पाया जाता है कि भर्तृपट्ट भी ब्राह्मण था"।

ब्रह्मक्षत्र शब्द का प्रयोग कई पुराणों में मिलता है और विष्णु, वायु, मत्स्य तथा भागवत आदि में पौरव (पांडु) वंश का वर्णन करते हुए अंतिम राजा क्षेमक के प्रसंग में लिखा है कि 'पुरु वंश में २५ राजा होंगे; इस संबंध में प्राचीन ब्राह्मणों का कथन है कि ब्रह्मक्षत्र को उत्पन्न करनेवाले तथा देवताओं एवं ऋषियों से सत्कार पाये हुए इस (पौरव) कुल में अंतिम राजा क्षेमक होगा' (देखो ऊपर पृ० ६६ का टिप्पण २)। यहां 'ब्रह्मक्षत्र' से यही अभिप्राय है कि 'ब्राह्मण और क्षत्रियगुणयुक्त', अर्थात् जैसे सूर्य वंश में विष्णुवृद्ध, हरित आदि क्षत्रियों ने, जो मांधाता के वंशज थे, ब्रह्मत्व प्राप्त किया, उसी तरह चंद्र वंश में विश्वामित्र, अरिष्टसेन आदि क्षत्रिय भी ब्रह्मत्व प्राप्त कर चुके थे। देवपारा से मिले हुए बंगाल के सेनवंशी राजा विजयसेन के शिलालेख में उक्त राजा के पूर्वजों को चंद्रवंशी, और राजा सामंतसेन को ब्रह्मवादी तथा 'ब्रह्मक्षत्रिय कुल' का शिरोमणि कहा है (देखो ऊपर पृ० ६६, टिप्पण २)। ऐसे ही मालवे के परमार राजा मुंज (वाक्पतिराज, अमोघवर्ष) के दरबार के पंडित हलायुध ने 'पिंगलसूत्रवृत्ति' में राजा मुंज को 'ब्रह्मक्षत्र कुल' का कहा है (देखो ऊपर पृ० ६६, टिप्पण २)। ऐसी दशा में यह नहीं कह सकते कि सभी (२५) पुरुवंशी

---

(१) अस्त(स्त्र)ग्रामोपदेशैरवनतनृपतीन्भूतलं भूरिभूत्या
भूदेवान्भूमिदानैस्त्रिदिवमपि मखैर्व[न्दय]न्नन्दितात्मा ।
ब्र(ब्र)ह्मक्षत्रान्वितोऽस्मिन्समभवदसमे रामतुल्यो विशल्यः
सौ(शौ)र्याढ्यो भर्तृपट्टो रिपुभटविटपिच्छेदकेलीपटीयान् ॥
ए. इं; जि० १२, पृ० १३ । ७ ।

राजा, बंगाल का चंद्रवंशी राजा सामंतसेन तथा मालवे का परमार राजा मुंज, ये सब ब्राह्मण थे। 'ब्रह्मक्षत्र' का आशय यही है कि ब्रह्मत्व और क्षात्रत्व दोनों गुणयुक्त।

चाटसू के लेख में भर्तृपट्ट(भर्तृभट) को 'ब्रह्मक्षत्र गुणयुक्त' कहा है, जिसका अर्थ यह नहीं है कि वह ब्राह्मण वंश का था। इसका अर्थ यही है कि वह ब्रह्मत्व और क्षात्रत्व दोनों गुणों से संपन्न था। उसकी तुलना राम (परशुराम) से करने का तात्पर्य यही है कि वह परशुराम के समान शौर्याढ्य (शूरवीर) और अपने शत्रुओं का संहार करनेवाला था।

भंडारकर महाशय ने अपना लेख लिखते समय जो प्रमाण अपने मंतव्य के अनुकूल देखे उनको तो ग्रहण किया और जो उसके प्रतिकूल थे उनको छोड़ दिया या उनका उलटा अर्थ कर दिया, जैसा कि ऊपर बतलाया जा चुका है।

बापा के सोने के सिक्के[1] पर सूर्य का चिह्न होना, वि० सं० १०२८ (ई० स० ९७१) के शिलालेख में मेवाड़ के राजाओं को रघुवंशी बतलाना, वि० सं० १०३४ (ई० स० ९७७) के शिलालेख में उनको क्षत्रियों का उत्पत्ति-स्थान मानना, रावल समरसिंह के समय के आबू के वि० सं १३४२ (ई० स० १२८५) के लेख में उन राजाओं को 'मूर्तिमान् क्षात्रधर्म' कहना, रावल समरसिंह की माता जयतलदेवी के वि० सं० १३३५ (ई० स० १२७८) के लेख में क्षत्रिय बतलाना, वि० सं० १४८५ के शिलालेख में 'क्षत्रियवंश का मंडनमणि' मानना, राणा रायमल के समय के वि० सं० १५५७ (ई० स० १५००) के शिलालेख में सूर्यवंशी बतलाना और मुंहणोत नैणसी का गुहदत्त (गुहिल) को सूर्यवंशी क्षत्रिय कहना—ये सब बातें उदयपुर के राजवंश का सूर्य वंश में होना सूचित करती हैं। इतिहास के अंधकार की दशा में कई जनश्रुतियां और कथाएं प्रसिद्ध होती रही हैं। नैणसी की ख्यात आदि में जो कथाएं मिलती हैं वे ऊपर उद्धृत की गई हैं। वि० सं० की चौदहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध से लगाकर सोलहवीं शताब्दी तक के शिलालेखों से यही पाया जाता है कि एक ही समय का एक लेखक गुहिल-वंशियों को ब्राह्मण कहता है, तो उसी समय का दूसरा लेखक उनको क्षत्रिय बतलाता है, जिसका कारण नैणसी की लिखी हुई उपर्युक्त वंशपरंपरागत कथा ही है[2]।

(१) बापा के सोने के सिक्के के लिये देखो ना. प्र. प; भाग १, पृ० २४१-२८५।

(२) भंडारकर महाशय की उपर्युक्त दलीलों का यह विवेचन लिखने के पूर्व उनका मूल

कर्नल टॉड ने लिखा है कि वलभी संवत् २०५ (वि० सं० ५८०=ई० स० ५२४) में वलभी का नाश होने पर वहां के राजा शीलादित्य की सगर्भा राणी पुष्पावती मेवाड़ में आई, जिसका पुत्र गोहा (गुहिल, गुहदत्त) मेवाड़ के राजवंश का संस्थापक हुआ; परंतु मेवाड़ की किसी ख्यात, शिलालेख और दानपत्र से, या वि० सं० १७३२ (ई० स० १६७५) के बने हुए 'राजप्रशस्ति महाकाव्य' के समय तक भी, मेवाड़ के राजाओं का वलभीपुर से आना कोई जानता ही नहीं था।

राजवंश और वलभी का संबंध

अबुल्फ़ज़ल ने 'आईने अकबरी' लिखी उस समय भी मेवाड़ के राजाओं के वलभीपुर से आने की बात अज्ञात थी, क्योंकि उसने लिखा है कि 'चित्तोड़ के ज़मींदार (राजा) गहलोत (गुहिल) वंश के हैं; इनके पूर्वज बराड़ देश में जाकर परनाला के ज़मींदार हो गये। अब से आठ सौ वर्ष पहले परनाला शत्रु ने ले लिया और बहुतसे मारे गये। बापा नामक एक छोटे लड़के को लेकर उसकी माता मेवाड़ में चली आई'।

वि० सं० १७०६ के आसपास मुंहणोत नैणसी ने अपनी ख्यात लिखी, उसमें भी मेवाड़ के राजाओं का दक्षिण में नासिक-त्र्यंबक की तरफ़ राज्य करना लिखा है। सारांश यह कि उस समय (वि० सं० १७०६=ई० स० १६४६) तक भी इनका वलभी से आना कोई नहीं जानता था।

अब प्रश्न यह होता है कि कर्नल टॉड को मेवाड़ के राजाओं का वलभी के अंतिम राजा शीलादित्य के वंश में होना तथा वलभी का नाश होने पर गोहा (गुहिल) की माता का मेवाड़ में आना बतलाने का आधार कहां से मिला? इसका उत्तर यह है कि जैनों को वलभी का परिचय था, क्योंकि उनमें यह बात प्रसिद्ध थी कि वीर संवत् ६८० (वि० सं० ५१०=ई० स० ४५३) में वलभी में जैन संघ एकत्र हुआ, जहां देवर्धिगणि क्षमाश्रमण ने जैन सूत्रों (सिद्धांतों) का नया संस्कार किया[1]। जैनों को मुसलमानों के द्वारा वलभी का नाश होने का हाल भी मालूम था, परंतु उसका ठीक समय ज्ञात न था, जिससे भिन्न भिन्न लेखकों

लेख हमारे एक मित्र द्वारा खो जाने के कारण पीछा हस्तगत न हो सका, परन्तु उसमें लिखी हुई सब दलीलें मुझे स्मरण थीं, तदनुसार वे ऊपर दर्ज की गई हैं। संभव है कि उनका क्रम शायद कुछ उलट-पुलट हुआ हो।

(१) 'सेक्रेड बुक्स ऑफ़ दी ईस्ट'; जि० २२ की भूमिका, पृ० ३७।

ने उस घटना के संवत् अलग अलग माने[1]। वि० सं० १३६१ की बनी हुई 'प्रबंधचिंतामणि' नामक जैन पुस्तक में वलभी के राजा शीलादित्य के विषय में यह लिखा है कि "रंक नामक महाजन वलभीपुर में रहता था; प्रारंभ में वह बहुत ही ग़रीब था, परंतु सुवर्णपुरुष (सोने का कल्पित पोरसा अर्थात् पुरुष, जिसका अंग काटने से पीछा उतना ही बढ़ जाना माना जाता है) की सिद्धि मिल जाने से वह बड़ा ही धनाढ्य हो गया। राजा शीलादित्य ने उसकी पुत्री की रत्नजटित कंघी अपनी पुत्री के लिये बलात् छीन ली, जिसपर क्रुद्ध होकर वह म्लेच्छों (मुसलमानों) के पास गया और बहुतसा धन देकर उनको वलभीपुर पर चढ़ा लाया। उन्होंने राजा शीलादित्य को मारकर नगर को नष्ट किया"। ऐसी ही कथा 'शत्रुंजयमाहात्म्य' में भी मिलती है।

वास्तव में वलभी में शीलादित्य नाम के ६ राजा हुए, परंतु जैन लेखकों को केवल एक (अर्थात् अंतिम) शीलादित्य का होना ही ज्ञात था। मेवाड़ में भी शीलादित्य नाम का राजा वि० सं० ७०३ में हुआ था। ऐसी दशा में जैनों ने वलभी के शीलादित्य और मेवाड़ के शीलादित्य को, जो वलभी के शीलादित्य से भिन्न था, एक मानकर मेवाड़ के राजाओं का वलभी से आना मान लिया और टॉड ने उसको स्वीकार कर उसकी पुष्टि में नीचे लिखी हुई दलीलें पेश कीं—

(१) "वलभी नगर का अस्तित्व जैन पुस्तक 'शत्रुंजयमाहात्म्य' से निश्चित हुआ। वहां से राणा (के पूर्वज) दूसरे देश में जा बसे, जिसके संतोषजनक प्रमाण की त्रुटि को १२वीं शताब्दी का एक लेख—जो राणा के वर्तमान राज्य की पूर्वी सीमा पर के ऊपरमाळ से मिला—पूरी कर देता है। उस लेख में 'वल्लभी की दीवार' का उल्लेख मिलता है[2]"।

'शत्रुंजयमाहात्म्य' धनेश्वरसूरि ने बनाया था, जिसमें वह अपने को वलभी के राजा शीलादित्य का गुरु बतलाता है, और उक्त शीलादित्य का वि०

(१) मेरुतुंग ने 'प्रबंधचिंतामणि' में वलभीभंग का समय वि० सं० ३७५ दिया है ('प्रबंधचिंतामणि', पृ० २७६); कर्नल टॉड ने किसी जैन ग्रंथ के आधार पर वलभी (गुप्त) संवत् २०५ (वि० सं० ५८०=ई० स० ५२४) माना है जो विश्वास के योग्य नहीं है, क्योंकि ई० स० ६३६ (वि० सं० ६९६) के आसपास चीनी यात्री हुएन्त्संग वलभी में गया, उस समय वह नगर बड़ी उन्नत दशा में था। वलभी का नाश वि० सं० ८२६ में सिंध के अरबों ने किया था (हि. टॉ. रा; खंड १, पृ० ३१८)।

(२) टॉ; रा; जि० १, पृ० २५३।

सं० ४७७ (ई० स० ४२०) में विद्यमान होना मानता है; परंतु वास्तव में वह पुस्तक वि० सं० की तेरहवीं शताब्दी या उससे भी पीछे की बनी हुई होनी चाहिये, क्योंकि उसमें राजा कुमारपाल का, जिसने वि० सं० ११९९ से १२३० (ई० स० ११४२ से ११७३) तक राज्य किया था, वृत्तांत मिलता है। ऐसी दशा में धनेश्वरसूरि का वलभीपुर-संबंधी कथन बहुत पिछला होने से विश्वासयोग्य नहीं है और न उसमें मेवाड़ के राजाओं के मूल पुरुष का वलभीपुर से मेवाड़ में आना लिखा है। ई० स० की १२वीं शताब्दी में मेवाड़ की पूर्वी सीमा पर के जिस शिलालेख का प्रमाण टॉड ने दिया है, वह उनके गुरु से ठीक ठीक पढ़ा भी नहीं गया था। वह लेख मेवाड़ के राजाओं का नहीं, किंतु अजमेर के चौहान राजा सोमेश्वर के समय का वि० सं० १२२६ (ई० स० ११६९) का ऊपर लिखा हुआ बीजोल्यां के एक चट्टान पर का लेख है। उसमें 'वलभी' शब्द अवश्य है, परंतु वह वलभी नगर का नहीं किंतु 'झरोखे' का सूचक है। जिस श्लोक में इस शब्द का प्रयोग हुआ है उसका आशय यह है कि "विग्रह-राज (वीसलदेव चौथे) ने ढिल्लिका (दिल्ली) लेने से थके हुए और आसिका (हांसी) प्राप्त करने से स्थगित अपने यश को प्रतोली (पोल, द्वार) और वलभी (झरोखे) में विश्रांति दी"[1] अर्थात् दिल्ली और हांसी विजय कर उसने अपना यश दरवाज़े दरवाज़े और झरोखे झरोखे में फैलाया। इसी 'वलभी' शब्द पर से कर्नल टॉड ने राणा के पूर्वजों के दूर देश (मेवाड़) में जा बसने का संतोष-जनक प्रमाण मान लिया, जिसपर कैसे विश्वास किया जा सकता है? आगे चलकर फिर इसी लेख में चौहान वाक्पतिराज के प्राकृत (लौकिक) रूप 'बप्पयराज' का प्रयोग देखकर टॉड ने बप्पय को मेवाड़ का राजा बापा मान लिया और उसी 'वलभी' शब्द पर फिर लिखा कि "यहां वलभीपुर के द्वार का स्मरण दिलाया है, जो सौराष्ट्र के गहलोतों की राजधानी थी"[2]। परंतु यह भी कपोलकल्पना ही है।

(२) "राणा राजसिंह (प्रथम) के राज्य की यादगार में बनी हुई एक पुस्तक के प्रारंभ में लिखा है कि पश्चिम में सोरठ (सौराष्ट्र) देश प्रसिद्ध है।

---

(१) प्रतोल्यां च वलभ्यां च येन विश्रामितं यशः ।
ढिल्लिकाग्रहणश्रांतमासिकालाभलंभितं ॥

बीजोल्यां का शिलालेख.

(२) टॉ. रा; जि० १, पृ० १७९७–९८ ।

जंगली लोगों ने उसपर चढ़ाई कर बाल-का-नाथ[1] को परास्त किया और परमार राजा की पुत्री के सिवा सब वलभी के पतन में मारे गये[2]"। टॉड ने यह अवतरण जैन यति मान के, वि० सं० १७३४ (ई० स० १६७७) के बने हुए 'राजविलास' नामक हिंदी काव्य से लिया है। इसमें बाल-का-नाथ शब्द का अर्थ या तो बाल (भाल) देश (काठियावाड़ में) का राजा, या वलभी का राजा होना चाहिये। राजविलास में आगे यह भी लिखा है कि वहां के राजा का रघुवंशी पुत्र गुहादित्य (गुहदत्त, गुहिल) मेवाड़ में आया और नागद्राह (नागदा) नगर में उसने सोलंकी राजा संग्रामसी की पुत्री धनवंती के साथ विवाह किया। यह भी जैनों की पिछले समय की कपोलकल्पना है। वालिका अर्थात् वलभीपुर का नाश होने के बाद वहां के राजवंश का यहां आना संभव नहीं है, जैसा कि हम आगे बतलावेंगे।

(३) "सांडेराव (जोधपुर राज्य में) के यति के यहां की पुस्तक में लिखा है कि जब वलभी का नाश हुआ उस समय लोग वहां से भागे और उन्होंने वाली, सांडेराव और नाडौल बसाये"। यह भी गढ़ंत है और इसमें मेवाड़ में आने का उल्लेख भी नहीं है।

मेवाड़ के राजाओं को वलभी के राजाओं के वंशधर मानने के संबंध में कर्नल टॉड के ये तीनों प्रमाण निर्मूल हैं। वलभी का नाश टॉड के कथनानुसार वलभी संवत् २०५ (वि० सं० ५८०=ई० स० ५२३) में हुआ, यह कथन भी कल्पित है, क्योंकि ई० स० ६३९ (वि० सं० ६९६) के आसपास चीनी यात्री हुएन्त्संग वलभी में पहुंचा जहां का आंखों देखा बहुतसा हाल उसने लिखा है। वलभी के अंतिम राजा शीलादित्य (छठे) का अलीना का दानपत्र गुप्त (वलभी) संवत् ४४७ (वि० सं० ८२३=ई० स० ७६६) का मिल चुका है। उसके पीछे वलभी का नाश हुआ। जैन लेखकों को वलभी के नाश के ठीक संवत् का पता न था, जिससे उन्होंने उस घटना के मनमाने संवत् लगाये और उन्हीं पर विश्वास

(१) मूल में 'वालिका' शब्द है, न कि बाल

पच्छिम दिशा प्रसिद्ध देश सोरठ धर दीपत।

नगर वालिकानाथ जंग करि आसुर जीपत॥

'राजविलास' (नागरीप्रचारिणी सभा का संस्करण); पृ० १८।

(२) टॉ; रा; जि० १, पृ० २५३।

कर टॉड ने भी उनके कथनानुसार लिख दिया। वलभी में शीलादित्य नाम के ६ राजा हुए, जिनमें से अंतिम वि० सं० ८२३ (ई० स० ७६६) में विद्यमान था। मेवाड़ में भी शीलादित्य नाम का राजा हुआ, जो सामोली के लेख के अनुसार वि० सं० ७०३ (ई० स० ६४६) में यहां राज्य कर रहा था। गुहिल उसका पांचवां पूर्वपुरुष होने से उसका समय वि० सं० ६२५ (ई० स० ५६८) के आसपास स्थिर होता है। ऐसी दशा में गुहिल को वलभी के अंतिम शीलादित्य का पुत्र मानना असंभव है। वास्तव में मेवाड़ के राजाओं का वलभी से कोई संबंध नहीं है।

अब प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि यदि मेवाड़ के राजाओं का मूल पुरुष वलभी (वलभीपुर) से नहीं आया तो वह कहां से आया? इसका ठीक ठीक उत्तर देना अशक्य है, क्योंकि अब तक इस विषय का संतोष-जनक निर्णय करने के लिये आवश्यक साधन उपलब्ध नहीं हुए हैं। राजा गुहिल के २००० चांदी के सिक्के ई० स० १८६५ (वि० सं० १६२२) में आगरे से मिले तथा गुहिलवंशी राजा भर्तृभट (प्रथम) के वंशज वि० सं० १००० के आसपास तक चाटसू (जयपुर राज्य में) तथा उसके निकटवर्ती प्रदेश पर राज्य करते थे, ऐसा चाटसू से मिले हुए राजा बालादित्य के शिला-लेख से निश्चित है। ऐसे ही अजमेर ज़िले के नासूण गांव से मिले हुए वि० सं० ८८७ (ई० स० ८३०) के शिलालेख से यह भी अनुमान होता है कि चाटसू के गुहिलवंशियों की एक शाखा का अधिकार उस समय अजमेर के आसपास के प्रदेश पर भी रहा था; अतएव यह अनुमान करना अन्यथा नहीं कि गुहदत्त के पूर्वजों का राज्य पहले आगरे के आसपास के प्रदेश पर रहा हो और वहीं से गुहिल का मेवाड़ में आना हुआ हो। दूसरा अनुमान यह भी हो सकता है कि गुहिल के पूर्वज पहले मेवाड़ के किसी विभाग पर शासन करते हों और गुहिल ने प्रबल एवं स्वतंत्र राजा होकर अपना राज्य दूर दूर तक फैलाया हो और अपने नाम के सिक्के चलाये हों। हमारे ये दोनों अनुमान भी कल्पनामात्र हैं और जब तक प्राचीन शोध से इसके ठीक ठीक प्रमाण न मिल आवें तब तक इस विषय को संदिग्ध ही समझना चाहिये, तो भी वलभीपुर का नाश होने के पीछे गुहिल के मेवाड़ में आने का कथन तो किसी प्रकार स्वीकार करने योग्य नहीं है।

मेवाड़ का राजवंश बहुत प्राचीन होने से उसकी शाखाएं भी राजपूताना मालवा, गुजरात, मध्यप्रदेश आदि में समय समय पर फैली थीं। रावल समर-

राजवंश की शाखाएं

सिंह के समय की वि० सं० १३३१ (ई०स० १२७४) की चित्तोड़ की प्रशस्ति में गुहिल वंश की अपार (अनेक) शाखाएं होने का उल्लेख है (ऊपर पृ० ३६६, टिप्पण २)। मुंहणोत नैणसी ने अपनी ख्यात में गुहिल वंश की नीचे लिखी हुई २४ शाखाओं के नाम दिये हैं—

(१) गैहलोत (गुहिलोत), (२) सीसोदिया, (३) आड़ा (आहाड़ा), (४) पीपाड़ा, (५) हुल, (६) मांगलिया, (७) आसायच, (८) कैलवा (कैलपुरा), (९) मंगरोपा, (१०) गोधा, (११) डाहलिया, (१२) मोट-सीरा, (१३) गोदारा, (१४) भींवला, (१५) मोर, (१६) टीवणा, (१७) माहिल, (१८) तिबडकिया, (१९) बोसा, (२०) चंद्रावत, (२१) धोरणि-या, (२२) बूटीवाला, (२३) बूंटिया और (२४) गोतमा।

इनमें से अधिकतर शाखाएं तो उनके निवास के गांवों से प्रसिद्ध हुई हैं, जैसे कि सीसोदा गांव (उदयपुर राज्य में) से सीसोदिया; आहाड़ (उदयपुर के निकट) से आहाड़ा; पीपाड़ (जोधपुर राज्य में) से पीपाड़ा; कैलवे (कुंभल-गढ़ के नीचे) से कैलवा या कैलपुरा; मंगरोप (मेवाड़ में) से मंगरोपा; डाहल देश से डाहलिया[1]; भींवल (भीमल, मेवाड़ में) से भींवला या भीमला आदि। कुछ शाखाएं मूल पुरुषों के नाम से भी प्रसिद्ध हुई हैं, जैसे कि गुहिल के गहलोत (गुहिलोत), चंद्रा के चंद्रावत आदि[2]।

कर्नल टॉड के गुरु यति ज्ञानचन्द्र के मांडल (मेवाड़ में) के उपासरे के पुस्तक-संग्रह में एक पत्रा मुझे मिला, जिसमें गुहिल वंश की शाखाओं के नाम नीचे लिखे अनुसार दिये हैं—

---

(१) डाहल (चेदि) के राजा गयकर्णदेव का विवाह मेवाड़ के राजा विजयसिंह की पुत्री आल्हणदेवी के साथ हुआ था, इस प्रसंग से मेवाड़ के कोई गुहिलवंशी वहां गये हों और डाहल देश के नाम पर वे डाहलिये कहलाये हों, यह संभव है। मध्य प्रदेश के दमोह ज़िले के दमोह स्थान से एक शिलालेख वहां के गुहिलवंशियों का मिला है, जिसमें क्रमशः विजयपाल, भुवनपाल, हर्षराज और विजयसिंह के नाम मिलते हैं। विजयसिंह के विषय में लिखा है कि वह चित्तोड़ में आकर लड़ा और उसने दिल्ली के मुसलमानों को परास्त किया था।

(२) सीसोदे के राणा भुवनसिंह के पुत्र चंद्रा से चंद्रावत शाखा की उत्पत्ति हुई। अन्य शाखाओं की उत्पत्ति कैसे हुई, इसका ठीक ठीक पता नहीं लगता और बहुतसी शाखाएं तो अब नष्ट हो चुकी हैं।

(१) गहिलोत, (२) अहाड़ा, (३) सीसोदिया, (४) पीपाड़ा, (५) मांगलिया, (६) अजबरिया, (७) केलवा, (८) मंगरोपा, (९) कूड़ेचा, (१०) धोराणा, (११) भीमला, (१२) हुल, (१३) गोधा, (१४) सोहाड़िया, (१५) कोढकरा, (१६) आसरेचा, (१७) नादोड्या, (१८) ओड़लिया, (१९) पालरा, (२०) बुवासा, (२१) कुचेरा, (२२) भटेवरा, (२३) मुंधरायता और (२४) बूसा।

कर्नल टॉड ने अपने 'राजस्थान' में इन २४ शाखाओं के जो नाम दिये हैं, उनमें से कितने एक ऊपर दी हुई दोनों नामावलियों से नहीं मिलते।

गुहिल वंश के अधीन वर्तमान राज्य

उदयपुर के राजवंश के अधिकार में अब तक कई राज्य हैं। राजपूताने में उदयपुर, डूंगरपुर, बांसवाड़ा और प्रतापगढ़ हैं, जिनका इतिहास इस पुस्तक में आगे लिखा जायगा।

नेपाल का बड़ा राज्य भी इसी वंश का है, वहां के राजाओं का मूल पुरुष मेवाड़ के रावल समरसिंह के पुत्र रत्नसिंह का छोटा भाई कुंभकर्ण माना जाता है। रावल रत्नसिंह के समय दिल्ली के सुलतान अलाउद्दीन खिलजी ने चित्तोड़ का क़िला ले लिया, जिससे उसके भाई-बेटे इधर उधर चले गये। उसके भाई कुंभकर्ण के वंशज समय पाकर कमाऊं की पहाड़ियों में होते हुए पहले पाल्पा में जा जमे, फिर क्रम-क्रमशः वे अपना राज्य बढ़ाने लगे और पृथ्वीनारायणशाह ने नेपाल पर अपना अधिकार जमा लिया[1]। कुंभकर्ण से लगाकर पृथ्वीनारायणशाह तक का इतिहास बहुधा अंधकार में ही है[2]।

---

(१) इंपीरियल गैज़ेटियर ऑफ़ इंडिया, जि० १९, पृ० ३२-३३।

(२) कुंभकर्ण से लगाकर पृथ्वीनारायणशाह तक की नामावली उदयपुर राज्य के इतिहास में इस तरह लिखी मिलती है—

(१) कुंभकर्ण, (२) अयुत, (३) परावर्म, (४) कविवर्म, (५) यशवर्म, (६) उदुंबरराय, (७) भट्टराय, (८) जिल्लराय, (९) अजलराय, (१०) अटलराय, (११) तुत्थाराय, (१२) भामसीराय, (१३) हरिराय, (१४) ब्रह्मनिकराय, (१५) मन्मन्थराय, (१६) भूपालखान, (१७) मीचाखान, (१८) अयंतखान, (१९) सूर्यखान, (२०) मीयाखान, (२१) विचित्रखान, (२२) जगदेवखान, (२३) कुलमंडनशाह, (२४) आसोवनशाह, (२५) द्रव्यशाह, (२६) पुरंदरशाह, (२७) पूर्णशाह, (२८) रामशाह, (२९) डंबरशाह, (३०) श्रीकृष्णशाह, (३१) पृथ्वीपतिशाह, (३२) वीरभद्रशाह, (३३) नरभूपालशाह और (३४) पृथ्वीनारायणशाह।

पृथ्वीनारायणशाह के वंशज महाराजाधिराज राजेन्द्रविक्रमशाह ने 'राज-कल्पद्रुम' नाम तंत्रग्रंथ लिखा, जिसमें विक्रम (जिल्लराज का पिता) से लगाकर अपने समय तक की वंशावली दी है जो ऊपर लिखी हुई वंशावली से बहुत कुछ मिलती हुई है। उक्त पुस्तक में अपने मूल पुरुष विक्रम का चित्रकूट (चित्तोड़) से आना बतलाया है। महाराणा जवानसिंह के समय से नेपाल के लोगों का मेवाड़ में आना-जाना शुरू है।

बंबई इहाते के सूरत ज़िले में धरमपुर का राज्य सीसोदियों का है, वहां के महाराणा अपने को राणा राहप के वंशधर रामराज या रामशाह की संतान मानते हैं। रामराजा ने मेवाड़ से गुजरात में जाकर वहां अपना राज्य स्थापित किया हो।

मालवे में बड़वानी का राज्य सीसोदियों का है, जहां के राणा अपने को मेवाड़ के राजवंश में होना मानते हैं। उनका प्राचीन इतिहास प्रसिद्धि में नहीं आया। राणा लीमजी से उनका शृंखलाबद्ध इतिहास मिलता है।

काठियावाड़ में भावनगर के महाराजा, पालीताणा के ठाकुर तथा लाठी और वळा के ठाकुर भी गुहिलवंशी हैं। ऐसे ही रेवाकांठा एजेंसी में राज-पीपला के महाराणा भी गुहिलवंशी हैं। इन पांचों को 'गोहिल' कहते हैं और वे अपनी उत्पत्ति चंद्रवंशी पैठण (प्रतिष्ठान, दक्षिण में) के शालिवाहन से बत-लाते हैं। वे अपना मूल निवासस्थान खेड़ (जोधपुर राज्य में) होना और वहां से काठियावाड़ तथा गुजरात में जाना प्रकट करते हैं, परंतु यह इतिहास के अज्ञान में भाटों की की हुई कल्पना ही है। पैठण (प्रतिष्ठान) का राजा शालिवाहन चंद्रवंशी नहीं, किंतु आंध्र(सातवाहन)वंशी था। खेड़ के गोहिल मेवाड़ के राजा शालिवाहन के वंशज हैं, जिनसे राठोड़ों ने खेड़ का इलाक़ा छीना था। मेवाड़ के शालिवाहन के नाम से परिचित न होने और पैठण के शालिवाहन का नाम अधिक प्रसिद्ध होने के कारण भाटों ने पीछे से उसको दक्षिण का शालिवाहन मान लिया, जो चंद्रवंशी भी नहीं था। काठि-यावाड़ के गोहिल वि० सं० की १५वीं शताब्दी तक अपने को सूर्यवंशी ही मानते थे, जैसा कि गंगाधर-कृत 'मंडलीक काव्य' से ज्ञात होता है। इस विषय का अधिक विवेचन हम अगले अध्याय में मेवाड़ के राजा शालिवाहन के प्रसंग में करेंगे।

कोल्हापुर और सावंतवाड़ी के राजा भी मेवाड़ के राजाओं के वंश से ही निकले हैं, परंतु अब वे मरहटों में मिल गये हैं।

तीसरा अध्याय

उदयपुर राज्य का प्राचीन[1] इतिहास

भारतवर्ष के अन्य प्राचीन राजवंशों के समान उदयपुर के राजवंश का प्राचीन इतिहास भी अंधकार में लीन है। प्राचीन लिखित इतिहास न होने के कारण पीछे से कई दंतकथाएं गढ़ंत की गई और समय पाकर उनकी भी गणना इतिहास के साधनों में होने लगी। वि० सं० १७३२ के बने हुए 'राजप्रशस्ति महाकाव्य' तथा भाटों की ख्यातों में दी हुई इस वंश की पुरानी वंशावलियां परस्पर बहुधा मिलती हुई हैं; अन्तर इतना ही है कि भाटों की ख्यातों में नाम अशुद्ध रूप में लिखे मिलते हैं और राजप्रशस्ति में उनके शुद्ध रूप हैं। अनुमान तो यही होता है कि 'राजप्रशस्ति महाकाव्य' की वंशावली भाटों से ही ली गई हो। उक्त काव्य में सूर्य[2] से लगाकर राजा सुमित्र तक की[3] वंशावली तो 'भागवत'

(१) इस प्रकरण में प्राचीन काल से लगाकर महाराणा हम्मीर के चित्तोड़ लेकर वहां अपने वंश का राज्य पीछा स्थिर करने तक का इतिहास लिखा जायगा।

(२) भागवत आदि पुराणों में नारायण (विष्णु) के नाभिकमल से ब्रह्मा, ब्रह्मा से मरीचि, उससे कश्यप और कश्यप से विवस्वान् (सूर्य) का उत्पन्न होना लिखा है। विवस्वान् का अर्थ सूर्य भी होता है, जिससे विवस्वान् के वंशज सूर्यवंशी कहलाये।

(३) भिन्न भिन्न पुराणों में भी विवस्वान् (सूर्य) से लगाकर सुमित्र तक की नामावली में कहीं कहीं अंतर पाया जाता है। कितने एक पुराणों में कुछ नाम छूट भी गये हैं इसलिये कई पुराणों की वंशावलियों का परस्पर मिलान करने से ही ठीक वंशावली स्थिर हो सकती है। विष्णु, भागवत, वायु, मत्स्य, ब्रह्मांड और अग्नि पुराणों की वंशावलियों का मिलान करने से विवस्वान् (सूर्य) से सुमित्र तक की नामावली नीचे लिखे अनुसार स्थिर होती है—

विवस्वान् (सूर्य), मनु (वैवस्वत), इक्ष्वाकु, विकुक्षि (शशाद), ककुत्स्थ (पुरंजय), अनेना (सुयोधन), पृथु, विश्वगाश्व, आर्द्र (चंद्र), युवनाश्व, श्रावस्त (शावस्त), बृहदश्व, कुवलयाश्व (धुंधुमार), दृढाश्व, हर्यश्व, निकुंभ, संहताश्व, कृशाश्व, प्रसेनजित्, युवनाश्व (दूसरा), मांधाता, पुरुकुत्स, त्रसदस्यु, संभूत, अनरण्य, प्रषदश्व, हर्यश्व, सुमना, त्रिधन्वा, त्रय्यारुण, सत्यव्रत (त्रिशंकु), हरिश्चंद्र, रोहित (रोहिताश्व), हरित, चंचु, विजय, रुरुक, वृक, बाहु, सगर, असमंजस, अंशुमान्, दिलीप, भगीरथ, श्रुत, नाभाग, अंबरीष, सिंधुद्वीप, अयुतायु (अयुताश्व), ऋतुपर्ण, सर्वकाम, सुदास, सौदास (मित्रसह, कल्माषपाद), अश्मक,

पुराण से उद्धृत कर लिखा है कि सुमित्र के पीछे सूर्य वंश में क्रमशः वज्रनाभ, महारथी, अतिरथी, अचलसेन, कनकसेन, महासेन, विजयसेन, अजयसेन अभंगसेन, मदसेन और सिंहरथ राजा हुए, जिन्होंने अयोध्या में राज्य किया। सिंहरथ का पुत्र विजयभूप अयोध्या से दक्षिण में गया और वहां के राजाओं को विजय कर वहीं रहा। विजयभूप के पीछे क्रमशः पद्मादित्य, हरदत्त, सुजसादित्य (सुयशादित्य), सुमुखादित्य, सोमदत्त, शिलादित्य (शीलादित्य), केशवादित्य, नागादित्य, भोगादित्य, देवादित्य, आशादित्य, कालभोजादित्य, गुहादित्य और बप्पा (बापा) हुए[1], जिनमें से पिछले कुछ नाम पुराने शिलालेखों में भी मिल जाते हैं[2], परंतु उक्त काव्य तथा ख्यातों में वे उलट-पुलट दिये गये हैं। बापा से हम्मीर तक के नामों में भी कुछ तो छोड़ दिये गये हैं, कुछ कृत्रिम धरे हुए हैं और सीसोदे की छोटी शाखा नाम भी मुख्य वंश में मिला दिये गये हैं[3]। ख्यातों में

मूलक, दशरथ (शतरथ), इडविड, कृतशर्मा, विश्वमह, दिलीप दूसरा (खट्वांग, दीर्घबाहु) रघु, अज, दशरथ (दूसरा), राम, कुश, अतिथि, निषध, नल, नभ, पुंडरीक, क्षेमधन्वा, देवानीक, अहीनगु, पारियात्र, दल, बल (शल), उक्थ, वज्रनाभ, शंखनाभ (शंखण), ध्युषिताश्व (व्युषिताश्व) विश्वसह (दूसरा), हिरण्यनाभ, पुष्य, ध्रुवसंधि, सुदर्शन, अग्निवर्ण, शीघ्र, मरु, प्रसुश्रुत, सुसंधि, अमर्ष, महस्वान्, विश्रुतवान्, बृहद्बल (श्रुतायु), बृहत्क्षय, उरुक्षय, वत्स (वत्सवृद्ध), वत्सव्यूह, प्रतिव्योम, दिवाकर (भानु), सहदेव, बृहदश्व (ध्रुवाश्व), भानुरथ, प्रतीकाश्व, सुप्रतीक, मरुदेव, सुनक्षत्र, किन्नराश्व (पुष्कर), अंतरिक्ष, सुतपा (सुपर्ण), अमित्रजित्, बृहद्राज (भरद्वाज), धर्मी (बर्हि), कृतंजय, रणंजय (रणेजय), संजय, शाक्य, शुद्धोदन, राहुल, प्रसेनजित्, क्षुद्रक, कुलक (रणक), सुरथ और सुमित्र।

(१) सुमित्र से बापा तक की वंशावली 'राजप्रशस्ति महाकाव्य'; सर्ग १, श्लो० ३२ से ३५; और सर्ग २, श्लोक २-६ से उद्धृत की गई है (भावनगर इन्स्क्रिप्शन्स; पृ० १४६-१५०)।

सुमित्र से बापा तक की वंशावली को हम विश्वास के योग्य नहीं समझते, क्योंकि बापा, गुहादित्य (गुहिल) का पुत्र नहीं, किंतु उससे ८वीं पीढ़ी में हुआ था, ऐसा शिलालेखों से पाया जाता है।

(२) शीलादित्य, नाग (नागादित्य), भोज (भोगादित्य), कालभोज (कालभोजादित्य) और गुहिल (गुहादित्य), ये नाम शिलालेखों में मिलते हैं, परंतु उनमें क्रम यह है—गुहिल (गुहदत्त), भोज, महेन्द्र, नाग, शील (शीलादित्य), अपराजित, महेन्द्र (दूसरा) और कालभोज (बापा)।

(३) रावल रणसिंह (कर्णसिंह) से गुहिल वंश की दो शाखाएं हुईं। बड़ी

बापा से हम्मीर तक के जो संवत् दिये हैं, वे मनमाने होने से सर्वथा विश्वास के योग्य नहीं हैं। उनमें हम्मीर से पीछे की वंशावली अवश्य शुद्ध है, परंतु हम्मीर से राणा कुंभा[1] तक के संवत् संशयरहित नहीं हैं। कुंभा (कुंभकर्ण)

शाखावाले मेवाड़ के स्वामी रहे और रावल कहलाये, छोटी शाखावालों को सीसोदे की जागीर मिली और वे राणा कहलाये। रावल शाखा का अंतिम राजा रत्नसिंह हुआ, जिससे वि० सं० १३६० (ई० स० १३०३) में अलाउद्दीन ख़िलजी ने चित्तोड़ छीन लिया और रत्नसिंह के साथ ही मेवाड़ की रावल शाखा की समाप्ति हुई।

वि० सं० १३८२ (ई० स० १३३५) के आसपास सीसोदे के राणा हम्मीरसिंह ने चित्तोड़गढ़ पीछा लेकर मेवाड़ पर राणा शाखा का राज्य स्थिर किया, जो अब तक चला आता है। भाटों ने रत्नसिंह के पीछे सीसोदे की शाखा के मूल पुरुष कर्णसिंह (रणसिंह) से लगाकर हम्मीर तक के सब राणाओं को मेवाड़ के राजा मान लिया, जिसका मुख्य कारण यह था कि बापा के राज्य का प्रारंभ वि० सं० ७९१ (ई० स० ७३४) से हुआ, जिसको उन्होंने वि० सं० १९१ मान लिया। ६०० वर्ष के इस अंतर को निकालने के लिए उन्होंने सीसोदे के राणाओं के नाम भी मेवाड़ के राजाओं की वंशावली में शामिल कर दिये तो भी संवतों का हिसाब ठीक हुआ, जिससे संवत् मनमाने धर दिये और बापा का तो १०१ वर्ष राज्य करना लिखा।

(१) भाटों की ख्यातों से बापा से हम्मीर तक की मेवाड़ के राजाओं की नामावली तथा उनके गद्दीनशीनी के संवत् नीचे दिये जाते हैं—

संख्या	नाम	संवत्	संख्या	नाम	संवत्
१	बापा	१९१	१६	कर्णादित्य	८०७
२	खुम्माण	२९२	१७	भावसिंह	८३९
३	गोविंद	३५२	१८	गात्रसिंह	८८०
४	महेंद्र	३८१	१९	हंसराज	९२६
५	अल्लू	४५१	२०	योगराज	९६१
६	सिंह	५२१	२१	वैरड़	९९६
७	शक्तिकुमार	५६२	२२	वैरिसिंह	१०३६
८	शालिवाहन	५८७	२३	तेजसिंह	१०६६
९	नरवाहन	६१८	२४	समरसिंह	११०६
१०	अम्बप्रसाद	६४६	२५	रत्नसिंह	११५८
११	कीर्तिवर्म	६९१	२६	कर्णसिंह	११५९
१२	नरवर्म	७३२	२७	राहप	१२०१
१३	नरपति	७५३	२८	नरपति	१२६२
१४	उत्तम	७७९	२९	दिनकरण	१२९५
१५	भैरव	७९६	३०	जसकरण	१३०१

के पीछे ख्यातों के संवत् अवश्य शुद्ध हैं। इन सब बातों से अनुमान होता है कि भाटों ने वि० सं० की १६वीं शताब्दी के आसपास अपनी ख्यातें लिखना आरंभ किया हो, जिससे जो नाम उस समय मालूम थे वे ही उनमें शुद्ध मिलते हैं।

शिलालेखों में मेवाड़ के राजाओं की वंशावली गुहिल (गुहदत्त) से आरंभ होती है। वि० सं० की ११वीं शताब्दी के प्रारंभ तक के लेखों से ज्ञात होता है कि उस समय तक तो वहांवालों को उक्त वंशावली का ठीक ठीक ज्ञान था, परंतु उसके बाद वि० सं० की १५वीं शताब्दी के अंत तक के शिलालेखों से पाया जाता है कि उस समय लोग पुराने नाम भूल गये थे, क्योंकि कितने एक नाम जो स्मरण थे, वे ही उस समय के शिलालेखों में दर्ज किये गये हैं। वि० सं० १०२८ के शिलालेख में गुहिल के वंश में बप्प (बापा) का होना लिखा है, परंतु वि० सं० १३३१, १३४२ और १४९६ के शिलालेखों में बप्प (बापा) को, जो गुहिल से आठवीं पुश्त में हुआ था, गुहिल का पिता मान लिया। बापा किसी राजा का नाम नहीं, किंतु उपनाम था और पीछे से तो वे यह भी भूल गये कि किस राजा का उपनाम बापा था। राणा कुंभा बड़ा ही विद्वान् राजा था जिसको अपने कुल की वंशावली की त्रुटि ज्ञान होने से उसने पहले के शिलालेखों का संग्रह कराकर वंशावली को ठीक करने, और बापा किस राजा का नाम था, यह निश्चय करने का उद्योग कर वि० सं० १५१७ की कुंभलगढ़ की प्रशस्ति में अपनी शोध के अनुसार वंशावली दी, परंतु उसमें भी कुछ त्रुटियां रह गईं। उसमें शील (शीलादित्य) को बापा ठहरा दिया, जो ठीक नहीं है। अब हम गुहिल से लगाकर शक्तिकुमार तक की नामावली भिन्न भिन्न शिलालेखों से नीचे उद्धृत करते हैं, जिससे पाठकों को भिन्न भिन्न समय के वंशावली लिखनेवालों के तद्विषयक ज्ञान का भली भांति परिचय हो सकेगा।

संख्या	नाम	संवत्	संख्या	नाम	संवत्
३१	नागपाल	१३०६	३६	जयसिंह	१३२६
३२	पूर्णपाल	१३११	३७	गढ़ लक्ष्मणसिंह	१३३१
३३	पृथ्वीपाल	१३१५	३८	अरिसिंह	१३४६
३४	भूणसिंह	१३१६	३९	अजयसिंह	१३५६
३५	भीमसिंह	१३२२	४०	हम्मीरसिंह	१३५७

इस वंशावली में राजाओं के कई नाम कृत्रिम हैं और संवत् तो एक भी शुद्ध नहीं है।

संख्या	आटपुर (आहाड़) का लेख वि० सं० १०३४ का	चित्तोड़ का लेख वि० सं० १३३१ का	आबू का लेख वि० सं० १३४२ का	राणपुर का लेख वि० सं० १४९६ का	कुंभलगढ़ का लेख वि० सं० १५१७ का	शिलालेखों से निश्चित ज्ञात संवत्
१		बप्प	बप्प (बप्पक)	बप्प	...	...
२	गुहदत्त	गुहिल	गुहिल	गुहिल	गुहिल	...
३	भोज	भोज	भोज	भोज	भोज	...
४	महेंद्र	...	...	...	महींद्र	...
५	नाग	...	...	...	नाग	...
६	शील	शील	शील	शील	बप्प	वि० सं० ७०३ (शीलादित्य का लेख)
७	अपराजित	...	...	...	अपराजित	वि० सं० ७१८.
८	महेंद्र (दूसरा)	...	...	...	महींद्र (दूसरा)	...
९	कालभोज	कालभोज	कालभोज	कालभोज	कालभोज	...
१०	खोम्माण	...	...	...	खुम्माण	...
११	मत्तट	मत्तट	...	...	मत्तट	...

संख्या	आटपुर आहाड़ का लेख वि० सं० १०३४ का	चित्तोड़ का लेख वि० सं० १३३१ का	आबू का लेख वि० सं० १३४२ का	राणपुर का लेख वि० सं० १४९६ का	कुंभलगढ़ का लेख वि० सं० १५१७ का	शिलालेखों से निश्चित ज्ञात संवत्
१२	भर्तृपट्ट	भर्तृभट	भर्तृभट	भर्तृभट	भर्तृभट	...
१३	सिंह	सिंह	सिंह	सिंह	...	...
१४	खोम्माण (दूसरा)	...	...	...	...	...
१५	महायक	महायक	महायक	महायक	...	...
१६	खोम्माण (तीसरा)	खुम्माण	खुम्माण	खुम्माण	...	...
१७	भर्तृपट्ट (दूसरा)	...	...	...	...	वि० सं० ९९९, १०००
१८	अल्लट	अल्लट	अल्लट	अल्लट	अल्लट	वि०सं० १००८, १०१०
१९	नरवाहन	नरवाहन	नरवाहन	नरवाहन	नरवाहन	वि० सं० १०२८
२०	शालिवाहन	...	...	...	शालिवाहन	...
२१	शक्तिकुमार	शक्तिकुमार	शक्तिकुमार	शक्तिकुमार	शक्तिकुमार	वि० सं० १०३४

इस प्रकार मेवाड़ का प्राचीन इतिहास भारत के अन्य राजवंशों के समान अंधकार में ही है। मेवाड़ में प्राचीन शोध का काम भी बहुत कम हुआ है और भोमट के इलाके में इस वंश के राजाओं के आहोर, भाडेर आदि कई प्राचीन स्थान हैं, परंतु वह प्रदेश पहाड़ियों से भरा हुआ होने के कारण अब तक किसी प्राचीन शोधक का उधर जाना ही नहीं हुआ। उक्त वंश के राजा शीलादित्य का सामोली गांव का वि० सं० ७०३ (ई० स० ६४६) का शिलालेख मुझे अनायास ही प्राप्त हुआ था। ऐसी दशा में अब तक के शोध से इस वंश का जो कुछ प्राचीन इतिहास उपलब्ध हुआ, उसको पाठकों के सामने रखने का प्रयत्न किया जाता है।

गुहिल (गुहदत्त)

हम ऊपर बतला चुके हैं कि गुहिल (गुहदत्त) से पूर्व का जो इतिहास कर्नल टॉड ने लिखा है वह—जैनों की अनिश्चित कथाओं पर विश्वास कर मेवाड़ की ख्यातों तथा 'राजप्रशस्ति महाकाव्य' में लिखे हुए गुहिल के पूर्वजों का, जिनका वलभीपुर से कोई संबंध न था, उन्होंने भ्रम से काठियावाड़ में राज्य करना मान लिया है—सर्वथा कल्पित है। उदयपुर राज्य से मिले हुए शिलालेखों में गुहिल (गुहदत्त, गुहादित्य) से वंशावली प्रारंभ होती है।

शिलालेखों में गुहिल (गुहदत्त) का कुछ भी इतिहास नहीं मिलता, परंतु ई० स० १८६९ (वि० सं० १९२६) में उसके २००० से अधिक चांदी के सिक्के आगरे से गड़े हुए मिले, जिनपर 'श्रीगुहिल' लेख है[1]। ये सिक्के आकार में छोटे हैं और मिस्टर कार्लाइल ने आर्कियालॉजिकल् सर्वे की रिपोर्ट में इनका सविस्तर वर्णन किया है। उनसे यही ज्ञात होता है कि गुहिल एक स्वतंत्र राजा था।

---

(१) क; आ. स. रि; जि० ४, पृ० ९५। नरवर से एक सिक्का जनरल कनिंगहाम को ऐसा मिला जिसपर 'श्रीगुहिलपति' लेख है (बंगा. ए. सो. ज; ई० स० १६६५, पृ० १२२)। उक्त सिक्के के लेख की लिपि गुहिल के आगरे के सिक्कों की लिपि से मिलती हुई है। जनरल कनिंगहाम ने उस सिक्के को हूण राजा तोरमाण के पुत्र मिहिरकुल के किसी वंशज का होना अनुमान किया जो ठीक नहीं है, क्योंकि 'गुहिलपति' नाम नहीं, किंतु केवल उपनाम है जिसका अर्थ 'गुहिलवंशियों [illegible]मी या अग्रणी' होता है। अतः संभव है कि वह सिक्का भी गुहिल के किसी वंशज का हो।

जयपुर राज्य के चाटसू नामक प्राचीन नगर से ग्यारहवीं शताब्दी के आस-पास की लिपि का एक बड़ा शिलालेख[1] मिला है, जिसमें गुहिल के वंशज भर्तृपट्ट (भर्तृभट, प्रथम) से बालादित्य तक १२ पीढ़ियों के नाम दिये हैं। वे चाटसू के आसपास के प्रदेश पर, जो आगरे से बहुत दूर नहीं है, वि० सं० की आठवीं से ग्यारहवीं शताब्दी के आसपास तक राज्य करते थे। इसी तरह अजमेर ज़िले के खरवा ठिकाने के अधीनस्थ नासूण गांव से वि० सं० ८८७ (ई० स० ८३०) वैशाख वदि २ का एक खंडित शिलालेख मिला है, जिसमें धनिक और ईशानभट मंडलेश्वरों के नाम मिलते हैं, जो गुहिल वंश की चाटसू की शाखा से सम्बन्ध[2] रखते हों ऐसा अनुमान होता है।

सिक्कों का एक जगह से दूसरी जगह चला जाना साधारण बात है, परन्तु एक ही स्थान में एक साथ एक ही राजा के २००० से भी अधिक सिक्कों के मिलने और वि० सं० की ग्यारहवीं शताब्दी के आसपास तक अजमेर ज़िले से लगाकर चाटसू और उससे परे तक के प्रदेश पर भी गुहिलवंशियों का अधिकार होने से यह भी अनुमान हो सकता है, कि गुहिल का राज्य आगरे के आसपास के प्रदेश तक रहा हो और वे सिक्के वहां चलते हों, जैसा मि० कार्लाइल का अनुमान है[3]। गुहिल के उक्त सिक्कों से यह भी सम्भव हो सकता है कि गुहिल से पहले भी इस वंश का राज्य चला आता हो और उस वंश में पहले पहल गुहिल के प्रतापी होने के कारण शिलालेखों में उसी से वंशावली प्रारंभ की गई हो। ऐसी दशा में गुहिल के सम्बन्ध की जो कथाएं पीछे से इतिहास के अभाव में प्रचलित हुई और जिनका वर्णन हम ऊपर कर आये हैं, वे अधिक विश्वास के योग्य नहीं हैं, क्योंकि यदि सूर्यवंशी राजपुत्र गुहिल का बहुत ही सामान्य स्थिति में एक ब्राह्मण के यहां पालन हुआ होता तो वह स्वतन्त्र राजा होकर अपने नाम के सिक्के चलाने में समर्थ न होता। सम्भव है कि हूण राजा मिहिरकुल के पीछे राजपूताने के अधिकांश तथा उसके समीपवर्ती प्रदेशों पर गुहिल का राज्य रहा हो, क्योंकि मिहिरकुल के पीछे गुहिल के ही सिक्के मिलते हैं।

(१) ए. इं; जि० १२, पृ० १३-१७।

(२) आर्कियॉलॉजिकल् सर्वे ऑफ़ इंडिया, ऐन्युअल् रिपोर्ट, ई० स० १९२०-२१, पृ० ३४।

(३) क; आ. स. रि; जि० ४, पृ० ९५।

गुहिल के समय का कोई शिलालेख या ताम्रपत्र अब तक नहीं मिला, जिससे उसका निश्चित समय ज्ञात नहीं हो सकता, परन्तु उसके पांचवें वंशधर शीलादित्य (शील) का वि० सं० ७०३ (ई० स० ६४६) का सामोली गांव का शिलालेख राजपूताना म्यूज़ियम् (अजमेर) में विद्यमान है। यदि हम शीलादित्य (शील) से पूर्व के प्रत्येक राजा का राजत्वकाल औसत हिसाब से २० वर्ष मानें तो गुहिल (गुहदत्त) का वि० सं० ६२३ (ई० स० ५६६) के आसपास विद्यमान होना स्थिर होता है।

भोज, महेंद्र और नाग

गुहिल (गुहदत्त) के पीछे क्रमशः भोज, महेंद्र और नाग राजा हुए, जिनका कुछ भी वृत्तांत नहीं मिलता। ख्यातों में भोज को भोगादित्य या भोजादित्य और नाग को नागादित्य लिखा है। मेवाड़ के लोगों का कथन है कि नागदा[1] नगर, जिसका नाम प्राचीन शिलालेखों में 'नागह्रद' या 'नागद्रह' मिलता है, नागादित्य का बसाया हुआ है। नागदा नगर पहाड़ों के बीच बसा हुआ है। प्राचीन काल से ही नागों (नागवंशियों) की अलौकिक शक्ति की कथाएं चली आती थीं इसलिये नागह्रद का सम्बन्ध प्राचीन नागवंशियों[2] से हो तो भी आश्चर्य नहीं।

शीलादित्य (शील)

नाग (नागादित्य) का उत्तराधिकारी शीलादित्य हुआ, जिसको मेवाड़ के शिलालेखादि में शील भी लिखा है। उसके राजत्वकाल के उपर्युक्त सामोली गांववाले वि० सं० ७०३ (ई० स० ६४६) के शिलालेख[3] में लिखा है—'शत्रुओं को जीतनेवाला; देव, ब्राह्मण और गुरुजनों को आनन्द देनेवाला, और अपने कुल-

---

(१) नागदा नगर के लिए देखो ऊपर पृ० ३३८।

(२) यह भी जनश्रुति प्रसिद्ध है, कि राजा जनमेजय ने अपने पिता परीक्षित का वैर लेने के लिए नागों को होमने का यज्ञ 'सर्पसत्र' यहीं किया था। यह जनश्रुति सत्य हो या नहीं, परन्तु इससे उक्त नगर के साथ नागों (नागवंशियों) के सम्बन्ध की सूचना अवश्य पाई जाती है।

(३) नागरीप्रचारिणी पत्रिका; भाग १, पृ० ३११–२४।

रूपी आकाश का चन्द्रमा राजा शीलादित्य पृथ्वी पर विजयी हो रहा है। उसके समय वटनगर से[1] आये हुए महाजनों के समुदाय ने, जिसका मुखिया जेक (जेंतक) था, आरण्यक गिरि में लोगों का जीवन (साधन) रूपी आगर[2] उत्पन्न किया, और महाजन (महाजनों के समुदाय) की आज्ञा से जेंतक महत्तर[3] ने अरण्यवासिनी देवी का मंदिर बनवाया, जो अनेक देशों से आये हुए अट्ठारह वैतालिकों (स्तुतिगायकों) से विख्यात, और नित्य आनेवाले धनधान्यसम्पन्न मनुष्यों की भीड़ से भरा हुआ था। उसकी प्रतिष्ठा कर जेंतक महत्तर ने यमदूतों को आते हुए देख 'देववुक' नामक सिद्धस्थान में अग्नि में प्रवेश किया[4]'। राजा शील का एक तांबे का सिक्का[5] मिला है, जिस पर एक तरफ शील का नाम सुरक्षित है, परंतु दूसरी तरफ के अक्षर अस्पष्ट हैं।

अपराजित

शीलादित्य (शील) के पीछे अपराजित राजा हुआ, जिसके समय का वि० सं० ७१८ (ई० स० ६६१) मार्गशीर्ष सुदि ५ का एक शिलालेख नागदे के निकट कुंडेश्वर के मंदिर में पड़ा हुआ मिला, जिसको मैंने वहां से उठवाकर उदयपुर के विक्टोरिया हॉल के अजायबघर में सुरक्षित किया। उसका सारांश यह है—'गुहिल वंश के तेजस्वी राजा अपराजित ने सब दुष्टों को नष्ट किया और अनेक राजा उसके आगे सिर झुकाते थे। उसने शिव (शिवसिंह) के पुत्र महाराज वराहसिंह को—जिसकी शक्ति को कोई तोड़ न सका, जिसने भयंकर शत्रुओं को परास्त किया और जिसका उज्ज्वल यश दसों दिशाओं में फैला हुआ था—

(१) सामोली गांव से थोड़े ही मील दूर सिरोही राज्य का वटनगर नामक प्राचीन नगर, जिसको अब वसंतपुर या वसंतगढ़ कहते हैं (ना. प्र. प; भाग १, पृ० ३२०–२१)।

(२) राजपूताने में नमक की खान को 'आगर' कहते हैं।

(३) 'महत्तर' राजकर्मचारियों का एक बड़ा पद था, जिसका अपभ्रंश मेहता (मूंता) है। ब्राह्मण, महाजन, कायस्थ आदि जातियों के कई पुरुषों के नामों के साथ मेहता की उपाधि, जो उनके प्राचीन गौरव की सूचक है, अब तक चली आती है। फ़ारसी में भी 'महतर' प्रतिष्ठित अधिपति का सूचक है, जैसे 'चित्राल के महतर'।

(४) ना. प्र. प; भाग १, पृ० ३१४–१५; ३२२–२४।

(५) यह सिक्का उदयपुर-निवासी शास्त्री शोभालाल को मिला और मैंने उसे देखा है।

अपना सेनापति बनाया। अरुंधती के समान विनयशाली उस (वराहसिंह) की स्त्री यशोमती ने लक्ष्मी, यौवन और वित्त को क्षणिक मानकर संसाररूपी विषम समुद्र को तैरने के लिये नावरूपी कैटभरिपु (विष्णु) का मंदिर बनवाया। दामोदर के पौत्र और ब्रह्मचारी के पुत्र दामोदर ने उक्त प्रशस्ति की रचना की, और अजित के पौत्र तथा वत्स के पुत्र यशोभट ने उसे खोदा"[1]। इस लेख (प्रशस्ति) की कविता बड़ी ही मनोहर है और उसकी कुटिल लिपि को लेखक ने ऐसा सुन्दर लिखा, और शिल्पी ने इतनी सावधानी से खोदा है कि वह लेख छापे में छपा हो, ऐसा प्रतीत होता है। इस लेख को देखकर यह कहना पड़ता है कि उस समय भी वहां (मेवाड़ में) अच्छे विद्वान् और कारीगर थे।

महेंद्र (दूसरा)

अपराजित के पीछे महेंद्र (दूसरा) मेवाड़ के राज्य-सिंहासन पर बैठा, जिसका कुछ भी विवरण नहीं मिलता। उसके पीछे कालभोज राजा हुआ।

कालभोज (बापा)

मेवाड़ और राजपूताने में यह राजा, बापा या 'बापारावल[2]' नाम से अधिक प्रसिद्ध है। मेवाड़ के भिन्न भिन्न शिलालेखों, दानपत्रों, ऐतिहासिक पुस्तकों तथा

(१) ए. इं; जि० ४, पृ० ३१-३२।

(२) गुहिल से लगाकर करण (कर्ण) सिंह (रणसिंह) तक मेवाड़ के राजाओं का ख़िताब राजा ही होना चाहिये, जैसा कि उनके शिलालेखादि से पाया जाता है। करणसिंह के पुत्र क्षेमसिंह (या उसके किसी उत्तराधिकारी) ने राजकुल या महाराजकुल (रावल या महारावल) ख़िताब धारण किया जो उनके पिछले शिलालेखादि में मिलता है। पिछले इतिहास-लेखकों को प्राचीन इतिहास का ज्ञान न होने के कारण उन्होंने प्रारंभ से ही उनका ख़िताब 'रावल' होना मान लिया और प्राचीन इतिहास के अंधकार में पीछे से उसी की लोगों में प्रसिद्धि हो गई, जो भ्रम ही है। राजकुल (रावल) शब्द का वास्तविक अर्थ 'राजवंश' या 'राजसी घराना' ही है। जैसे मेवाड़ के राजाओं ने यह ख़िताब धारण किया वैसे ही आबू के परमारों (एतस्मिं व्यवस्था श्रीचन्द्रावतीपतिराजकुलश्रीसोमसिंहदेवेन तथा तत्पुत्रराजकान्हडदेवप्रमुखकुमारैः—आबू पर के देलवाड़ा के मंदिर की वि० सं० १२८७ की प्रशस्ति-

बापा के सोने के सिक्के पर उसका नाम नीचे लिखे हुए भिन्न भिन्न रूपों में मिलता है--वप्प, वोप्प, वप्पक, बप्प, बप्पक, बप्पाक, बाप्प, बाप्प, और बापा[1]।

बप्प, और बप्प दोनों प्राकृत भाषा के प्राचीन शब्द हैं, जिनका मूल अर्थ 'बाप' (संस्कृत वाप=बीज बोनेवाला, पिता) था[2]। इनका या इनके भिन्न भिन्न रूपांतरों का प्रयोग बहुधा सारे हिन्दुस्तान में प्राचीन काल से अब तक उसी अर्थ[3] में चला आता है। पीछे से यह शब्द सम्मानसूचक होकर नाम के लिये भी प्रयोग में आने लगा। मेवाड़ के पिछले अनेक लेखों में बापा के लिये बापा रावल शब्द मिलता है[4]।

ए० इं; जि० ८, पृ० २२२) तथा जालोर के चौहानों ने भी उसे धारण किया (*संवत् १३४५ वर्षे कार्तिकसुदि १४ सोमे अद्येह श्रीसत्यपुरमहास्थाने महाराजकुलश्रीसाम्वतसिंहदेवकल्याणविजयराज्ये* सांचोर का शिलालेख ए. इं; जि० ११, पृ० ५८। *संवत् १३५२ वैशाखसुदि ४ श्रीबाहडमेरौ महाराजकुलश्रीसामंतसिंहदेवकल्याणविजयराज्ये*—जूना गांव का शिलालेख—वही, जि० ११, पृ० ५६)

(१) इन भिन्न भिन्न रूपों के मूल प्रमाणों के लिये देखो ना. प्र. प; भाग १, पृ० २४८-५० और टिप्पण १०-२१ तक।

(२) फ्लीट; गु इं; पृ० ३०४।

(३) वलभी के राजाओं के दानपत्रों में पिता के नाम की जगह 'बप्प' शब्द सम्मान के लिये कई जगह मिलता है (*परमभट्टारकमहाराजाधिराजपरमेश्वरश्रीबप्पपादानुध्यातः परमभट्टारकमहाराजाधिराजपरमेश्वरः श्रीशीलादित्यः*—वलभी के राजा शीलादित्य का अलीना से मिला हुआ गुप्त संवत् ४४७ (वि० सं० ८२३ = ई० स० ७६६) का दानपत्र फ्लीट; गु. इं; पृ० १७८)। नेपाल के लिच्छवीवंशी राजा शिवदेव और उसके सामंत अंशुवर्मा के (गुप्त) संवत् ३१६ (या ३१८ ?, वि० सं० ६९२ = ई० स० ६३५) के शिलालेख में 'बप्प' शब्द का प्रयोग ऐसे ही अर्थ में हुआ है (*स्वकुल मानग्रहादपरिमितगुणसमुदयोद्भासितदिशो बप्पपादानुध्यातो लिच्छविकुलकेतुर्भट्टारकमहाराजश्रीशिवदेवः कुशली*......इं. ऐं; जि० १४, पृ० ९८)।

(४) 'बप्प' शब्द के कई भिन्न भिन्न रूपांतर बालक वृद्ध आदि के लिये अथवा उनके सम्मानार्थ या उनको संबोधन करने के लिये संस्कृत के 'तात' शब्द के समान काम में आने लगे। मेवाड़ में 'बापू' शब्द लड़के या पुत्र के अर्थ में प्रयुक्त होता है, और 'बापजी' राजकुमार के लिये। राजपूताना, गुजरात आदि में बापा, बापू और बापो शब्द पिता, पूज्य या वृद्ध के अर्थ में आते हैं। बापूजी, बापूदेव, बोपदेव, बापूराव, बापूलाल, बायाराव, बापराव

राजा नरवाहन तक के मेवाड़ के राजाओं के जो शिलालेख मिले हैं उनमें उनकी पूरी वंशावली नहीं, किन्तु एक, दो या तीन ही नाम मिलते हैं। पहले

कालभोज का दूसरा नाम बापा

पहल राजा शक्तिकुमार के समय के वि० सं० १०३४ (ई० स० ९७७) के आटपुर (आघाटपुर, आहाड़-उदयपुर से दो मील) के शिलालेख[1] में गुहदत्त (गुहिल) से शक्तिकुमार तक की पूरी वंशावली दी है। उसमें बापा का नाम नहीं है, परन्तु उससे पूर्व राजा नरवाहन के समय के वि० सं० १०२८ (ई० स० ९७१) के शिलालेख[2] में वप्पक (बापा) को गुहिलवंशी राजाओं में चन्द्र के समान (प्रकाशमान) लिखा है, जिससे शक्तिकुमार से पूर्व बापा का होना निर्विवाद है। ऊपर हम बतला चुके हैं कि प्राचीन 'बप्प' शब्द प्रारम्भ में पिता का सूचक था और पीछे से नाम के लिये तथा अन्य अर्थों में भी उसका प्रयोग होता था; अतएव सम्भव है कि शक्तिकुमार के लेख को तैयार करनेवाले पंडित ने उस लेख में बप्प (बापा) नाम का प्रयोग न करके उसका वास्तविक नाम ही दिया हो, परन्तु वह वास्तविक नाम क्या था, इसका उक्त लेख से कुछ भी निश्चय नहीं हो सकता। इस जटिल समस्या ने वि० सं० की १४वीं शताब्दी से ही विद्वानों को बहुत कुछ चक्कर खिलाया है और अब तक इसका संतोषजनक निर्णय नहीं हो सका था। चित्तोड़ निवासी नागर ब्राह्मण प्रियपटु के पुत्र वेदशर्मा ने रावल समरसिंह के समय की वि० सं० १३३१[3] (ई० स० १२७४) की चित्तोड़गढ़ की और वि० सं० १३४२[4] (ई० स० १२८५) की आबू के अचलेश्वर के मठ की प्रशस्तियां बनाईं, जिनमें वह मेवाड़ के राजाओं की वंशावली भी शुद्ध न दे सका। इतना ही नहीं, किन्तु वप्प (बापा) को गुहिल का पिता लिख दिया। उसका यह कथन तो उपर्युक्त वि० सं० १०२८ (ई० स० ९७१) के शिलालेख से कल्पित सिद्ध हो गया, क्योंकि उसमें वप्पक (बापा) को गुहिलवंशी राजाओं में चंद्र के समान

बापयणभट्ट, बोपयणभट्ट, बे प्पयदेव आदि अनेक शब्दों के पूर्व अंश 'बप्प' शब्द के रूपांतर मात्र हैं। पंजाबी और हिंदी गीतों तथा स्त्रियों की बोलचाल में 'बाबल' पिता का सूचक है।

(१) इं. ऍ; जि० ३९, पृ० १९१।

(२) बंब. ए. सो. ज; जि० २२, पृ० १६६-६७।

(३) भावनगर इन्स्क्रिप्शन्स; पृ० ७४-७७।

(४) इं. ऍ; जि० १६, पृ० ३४७-५१।

(तेजस्वी) और पृथ्वी का रत्न कहा है[1]।

वि० सं० १४९६ (ई० स० १४३९) में महाराणा कुंभकर्ण (कुंभा) के समय राणपुर (जोधपुर राज्य के गोड़वाड़ इलाक़े में सादड़ी गांव के पास) के जैन मंदिर की प्रशस्ति[2] बनी, जिसके रचयिता ने मेवाड़ के राजाओं की पुरानी वंशावली रावल समरसिंह के आबू के लेख से ही उद्धृत की हो, ऐसा पाया जाता है[3]। उसने भी बप्प (बापा) को गुहिल का पिता मान लिया, जो भ्रम ही है।

महाराणा कुंभकर्ण (कुंभा) के बनवाए हुए कुंभलगढ़ (कुंभलमेरु) के मामादेव के मंदिर की बड़ी प्रशस्ति[4] की रचना वि० सं० १५१७ (ई० स० १४६०) में हुई, जिसके बहुत पूर्व से ही मेवाड़ के राजवंश की सम्पूर्ण और शुद्ध वंशावली उपलब्ध नहीं थी। उसको शुद्ध करने का यत्न उस समय कितनी ही प्राचीन प्रशस्तियों के आधार पर किया गया[5] जो कुछ कुछ सफल हुआ। उसमें बापा को कहां स्थान देना इसका भी विचार हुआ हो ऐसा प्रतीत होता है, क्योंकि

---

(१) *अस्मिन्नभूद्गुहिलगोत्रनरेन्द्रचन्द्रः श्रीबप्पकः क्षितिपतिः क्षितिपीठरत्नम् ।*
(बंब. ए. सो. ज; जि० २२, पृ० १६६)।

चित्तोड़ के ही रहनेवाले चैत्रगच्छ के जैन साधु भुवनचन्द्रसूरि के शिष्य रत्नप्रभसूरि ने वि०सं० १३३० (ई० स० १२७३) कार्तिक सुदि १ को रावल समरसिंह के समय की चीरवा गांव (एकलिंगजी के मंदिर से २ मील दक्षिण में) के मंदिर की प्रशस्ति रची, जिसमें वह वेदशर्मा के विरुद्ध यह लिखता है कि गुहिलोत वंश में राजा बप्पक (बापा) हुआ (*गुहिलांगजवंशजः पुरा क्षितिपालोत्र बभूव बप्पकः। .... ॥ ३ ॥* इससे पाया जाता है कि उस समय भी ब्राह्मण विद्वानों की अपेक्षा जैन विद्वानों में इतिहास का ज्ञान अधिक था।

(२) भावनगर इन्स्क्रिप्शन्स; पृ० ११४-१५ ।

(३) ऐसा मानने का कारण यह है कि उसमें शुचिवर्मा तक के नाम ठीक वे ही हैं जो आबू की प्रशस्ति में दिये हैं।

(४) यह प्रशस्ति बड़ी बड़ी पांच शिलाओं पर खुदवाई गई थी, जिनमें से पहली, तीसरी (बिगड़ी हुई दशा में) और चौथी शिलाएं मिली हैं, जिनको मैंने कुम्भलगढ़ से उठवाकर उदयपुर के विक्टोरिया हॉल के अजायबघर में सुरक्षित की हैं। दूसरी शिला का तो एक छोटासा टुकड़ा ही मिला है।

(५) *अतः श्रीराजवंशोत्र प्रव्यक्तः [प्रोच्यते]धुना ।*
चिरंतनप्रशस्तीनामनेकानामतःक्षणात् (? मवेक्षणात्) ॥

कुंभलगढ़ की प्रशस्ति, श्लोक १३८, अप्रकाशित,

चित्तोड़, आबू और राणपुर के मंदिर की प्रशस्तियों में बापा को गुहिल का पिता माना था, जिसको स्वीकार न कर गुहिल के पांचवें वंशधर शील (शीलादित्य) के स्थान पर बप्प[1] (बापा) का नाम धरा, परन्तु यह भी ठीक नहीं हो सकता; क्योंकि शीलादित्य (शील) का वि० सं० ७०३ (ई० स० ६४६) में विद्यमान होना निश्चित है और बापा ने वि० सं० ८१० (ई० स० ७५३) में संन्यास ग्रहण किया, ऐसा आगे बतलाया जायगा।

कर्नल जेम्स टॉड ने भी अपने 'राजस्थान' में कुंभलगढ़ की प्रशस्ति के आधार पर शील (शीलादित्य) को ही बापा मानकर उसका वि० सं० ७८४ (ई० स० ७२८) में गद्दी पर बैठना लिखा है,[2] परन्तु यदि उस समय शीलादित्य का वि० सं० ७०३ (ई० स० ६४६) का शिलालेख मिल जाता तो सम्भव है कि कर्नल टॉड शील को बापा न मानकर उसके किसी वंशधर को बापा मानता।

महामहोपाध्याय कविराजा श्यामलदास ने अपने 'वीरविनोद' नामक मेवाड़ के बृहत् इतिहास में लिखा है—'इन बातों का निर्णय करना ज़रूरी है, बापा किसी राजा का नाम था या खिताब, और खिताब था तो किस राजा का था, और उसने किस तरह और कब चित्तौड़ लिया? यह निश्चय हुआ है, कि बापा किसी राजा का नाम नहीं, किन्तु खिताब है, जिसको कर्नेल टॉड ने भी खिताब लिखकर अपराजित के पिता शील को बापा ठहराया है; लेकिन कूंडां की (कुंडेश्वर के मंदिर की) विक्रमी ७१८ की प्रशस्ति के मिलने से कर्नेल टॉड का शील को बापा मानना ग़लत साबित हुआ, क्योंकि उक्त संवत् में शील का पुत्र अपराजित राज्य करता था, और विक्रमी ७७० [हि० ९४=ई० ७१३] में मोरी कुल का मानसिंह चित्तौड़ का राजा था, जिसके पीछे विक्रमी ७९१ [हि० ११६=ई० ७३४] में बापा ने चित्तौड़ का क़िला मोरियों से लिया, जो हम आगे लिखते हैं, तो हमारी रायसे अपराजित के पुत्र अर्थात् शील के पोते महेन्द्र का खिताब बापा था, और वही रावल के पद से प्रसिद्ध हुआ। सिवा इसके एकलिंग माहात्म्य में बापा का पुत्र भोज और भोज का खुंमाण लिखा है, उससे भी

(१) *तस्मिन् गुहिलवंशेभूद्भोजनामावनीश्वरः।*
तस्मान्महींद्रनागाह्वो बप्पाख्यश्चापराजितः॥ वही; श्लोक १३१।

(२) टॉ; रा; जि० १, पृ० २५३-६६।

महेन्द्र का ही खिताब बापा होना सिद्ध होता है[1], इस कथन को भी हम स्वीकार नहीं कर सकते, क्योंकि अपराजित वि० सं० ७१८ (ई० स० ६६१) में विद्यमान था और बापा का वि० सं० ८१० (ई० स० ७५३) में संन्यास लेना उक्त कविराजा ने स्वीकार किया है[2], ऐसी दशा में उन दोनों राजाओं के बीच अनुमान १०० वर्ष का अन्तर आता है, जो अधिक है। दूसरा कारण यह भी है कि मेवाड़ के बड़वों की ख्यात[3], राजप्रशस्ति महाकाव्य,[4] तथा नैणसी की ख्यात में बापा के पुत्र का नाम खुंमाण दिया है[5], और आटपुर (आहाड़) की प्रशस्ति में कालभोज के पुत्र का नाम खुंमाण दिया है[6], जिससे कालभोज का उपनाम ही बापा हो सकता है। एकलिंगमाहात्म्य की वंशावली अशुद्ध और अपूर्ण है और उसका भोज कालभोज का सूचक नहीं, किन्तु गुहिल के पुत्र भोज का सूचक है।

प्रोफ़ेसर देवदत्त रामकृष्ण भंडारकर ने आटपुर (आहाड़) के शिलालेख का सम्पादन करते समय, बापा किस राजा का नाम था, इसका निश्चय करने का इस तरह यत्न किया है कि अपराजित के लेख के वि० सं० ७१८ (ई० स० ६६१) और अल्लट के वि० सं० १०१० (ई० स० ९५३) के बीच २९२ वर्ष का अंतर है, जिसमें १२ राजा हुए, अतएव प्रत्येक राजा का राज्य-समय औसत हिसाब से २४$\frac{1}{3}$ वर्ष आया। फिर बापा का वि० सं० ८१० (ई० स० ७५३) में राज्य छोड़ना स्वीकार कर अपराजित के वि० सं० ७१८ और बापा के वि० सं० ८१० के बीच के ९२ वर्ष के अंतर के लिये भी वही औसत लगा कर अपराजित से चौथे राजा खुंमाण को बापा ठहराया[7] है; परंतु हम उस कथन को भी ठीक नहीं समझते, क्योंकि मेवाड़ में बापा का पुत्र खुंमाण होना माना जाता है जैसा कि ऊपर बत-

(१) वीरविनोद; भाग १, पृ० २५० ।

(२) वही; पृ० २५२ ।

(३) वही; पृ० २३४ ।

(४) *तां रावलाख्यां पदवीं दधानो बापाभिधानः स रराज राजा ॥ १९ ॥*
ततः खुमाणाभिधरावलोस्मात्.......॥ २० ॥

(राजप्रशस्ति महाकाव्य; सर्ग ३)

(५) मुहणोत नैणसी की ख्यात; पत्र २, पृ० १ ।

(६) इं. एं; जि० ३९, पृ० १९१ ।

(७) इं. एं; जि० ३९, पृ० १९० ।

लाया जा चुका है। दूसरा कारण यह भी है कि जो औसत १२ राजाओं के लिये हो उसी को चार राजाओं के लिये भी मान लेना इतिहास स्वीकार नहीं करता, क्योंकि कभी कभी दो या तीन राजाओं के १०० या इससे अधिक वर्ष राज्य करने के उदाहरण भी मिल आते हैं[1]।

ऊपर के विवेचन को देखते हुए यही मानना युक्तिसंगत है कि कालभोज ही बापा नाम से प्रसिद्ध होना चाहिये।

बापा का समय

बापा के राज्य-समय का कोई शिलालेख या ताम्रपत्र अब तक नहीं मिला, जिससे उसका निश्चित समय मालूम हो सके, परंतु वि० सं० १०२८ (ई० स० ९७१) के राजा नरवाहन के समय के शिलालेख में बप्पक (बापा) का नाम होने से इतना तो निश्चित है कि उक्त संवत् से पूर्व किसी समय बापा हुआ था। महाराणा कुंभकर्ण (कुंभा) के समय 'एकलिंगमाहात्म्य' नामक पुस्तक बनी, जिसके 'राजवर्णन' नामक अध्याय में पहले की प्रशस्तियों से कितने ही राजाओं के वर्णन के श्लोक ज्यों के त्यों उद्धृत किये हैं और बाकी नये बनाये हैं। कहीं कहीं तो 'यदुक्तं पुरातनैः कविभिः' (जैसा कि पुराने कवियों ने कहा है) लिखकर उन श्लोकों की प्रामाणिकता भी दिखलाई है। संभव है कि उक्त महाराणा को किसी प्राचीन प्रशस्ति या पुस्तक से बापा का समय ज्ञात हो गया हो, जो उक्त पुस्तक में नीचे लिखे अनुसार दिया है—

यदुक्तं पुरातनैः कविभिः—

आकाशचंद्रदिग्गजसंख्ये संवत्सरे बभूवाद्यः।
श्रीएकलिंगशंकरलब्धवरो बाप्पभूपालः॥

अर्थ—जैसा कि पुराने कवियों ने कहा है—

संवत् ८१० में श्री एकलिंग शंकर से वर पाया हुआ राजा बाप्प (बापा) पहला [प्रसिद्ध] राजा हुआ। इस श्लोक से इतना ही पाया जाता है कि बापा

---

(१) बूंदी के महाराव रामसिंह की गद्दीनशीनी वि० सं० १८७८ (ई० स० १८२१) में हुई। उनके पुत्र महाराव रघुवीरसिंहजी इस समय (वि० सं० १९८३) में बूंदी का शासन कर रहे हैं। इन १०५ वर्षों में वहां दूसरी पुश्त चल रही है। अकबर से शाहजहां के क़ैद होने तक के तीन बादशाहों का राज्य-समय १०२ वर्ष निश्चित ही है।

वि० सं० ८१० (ई० स० ७५३) में हुआ, किन्तु इससे यह निश्चय नहीं होता कि उस संवत् में उसकी गद्दीनशीनी हुई, अथवा उसने राज्य छोड़ा या उसकी मृत्यु हुई। निश्चित इतना ही है कि उक्त पुस्तक की रचना के समय बापा का उक्त संवत् में होना माना जाता था और वह संवत् पहले के किसी शिलालेख, ताम्रपत्र या पुस्तक से लिया गया होगा, क्योंकि उसके साथ यह स्पष्ट लिखा है कि 'पुराने कवियों ने ऐसा कहा है'।

महाराणा कुंभकर्ण (कुंभा) के दूसरे पुत्र रायमल के राज्य-समय 'एकलिंग-माहात्म्य' नाम की दूसरी पुस्तक बनी, जिसको 'एकलिंगपुराण' भी कहते हैं; उसमें बापा के समय के सम्बन्ध में यह लेख है—

राज्यं दत्वा स्वपुत्राय आथर्वणमुपागतः ।
खचंद्रदिग्गजाख्ये च वर्षे नागह्रदे मुने ॥ २१ ॥
क्षेत्रे च भुवि विख्याते स्वगुरोर्गुरुदर्शनम् ।
चकार स समित्पाणिश्चतुर्थाश्रममाचरन् ॥२२॥

(एकलिंगमाहात्म्य, अध्याय २०)

अर्थ—हे मुनि, संवत् ८१० में अपने पुत्र को राज्य दे, संन्यास ग्रहण कर, हाथ में समिध[1] लिये वह (बापा) नागह्रद क्षेत्र (नागदा) में अथर्वविद्या-विशारद[2] [गुरु] के पास पहुंचा और गुरु का दर्शन किया।

इस कथन से पाया जाता है कि वि० सं० ८१०[3] (ई० स० ७५३) में बापा

---

(१) तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम् (मुंडकोपनिषद्; १ । २ । १२) जिज्ञासु ज्ञान के लिये गुरु के होम की अग्नि के निमित्त समिध (लकड़ी) हाथ में लेकर गुरु के पास जाया करते थे।

(२) राजाओं के गुरु और पुरोहितों के लिये अथर्वविद्या (मंत्र, अभिचार आदि) में निपुण होना आवश्यक गुण माना जाता था (रघुवंश; १ । ५६; ८ । ४; कौटिल्य का अर्थ-शास्त्र; पृ० १५)

(३) बीकानेर दरबार के पुस्तकालय में फुटकर बातों के संग्रह की एक हस्तलिखित पुस्तक है, जिसमें मुहणोत नैणसी की ख्यात का एक भाग और चंद्रावतों (सीसोदियों की एक शाखा) की बात भी है, जहां राणा भावणसी (भुवनसिंह) के पुत्र चंद्रा से लेकर अमरसिंह हरिसिंहोत (हरिसिंह का पुत्र या वंशजों) तक की वंशावली दी है और अंत में दो छोटे छोटे संस्कृत काव्य हैं। इनमें से पहले में बापा से लेकर राणा प्रताप तक की

ने अपने पुत्र को राज्य देकर संन्यास ग्रहण किया। बापा के राज्य छोड़ने का यह संवत् स्वीकार योग्य है, क्योंकि प्रथम तो महाराणा कुंभकर्ण (कुंभा) के समय के बने एकलिंगमाहात्म्य से पाया जाता है कि वह संवत् कपोलकल्पित नहीं, किन्तु प्राचीन आधार पर लिखा गया है। दूसरी बात यह है कि बापा ने मोरियों (मौर्यवंशियों) से चित्तोड़ का किला लिया[1], ऐसी पुरानी प्रसिद्धि चली

वंशावली है, जिसमें बापा का शक संवत् ६८५ (वि० सं० ८२०=ई० स० ७६३) में होना लिखा है–

बापाभिधः सम[भ]वद्वसुधाधियोसौ ।
पंचाष्टपट्परिमितेथ स(श)कैंद्रकालो(ले) ॥

डॉ. टैसिटोरी-सम्पादित 'डिस्क्रिप्टिव कैटेलॉग ऑफ़ बार्डिक एण्ड हिस्टोरिकल मैनुस्क्रिप्ट्स; भाग २ (बीकानेर स्टेट) पृ० ६३। इसमें दिया हुआ बापा का समय ऊपर दिये हुए दोनों एकलिंगमाहात्म्यों के समय से १० वर्ष पीछे का है।

(१) *हर हारीत पसाय मातवंगिं वरतरणी ।*
मंगलवार अनेक चैत वद पंचम परणी ॥
चित्रकोट कैलास आप बस परगह कीधौ ।
मोरीदल मारेव राज रायांगुर लीधौ ॥

मुहणोत नैणसी की ख्यात; पत्र दूसरा, पृ० १।

नागहृदपुरे तिष्ठन्नेकलिंगशिवप्रभोः ।
चक्रे बाप्पोऽर्चनं चास्मै वरान् रुद्रो ददौ ततः ॥ ९ ॥

चित्रकूटपतिस्त्वं स्यास्त्वद्वंश्यचरणाद् ध्रुवम् ।
मा गच्छताच्चित्रकूटः संततिः स्यादखंडिता ॥ १० ॥

ततः स निर्जित्य नृपं तु मोरी-
जातीयभूपं मनुराजसंज्ञम् ।
गृहीतवांश्चित्रितचित्रकूटं
चक्रेत्र राज्यं नृपचक्रवर्ती ॥ १८ ॥

राजप्रशस्ति महाकाव्य; सर्ग ३।

मेवाड़ में यह प्रसिद्धि चली आती है कि बापा ने चित्तोड़ का राज्य मान मोरी से लिया; राजप्रशस्ति का 'मनुराज' राजा मान का ही सूचक है।

आती है। चित्तोड़ के क़िले के निकट पूठोली गांव के पास मानसरोवर नाम का तालाब है, जिसको लोग मोरी (मौर्यवंशी) राजा मान का बनाया हुआ बतलाते हैं। उसपर वि० सं० ७७० (ई० स० ७१३) का राजा मान का शिला-लेख कर्नल टॉड के समय विद्यमान था, जिसका अंग्रेज़ी अनुवाद 'टॉड राज-स्थान' में छपा है[1]। उसमें उक्त राजा मान के पूर्वजों की नामावली भी दी है। उस लेख से निश्चित है कि चित्तोड़ का क़िला वि० सं० ७७० (ई० स० ७१३) तक तो मान मोरी के अधिकार में था, जिसके पीछे किसी समय बापा ने उसे मौर्यों से लिया होगा। यह संवत् ऊपर दिये हुए बापा के राज्य छोड़ने के संवत् ८१० (ई० स० ७५३) के निकट आ जाता है। कर्नल टॉड ने वि० सं० ७८४[2] (ई० स० ७२७) में बापा का चित्तोड़ लेना माना है वह भी क़रीब क़रीब मिल जाता है। तीसरा विचारणीय विषय यह है कि, मेवाड़ में यह जनश्रुति चली आती है कि बापा ने 'संवत् एकै एकाणवें' अर्थात् संवत् १९१ में राज्य पाया; ऐसा ही राजप्रशस्ति महाकाव्य तथा ख्यातों में भी लिखा है[3]। मेरे संग्रह में संवत् १७३८ (ई० स० १६८१) भाद्रपद शुक्ला ८ गुरुवार की लिखी हुई महा-राणा कुंभकर्ण (कुंभा) के समय की बनी 'एकलिंगमाहात्म्य' की पुस्तक है, उसमें जहां बापा का समय ८१० दिया है वहां हंसपद (त्रुटक का चिह्न) देकर हाशिये पर किसी ने 'ततः शशिनंदचंद्र सं० १९१ वर्षे' लिखा है, जो उक्त जनश्रुति के अनुसार असंगत ही है।

बापा के राज्य पाने का संवत् १९१ लोगों में कैसे प्रसिद्ध हुआ इसका ठीक पता नहीं चल सका। कर्नल टॉड ने इस विषय में यह अनुमान किया है–

---

(१) टॉ; रा; जि० २, पृ० ९१९–२२।

(२) वही; जि० १, पृ० २६९।

(३) *प्राप्येत्यादिवरान् बाप्प एकस्मिन् शतके गते।*
एकाग्रनवतिमृष्टे माघे पक्षवलक्षके ॥ ११ ॥
सप्तमीदिवसे बाप्पः संपंचदशवत्सरः।
एकलिंगेशहारीतप्रसादाद्भाग्यवानभूत् ॥ १२ ॥

(राजप्रशस्ति महाकाव्य; सर्ग ३) और ऊपर पृ० ३९६, टिप्पण १।

मेवाड़ के बड़वों की ख्यात में भी बापा के राज्य पाने का संवत् १९१ ही दिया है (वीर-विनोद; भाग १, पृ० २३४)।

'वि० सं० ५८० (ई० स० ५२३) में वलभीपुर का नाश होने पर वहां का राजवंश मेवाड़ में भाग आया, उस समय से लेकर बापा के जन्म तक १९१ वर्ष होने चाहियें;'' परन्तु यह कथन विश्वास के योग्य नहीं है, क्योंकि वलभीपुर का नाश होने पर वहां का राजवंश मेवाड़ में नहीं आया और वलभीपुर का नाश वि० सं० ५८० (ई० स० ५२३) में नहीं किन्तु वि० सं० ८२६ (ई० स० ७६६) में होना ऊपर बतलाया जा चुका है।

यदि इस जनश्रुति का प्रचार किसी वास्तविक संवत् के आधार पर हुआ हो तो उसके लिये केवल यही कल्पना की जा सकती है कि प्राचीन लिपि में ७ का अंक पिछले समय के १ के अंक सा[2] होता था, जिससे किसी प्राचीन पुस्तक आदि में बापा का समय ७९१ लिखा हुआ हो, जिसको पिछले समय में १९१ पढ़कर उसका उक्त संवत् में राजा होना मान लिया गया हो। कर्नल टॉड ने वि० सं० ७६९ (ई० स० ७१२-१३) में बापा का जन्म होना और १५ वर्ष की अवस्था में, वि० सं० ७८४ (ई० स० ७२७), में मोरियों से चित्तोड़ का क़िला लेना माना है[3]। यदि बापा के जन्म का यह संवत् ७६९ (ई० स० ७१२-१३) ठीक हो तो १५ वर्ष की छोटी अवस्था में चित्तोड़ का क़िला लेना (या राज्य पाना) न मानकर, २२ वर्ष की युवावस्था में उक्त घटना का होना मानें तो बापा का राज्य-समय वि० सं० ७९१ से ८१० (ई० स० ७३४ से ७५३) तक स्थिर होगा।

हिन्दुस्तान में प्राचीन काल से स्वतन्त्र एवं बड़े राजा अपने नाम के सोने, चांदी और तांबे के सिक्के चलाते थे। राजा गुहिल के चांदी के सिक्कों तथा राजा

बापा का सिक्का

शील (शीलादित्य) के तांबे के सिक्के का वर्णन ऊपर किया जा चुका है, बापा का अब तक केवल एक ही सोने का

---

(१) टॉ; रा; जि० १, पृ० २६९।

(२) मेवाड़ के राजा शीलादित्य के समय के वि० सं० ७०३ (ई० स० ६४६) के सामोली गांव से मिले हुए शिलालेख में—जो इस समय राजपूताना म्यूज़ियम् अजमेर में सुरक्षित है—७ का अंक वर्तमान १ के अंक से ठीक मिलता हुआ है, जिसको प्राचीन लिपियों से परिचय न रखनेवाला पुरुष १ का अंक ही पढ़ेगा। इस प्रकार के ७ के अंक और भी कई शिलालेखों में मिलते हैं।

(३) टॉ; रा; जि० १, पृ० २६९।

सिक्का[1] अजमेर से मिला है, जिसका तोल इस समय (घिस जाने पर भी) ६५ $\frac{1}{2}$ रत्ती (११५ ग्रेन) है। उसके दोनों ओर के चिह्न आदि[2] नीचे लिखे अनुसार हैं—

सामने की तरफ-(१) ऊपर के हिस्से से लेकर बाईं ओर लगभग आधे सिक्के के किनारे पर बिंदियों की एक वर्तुलाकार पंक्ति है, जिसको राजपूताने के लोग 'माला' कहते हैं। (२) ऊपर के हिस्से में माला के नीचे बापा के समय की लिपि में 'श्रीवोप्प' (श्री वप्प) लेख है, जो उस सिक्के को बापा का होना प्रकट करता है। (३) उक्त लेख के नीचे बाईं ओर माला के पास खड़ा हुआ त्रिशूल बना है, जो शिव (शूली) का मुख्य आयुध है। (४) त्रिशूल की दाहिनी ओर दो प्रस्तरवाली वेदी पर शिवलिंग बना है, जो बापा के इष्टदेव एकलिंगजी का सूचक है। (५) शिवलिंग की दाहिनी ओर शिव का वाहन नन्दी (बैल) बैठा हुआ है, जिसका मुख शिवलिंग की तरफ है। (६) शिवलिंग और बैल के नीचे पेट के बल लेटा हुआ एक पुरुष है, जिसका जांघों तक का भाग ही सिक्के पर आया है। यह पुरुष प्रणाम करते हुए बापा का सूचक होना चाहिये जो एकलिंगजी का परम भक्त माना जाता है।

पीछे की तरफ-(१) दाहिनी ओर के थोड़े से किनारे को छोड़कर सिक्के के अनुमान $\frac{3}{4}$ किनारे के पास बिंदियों की माला है। (२) ऊपर के हिस्से में माला के नीचे एक पंक्ति में तीन चिह्न बने हैं, जिनमें से बाईं ओर से पहला सिमटा हुआ चमर प्रतीत होता है। (३) दूसरा चिह्न सूर्य के सूचक चिह्नों में से एक है, जो बापा का सूर्यवंशी[3] होना प्रकट करता है। (४) तीसरा चिह्न छत्र है, जिसका कुछ अंश घिस गया है। (५) उक्त तीनों चिह्नों के नीचे दाहिनी ओर को मुख किये हुए गौ खड़ी है जो बापा के प्रसिद्ध गुरु लकुलीश[4] संप्रदाय के कनफड़े

(१) इस सिक्के के विस्तृत वर्णन के लिये देखो 'बापा रावल का सोने का सिक्का' नामक मेरा लेख (ना. प्र. प; भाग १, पृ० २४१-८९)।

(२) इन चिह्नों आदि के विस्तृत वर्णन के लिये देखो वही; पृ० २४६-५५।

(३) इसके विस्तृत वर्णन के लिये देखो ना. प्र. प; भाग १, पृ० २५४-६८।

(४) लकुलीश संप्रदाय के लिये देखो ऊपर पृष्ठ ३३७, टिप्पण १।

इस समय उस प्रचीन संप्रदाय को माननेवाला कोई नहीं रहा, यहां तक कि लोग बहुधा उस संप्रदाय का नाम तक भूल गये हैं; परन्तु प्राचीन काल में उसके अनुयायी बहुत थे, जिनमें मुख्य साधु (कनफड़े, नाथ) होते थे। उस संप्रदाय का विशेष वृत्तांत शिलालेखों

साधु (नाथ) हारीतराशि की कामधेनु होगी, जिसकी सेवा बापा ने की थी ऐसी कथा प्रसिद्ध है। (६) गौ के पैरों के पास बाईं ओर मुख किये गौ का दूध पीता हुआ एक बछड़ा है, जिसके गले में घंटी लटक रही है। यह अपनी पूंछ कुछ ऊंची किये हुए है और उसका स्कंध (ककुद, कंधा) भी दीखता है। (७) बछड़े की पूंछ से कुछ ऊपर और गौ के मुख से नीचे एक पात्र बना हुआ है, जिसका कुछ अंश घिस गया है तो भी उसके नीचे के सहारे की पैंदी स्पष्ट है। (८) गौ और बछड़े के नीचे दो आड़ी लकीरें बनी हैं, जिनके बीच में थोड़ा सा अंतर है। ये लकीरें नदी के दोनों तटों को सूचित करती हैं, क्योंकि उनके दाहिने अंत से मछली निकलती हुई बताई है, जो वहां जल का होना प्रकट करता है। यदि यह अनुमान ठीक हो तो ये लकीरें एकलिंगजी के मंदिर के पास बहनेवाली कुटिला[1] नाम की छोटी नदी (नाले) की सूचक होनी चाहिये। (९) उक्त लकीरों की दाहिनी ओर तिरछी मछली बनी है, जिसका पिछला भाग लकीरों से जा लगा है।

उक्त सिक्के पर जो चिह्न बने हैं वे बापा के सम्बन्ध की प्रचलित कथाओं के सूचक ही हैं।

बापा के संबंध की कथाएं और उनकी जांच

मुहणोत नैणसी ने अपनी ख्यात में बापा के सम्बन्ध की एक कथा उद्धृत की है, जिसका आशय यह है—बापा ने हारीत ऋषि (हारीतराशि) की सेवा की, हारीत ने प्रसन्न हो बापा को मेवाड़ का राज्य दिया और विमान में बैठकर चलते समय बापा को बुलाया, परन्तु

तथा विष्णुपुराण, लिंगपुराण आदि में मिलता है। उसके अनुयायी लकुलीश को शिव का अवतार मानते और उसका उत्पत्तिस्थान कायावरोहण (कायारोहण, कारवान्, बड़ौदा राज्य में) बतलाते थे। लकुलीश उक्त संप्रदाय का प्रवर्तक होना चाहिये। उसके मुख्य चार शिष्यों के नाम कुशिक, गर्ग, मित्र और कौरुष्य (लिंगपुराण। २४। १३१ में) मिलते हैं। एकलिंगजी के पुजारी (मठाधिपति) कुशिक की शिष्यपरम्परा से थे, जिनमें से हारीतराशि बापा का गुरु माना जाता है। इस संप्रदाय के साधु निहंग होते थे, गृहस्थ नहीं, और मूंडकर चेला बनाते थे। उनमें जाति-पांति का कोई भेद न था (ना. प्र. प; भाग १, पृ० २५६, टिप्पण ३६)।

(१) *मा कुरुष्वेत्यतः कोपमित्युवाच सरिद्वरा।*
तां शशापातिरोषेण कुटिलेति सरिद्वर ॥ २५ ॥
तत्रैकलिंगसामीप्ये कुटिलेति सहस्रशः।
धाराश्च संभविष्यन्ति प्रायशो गुप्तभावतः ॥ २६ ॥

महाराणा रायमल के समय का बना 'एकलिंगमाहात्म्य'; अध्याय ६।

वह कुछ देर से आया, उस समय विमान थोड़ा ऊंचा उठ गया था। ऋषि ने बापा का हाथ पकड़ा तो उस(बापा)का शरीर १० हाथ बढ़ गया। फिर उसके शरीर को अमर करने के लिये हारीत उसको तांबूल देता था, जो मुंह में न गिरकर पैर पर जा गिरा; तब हारीत ने कहा कि, जो यह मुंह में गिरता तो तेरा शरीर अमर हो जाता, परन्तु पैर पर गिरा है इसलिये तेरे पैरों के नीचे से मेवाड़ का राज्य न जायगा। तदनंतर हारीत ने कहा कि अमुक जगह पन्द्रह करोड़ मुहरें गड़ी हुई हैं, जिनको निकालकर सेना तैयार करना और चित्तोड़ के मोरी राजा को मार चित्तोड़ ले लेना। बापा ने वह धन निकालकर सेना एकत्र की और चित्तोड़ ले लिया[1]।

इससे मिलती हुई एक और कथा भी नैणसी ने लिखी है, जिसके प्रारंभ में इतना और लिखा है-'हारीत ने १२ वर्ष तक राठासण(राष्ट्रश्येना)देवी की आराधना की और बापा ने, जो हारीत की गाएं चराया करता था, १२ वर्ष तक हारीत की सेवा की। जब हारीत स्वर्ग को चलने लगा तब उसने बापा को कुछ देना चाहा और क्रुद्ध होकर राठासण से कहा कि मैंने १२ वर्ष तक तेरी तपस्या (भक्ति) की, परंतु तूने कभी मेरी सुध न ली। इसपर देवी ने प्रत्यक्ष होकर कहा कि मांग, क्या चाहता है? हारीत ने उत्तर दिया कि इस लड़के ने मेरी बड़ी सेवा की है, इसलिये इसको यहां का राज्य देना चाहिये। इसपर देवी ने कहा कि महादेव को प्रसन्न करो, क्योंकि उनकी सेवा के बिना राज्य नहीं मिल सकता। इसपर हारीत ने महादेव का ध्यान किया, जिससे पृथ्वी फटकर एकलिंगजी का ज्योतिर्लिंग प्रकट हुआ। हारीत ने महादेव को प्रसन्न करने के लिये फिर तपस्या की, जिससे प्रसन्न होकर शिव ने हारीत को वर देना चाहा। उसने प्रार्थना की, कि बापा को मेवाड़ का राज्य दीजिये। फिर महादेव और राठासण ने बापा को यहां का राज्य दिया[2]। आगे हारीत के स्वर्ग में जाते समय तांबूल का पीक थूकना आदि कथा वैसी ही है, जैसी ऊपर लिखी गई है; अंतर इतना ही है कि इस कथा में १५ करोड़ मुहरों के स्थान में ५६ करोड़ गड़ी हुई मुहरें बतलाना लिखा है।

प्राचीन इतिहास के अंधकार में प्रायः ऐसी कथाएं गढ़ ली जाती हैं, जिनमें

(१) मुहणोत नैणसी की ख्यात, पत्र १ पृ० १।

(२) वही; पत्र ३, पृ० १।

ऐतिहासिक तत्त्व कुछ भी नहीं दीखता। बापा एकलिंगजी का पूर्ण भक्त था और वहां का मठाधिपति तपस्वी हारीतराशि एकलिंगजी का मुख्य पुजारी होने से बापा की उसपर श्रद्धा हो, यह साधारण बात है; इसी के आधार पर ये कथाएं गढ़ी गई हैं। इन कथाओं से तो यही पाया जाता है कि बापा के पास राज्य नहीं था और वह अपने गुरु की गौएं चराया करता था; परंतु ये कथाएं सर्वथा कल्पित हैं, क्योंकि हम ऊपर बतला चुके हैं कि गुहिलवंशियों का राज्य गुहिल से ही बराबर चला आता था। नागदा नगर उनकी राजधानी थी और उसी के निकट उनके इष्टदेव एकलिंगजी का मंदिर था। यदि बापा के गौ चराने की कथा में कुछ सत्यता हो तो यही अनुमान हो सकता है कि उसने पुत्र-कामना से या किसी अन्य अभिलाषा से गौ-सेवा का व्रत ग्रहण किया हो, जैसा कि राजा दिलीप ने अपने गुरु वशिष्ठ की आज्ञा से किया था और जिसका उल्लेख महाकवि कालिदास ने अपने 'रघुवंश' काव्य में किया है[1]। ऐसे ही बापा के चित्तोड़ लेने की कथा के संबंध में भी यह कहा जा सकता है कि उसने अपने गुरु के बतलाये हुए गड़े द्रव्य से नहीं, किन्तु अपने बाहुबल से चित्तोड़ का क़िला मोरियों से लिया हो, और गुरुभक्ति के कारण उसे गुरु के आशीर्वाद का फल माना हो।

कर्नल टॉड ने अपने 'राजस्थान' नामक पुस्तक में एक कथा लिखी है, जिसका सारांश यह है कि, जब बापा का पिता नाग ईडर के भीलों के हमले में मारा गया, उस समय बापा की अवस्था तीन वर्ष की थी। जिस बड़नगरा (नागर) जाति की कमलावती ब्राह्मणी ने पहले गुहिल (गुहदत्त) की रक्षा की थी, उसी के वंशजों की शरण में बापा की माता भी अपने पुत्र को लेकर चली गई। वे लोग उसे पहले भांडेर के क़िले में और कुछ समय पीछे नागदा में ले आये, जहां का राजा सोलंकी राजपूत था। बापा वहां के जंगलों और झाड़ियों में घूमता तथा गौएं चराया करता था। एक दिन उसकी भेट हारीत नामक साधु से हुई जो एक झाड़ी में स्थापित एकलिंगजी की मूर्ति की पूजा किया करता था। हारीत ने अपने तपोबल से उसका राजवंशी, एवं भविष्य में प्रतापी राजा होना जानकर उसको अपने पास रक्खा। बापा को एकलिंगजी में पूर्ण

---

(१) रघुवंश; सर्ग १।

भक्ति तथा अपने गुरु (हारीत) में बड़ी श्रद्धा थी। गुरु ने उसकी भक्ति से प्रसन्न हो उसके क्षत्रियोचित संस्कार किये और जब वह अपने तपोबल से विमान में बैठकर स्वर्ग में जाने लगा उस समय बापा वहां कुछ देर से पहुंचा। विमान पृथ्वी से कुछ ऊंचा उठ गया था, इतने में हारीत ने बापा को देखते ही कहा कि मुंह खोल; आगे पान थूकने की ऊपर लिखी कथा ही है। अपने गुरु से राजा होने का आशीर्वाद पाने के बाद बापा अपने नाना मोरी राजा (मान) के पास चित्तोड़ में जा रहा और अंत में चित्तोड़ का राज्य उससे छीनकर मेवाड़ का स्वामी होगया। उसने 'हिन्दुआ सूरज' राजगुरु (राजाओं का स्वामी) और 'चक्रवर्ती' विरुद धारण किये[1]।

यह कथा भी प्राचीन इतिहास के अभाव में कल्पित की गई है, क्योंकि न तो बापा का पिता नाग (नागादित्य) था और न वह केवल ईडर राज्य का स्वामी था (वह तो मेवाड़ आदि प्रदेशों का राजा था)। गुहिल (गुहदत्त) के समय से ही इनका राज्य मेवाड़ आदि पर होना और लगातार चला आना ऊपर बतलाया जा चुका है। इनकी राजधानी ईडर नहीं, किन्तु बापा के पूर्व से ही नागदा थी, जहां का राजा सोलंकी नहीं था[2]। सोलंकी राजा की कथा का संबंध पहले जैनों ने गुहिल (गुहदत्त) से लगाया था और उसी को फिर बापा के साथ जोड़ दिया है। ऊपर उद्धृत की हुई दंतकथाएं और ऐसी ही दूसरी कथाएं—जिनमें बापा का देवी के सम्मुख बलिदान के समय एक ही झटके से दो भैंसों के सिर उड़ाना, बारह लाख बहत्तर हज़ार सेना रखना, चार बकरे खा जाना, पैंतीस हाथ की धोती और सोलह हाथ का दुपट्टा धारण करना, बत्तीस मन का खड्ग रखना,[3] वृद्धावस्था में खुरासान आदि देशों को जीतना, वहीं रहकर वहां की

(१) टॉ; रा; जि० १, पृ० २६०-६६।

(२) बापा या गुहिल के समय मेवाड़ में सोलंकियों का राज्य मानना पिछली कल्पना है; उस समय मेवाड़ पर सोलंकियों का राज्य होने का कोई प्राचीन प्रमाण अब तक नहीं मिला। राजविलास के कर्त्ता जैन लेखक मान कवि ने पहले पहल वि० सं० की १८वीं शताब्दी में यह कथा गुहिल के संबंध में लिखी थी, उसी का फिर बापा से संबंध मिलाया गया है। (देखो ना. प्र. प; भाग १, पृ० २८४)।

(३) मुहणोत नैणसी की ख्यात; पत्र २, पृ० १; राजप्रशस्ति महाकाव्य; सर्ग ३, श्लोक १३-१६; भावनगर इन्स्क्रिप्शन्स; पृ० १५०-५१।

अनेक स्त्रियों से विवाह करना, उनसे उसके कई पुत्रों का होना, वहीं मरना, मरने पर उसकी अंतिम क्रिया के लिये हिन्दुओं और वहांवालों में झगड़ा होना, और अंत में (कबीर की तरह) शव की जगह फूल ही रह जाना¹ लिखा मिलता है— अधिकांश में कल्पित हैं। बापा का देहांत नागदा में हुआ और उसका समाधि-मंदिर एकलिंगजी से एक मील पर अब तक विद्यमान है, जिसको 'बापा रावल' कहते हैं। वस्तुतः बापा का कुछ भी वास्तविक इतिहास नहीं मिलता और दंतकथाएं भी विश्वास-योग्य नहीं। बापा के इतिहास के विषय में केवल इतना ही कहा जा सकता है, कि उसने मोरियों से चित्तोड़ का क़िला लेकर अपने राज्य में मिलाया और उसकी सुवर्ण मुद्रा से प्रकट है कि वह स्वतन्त्र, प्रतापी और एक विशाल राज्य का स्वामी था।

खुम्माण

बापा के पीछे उसका पुत्र खुम्माण (खोमाण) मेवाड़ का राजा हुआ, जिसका शुद्ध इतिहास कुछ भी नहीं मिलता तो भी उसके नाम की बहुत कुछ ख्याति अब तक चली आती है और मेवाड़ के राजाओं को उसके नाम से अब तक कविकल्पना 'खुमाण' कहती है।

कर्नल टॉड ने खुम्माण का वृत्तान्त विस्तार से लिखा है, जिसका सारांश यह है—'कालभोज (बापा) के पीछे खुमाण गद्दी पर बैठा, जिसका नाम मेवाड़ के इतिहास में प्रसिद्ध है और जिसके समय में बग़दाद के खलीफ़ा अलमामूं ने चित्तोड़ पर चढ़ाई की' आदि।

उक्त चढ़ाई का संबंध खुमाण प्रथम से नहीं, किन्तु दूसरे से है, अतएव हम उसका विवेचन खुमाण (दूसरे) के प्रसंग में करेंगे।

मत्तट, भर्तृपट्ट (भर्तृभट) और सिंह

खुंमाण के पीछे मत्तट और उसके पीछे भर्तृपट्ट, जिसको भर्तृभट भी लिखा है, राजा हुआ। भर्तृभट के अनन्तर उसका ज्येष्ठ पुत्र सिंह तो मेवाड़ का राजा हुआ और छोटा पुत्र ईशानभट तथा उसके वंशज चाटसू (जयपुर राज्य में) के

---

(१) टॉ; रा; जि० १, पृ० २६७।

आसपास के बड़े प्रदेश के स्वामी रहे, ऐसा चाटसू से मिली हुई एक प्रशस्ति से ज्ञात होता है।

उक्त प्रशस्ति का आशय यह है-'गुहिल के वंश में भर्तृपट्ट हुआ। उसका पुत्र ईशानभट और उसका उपेंद्रभट था। उस (उपेंद्रभट) से गुहिल, गुहिल से धनिक[1] और उससे आउक हुआ। आउक का पुत्र कृष्णराज और उसका पुत्र अनेक युद्धों में विजय पानेवाला शंकरगण था, जिसने भट नामक [राजा] को जीतकर गौड़ के राजा की पृथ्वी को अपने स्वामी के अधीन बनाया। उसकी शिवभक्त राणी यज्ञा से हर्षराज का जन्म हुआ, जिसने उत्तर के राजाओं को जीतकर उनके उत्तम घोड़े भोज[2] को भेट किये। उसकी राणी सिल्ला से

---

(१) कर्नल टॉड को धवगर्ता (धौड़-उदयपुर राज्य के जहाज़पुर ज़िले में) से एक बड़ा शिलालेख मिला था, जो बहुत ही भारी होने के कारण विलायत न ले जाया जा सका। वह मुझको उक्त कर्नल के डबोक गांव (उदयपुर से ८ मील) वाले बंगले के पीछे के खेत में पड़ा हुआ मिला, जिसको मैंने वहां से उठवाकर उदयपुर के विक्टोरिया हॉल के म्यूज़ियम् में सुरक्षित किया है, उसमें धौड़ गांव पर धनिक नामक गुहिल का अधिकार होना एवं उसका धवलप्पदेव के अधीन होना लिखा है। श्रीयुत देवदत्त रामकृष्ण भंडारकर ने ई० स० १९०५ में तो उक्त लेख का संवत् ८०७ विक्रमी पढ़ा (देखो ऊपर पृ० १४३ का टिप्पण ४) और ई० स० १९१३ में चाटसू के उपर्युक्त लेख का सम्पादन करते समय उसी (धौड़वाले) लेख का संवत् ४०७ पढ़ा, एवं उसको गुप्त संवत् मानकर उक्त लेख को ई० स० ७२६ का ठहराया। फिर उक्त लेख के धनिक और चाटसूवाले धनिक को एक ही पुरुष मानकर चाटसू के धनिक का ई० स० ७२५ (वि० सं० ७८२) में होना अनुमान किया (ए. इं; जि० १२, पृ० ११)। भंडारकर महाशय के पढ़े हुए उक्त लेख के दोनों प्रकार के संवत् अशुद्ध ही हैं, क्योंकि उसके शताब्दी के अंकों में न तो कहीं ८ का चिह्न है और न ४ का। उसका ठीक संवत् २०७ है, जिसको हर्ष संवत् मानने से वि० सं० ८७० (ई० स० ८१३) होता है (देखो ऊपर पृ० १४३ का टिप्पण ४)। ऐसे ही उक्त विद्वान् ने धवलप्पदेव को कोटा (कणस्वा) के वि० सं० ७९५ (ई० स० ७३८) के लेख का मौर्य राजा धवल मान लिया है; परन्तु वह भी स्वीकार नहीं किया जा सकता, क्योंकि धौड़ का धवलप्पदेव कोटावाले धवल से ७५ वर्ष पीछे हुआ था। धवलप्पदेव किस वंश का था यह अनिश्चित ही है। उपर्युक्त नासूण गांव के लेख (देखो ऊपर पृ० ४०१) वाला ईशानभट का पिता धनिक भी संभवतः यही धनिक हो सकता है। यदि यह अनुमान ठीक हो तो उक्त ईशानभट को आउक का छोटा भाई मानना होगा।

(२) भोज कन्नौज का प्रतिहार (पड़िहार) राजा भोज (पहला) होना चाहिये, जिसके शिलालेखादि वि० सं० ९०० से ९३८ (ई० स० ८४३ से ८८१) तक के मिले हैं (देखो ऊपर पृ० १६७)। कन्नौज के प्रतिहारों का प्रबल राज्य दूर दूर तक फैला हुआ था और राजपूताने का बड़ा अंश उन्हीं के अधीन था।

गुहिल (दूसरा) पैदा हुआ। उस स्वामिभक्त गुहिल ने गौड़ के राजा को जीता, पूर्व के राजाओं से कर लिया और प्रमार (परमार) वल्लभराज की पुत्री रज्झा से विवाह किया। उसका पुत्र भट्ट हुआ, जिसने दक्षिण के राजाओं को जीतकर वीरुक की पुत्री पुराशा (आशापुरा) से विवाह किया। भट्ट का पुत्र बालादित्य (बालार्क, बालभानु) था, जो चाहमान (चौहान) शिवराज की पुत्री रट्टवा का पति था। उससे तीन पुत्र वल्लभराज, विग्रहराज और देवराज हुए। रट्टवा के मरने पर उसके कल्याण के निमित्त बालादित्य ने मुरारि (विष्णु) का मंदिर बनवाया। छित्ता के पुत्र करणिक (कायस्थ ?) भानु ने उक्त प्रशस्ति की रचना की और सूत्रधार रज्जुक के बेटे भाइल ने उसे खोदा[1]।

इस प्रशस्ति के अंत में 'संवत्' शब्द खुदा हुआ है, परंतु अंकों का लिखना और खुदना रह गया है तो भी उसकी लिपि से उसका वि० सं० की ग्यारहवीं शताब्दी के आसपास का होना अनुमान किया जा सकता है।

भर्तृपट्ट (भर्तृभट) के पीछे सिंह मेवाड़ का स्वामी हुआ।

खुंमाण (दूसरा)

प्राचीन शिलालेखों से वि० सं० ८१० और १००० के बीच मेवाड़ में खुंमाण नाम के तीन राजाओं का होना पाया जाता है, परंतु भाटों की ख्यातों में उक्त नाम का एक ही राजा होने के कारण कर्नल टॉड ने भी वैसा ही माना है। उक्त कर्नल ने खुंमाण के समय बगदाद के खलीफ़ा अलमामूं की चित्तोड़ की चढ़ाई का नीचे लिखे अनुसार वर्णन किया है। यदि उसमें कुछ भी सत्यता हो तो वह चढ़ाई खुंमाण (दूसरे) के समय होनी चाहिये।

"उक्त चढ़ाई के समय चित्तोड़ की रक्षा के निमित्त काश्मीर से सेतुबंध तक के अनेक राजाओं का--गज़नी से गुहिलोतों का, आसीर से टांकों (तक्षक, नागवंशियों) का, नारलाई से चौहानों का, रहरगढ़ से चालुक्यों (सोलंकियों) का, सेतुबंध से जारखेड़ों का, मंडोर से खैरावियों का, मांगरोल से मकवानों का, जेतगढ़ से जोरियों का, तारागढ़ से रैवरों का, नरवर से कछवाहों का, सांचोर से कालमों का, जूनागढ़ से दासनोहों का, अजमेर से गौड़ों का, लोहादरगढ़ से चन्दानों का,

(१) ए. इं; जि० १२, पृ० १३-१७।

दसौंदी से डोडों (डोडियों) का, दिल्ली से तंवरों का, पाटन से चावड़ों का, जालोर से सोनगरों का, सिरोही से देवड़ों का, गागरौन से खींचियों का, जूनागढ़ से जादवों का, पाटड़ी से झालों का, कन्नौज से राठोड़ों का, चोटियाला से बालाओं का, पीरमगढ़ से गोहिलों का, जैसलगढ़ (जैसलमेर) से भट्टियों (भाटियों) का, लाहौर से बूसों का, रुणेजा से सांखलों का, खेरलीगढ़ से सेहतों का, मांडलगढ़ से निकुम्भों का, राजोर (राजोरगढ़) से बड़गूजरों का, करनगढ़ से चन्देलों का, सीकर से सीकरवालों का, उमरगढ़ से जेठवों का, पाली से बरगोतों का, कान्तारगढ़ (कन्थकोट) से जाडेजाओं का, जिरगा से खेरवों का और काश्मीर से पड़िहारों का—आना लिखा है। खुंमाण ने शत्रु को परास्त कर चित्तोड़ की रक्षा की, २४ युद्ध किये और ई० स० ८१२-८३६ (वि० सं० ८६६-८६३) तक राज्य किया। अंत में वह अपने पुत्र मंगलराज के हाथ से मारा गया[1]"।

ऊपर का सारा कथन अधिकांश में अविश्वसनीय है, क्योंकि ऊपर लिखे हुये राजपूत वंशों या उनकी शाखाओं में से कई एक (सोनगरा, देवड़ा, खीची आदि) का तो उस समय तक प्रादुर्भाव भी नहीं हुआ था, कई शहर (अजमेर, सिरोही, जैसलमेर[2] आदि) तो उस समय तक बसे भी नहीं थे और कई स्थानों में जिन जिन वंशों का राज्य होना लिखा (काश्मीर में पड़िहारों का, राहरगढ़ में चालुक्यों का, रुणेजा में सांखलों का आदि) है वहां उनके राज्य भी न थे। खुंमाण का जो राजत्व-काल दिया है वह भी खुंमाण प्रथम का है न कि द्वितीय का।

(१) टॉड; राज; जि० १, पृ० २८३-८६।

(२) अजमेर नगर अर्णोराज (आनल्लदेव) के पिता अजयदेव ने वि० सं० की बारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में बसाया था (इं. ऐं; जि० २६, पृ० १६२-६४; पृथ्वीराजविजय महाकाव्य; सर्ग ५, श्लोक १६२)। पुरानी सिरोही महाराव शिवभाण (शोभा) ने वि० सं० १४६२ (ई० स० १४०५) में बसाई, जो आबाद न हुई, जिससे उसके पुत्र सहस्रमल्ल (सैंसमल) ने उससे दो मील पर वर्तमान सिरोही नगर बसाया। इसके पहले इन देवड़ा चौहानों की राजधानी आबू के नीचे चन्द्रावती नगरी थी (मेरा सिरोही राज्य का इतिहास; पृ० १६३-६४)। जैसलमेर को भाटी जयसल ने वि० सं० १२१२ (ई० स० ११५५) में बसाया था।

कर्नल टॉड ने उपर्युक्त वृत्तान्त 'खुंमाण-रासे'[1] से लिया है, जो किसी खुंमाण के समय का बना हुआ नहीं, किंतु विक्रम संवत् की १७वीं शताब्दी के आसपास का लिखा हुआ होने के कारण प्रामाणिक ग्रंथ नहीं कहा जा सकता।

अब्बासिया खानदान का अलमामूं हि० स० १६८-२१८ (वि० सं० ८७०-८९०-ई० स० ८१३-८३३) तक खलीफ़ा रहा, जो खुंमाण (दूसरे) का समकालीन था। उस समय से पूर्व खलीफ़ों के सेनापतियों ने सिंधदेश विजय कर लिया था और उधर से राजपूताना आदि देशों पर मुसलमानों की चढ़ाइयां होती रहती थीं। ऐसी दशा में टॉड का माना हुआ 'खुरासान पुत महमूद' खलीफ़ा मामूं का बोधक होना संभव है। खुंमाणरासे के कर्त्ता ने किसी प्राचीन जनश्रुति या पुस्तक के आधार पर यह वर्णन लिखा हो, तो भी यह तो निश्चित है कि जिन जिन राजाओं का चित्तोड़ की रक्षा के लिये लड़ने को आना लिखा है वह अपने ग्रंथ को रोचक बनाने के लिये लिखा गया है। खुंमाण और उसके अधीनस्थ राजाओं ने खलीफ़ा की सेना पर विजय प्राप्त की हो यह संभव है।

महायक और खुंमाण (तीसरा)

खुंमाण (दूसरे) के पीछे क्रमशः महायक और खुंमाण (तीसरा) राजा हुए, जिनका कुछ भी वृत्तान्त नहीं मिलता। खुंमाण (तीसरे) का उत्तराधिकारी भर्तृपट्ट (भर्तृभट दूसरा) हुआ।

भर्तृपट्ट (दूसरा)

आटपुर (आहाड़) से मिले हुए राजा शक्तिकुमार के समय के वि० सं० १०३४ (ई० स० ९७७) के शिलालेख में लिखा है कि 'खोंमाण (खुंमाण) का पुत्र, तीन लोक का तिलक, भर्तृपट्ट (दूसरा) हुआ। उसकी राष्ट्रकूट (राठोड़) वंश की राणी महालक्ष्मी से अल्लट ने जन्म लिया'[2]। अल्लट की माता महालक्ष्मी कहां

---

(१) दौलत (दलपत) विजय-रचित 'खुमाणरासे' की एक अपूर्ण प्रति देखने में आई, उसमें महाराणा प्रतापसिंह तक का तो वर्णन है और आगे अपूर्ण है। इससे उसकी रचना का समय वि० सं० की १७वीं शताब्दी या उससे भी पीछे माना जा सकता है।

(२) खोम्माणस्तिजमताप स चाथ तस्मा—
ल्लोकत्रयैकतिलकोजनि भर्तृपट्टः ॥ ३ ॥

के राठोड़ राजा की पुत्री थी, इस विषय में कुछ भी लिखा नहीं मिलता, परन्तु मेवाड़ के निकट ही गोडवाड़ के इलाक़े (जोधपुर राज्य में) में राठोड़ों का एक राज्य था, जिसकी राजधानी हस्तिकुंडी (हथुंडी-बीजापुर के निकट) थी। वहां का राठोड़ राजा मंमट (जो वि० सं० ६६६=ई० स० ६३६ में[1] विद्यमान था) भर्तृभट (दूसरे) का समकालीन था। उस (मंमट) के पुत्र धवल ने, जब मालवे के परमार राजा मुंज (वाक्पतिराज, अमोघवर्ष) ने मेवाड़ पर चढ़ाई कर आघाट (आहाड़) को तोड़ा, उस समय मेवाड़ की सहायता की थी,[2] अतएव संभव है कि महालक्ष्मी मंमट की पुत्री (या बहिन) हो।

भर्तृभट (दूसरे) के समय के अब तक दो शिलालेख उपलब्ध हुए हैं, जिनमें से पहला वि० सं० ६६६ (ई० स० ६४२) श्रावण सुदि १ का प्रतापगढ़ से मिला है। उसका आशय यह है—'खोंमाण के पुत्र महाराजाधिराज श्रीभर्तृपट्ट ने घोंटावर्षा (घोटार्सी-प्रतापगढ़ से ७ मील पूर्व में) गांव के इन्द्रराजादित्यदेव नामक सूर्य-मंदिर को पलासकूपिका (परासिया-मंदसोर से १५ मील दक्षिण में) गांव का वंब्बूलिका खेत भेट किया'[3]। दूसरा वि० सं० १००० (ई० स० ६४३) ज्येष्ठ सुदि ५ का टूटा हुआ शिलालेख आहाड़ से मिला है, जिसमें भर्तृनृप (भर्तृभट) के समय आदिवराह नामक पुरुष के द्वारा गंगोद्भेद (गंगोभेव-आहाड़ में) तीर्थ में आदिवराह का मंदिर बनाये जाने का उल्लेख है[4]।

राष्ट्रकूटकुलोद्भूता महालक्ष्मीरिति प्रिया।
अभूद्यस्याभवत्तस्यां तनयः श्रीमदल्लटः ॥ ४ ॥

इं. ऐं; जि० ३६, पृ० १६१।

(१) ए. इं; जि० १०, पृ० २४।

(२) वही; पृ० २०।

(३) *संवत् ६६६ श्रावणसुदि १ समस्तराजावलिपूर्वमग्रे(ले)ह महाराजाधिराजश्रीभर्तृपट्टः श्रीखोम्माणसुतः स्वमातपित्रोरात्मनश्च धर्म्माभिवृद्धये घोण्टावर्षीयेन्द्रराजादित्यदेवाय पलासकूपिकाग्रामे वंब्बूलिको ना(ना)म क्षेत्र(क्षेत्रः)·········* (वही; जि० १४, पृ० १८७)।

(४) राजपूताना म्यूज़ियम् (अजमेर) की ई० स० १६१३-१४ की रिपोर्ट; पृ० २।

मेवाड़ का भर्तृपुर (भटेवर गांव), जिसके नाम से जैनों का भर्तृपुरीय गच्छ प्रसिद्ध है, इस भर्तृनृप (भर्तृभट) का बसाया हुआ माना जाता है।

भर्तृभट (दूसरे) का पुत्र अल्लट वि० सं० १००८ (ई० स० ६५१) में राजा था, अतएव भर्तृभट (दूसरे) का देहांत वि० सं० १००० और १००८ (ई० स० ६४३ और ६५१) के बीच किसी वर्ष में होना चाहिये।

अल्लट

अल्लट का नाम मेवाड़ की ख्यातों में आलु (आलु रावल) मिलता है। उसके समय का एक शिलालेख मिला है, जो आहाड़ के निकट सारणेश्वर नामक नवीन शिवालय के एक छबने के स्थान पर लगा हुआ है। प्रारंभ में वह लेख राजा अल्लट के समय के बने हुए आहाड़ के किसी वराह-मंदिर में लगा था। उसमें राणी महालक्ष्मी (अल्लट की माता), राजा अल्लट तथा उसके पुत्र नरवाहन के अतिरिक्त उस (वराह के) मंदिर से संबंध रखनेवाले गोष्ठिकों[1] की बड़ी नामावली दी है। उक्त लेख से पाया जाता है कि अल्लट का अमात्य (मुख्य मंत्री) मंमट, सांधिविग्रहिक[2] दुर्लभराज, अक्षपटलिक[3] मयूर और समुद्र, वंदिपति (मुख्य भाट) नाग और भिषगाधिराज (मुख्य वैद्य) रुद्रादित्य था। उस मंदिर का प्रारंभ वि० सं० १००८ (ई० स० ६५१) में उत्तम सूत्रधार अग्रट ने किया और वि० सं० १०१० (ई० स० ६५३) वैशाख सुदि ७ को उसमें वराह की मूर्त्ति स्थापित हुई। मंदिर के निर्वाह के लिये हाथी पर (हाथी को बेचने पर) एक द्रम्म,[4] घोड़े पर दो रूपक,[5] सींगवाले जानवरों पर एक द्रम्म का चालीसवां

---

(१) मंदिर आदि धर्मस्थानों को बनवाने में चन्दे आदि से सहायता देनेवालों को गोष्ठिक कहते थे।

(२) जिस राजकर्मचारी या मंत्री के अधिकार में अन्य राज्यों से संधि या युद्ध करने का कार्य रहता था, उसको 'सांधिविग्रहिक' कहते थे।

(३) राज्य के आय-व्यय का हिसाब रखनेवाले कार्यालय को 'अक्षपटल' कहते थे और उसका अधिकारी 'अक्षपटलिक' या 'अक्षपटलाधीश' कहलाता था (देखो मेरी भारतीय प्राचीन लिपिमाला; पृ० १५२, टिप्पण ७ और ८)।

(४) द्रम्म एक चांदी का सिक्का था, जिसका मूल्य चार से छः आने के क़रीब होता था।

(५) रूपक एक छोटासा ३ रत्ती का चांदी का सिक्का होता था।

अंश, लाटे[1] पर एक तुला (तकड़ी[2]) और हट्ट[3] (हाट, हटवाड़ा) से एक आढक[4] अन्न, शुक्लपक्ष की एकादशी के दिन हलवाई की प्रति दुकान से एक घड़िया दूध, जुआरी से पेटक (एक वार का जीता हुआ धन?), प्रत्येक घानी से एक एक पल[5] तेल, प्रति रंधनी[6] एक रूपक और मालियों से प्रतिदिन एक एक चौसर[7] लिये जाने की व्यवस्था राजा ने की थी। कर्णाट,[8] मध्यदेश,[9] लाट[10] और टक्क-देश[11] के व्यापारियों ने भी, जो वहां रहते थे, अपनी अपनी ओर से मंदिर को दान दिये थे।

उक्त लेख से यह अनुमान होता है कि उस समय आहाड़ एक अच्छा नगर था और दूर दूर के व्यापारी वहां रहते थे। मेवाड़ में यह भी प्रसिद्ध है कि आलु रावल (अल्लट) ने आड़ (आहाड़) बसाया था, परंतु इसमें सत्यता पाई नहीं जाती। अल्लट के पिता भर्तृभट (दूसरे) के उपर्युक्त आहाड़ के

---

(१) राजपूताने में बहुधा अब तक खेती के अन्न के राजकीय और किसान के हिस्से अलग किये जाते हैं, जिसको लाटा कहते हैं। मूल में 'लाट' शब्द है, जो लाटे का सूचक है।

(२) तुला का मुख्य अर्थ तराजू (तकड़ी) है. तराजू में एक वार जितना अन्न तोला जाय उसको भी तुला या तकड़ी कहते हैं; मेवाड़ में पांच सेर अन्न तकड़ी कहलाता है।

(३) राजपूताने के कई बड़े कसबों में प्रति सप्ताह एक दिन हाट या 'हटवाड़ा' भरता है, जहां लोग अन्न आदि वस्तुएं खरीदते और बेचते हैं।

(४) आढक–अन्न के तोल या नाप का नाम है और अनुमान साढ़े तीन सेर का सूचक है।

(५) पल–चार तोले का नाप। राजपूताने में तेल आदि निकालने के लिये लोहे का डंडीदार पात्र होता है, जिसको पला या पली कहते हैं, उसमें क़रीब चार तोले तेल आता है। अब तक कई गांवों में प्रत्येक घानी से प्रतिदिन एक एक 'पला' तेल मंदिरों के निमित्त लिये जाने की प्रथा चली आती है।

(६) रंधनी–जातिभोजन के लिये बननेवाली रसोई का सूचक है।

(७) चौसर–चार लड़ की फूलों की माला (या माला)।

(८) कर्णाट–कर्णाटक देश (दक्षिण में)।

(९) हिमालय से विंध्याचल तक और कुरुक्षेत्र से प्रयाग तक का देश मध्यदेश कहलाता था।

(१०) ताप्ती नदी के दक्षिण से मही नदी के उत्तर की सेढ़ी नदी तक का गुजरात का अंश 'लाट' कहलाता था।

(११) पंजाब का एक भाग, जिसकी राजधानी शाकल नगर थी, टक्क देश कहलाता था, जो मद्र या वाहिक देश का पर्याय माना जाता है।

लेख से ज्ञात होता है कि उस समय भी वहां का गंगोद्भेद नामक कुंड एक तीर्थ माना जाता था, जैसा कि अब तक माना जाता है। भर्तृभट (दूसरे), अल्लट, शक्तिकुमार, शुचिवर्म आदि के समय के कई एक शिलालेख तोड़ फोड़े जाकर वहां के पिछले बने हुए मंदिरों में लगे हुए मिलते हैं, जिससे अनुमान होता है कि शायद अल्लट ने पुरानी राजधानी नागदा होने पर भी नई राजधानी आहाड़ में स्थिर की हो अथवा तीर्थस्थान होने से वहां भी वह रहा करता हो।

आहाड़ में एक जैन मंदिर की देवकुलिका[1] के छबने के स्थान पर राजा शक्तिकुमार के समय का एक शिलालेख तोड़-फोड़कर लगाया गया है, जिसमें अल्लट के वर्णन में लिखा है कि उसने अपनी भयानक गदा से अपने प्रबल शत्रु देवपाल[2] को युद्ध में मारा[3]। उक्त लेख में भी अल्लट के अक्षपटलाधीश का नाम मयूर दिया है[4]। आहाड़ से मिले हुए शक्तिकुमार के वि० सं० १०३४ (ई० स० ६७७) के शिलालेख में अल्लट की राणी हरियदेवी का हूण राजा की पुत्री होना और उस (राणी) का हर्षपुर गांव बसाना भी लिखा मिलता है[5]।

नरवाहन

अल्लट का उत्तराधिकारी उसका पुत्र नरवाहन हुआ। शक्तिकुमार के उपर्युक्त वि० सं० १०३४ (ई० स० ६७७) के शिलालेख में उसको 'कलाओं का

---

(१) कितने ही जैन मंदिरों में मुख्य मंदिर के चारों ओर जो छोटे छोटे मंदिर होते हैं, उनको 'देवकुलिका' कहते हैं।

(२) प्रबल शत्रु देवपाल कहां का राजा था यह अनिश्चित है। संभव है कि वह कन्नौज का रघुवंशी प्रतिहार राजा देवपाल हो, जो अल्लट का समकालीन था। यदि यह अनुमान ठीक हो तो यही मानना पड़ेगा कि देवपाल ने मेवाड़ को कन्नौज के राज्य में मिलाने के लिये चढ़ाई की हो और उसमें वह मारा गया हो।

(३) [दु]र्द्धरमरि यो देवपालं व्यधात्।
चंचच्चंडगदाभिघात–
विदलद्वक्षस्थलं संयुगे
निस्त्रिंशक्षतकंध······कबंधं व्यधात्।
(आहाड़ का लेख—अप्रकाशित)।

(४) अस्याक्षपटलाधीशो मयूरो मधुरध्वनिः (वही)।

(५) इं. ऐं; जि० ३६, पृ० १६१।

आधार, धीर. विजय का निवास-स्थान, क्षत्रियों का क्षेत्र (उत्पत्ति-स्थान), शत्रुदलों को नष्ट करनेवाला, वैभव का भवन और विद्या की वेदी कहा है। उसकी राणी (नाम नहीं दिया) चाहुमान (चौहान) राजा जेजय की पुत्री थी[1]।

नरवाहन के समय के आहाड़ के (देवकुलिका के छबनेवाले) उपर्युक्त शिलालेख में लिखा है—'अक्षपटलाधीश मयूर के पुत्र श्रीपति को नरवाहन ने अक्षपटलाधीश नियत किया[2]'।

नरवाहन के समय का संवत्वाला एक ही शिलालेख मिला है, जो एकलिंगजी के शिवालय से कुछ ऊंचे स्थान पर के लकुलीश (लकुटीश) के मंदिर की, जिसको नाथों का मंदिर कहते हैं, वि० सं० १०२८ (ई० स० ६७१) की प्रशस्ति है। उक्त मंदिर के शिखर का बरसाती जल उस(प्रशस्ति)पर होकर बहने के कारण वह कुछ बिगड़ गई है तो भी उसका अधिकांश सुरक्षित है, जिसका सारांश नीचे लिखा जाता है—

'प्रारंभ में लकुलीश को प्रणाम किया है: फिर पहले और दूसरे श्लोकों में किसी देवता और देवी (सरस्वती) की प्रार्थना हो ऐसा पाया जाता है, परन्तु उन श्लोकों का अधिकांश नष्ट हो गया है। तीसरे और चौथे श्लोकों में नागहृद (नागदा) नगर का वर्णन है। पांचवें में उस नगर के राजा वप्पक (बप्पक, बापा) का वर्णन है, जिसमें उसको गुहिलवंशी राजाओं में चंद्र के समान (तेजस्वी) और पृथ्वी का रत्न कहा है। छठे श्लोक में बापा के वंशज किसी राजा (संभवत: नरवाहन) के पिता अल्लट का वर्णन है, परंतु उसका नाम नष्ट हो गया है। सातवें और आठवें में राजा नरवाहन की वीरता की प्रशंसा है। श्लोक ६ से ११ में लकुलीश की उत्पत्ति का वर्णन है। बारहवें श्लोक में किसी स्त्री

---

(१) वही; पृ० १११।

(२) *क्षीराब्धेरिव शीतदीधितिरभूत्तस्मात्सुत:श्रीपति: ॥*

श्रीमदल्लटनराधिपात्मजो

यो व(ब)भूव नरवाहनाह्वय: ।

सोध्यतिष्ठत पितु: पदं सुधी—

श्चैनमक्षपटले न्यवेशयत् ॥

आहाड़ का लेख—अप्रकाशित।

(पार्वती ?) के शरीर के आभूषणों का वर्णन है, परंतु वह किस प्रसंग में है, यह उक्त श्लोक के सुरक्षित न होने से स्पष्ट नहीं होता। १३वें में शरीर पर भस्म लगाने, वल्कल वस्त्र और जटाजूट धारण करने तथा पाशुपत योग का साधन करनेवाले कुशिक आदि योगियों का वर्णन है। १४ से १६ तक के श्लोकों में उन (कुशिक आदि)के पीछे होनेवाले उस संप्रदाय के साधुओं का परिचय दिया है, जिसमें वे शाप और अनुग्रह के स्थान, हिमालय से सेतु (रामसेतु) पर्यंत रघुवंश (मेवाड़ के राजवंश) की कीर्ति को फैलानेवाले, तपस्वी, एकलिंगजी की पूजा करनेवाले तथा लकुलीश के उक्त मंदिर के निर्माता कहे गये हैं। १७वें श्लोक में स्याद्वाद (जैन) और सौगत (बौद्ध) आदि को विवाद में जीतनेवाले वेदांग मुनि का विवरण है। १८वें में वेदांग मुनि के कृपापात्र (शिष्य) आम्रकवि के द्वारा, जो आदित्यनाग का पुत्र था, उस प्रशस्ति की रचना किये जाने का उल्लेख है। १६वें श्लोक में उस प्रशस्ति की राजा विक्रमादित्य के संवत् १०२८ (ई० स० ६७१) में रचना होना सूचित किया है। २०वां श्लोक किसी की प्रसिद्धि के विषय में है, जो अपूर्ण ही बचा है। आगे अनुमान पौन पंक्ति गद्य की है, जिसमें कारापक (मंदिर के बनानेवाले) श्रीसुपूजितराशि का प्रणाम करना लिखा है तथा श्रीमार्तंड, श्रीभ्रातृपुर, श्रीसद्योराशि, लैलुक, श्रीविनिश्चितराशि आदि के नाम हैं"[1]।

शालिवाहन

नरवाहन के पीछे शालिवाहन राजा हुआ, जिसने बहुत थोड़े वर्ष राज्य किया।

काठियावाड़ आदि के गोहिल

शालिवाहन के कितने ही वंशजों के अधिकार में जोधपुर राज्य का खेड़ नामक इलाक़ा था। गुजरात के सोलंकियों के अभ्युदय के समय खेड़ से कुछ गुहिलवंशी अनहिलवाड़े जाकर वहां के सोलंकियों की सेवा में रहे। गुहिलवंशी साहार का पुत्र सहजिग (सेजक) चौलुक्य (सोलंकी) राजा (संभवतः सिद्धराज जयसिंह) का अंगरक्षक नियत हुआ और उसको काठियावाड़ में प्रथम जागीर मिली, तभी से मेवाड़ के गुहिल-

---

(१) बंब. ए. सो. ज; जि० २२, पृ० १६६-६७। ना. प्र. प; भाग १, पृ० २४१-४३।

वंशियों की संतति का वहां प्रवेश हुआ। सहजिग (सेजक) के दो पुत्र मूलुक और सोमराज थे, जिनमें से मूलुक अपने पिता का उत्तराधिकारी हुआ[1]। उसके वंश में काठियावाड़ में भावनगर, पालीताना आदि राज्य और रेवाकाँठे (गुजरात में) में राजपीपला है। प्राचीन इतिहास के अंधकार में पीछे से कई राजवंशों ने अपना संबंध किसी न किसी प्रसिद्ध राजा से मिलाने का उद्योग किया, जिसके कई प्रमाण मिलते हैं। ऐसे राजवंशों में उक्त राज्यों के गोहिलों की भी गणना हो सकती है। उनको इतना तो ज्ञात था कि वे अपने मूल पुरुष गुहिल के नाम से गोहिल कहलाये और शालिवाहन के वंशज हैं। उनके पूर्वज पहले जोधपुर राज्य के खेड़ इलाक़े के स्वामी थे और उनमें सेजक (सहजिग) नामक पुरुष ने सर्वप्रथम काठियावाड़ में जागीर पाई[2]; परंतु खेड़ के गोहिल

---

(१) *कृत्वा राज्यमुपारमन्नरपतिः श्रीसिद्धराजो यदा*
दैवादुत्तमकीर्त्तिमंडितमहीपृष्ठो गरिष्ठो गुणैः ।
श्राचक्राम झगित्य(झटित्य)चिंत्यमहिमा तद्राज्यसिंहासनं
श्रीमानेष कुमारपालनृपतिः पुण्यप्ररूढोदयः ॥
राज्येमुष्यमहीभुजोभवदिह श्रीगृहिलस्यान्वये
श्रीसाहार इति प्रभूनगरिमाधारो धरामंडनम् ।
चौलुक्यांगनिगूहकः सहजिगः ख्यातस्तनूजस्तत—
स्तत्पुत्रा बलिनो बभूवुरवनौ सौराष्ट्ररक्षाक्षमाः ॥
एषामेकतमो वीरः सोमराज इति क्षितौ ।
विख्यातो विदधे देवं पितुर्नाम्ना महेश्वरं ॥........
पूजार्थमस्य देवस्य भ्राता ज्येष्ठोस्य मूलुकः ।
सुराष्ट्रनायकः प्रादाच्छासनं कुलशासनं ॥

सोलंकी कुमारपाल के सामंत मूलुक का वि० सं० १२०२ और सिंह संवत् ३२ आश्विन वदि १३ का (मांगरोल की सोढली बावड़ी का) शिलालेख; भावनगर प्राचीन-शोध-संग्रह; भाग १, पृ० ४–७; भावनगर इन्स्क्रिप्शंस; पृ० १५८।

(२) देवशंकर वैकुंठजी भट्ट के भावनगर का बालबोध इतिहास (पृ० ५–१०) एवं अमृतलाल गोवर्धनदास शाह और काशीराम उत्तमराम पंड्या के 'हिंदराजस्थान' (गुजराती) (पृ० ११३–१४, १६४–२३५) में भावनगर, पालीताना और राजपीपले का इतिहास छपा है। उनमें लिखा है—"भावनगर (आदि) के महाराजा जाति के गोहेल (गोहिल) राजपूत हैं।

मेवाड़ के राजा शालिवाहन के वंशज थे, यह न जानने से ही उन्होंने अपने पूर्वज शालिवाहन को शक संवत् का प्रवर्तक, पैठण का प्रसिद्ध आंध्रवंशी शालिवाहन

वे अपने को दक्षिण के पैठण नगर में (वि० सं० १३४ में) जो शालिवाहन नामक राजा हुआ उसके वंशज मानते हैं और टॉड साहब उनको सूर्यवंशी लिखते हैं। शालिवाहन से कितनी ही पीढ़ियों के पीछे उसके वंशजों ने मारवाड़ में आकर लूणी नदी पर पुराने खेरगढ़ के भीलराजा खेड़वा का राज्य छीन लिया और २० पीढ़ियों तक वहां राज्य किया। अंतिम राजा मोहोदास पर कन्नौज के अंतिम राजपूत राजा जयचंद राठोड़ के पौत्र शिआजी (सिआजी) ने चढ़ाई की, मोहोदास को मारा और मारवाड़ में राठोड़-राज्य स्थापित किया। मोहोदास के मारे जाने पर उसके पौत्र सेजकजी (सहजिग) की अधीनता में गोहेल पहले पहल ई० स० १२५० (वि० सं० १३०६-७) के आसपास सौराष्ट्र (सोरठ) में आये। सेजकजी मोहोदास के कुंवर भांझरजी का पुत्र था। उस समय सोरठ पर महीपाल नामक राजा राज्य करता था, जिसकी राजधानी जूनागढ़ में थी। उसने तथा उसके कुंवर खेंगार ने सेजकजी को आश्रय देकर अपनी सेवा में रक्खा और उनको शापुर के आसपास के १२ गांव जागीर में दिये······ सेजकजी के राणोजी, शाहजी और सारंग नामक तीन पुत्र हुए" (हिंदराजस्थान, पृ० ११३-१४)। इस कथन का अधिकांश कल्पित ही है, क्योंकि खेड़ पर राज्य करनेवाले गोहिल (गोहेल) पैठण के शालिवाहन के वंशज नहीं, किन्तु मेवाड़ के गुहिलवंशी शालिवाहन के वंशज थे, यह निश्चित है और राजपूताने के सब इतिहास-लेखक उसे स्वीकार करते हैं। राजपीपला राज्य के भाट की पुस्तक में शालिवाहन के पीछे नरवाहन का नाम है (जेम्स एम्. केम्बैल-संगृहीत बॉम्बे गैज़ेटियर; जि० ६, पृ० १०६ का टिप्पण), जो मेवाड़ के शालिवाहन का ही पिता था। (भाट की पुस्तक में ये दोनों नाम उलट-पुलट दिये हैं)। दक्षिण के शालिवाहन (आंध्रवंशी) के वंश में न तो कोई गुहिल नाम का पुरुष हुआ और न शक्तिकुमार। ऐसे ही सेजक के पिता का नाम भांझर नहीं, किन्तु साहार था (देखो ऊपर पृ० ४३१, टिप्पण १)। सेजक ई० स० १२५० (वि० सं० १३०६-७) के आसपास सोरठ में नहीं गया, क्योंकि वि० सं० १२०२ (ई० स० ११४५) में तो उसका पुत्र मूलुक सुराष्ट्र (सोरठ) का नायक था (देखो वहीं टिप्पण)। सेजक ने जूनागढ़ के राजा महीपाल की सेवा में रहकर जागीर नहीं पाई, किन्तु सोलंकी राजा (सिद्धराज जयसिंह) का अंगरक्षक बनकर सोरठ की जागीर पाई थी। संभव है कि, सिद्धराज जयसिंह ने जब जूनागढ़ के चूड़ासमा (यादव) राजा खेंगार पर चढ़ाई कर उसको क़ैद किया और सोरठ को अपने राज्य में मिलाया (बंब० गै; जि० १, भाग १, पृ० १७६), उस समय सेजक को, अपना विश्वासपात्र और अंगरक्षक होने से, सोरठ का शासक बनाया हो। वि० सं० १२०२ (ई० स० ११४५) में सेजक का ज्येष्ठ पुत्र मूलुक सोरठ का नायक था। सेजक के पुत्रों के नाम राणोजी, शाहाजी आदि भी कल्पित ही हैं, क्योंकि उसके पुत्र मूलुक के वि० सं० १२०२ (ई० स० ११४५) के मांगरोल की सोढली बावड़ी के शिलालेख में वे नाम नहीं, किन्तु मूलुक और सोमराज हैं (देखो ऊपर पृ० ४३१, टिप्पण १)।

मान लिया और चंद्रवंशी न होने पर भी उसको चंद्रवंशी ठहरा दिया[1]। यह कल्पना भी अधिक पुरानी नहीं है, क्योंकि काठियावाड़ आदि के गोहिल पहले अपने को मेवाड़ के राजाओं की नाईं सूर्यवंशी ही मानते थे[2]।

शक्तिकुमार

शालिवाहन के पीछे उसका पुत्र शक्तिकुमार राजा हुआ। उसके समय के आहाड़ से मिले हुए वि० सं० १०३४ (ई० स० ९७७) वैशाख सुदि १ के शिला-

---

(१) *चंद्रवंश सरदार, गोत्र गोतम बखाणुं*
शाखा माधवी सार, जेके प्रवर त्रण जाणुं।
अग्निदेव उद्धार, देव चामुंडा देवी
पांडव कुल परमाण, आद्य गोहिल मुळ एवी।
विक्रम वध करनार, नृप शालिवाहन चकवे थयो।
ते पछी ते ओलाद मां, सोरठ मां मेजक भयो॥

यह छप्पय वि० सं० १९५५ में वळा के दीवान लीलाधर भाई के पास गोहिलों के इतिहास की हस्तलिखित पुस्तक से मैंने नक़ल किया था। इसमें गोहिलों का गोत्र गौतम लिखा है। पुष्कर से मिले हुए वि० सं० १२४३ (ई० स० ११८६) के शिलालेख में गुहिलवंशी ठा० (ठाकुर) कोल्हण को गौतम गोत्र का कहा है (रा. म्यु. रि; ई० स० १९१९–२०, पृ० ३), दमोह (मध्यप्रदेश में) से मिले हुए वहां के गुहिलवंशी विजयसिंह के शिलालेख में उसको विश्वामित्र गोत्र का कहा है (रायबहादुर हीरालाल; इन्स्क्रिप्शन्स इन् सेंट्रल प्रॉविंसीज़ एण्ड बरार; पृ० ४९) और मेवाड़ के गुहिलवंशी अपना गोत्र वैजवापायन मानते हैं। क्षत्रियों का गोत्र वही माना जाता था, जो उनके पुरोहित का हो। पुरोहित के परिवर्तन के साथ गोत्र का भी पहले परिवर्तन होता हो, ऐसा पाया जाता है (देखो ना. प्र. प; भा० ५, पृ० ४३५–४३ तक छपा हुआ मेरा 'क्षत्रियों के गोत्र' शीर्षक लेख)।

(२) गंगाधर कविरचित 'मंडलीकचरित' काव्य में काठियावाड़ के गोहिलों को सूर्यवंशी और झालों को चंद्रवंशी कहा है—

रविविधूद्भवगोहिलझल्लकै-
र्व्यजनवानरभाजनधारव।
विविधवर्तनसंवितकारथैः
ससमदैः समदैः समसेव्यत॥

मंडलीकचरित ६। २३। भावनगर के पुरातत्ववेत्ता विजयशंकर गौरीशंकर ओझा (स्वर्ग-

लेख में उसको तीनों शक्तियों (प्रभुशक्ति, मंत्रशक्ति और उत्साहशक्ति) से संपन्न कहा है और उसके निवास-स्थान आटपुर (आहाड़) को संपत्ति का घर तथा विपुल वैभव वाले अनेक वैश्यों (?) से सुशोभित बतलाया है[1]। आहाड़ के जैन मंदिर की देवकुलिकावाले उपर्युक्त शिलालेख से ज्ञात होता है, कि राजा नरवाहन के अक्षपटलिक श्रीपति के दो पुत्र मत्तट और गुंदल हुए, जो राजा शक्तिकुमार की दोनों भुजाओं के समान थे। वे सब व्यापार (राजकार्य) के करनेवाले तथा कटक (राजधानी) के भूषण थे[2]। आहाड़ के एक जैन मंदिर की सीढ़ी में लगे हुए अपूर्ण शिलालेख में, जो शक्तिकुमार के समय का है, मत्तट को अक्षपटलाधिपति कहा है और उसके निवेदन करने पर एक सूर्यमंदिर के लिये, प्रतिवर्ष १४ द्रम्म देने की उक्त राजा की आज्ञा का उल्लेख है[3]।

राजा मुंज की मेवाड़ पर चढ़ाई

मालवे के परमार राजा मुंज (वाक्पतिराज, अमोघवर्ष) ने मेवाड़ पर चढ़ाई की, जिसका कुछ भी हाल मेवाड़ या मालवे के शिलालेखादि में नहीं मिलता; परन्तु बीजापुर (जोधपुर राज्य के गोड़वाड़ इलाके में) से मिले हुए हस्तिकुंडी (हथुंडी) के राष्ट्रकूट (राठोड़) राजा

स्थ) के पुस्तकालय की हस्तलिखित पुस्तक से। यह काव्य वि० सं० १४५० के आसपास बना था।

(१) इं, एँ; जि० ३९, पृ० १९१।

(२) *क्षीराब्धेरिव शीतदीधितिरभूत्तस्मात्सुतः श्रीपतिः*
शांताद्वाक्यपदप्रमाणविदुषस्तस्मादभून्मत्तटः।
सत्यत्यागपरोपकारकरुणाभो(शौ)र्यैकस्थितिः
श्रीमान्गुंदल इत्य····· हिमा भ्रातानुजोस्याभवत् ॥
तौ गुणातिशयशालिनावुभौ
राजनीतिनिपुणौ महो············ ॥
सर्वव्यापारकर्तारौ तौ द्वौ कटकभूषणौ।
राज्ञा शक्तिकुमारेण कल्पितौ स्वौ भुजाविव ॥

(आहाड़ का लेख—अप्रकाशित)।

(३) सेसिल बैंडाल; 'जर्नी इन् नेपाल'; पृ० ८२ और प्लेट। बैंडाल ने पहली पंक्ति के प्रारंभ में 'क्षटाक्षपटलाधिपतिः' पढ़ा है, परन्तु मूल में 'त्तटाक्षपटलाधिपति' है। प्रारंभ का 'म' अक्षर नष्ट हो गया है।

धवल और उसके पुत्र बालप्रसाद के समय के वि० सं० १०५३ (ई० स० ९९७) माघ शुक्ला १३ के शिलालेख से पाया जाता है कि जब मुंज ने मेदपाट के मद्रूपी आघाट (आहाड़) को तोड़ा, उस समय धवल ने मेवाड़ के सैन्य की सहायता की थी[1]। मुंज शक्तिकुमार का समकालीन[2] था, इसलिये मुंज की चढ़ाई शक्तिकुमार के समय की घटना होना संभव है। मुंज ने केवल आहाड़ को तोड़ा हो इतना ही नहीं, किन्तु मेवाड़ का प्रसिद्ध चितोड़ का दुर्ग तथा उसके आस-पास का कुछ प्रदेश भी अपने राज्य में मिला लिया हो, ऐसा विदित होता है; क्योंकि मुंज के उत्तराधिकारी और छोटे भाई सिंधुराज (नवसाहसांक) का पुत्र भोज चित्तोड़ के क़िले में रहा करता था[3] और उसने अपने उपनाम (बिरुद, खिताब)

(१) ए. इं; जि० १०, पृ० २० (श्लोक १०)।

(२) वि० सं० १०२९ (ई० स० ९७२) तक तो मुंज का पिता सीयक (श्रीहर्ष) मालव का राजा था और उसी वर्ष उसने दक्षिण में राठोड़ों की राजधानी मान्यखेट (मालखेड़) को लूटा था (मेरा सोलंकियों का प्राचीन इतिहास; पृ० ६९)। तदुपरान्त उसका पुत्र मुंज राजा हुआ, जिसका ताम्रपत्रादि से. वि० सं० १०३१=ई० स० ९७४ (इं. ऐं; जि० ६, पृ० ५१) से वि० सं० १०५० (ई० स० ९९३) तक (मेरा सोलंकियों का प्राचीन इतिहास; पृ० ७७ और टिप्पण) जीवित रहना निश्चित है। वि० सं० १०२८ (ई० स० ९७१) में मेवाड़ का राजा नरवाहन जीवित था, जिसके पीछे उसके पुत्र शालिवाहन ने थोड़े ही समय तक राज्य किया और वि० सं० १०३४ (ई० स० ९७७) के वैशाख में शक्तिकुमार राजा था, अतएव वह मुंज का समकालीन था।

(३) आबू पर देलवाड़ा गांव के विमलशाह के मंदिर में लगे हुए वि० सं० १३७८ (ई० स० १३२१-२२) के शिलालेख में लिखा है कि, चंद्रावती का राजा धंधु (धंधुक, धंधुराज, जो आबू का ही स्वामी था) भीमदेव (गुजरात का सोलंकी राजा) के क्रुद्ध होने पर धारा के राजा भोज के पास चला गया।

चंद्रावतीपुरीशः समजनि वीराग्रणीर्धंधुः ॥ ५ ॥
श्रीभीमदेवस्य नृपस्य सेवाममन्यमानः किल धंधुराजः।
नरेशरोषाच्च ततो मनस्वी धाराधिपं भोजनृपं प्रपेदे ॥ ६ ॥

(मूललेख से)

जिनप्रभसूरि अपने 'तीर्थकल्प' में लिखता है—'जब गुर्जरेश्वर (भीमदेव) धंधुक पर क्रुद्ध हुआ तब उस (धंधुक) को चित्रकूट से वापस लाकर उसकी भक्ति से भीमदेव को प्रसन्न करानेवाले (विमलशाह) ने, वि० सं० १०८८ (ई० स० १०३१) में बड़े व्यय से विमलवसती नामक उत्तम मंदिर बनवाया'—

'त्रिभुवननारायण' की स्मृति में वहां पर 'त्रिभुवननारायण' नामक शिव मंदिर भी बनवाया था[1], जिसको इस समय मोकलजी का (समिद्धेश्वर का) मंदिर कहते हैं। भोज के पिछे चित्तोड़ का दुर्ग मालवे के परमारों के अधीन कब तक रहा, इसका

राजानकश्रीधांधूके क्रुद्धं श्रीगुर्जरेश्वरं ।
प्रसाद्य भक्त्या तं चित्रकूटादानीय तद्गिरा ॥ ३९ ॥
वैक्रमे वसुवस्वाशा १०८८ मितेऽब्दे भूरिरैव्ययात् ।
सत्प्रासादं स विमलवसत्याह्वं व्यधापयत् ॥

(तीर्थकल्प में अर्बुदकल्प)।

भीमदेव ने वि० सं० १०७८ से ११२० (ई० स० १०२१ से १०६३) तक राज्य किया था। ऊपर के दोनों प्रमाणों को मिलाने से पाया जाता है कि वि० सं० १०७८ और १०८८ (ई० स० १०२१–१०३१) के बीच भोज चित्तोड़ में रहता था।

(१) चीरवा (एकलिंगजी से अनुमान ३ मील दक्षिण में) से मिले हुए रावल समरसिंह के समय के वि० सं० १३३० (ई० स० १२७३) कार्तिक शुक्ला १ के शिलालेख से पाया जाता है कि टांटर (टांटेड़) जाति के रत्न का छोटा भाई मदन, राजा समरसिंह की कृपा से चित्तोड़ के किले का तलारत (कोटवाल, नगर-रक्षक) बना, जो राजा भोज के बनवाये हुए 'त्रिभुवननारायण' नामक मंदिर में शिव की सेवा किया करता था—

रत्नानुजोस्ति रुचिराचारप्रख्यातधीरसुविचारः ।
मदनः प्रसन्नवदनः सततं कृतदुष्टजनकदनः ॥ २७ ॥
श्रीचित्रकूटदुर्गे तलारतां यः पितृक्रमायातां ।
श्रीसमरसिंहराजप्रसादतः प्राप निःपापः ॥ ३० ॥
श्रीभोजराजरचितत्रिभुवननारायणाख्यदेवगृहे ।
यो विरचयति स्म सदा शिवपरिचर्यां हरशिवलिप्सुः ॥ ३१ ॥

(मूल लेख की छाप से)।

चित्तोड़ के क़िले से मिले हुए रावल समरसिंह के समय के वि० सं० १३५८ (ई० स० १३०२) माघ सुदि १० के शिलालेख में 'भोजस्वामीदेवजगती' (राजा भोज के बनाये हुए देवमंदिर) में प्रशस्ति लगाये जाने का उल्लेख है (रा. म्यू. रि; ई० स० १९२०–२१, पृ० ४)। गुजरात के सोलंकी राजा सिद्धराज जयसिंह और कुमारपाल के आश्रित पंडित वर्धमान ने अपने 'गणरत्नमहोदधि' में तद्धित प्रत्ययों के उदाहरणों में, भट्टिकाव्य और द्याश्रय महाकाव्य की शैली पर निर्मित मालवे के परमार राजाओं के संबंध के किसी काव्य से (नाम नहीं दिया) बहुत से श्लोक उद्धृत किये हैं, उनमें उसने त्रिलोकनारायण और भोज दोनों नामों से एक ही प्रसंग में भोज का परिचय दिया है—

ठीक निश्चय अब तक नहीं हुआ, परंतु गुजरात के चौलुक्य (सोलंकी) राजा सिद्धराज जयसिंह ने १२ वर्ष तक मालवे के परमार राजा नरवर्मा और उसके पुत्र यशोवर्मा से लड़कर मालवे पर अपना अधिकार जमाया, उस समय चित्तोड़ का किला भी मालवे के साथ सिद्धराज जयसिंह के अधीन हुआ हो, ऐसा अनुमान होता है। उसके उत्तराधिकारी कुमारपाल के दो शिलालेख चित्तोड़ से मिले हैं। कुमारपाल के पीछे चित्तोड़ पर फिर मेवाड़ के राजाओं का अधिकार हुआ।

शक्तिकुमार के राजत्वकाल के तीन शिलालेख अब तक मिले हैं, जिनका परिचय नीचे दिया जाता है—

(१) वि० सं० १०३४ (ई० स० ९७७) वैशाख शुक्ला १ का आटपुर (आहाड़) से कर्नल टॉड को मिला। यह शिलालेख मेवाड़ के प्राचीन इतिहास के लिये बड़ा ही महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि गुहदत्त (गुहिल) से शक्तिकुमार तक की पूरी वंशावली केवल इसी लेख में मिलती है; अब यह लेख आहाड़ में नहीं रहा[1], शायद कर्नल टॉड के साथ इंग्लैण्ड चला गया हो।

(२) आहाड़ के जैन मंदिर की देवकुलिकावाला लेख। यह लेख तोड़ फोड़कर वहां छबने के स्थान में लगाया गया है, जिसके पढ़ने से मालूम होता है कि इसमें राजा अल्लट, नरवाहन और शक्तिकुमार के अक्षपटलाधीशों का वर्णन है। अनुमान होता है कि उक्त पदाधिकारियों के बनवाये हुए किसी मंदिर का यह लेख हो। इसमें संवत्वाला अंश जाता रहा है, यह लेख अब तक कहीं नहीं छपा।

(३) यह लेख आहाड़ के एक जैन मंदिर की सीढ़ी में मामूली पत्थर के स्थान पर लगाया गया था, जहां से उठवाकर मैंने उसको उदयपुर के विक्टो-

---

प्राणायनि प्राणसमस्त्रिलोक्यास्त्रिलोकनारायणभूमिपालः ।

त्वरस्व चैतायणि चाटकायन्यौदुंबरायणययमेति भोजः ॥

(गणरत्नमहोदधि; पृ० २७७–७८)।

त्रिभुवननारायण और त्रिलोकनारायण दोनों पर्यायवाची नाम होने से एक दूसरे की जगह प्रयुक्त किये जा सकते हैं।

(१) कर्नल टॉड के गुरु यति ज्ञानचंद्र के मंडल के उपासरे के संग्रह में मुझको इस लेख की ज्ञानचंद्र के हाथ की सुंदर अक्षरों में लिखी हुई दो प्रतियां मिली थीं। एक मूल संस्कृत और दूसरी हिन्दी अनुवाद सहित, इन दोनों को मिलाकर मैंने उसकी नक़ल की, जो श्री० देवदत्त रामकृष्ण भंडारकर ने (इं. ऍ; जि० ३९, पृ० १९१ में) प्रकाशित की है।

रिया हॉल के म्यूज़ियम में सुरक्षित किया है। इसमें संवत् नहीं है (सेसिल बैंडाल; 'जर्नी इन् नेपाल,' पृ० ८२)।

अंबाप्रसाद

शक्तिकुमार के पीछे उसका पुत्र अंबाप्रसाद मेवाड़ का स्वामी हुआ। चित्तोड़ के क़िले से मिली हुई रावल समरसिंह के समय की वि० सं० १३३१ (ई० स० १२७४)की प्रशस्ति में उसका नाम 'आम्रप्रसाद' लिखा है। आहाड़ से मिले हुए उसके समय के टूटे फूटे शिलालेख में उसकी राणी को चौलुक्य(सोलंकी)वंश[1] के किसी राजा की पुत्री बतलाया है, परन्तु लेख के दाहिनी ओर का लगभग आधा भाग नष्ट हो जाने से उस राजा का नाम जाता रहा है। प्रसिद्ध काश्मीरी पंडित जयानक-रचित 'पृथ्वीराजविजयमहाकाव्य' से जान पड़ता है, कि सांभर के चौहान राजा वाक्पतिराज(दूसरे) ने आघाट (आहाड़) के राजा अंबाप्रसाद का मुख अपनी छुरिका (छोटी तलवार) से चीरकर उसको ससैन्य यमराज के पास पहुंचाया[2] (युद्ध में मारा)।

महाराणा कुंभा के समय की वि० सं० १५१७ की कुंभलगढ़ की प्रशस्ति में

---

(१) स्तस्माद्राजा ब(ब)भूव शक्तिकुमारः।········
पालेयक्ष्माधरेन्द्रादिव गगननदीशुभ्रवारिप्रवाह-
स्तस्माद्‍बा(बा)प्रसाद··········।
चौलुक्यवंश······देवी तस्य जाता तनूजा [॥]
साक्षाद्वाणी पद्मयोनेरिवास्मात्
क्षीरांभोधेः श्रीरिवांभोजहस्ता।······
पालेयाद्रेः पार्व्वतीवावभाति ॥
स श्री······

(आहाड़ से मिला हुआ लेख)।

यह लेख उदयपुर के महलों की पायगा (अस्तबल) के ऊपर के एक मकान में रक्खा हुआ है, जहां से मैंने इसकी छापें (प्रतिलिपि) तैयार कीं।

(२) तस्माद्वाक्पतिराजेन सम्भूतमवनीभुजा।
कलिः कृतीकृतो येन भू[मिश्चत्रिदि]वीकृता ॥ ५८ ॥

अंबाप्रसाद के अन्य तीन भाइयों नृवर्मा (नरवर्मा), अनन्तवर्मा और यशोवर्मा[1]-के नाम मिलते हैं, जिनमें से नृवर्मा (नरवर्मा) शुचिवर्मा के पीछे राजा हुआ हो, ऐसा अनुमान होता है।

भाटों की ख्यातों में दी हुई मेवाड़ के राजाओं की वंशावली और उनके संवत् अधिकांश में विश्वासयोग्य न होने के कारण राजा गुहिल से शक्तिकुमार तक की वंशावली एवं जिन जिन राजाओं के निश्चित संवत् शिलालेखों से ज्ञात हो सके, वे ऊपर (पृ० ३९८-९९ में) दिये गये हैं। राजा अंबाप्रसाद से रावल रत्नसिंह तक की मेवाड़ के राजाओं की जो वंशावली भाटों की ख्यातों में दी है (देखो ऊपर पृ०३९६ टिप्पण १) उसमें भी कुछ ही नाम ठीक हैं, कुछ कृत्रिम धरे हैं तथा कुछ छोड़ दिये हैं और संवत् तो सब के सब अशुद्ध हैं; अतएव भिन्न भिन्न शिलालेखों में मिलनेवाली राजा अंबाप्रसाद से रावल रत्नसिंह तक की वंशावली एवं शिलालेखादि से जिन जिन राजाओं के निश्चित संवत् ज्ञात हो सके वे आगे दिये जाते हैं—

अम्बाप्रसादमाघाटपति दस्येनयान्वितम् ।
व्यगृह्णयशमः पश्चात्सारर्गं दक्षिणादिक्पतेः ॥ ५९ ॥
भिन्नमंबाप्रसादस्य येन क्षुरिकया मुखम् ।
प्रतापजीविकामृगिमस्यममेव व्यमुच्यत ॥ ६० ॥

(पृथ्वीराजविजय; सर्ग ५)।

(१) नृवर्मानंतवर्म्मा च यशोवर्मा महीपतिः ।
त्रयोप्यंबाप्रसादस्य जज्ञिरे भ्रातरोस्य च ॥ १५२ ॥

(कुंभलगढ़ की प्रशस्ति — अप्रकाशित)।

संख्या	भेराघाट का लेख वि० सं० १२१२	चीरवे का लेख वि० सं० १३३०	चित्तोड़ का लेख वि० सं० १३३१	आबू का लेख वि० सं० १३४२	राणपुर का लेख वि० सं० १४९६	कुंभलगढ़ का लेख वि० सं० १५१७	शिलालेखादि से निश्चित ज्ञात संवत्
१२		बप्प (बापा) के वंश में		विक्रमसिंह	विक्रमसिंह	विक्रमकेसरी	
१३				...	रणसिंह	रणसिंह	
१४				क्षेमसिंह	खेमसिंह	क्षेमसिंह	
१५				सामन्तसिंह	सामन्तसिंह	सामंतसिंह	वि० सं० १२२८, [१२३६]
१६				कुमारसिंह	कुमारसिंह	कुमारसिंह	
१७		मथनसिंह		मथनसिंह	मथनसिंह	महणसिंह	
१८		पद्मसिंह		पद्मसिंह	पद्मसिंह	पद्मसिंह	
१९		जैत्रसिंह		जैत्रसिंह	जैत्रसिंह	जयसिंह	वि० सं० १२७०, १२७९, १२८४, १३०९
२०		तेजसिंह		तेजसिंह	तेजस्वीसिंह	तेजसिंह	वि० सं० १३१७, १३२२, १३२४
२१		समरसिंह		समरसिंह	समरसिंह	समरसिंह	वि० सं० १३३०, १३३१, १३३५, १३४२, १३४४, १३४६, १३४८
२२						रत्नसिंह	वि० सं० १३६०

संख्या	भेराघाट का लेख वि० सं० १२१२	चीरवे का लेख वि० सं० १३३०	चित्तोड़ का लेख वि० सं० १३३१	आबू का लेख वि० सं० १३४२	राणपुर का लेख वि० सं० १४९६	कुंभलगढ़ का लेख वि० सं० १५१७	शिलालेखादि से निश्चित ज्ञात संवत्
१			आम्रप्रसाद	...	...	अंबाप्रसाद	
२			शुचिवर्मा	शुचिवर्मा	शुचिवर्मा	...	
३			नरवर्मा	नरवर्मा	...	नृवर्मा	
४			...आगे की शिला (दूसरी) नष्ट हो गई है	कीर्तिवर्मा	कीर्तिवर्मा	यशोवर्मा	
५				...	योगराज	योगराज	
६				वैरट	वैरट	वैरट	
७	हंसपाल			...	वंशपाल	हंसपाल	
८	वैरिसिंह			वैरिसिंह	वैरिसिंह	वैरिसिंह	
९	विजयसिंह			विजयसिंह	वीरसिंह	वैरसिंह	वि० सं० ११६४, ११७३
१०				अरिसिंह	अरिसिंह	अरिसिंह	
११				चोड	चोडसिंह	चोड	

संख्या	घाघसे का लेख वि० सं० १३२२	चीरवे का लेख वि० सं० १३३०	चित्तौड़ का लेख वि० सं० १३३१	आबू का लेख वि० सं० १३४२	राणपुर का लेख वि० सं० १४९६	कुंभलगढ़ का लेख वि० सं० १५१७	शिलालेखादि से निश्चित ज्ञात संवत्
१२		वप्प (बापा) के वंश में		विक्रमसिंह	विक्रमसिंह	विक्रमकेसरी	
१३				...	रणसिंह	रणसिंह	
१४				क्षेमसिंह	खेमसिंह	क्षेमसिंह	
१५				सामन्तसिंह	सामन्तसिंह	सामंतसिंह	वि० सं० १२२८, [१२३६]
१६				कुमारसिंह	कुमारसिंह	कुमारसिंह	
१७		मथनसिंह		मथनसिंह	मथनसिंह	महणसिंह	
१८		पद्मसिंह		पद्मसिंह	पद्मसिंह	पद्मसिंह	
१९		जैत्रसिंह		जैत्रसिंह	जैत्रसिंह	जयसिंह	वि० सं० १२७०, १२७९, १२८४, १३०९
२०		तेजसिंह		तेजसिंह	तेजस्वीसिंह	तेजसिंह	वि० सं० १३१७, १३२२, १३२४
२१		समरसिंह		समरसिंह	समरसिंह	समरसिंह	वि० सं० १३३०, १३३१, १३३५, १३४२, १३४४, १३४६, १३४८
२२						रत्नसिंह	वि० सं० १३६०

शुचिवर्मा

अंबाप्रसाद के पीछे शुचिवर्मा राजा हुआ। रावल समरसिंह के वि० सं० १३४२ (ई० स० १२८५) के लेख में तथा राणा कुंभकर्ण (कुंभा) के समय के वि० सं० १४९६ (ई० स० १४३९) के—सादड़ी (जोधपुर राज्य के गोड़वाड़ ज़िले में) के निकट प्रसिद्ध राणपुर के जैन मंदिर के—शिलालेख में अंबाप्रसाद का नाम छोड़कर शक्तिकुमार के पीछे शुचिवर्मा नाम दिया है और आहाड़ के हस्तमाता के मंदिर की सीढ़ी में लगे हुए शुचिवर्मा (या उसके पुत्र) के समय के खंडित लेख[1] की पहली पंक्ति में शुचिवर्मा को शक्तिकुमार का पुत्र, समुद्र के समान मर्यादा का पालन करनेवाला, कर्ण के सदृश दानी और शिव के तुल्य शत्रु को नष्ट करनेवाला कहा है[2], जिससे निश्चित है कि शुचिवर्मा अंबाप्रसाद का छोटा भाई था। शिलालेखादि में ऐसे प्रमाण मिलते हैं कि जब बड़े भाई के पीछे छोटा भाई राजा होता है, तो कभी कभी पिता के पीछे छोटे का ही नाम लिखकर बड़े का नाम छोड़ देते हैं।

---

(१) हस्तमाता का मंदिर बना, तब उस सीढ़ी के लिये इस लेख का जितना अंश आवश्यक था उतना ही रखकर उससे सीढ़ी बना ली गई। मैंने उसको वहां से निकलवाकर उदयपुर के विक्टोरिया हॉल में सुरक्षित किया है। इस लेख में आगे चलकर किसी मंदिर बनानेवाले या अन्य पुरुष के वंश का वर्णन है, जिसमें अपने पिता के नाम से श्रीराहिलेश्वर का मंदिर बनाये जाने तथा चौलुक्य (सोलंकी) कुल के सोढुक की पुत्री का किसी की स्त्री होने का वर्णन है, परन्तु लेख अपूर्ण होने से इनका संबंध स्थिर नहीं हो सकता ('भावनगर-प्राचीन-शोधसंग्रह;' पृ० २२-२४)।

(२) *मुररिपोरिव सम्न(शम्ब)रसूदनः*
पुररिपोरिव ब(व)र्हिणवाहनः।
जलनिधेरिव शीतरुचिः क्रमा-
दजनि शक्तिकुमारनृपस्ततः॥
अब्धिरिव स्थितिलंघनभीरुः
कर्ण इवार्थिवितीर्णहिरण्यः।
शंभुरिवारिपुसंकृतदाघः (हः)
*श्रीशुचिवर्म्मनृ(पो)*******(वही; पृ० २३)।*

नरवर्मा, कीर्तिवर्मा, योगराज और वैरट

शुचिवर्मा के पीछे नरवर्मा, कीर्तिवर्मा[1], योगराज और वैरट क्रमशः राजगद्दी पर बैठे, जिनका कुछ भी वृत्तांत नहीं मिलता। कुंभलगढ़ के शिलालेख से जान पड़ता है कि योगराज के जीतेजी जिस शाखा का वह था, उसकी समाप्ति हो चुकी थी, जिससे उसके पीछे अल्लट की संतति में से वैरट उसके राज्य का स्वामी हुआ[2]।

हंसपाल

वैरट के पीछे हंसपाल राज्य का स्वामी हुआ। राणपुर के मंदिर के शिलालेख में उसका नाम वंशपाल दिया है, परन्तु भेराघाट, करणवेल और कुंभलगढ़ के लेखों में हंसपाल नाम है। भेराघाट (जबलपुर ज़िले में नर्मदा पर) से मिले हुए कलचुरि संवत् ९०७ (वि० सं० १२१२=ई० स० ११५५) के शिलालेख में प्रसंगवशात्[3] मेवाड़ के राजा हंसपाल, वैरिसिंह और विजयसिंह का वर्णन मिलता है। उक्त लेख में लिखा है कि गोभिलपुत्र (गोहिलोत) वंश में हंसपाल राजा हुआ, जिसने निज शौर्य से शत्रुओं के समुदाय को अपने आगे झुकाया[4]। हंसपाल के पीछे उसका पुत्र वैरिसिंह मेवाड़ के राज्य सिंहासन पर बैठा।

(१) कीर्तिवर्मा, नृवर्मा (नरवर्मा) का भाई होना चाहिये, क्योंकि कुंभलगढ़ की प्रशस्ति में नृवर्मा (नरवर्मा) के एक छोटे भाई का नाम यशोवर्मा मिलता है। 'यश' और 'कीर्ति' दोनों पर्यायवाची शब्द होने से यशोवर्मा के स्थान पर संस्कृत लेखों में कीर्तिवर्मा लिखा जाना संभव है।

(२) *ततश्च योगराजोभून्मेदपाटे महीपतिः ।*
अपि राज्ये स्थिते तस्मिन् तच्छा—[खो दि] गताः ॥ १४३ ॥
पश्चादल्लटसंताने वैरटोभून्नरेश्वरः ॥ ······ ॥ १४४ ॥
(कुंभलगढ़ का शिलालेख — अप्रकाशित)।

(३) यह लेख चेदि के कलचुरि (हैहय) वंशी राजा गयकर्णदेव की विधवा राणी अल्हणदेवी के बनवाये हुए शिवमंदिर का है। इसमें उसने अपने पिता, मेवाड़ के राजा वैरिसिंह, के वंश का भी परिचय दिया है। ऐसा ही करणवेल के लेख में भी है।

(४) *अस्ति प्रसिद्धमिह गोभिलपुत्रगोत्र–*
न्तत्राजनिष्ट नृपतिः किल हंसपालः ।

वैरिसिंह

भेराघाट के शिलालेख से पाया जाता है कि उस (वैरिसिंह) के चरणों में अनेक सामंत सिर झुकाते थे, उसने अपने शत्रुओं को पहाड़ों की गुफाओं में भगाया और उनके नगर छीन लिये[1]। राणा कुंभकर्ण के वि० सं० १५१७ (ई० स० १४६०) के कुंभलगढ़ के लेख में लिखा है कि, राजाओं के अग्रणी वैरिसिंह ने आघाट (आहाड़) नगर का नया शहरपनाह (कोट) बनवाया, जो चारों दिशाओं में चार गोपुरों (दरवाज़ों) से भूषित था; उसके २२ गुणवान् पुत्र हुए[2]।

विजयसिंह

वैरिसिंह का उत्तराधिकारी उसका पुत्र विजयसिंह[3] हुआ। उसकी राणी श्यामलदेवी मालवे के परमार राजा उदयादित्य की पुत्री थी। उससे आल्हणदेवी नामक कन्या उत्पन्न हुई, जिसका विवाह चेदि देश के कलचुरि (हैहय) वंशी राजा गयकर्ण-

---

गौरीविगलितनिरवलनिस्यगांघ—
नवीक्षन्नागिव गनि पत्रिभुवनपाल्नः [॥१७॥]

(ए. इं; जि० २, पृ० ११–१२)।

(१) तस्याभवत्तनुभवः प्रणमत्समस्त-
सामन्तशेखरशिरोमणिरञ्जितांह्रिः।
श्रीवैरिसिंहनृपतिर्गिरिगुह्वरेषु—
दुर्गेनिवेशं परपार्थिवजनस्य चक्रे॥

(वही: पृ० १२, श्लोक १८–१९)।

(२) ततः श्रीहंसपालश्च वैरिसिंहो नृपाग्रणी॥ १४४॥
स्थापितोभिनवो येन श्रीमदाघाटपत्तने।
प्राकारश्च चतुर्दिक्षु चतुर्गोपुरभूषितः॥ १४५ [॥]
द्वाविंशतिः सुतास्तस्य बभूवुः सुगुणान्वयाः।

(कुंभलगढ़ का लेख - अप्रकाशित)।

(३) राणपुर के लेख में उसका नाम वीरसिंह और कुंभलगढ़ की प्रशस्ति में वैरसिंह मिलता है, परन्तु रावल समरसिंह की आबू की प्रशस्ति तथा भेराघाट और करणबेल के लेखों में विजयसिंह है, वही शुद्ध है।

देव से हुआ। अल्हणदेवी के नरसिंहदेव और जयसिंहदेव नामक दो पुत्र थे[1], जो अपने पिता के पीछे क्रमशः चेदि के राजा हुए[2]। विजयसिंह के समय का एक शिलालेख उदयपुर से अनुमान चार मील उत्तर पालड़ी गांव से कुछ दूर कार्तिकस्वामी के मंदिर में, दो छबनों के स्थान पर, बाहर (संभवतः आहाड़) से लाकर लगाया गया है, जो वि० सं० ११७३ (ई० स० ११२६) ज्येष्ठ वदि ३ का है[3]। विजयसिंह का दो पत्रों पर खुदा हुआ एक संस्कृत ताम्रपत्र कद्माल गांव से

(१) *तस्मादजायत समस्तजनाभिवन्द्य-*
सौन्दर्यशौर्यभरभङ्गुरिताहितश्रीः ।
पृथ्वीपतिर्विजयसिंह इति प्रवर्द्ध-
मानः सदा जगति यस्य यशःसुधांशुः [॥२०॥]
तस्यामवत्मालवमण्डलाधि-
नाथोदयादित्यसुता सुरूपा ।
शृङ्गारिणी श्यामलदेव्युदार-
चरित्रचिन्तामणिरद्भुतश्रीः [॥२१॥]
मेनायामिव शंकरप्रणयिनी क्षोणीभृतो नायका-
द्गौरीवाविरभूच्छुभानुचरिता दक्षात्प्रजानां सृजः ।
तस्मादल्हणदेव्यजायत जगद्रक्षाक्षमाद्भूपते-
रेतस्मात्रजदीर्घवंशविशदप्रोत्पतत्कीर्तिः [॥२२॥]
विवाहविधिमाधाय गयकर्णनरेश्वरः ।
चक्रे प्रीतिपरामस्यां शिवायामिव शंकरः [॥२३॥]
शृङ्गारशाला कलशी कलानां लावण्यमाला गुणपण्यभूमिः ।
असूत पुत्रद्वयकर्णभूपादसौ नरेशनरसिंहदेवम् [॥२४॥]
............अस्यानुजो विजयतां जयसिंहदेवः
सौमित्रिवत्प्रथमजेद्भुतरूपसेवः ।.... [॥२६॥]

(ए. इं; जि० २, पृ० १२)।

(२) हिन्दी टॉड-राजस्थान; प्रथम खंड पर मेरे टिप्पण, पृ० ४१७।

(३) रा० म्यू० अजमेर की ई० स० १९१५-१६ की रिपोर्ट; पृ० ३, लेख सं० १।

मुझे मिला, जिसमें गुहदत्त से विजयसिंह तक की वंशावली दी है[1], परन्तु खोदनेवाले ने उसे ऐसा बुरी तरह खोदा है कि उसका ठीक ठीक पढ़ना दुष्कर है। उसमें संवत् भी दिया है, परन्तु अंकों के ऊपर भी सिर की रेखाएं लगा दी हैं, जिससे संवत् के अंक भी संदेह-रहित नहीं कहे जा सकते। उसका संवत् ११६४ (ई० स० ११०७) हो, यह मेरा अनुमान है।

अरिसिंह, चोड़सिंह और विक्रमसिंह

विजयसिंह के पीछे क्रमशः अरिसिंह, चोड़सिंह और विक्रमसिंह[2] राजा हुए, जिनका कुछ भी इतिहास नहीं मिलता।

रणसिंह (कर्णसिंह, कर्ण)

विक्रमसिंह के पीछे उसका पुत्र रणसिंह मेवाड़ का राजा हुआ[3], जिसको कर्णसिंह, करणसिंह या कर्ण भी कहते थे। आबू के शिलालेख में उसका नाम छोड़ दिया है, परन्तु राणपुर और कुंभलगढ़ के शिलालेखों में उसका नाम रणसिंह मिलता है। राणा कुंभकर्ण (कुंभा) के समय के बने हुए 'एकलिंगमाहात्म्य' में उसका नाम कर्ण दिया है और साथ में यह भी लिखा है कि उस (कर्ण) से दो

(१) उक्त ताम्रपत्र में गुहदत्त से लगाकर अल्लट तक की वंशावली वही है, जो राजा शक्तिकुमार के वि० सं० १०३४ (ई० स० ९७७) के लेख में मिलती है और उसी लेख के श्लोक भी उसमें उद्धृत किये गये हैं। अल्लट तक के नाम में शक्तिकुमार के लेख के सहारे से ही निकाल सका, आगे का प्रयत्न पूर्णतया सफल न हुआ।

(२) कुंभलगढ़ की प्रशस्ति में विक्रमसिंह के स्थान पर विक्रमकेसरी नाम है और उसको चोड़ का बड़ा भाई कहा है,—*चोडस्याथाग्रजो जज्ञे बंधुर्विक्रमकेसरी* (श्लोक १४८),—परन्तु रावल समरसिंह के वि० सं० १३४२ (ई० स० १२८५) के आबू के शिलालेख में उसको चोड़ का पुत्र बतलाया है, जो अधिक विश्वसनीय है।

तस्य सूनुरथ विक्रमसिंहो वैरिविक्रमकथां निरमाथीत् ॥ ३३ ॥

(इं. ऐं; जि० १६, पृ० ३४९)।

(३) *चोडस्याथाग्रजो जज्ञे बंधुर्विक्रमकेसरी ।*

तत्सुतो रणसिंहाख्यो राज्ये रंजितसत्प्रजः ॥ १४८ ॥

(कुंभलगढ़ का शिलालेख)।

शाखाएं- एक 'रावल' नाम की और दूसरी 'राणा' नाम की फटीं। रावल शाखा में जिंतसिंह[1] (जैत्रसिंह), तेजसिंह, समरसिंह और रत्नसिंह तथा 'राणा' शाखा में माहप, राहप आदि हुए[2]। रावल शाखावाले मेवाड़ के स्वामी और 'राणा' शाखावाले सीसोदे के जागीरदार रहे और सीसोदे में रहने से सीसोदिये कहलाये। 'रावल' शाखा की समाप्ति अलाउद्दीन खिलजी के वि० सं० १३६० (ई० स० १३०३) में रावल रत्नसिंह से चित्तोड़ छीनने पर हुई। इससे कुछ वर्ष बाद सीसोदे के राणा हंमीर (हंमीरसिंह) ने चित्तोड़ पर अपना अधिकार जमाकर मेवाड़ में सीसोदिया (राणा) शाखा का राज्य स्थापित किया। हंमीर के चित्तोड़ लेने से पूर्व का राणा शाखा का वृत्तान्त इस प्रकरण के अंत में लिखा जायगा। एकलिंगमाहात्म्य में कर्णसिंह का आहोर के पर्वत पर क़िला बनाना लिखा है[3]।

(१) एकलिंगमाहात्म्य में रावल शाखावालों के नाम जितसिंह (जैत्रसिंह) से ही दिये हैं, जैत्रसिंह से पहले के ५ नाम उसमें छूट गये हैं।

(२) *अथ कर्णभूमिभर्तुः शाखाद्वितीं(त)यं विभाति भूलोके।*
एका राउलनाम्नी राणानाम्नी परा महती ॥ ५० ॥
अत्रापि यां (यस्यां) जितसिंहस्तेजःसिंहस्तथा समरसिंहः।
श्रीचित्रकूटदुर्गेभूवन् जितशत्रवो भूपाः ॥ ५१ ॥
(एकलिंगमाहात्म्य; राजवर्णन-अध्याय)।

आगे रत्नसिंह तक का विस्तार से वर्णन है, फिर माहप, राहप आदि का वर्णन है।

अपरस्यां शाखायां माहपराह[प]प्रमुखा महीपालाः।
यद्वंशे नरपतयो गजपतयः छत्रपतयोपि ॥ ७० ॥
श्रीकर्णे नृपतित्वं मुक्त्वा देवे इला(?)मथ प्राप्ते।
राणात्वं प्राप्तः सन् पृथ्वीपतिराहपो भूपः ॥ ७१ ॥ (वही)।

(३) *पालयति स्म धरित्रीं तदंगजः कर्णभूमींद्रः ॥ ४१ ॥*
यः शौर्येण च हाटकदानेन च मूर्तिनृपकर्णः।
दुर्गं कारितवान् श्रीआहोरे पर्वते रम्ये ॥ ४२ ॥ (वही)।

आगे उक्त पुस्तक में कर्ण (कर्णसिंह) के प्रताप का वर्णन किया है, जिसमें कवि को जितने देशों के नाम स्मरण थे उनसबके राजाओं का उसकी सेवा करना लिख मारा है, जो

क्षेमसिंह

रणसिंह (कर्णसिंह) का उत्तराधिकारी उसका पुत्र क्षेमसिंह[1] हुआ, जिसका कुछ भी इतिहास नहीं मिलता। क्षेमसिंह के दो पुत्रों–सामंतसिंह और कुमारसिंह–के नाम मिलते हैं।

सामंतसिंह

क्षेमसिंह के पीछे उसका ज्येष्ठ पुत्र सामंतसिंह राजा हुआ।

गुजरात के राजा से सामंतसिंह का युद्ध

मेवाड़ या गुजरात के राजाओं के शिलालेख अथवा इतिहास की पुस्तकों में तो इस युद्ध का कुछ भी उल्लेख नहीं मिलता, परन्तु आबू पर देलवाड़ा गांव के तेजपाल (वस्तुपाल के भाई) के बनवाये हुए लूणवसही नामक नेमिनाथ के जैन मंदिर के शिलालेख के रचयिता गुर्जरेश्वर–पुरोहित सोमेश्वर ने लिखा है—'आबू के परमार राजा धारावर्ष के छोटे भाई प्रह्लादन की तीक्ष्ण तलवार ने गुजरात के राजा की उस समय रक्षा की जब कि उसका बल सामंतसिंह ने रणखेत में तोड़ डाला था'[2]। धारावर्ष गुजरात के

अतिशयोक्ति ही है; इसी से हमने उसे छोड़ दिया है। उसमें कर्ण के पिता का नाम श्रीपुंज दिया है, जो शायद विक्रमसिंह का दूसरा नाम हो।

(१) कुंभलगढ़ की प्रशस्ति में क्षेमसिंह को महणसिंह का छोटा भाई कहा है।

श्रीमहणसिंहकनिष्ठभ्राता श्रीक्षेमसिंहस्तत्सूनुः ।
सामंतसिंहनामा भूपतिर्भूतले जातः ॥१४६ ॥

(कुंभलगढ़ की प्रशस्ति)।

यह महणसिंह उक्त प्रशस्ति के कथन से तो क्षेमसिंह का बड़ा भाई प्रतीत होता है। यदि ऐसा हो तो यही मानना पड़ेगा कि महणसिंह का देहांत अपने पिता के सामने हुआ हो, जिससे उसका छोटा भाई क्षेमसिंह अपने पिता का उत्तराधिकारी हुआ हो।

(२) *शत्रुश्रेणीगलविदलनोन्निद्रनिस्त्रिं(स्त्रिं)शधारो*
धारावर्षः समजनि सुतस्तस्य विश्वप्रशस्यः ।······॥३६[॥]···
सामंतसिंहसमितिक्षितिविक्षतौजः–
श्रीगूर्ज्जरक्षितिपरक्षणदक्षिणासिः ।

सोलंकियों का सामंत था, अतएव उसने अपने छोटे भाई प्रह्लादन को सामंतसिंह के साथ की लड़ाई में गुजरात के राजा की सहायतार्थ भेजा होगा। उस लेख से यह नहीं पाया जाता कि सामंतसिंह ने गुजरात के किस राजा के बल को तोड़ा। अब तक सामंतसिंह के दो शिलालेख मिले हैं, जिनमें से एक डूंगरपुर की सीमा से मिले हुए मेवाड़ के छप्पन ज़िले के जगत नामक गांव में देवी के मंदिर के स्तंभ पर खुदा हुआ वि० सं० १२२८ (ई० स० ११७२) फाल्गुन सुदि ७ का[1], और दूसरा डूंगरपुर राज्य में सोलज गांव से लगभग डेढ़ मील दूर बोरेश्वर महादेव के मंदिर की दीवार में लगा हुआ वि० सं० १२३६ (ई० स० ११७९) का[2] है। गुजरात की गद्दी पर वि० सं० ११९९ से १२३० (ई० स० ११४३ से ११७४) तक सोलंकी कुमारपाल था। उसके पीछे वि० सं० १२३० से १२३३ (ई० स० ११७४ से ११७७) तक उसका भतीजा अजयपाल राजा रहा; फिर वि० सं० १२३३ से १२३५ (ई० स० ११७७ से ११७९) तक उस (अजयपाल) के पुत्र मूलराज (दूसरे) ने, जिसको बाल मूलराज भी लिखा है, शासन किया और उसके पीछे वि० सं० १२३५ से १२९८ (ई० स० ११७९ से १२४२) तक उसका छोटा भाई भीमदेव दूसरा (भोलाभीम) राज्य करता रहा[3]। ये चारों सामंतसिंह के समकालीन थे। इनमें से कुमारपाल प्रतापी राजा था और जैन धर्म का पोषक होने से कई समकालीन या पिछले जैन विद्वानों ने उसके चरित लिखे हैं, जिनमें उसके समय की बहुधा सब घटनाओं का विवेचन किया गया है, परन्तु सामंतसिंह के साथ उसके युद्ध करने का उनमें कहीं उल्लेख नहीं मिलता। मूलराज दूसरा (बाल मूलराज) और भीमदेव दूसरा (भोलाभीम), दोनों जब राजगद्दी पर बैठे, उस समय बालक होने से वे युद्ध में जाने योग्य न थे, इसलिये सामंतसिंह का युद्ध कुमारपाल के उत्तराधिकारी अजयपाल के साथ होना चाहिये। सोमेश्वर अपने 'सुरथोत्सव' काव्य के

प्रह्लादनस्तदनुजो दनुजोत्तमारि–

चारित्रमत्र पुनरुज्ज्वलयांचकार ॥ ३८ ॥

आबू की वि० सं० १२८७ की प्रशस्ति; ए. इं; जि० ८, पृ० २११।

(१) रा० म्यू० अजमेर की ई० स० १९१४-१५ की रिपोर्ट; पृ० ३, लेख संख्या ६।

(२) वही; पृ० ३, लेख संख्या ७।

(३) हिन्दी टाड; रा. पर मेरे टिप्पण पृ० ४३४–६६।

१५वें सर्ग में अपने पूर्वजों का परिचय देता है, और उनमें से जिस जिस ने अपने यजमान—गुजरात के राजाओं—की जो जो सेवा बजाई, उसका भी उल्लेख करता है। उसने अपने पूर्वज कुमार के प्रसंग में लिखा है—'उसने कटुकेश्वर नामक शिव (अर्धनारीश्वर) की आराधना कर रणखेत में लगे हुए अजयपाल राजा के अनेक घावों की दारुण पीड़ा को शांत किया[1]।' इससे निश्चित है कि सामंतसिंह के साथ की लड़ाई में गुजरात का राजा अजयपाल बुरी तरह से घायल हुआ था। इस संग्राम का वर्णन अन्यत्र कहीं नहीं मिलता। यह लड़ाई किस लिये हुई, यह बात अब तक अंधकार में ही है; परन्तु संभव है कि कुमारपाल जैसे प्रबल राजा के मरने पर, सामंतसिंह ने अपने पूर्वजों का बरसों से दूसरों के अधिकार में गया हुआ चित्तोड़ का क़िला उस (कुमारपाल) के उद्धत एवं मंदबुद्धि उत्तराधिकारी अजयपाल से छीनने के लिये यह लड़ाई ठानी हो, और उसमें उसको परास्त कर सफलता प्राप्त की हो। यह घटना वि० सं० १२३१ (ई० स० ११७४) के आसपास होनी चाहिये।

सामंतसिंह से मेवाड़ का राज्य छूटना

रावल समरसिंह के वि० सं० १३४२ (ई० स० १२८५) के लेख में सामंतसिंह के विषय में लिखा है—'उस (क्षेमसिंह) से कामदेव से भी अधिक सुंदर शरीरवाला राजा सामंतसिंह उत्पन्न हुआ, जिसने अपने सामंतों का सर्वस्व छीन लिया (अर्थात् अपने सरदारों की जागीरें छीनकर उनको अप्रसन्न किया)। उसके पीछे कुमारसिंह ने इस पृथ्वी को—

---

(१) *यः शौचसंयमपटुः कटुकेश्वराख्य-*
माराध्य भूधरसुताघटितार्धदेहम्।
तां दारुणामपि रणाङ्गणजातघात-
व्रातव्यथामजयपालनृपादपास्थत्॥

(काव्यमाला में छपा हुआ 'सुरथोत्सव' काव्य, सर्ग १५। ३२)।

सामंतसिंहयुद्धे हि श्रीअजयपालदेवः प्रहारपीडया मृत्युकोटिमायातः
कुमारनाम्ना पुरोहितेन श्रीकटुकेश्वरमाराध्य पुनः स जीवितः।

(वही; टिप्पण ५)।

परमार प्रह्लादन-रचित 'पार्थपराक्रमव्यायोग' की चिमनलाल डी० दलाल-लिखित अंग्रेज़ी भूमिका, पृ० ४ ('गायकवाड़ ओरिएण्टल सीरीज़' में प्रकाशित)।

जिसने पहले कभी गुहिलवंश का वियोग नहीं सहा था, [परंतु] जो [उस समय] शत्रु के हाथ में चली गई थी और जिसकी शोभा खुंमाण की संतति के वियोग से फीकी पड़ गई थी--फिर छीनकर (प्राप्त कर) राजन्वती (उत्तम राजा से युक्त) बनाया[1]। इससे यही ज्ञात होता है कि कुमारसिंह के पहले किसी शत्रु राजा ने गुहिलवंशियों से मेवाड़ का राज्य छीन लिया था, परन्तु कुमारसिंह ने उस शत्रु से अपना पैतृक राज्य पीछा लिया। वह शत्रु कौन था, इस विषय में आबू का लेख कुछ नहीं बतलाता; परन्तु राणा कुंभकर्ण (कुंभा) के समय का वि० सं० १५१७ (ई० स० १४६०) का कुंभलगढ़ का लेख इस त्रुटि की पूर्ति कर देता है, क्योंकि उसमें स्पष्ट लिखा है कि 'सामंतसिंह नामक राजा भूतल पर हुआ, उसका भाई कुमारसिंह था, जिसने अपना (पैतृक) राज्य छीननेवाले कीतू नामक शत्रु राजा को देश से निकाला, गुजरात के राजा को प्रसन्न कर आघाटपुर (आहाड़) प्राप्त किया, और स्वयं राजा बन गया[2]।' इससे स्पष्ट है कि शत्रु राजा कीतू ने सामंतसिंह से मेवाड़ का राज्य छीना था। गुजरात के राजा अजयपाल से लड़कर सामंतसिंह अवश्य निर्बल हो गया होगा और अपने सरदारों के साथ अच्छा बर्ताव न करने से--जैसा आबू के लेख से जान पड़ता है--

---

(१) *सामंतसिंहनामा कामाधिकसर्वसुन्दरशरीरः ।*
भूपालोजनि तस्मादपहृतसामंतसर्वस्वः ॥ ३६ ॥
पों(खों)माणसंततिवियोगविलक्षलक्ष्मी-
मेनामदृष्टविरहां गुहिलान्वयस्य ।
राजन्वतीं वसुमतीमकरोत्कुमार-
सिंहस्ततो रिपुगतामपहृत्य भूयः ३७ ॥

आबू का शिलालेख, इं. ऐं; जि० १६, पृ० ३४६।

(२) *सामंतसिंहनामा भूपतिर्भूतले जातः ॥१४६॥[॥]*
भ्राता कुमारसिंहोभूत्स्वराज्यग्राहिणं परं ।
देशान्निष्कासयामास कीतूसंज्ञं नृपं तु यः ॥१५०॥[॥]
स्वीकृतमाघाटपुरं गूर्जरनृपतिं प्रसाद्य·······।

(कुंभलगढ़ का लेख--अप्रकाशित)।

उनकी सहायता खो बैठा हो, ऐसी स्थिति में कीतू के लिये उसका राज्य छीनना सुगम हो गया हो।

यह कीतू मेवाड़ का पड़ोसी और नाडौल (जोधपुर राज्य के गोड़वाड़ ज़िले में) के चौहान राजा आल्हणदेव का तीसरा पुत्र था। साहसी, वीर एवं उच्चाभिलाषी होने के कारण अपने ही बाहुबल से जालोर (कांचनगिरि=सोनलगढ़) का राज्य परमारों[1] से छीनकर वह चौहानों की सोनगरा शाखा का मूलपुरुष और स्वतंत्र राजा हुआ। सिवाणे का क़िला (जोधपुर राज्य में) भी उसने परमारों से छीनकर अपने राज्य में मिला लिया था[2]। चौहानों के शिलालेखों और ताम्रपत्रों में कीतू का नाम कीर्तिपाल[3] मिलता है, परन्तु राजपूताने में वह कीतू नाम से प्रसिद्ध है, जैसा कि मुहणोत नैणसी की ख्यात तथा राजपूताने की अन्य ख्यातों में लिखा मिलता है। उस(कीर्तिपाल)का अब तक केवल एक ही लेख मिला है जो वि० सं० १२१८ (ई० स० ११६१) का दानपत्र है[4]। उससे विदित होता है कि उस समय उसका पिता जीवित था और उस(कीर्तिपाल)-को अपने पिता की ओर से १२ गांवों की जागीर मिली थी, जिसका मुख्य गांव नड्डूलाई (नारलाई, जोधपुर राज्य के गोड़वाड़ ज़िले में, मेवाड़ की सीमा के निकट) था। उसी (कीतू) ने जालोर का राज्य अधीन करने तथा स्वतंत्र राजा बनने के पीछे मेवाड़ का राज्य छीना हो, ऐसा अनुमान होता है, क्योंकि उपर्युक्त कुंभलगढ़ के लेख में उसको 'राजा कीतू' लिखा है। जालोर से मिले हुए वि० सं० १२३९ (ई० स० ११८२) के शिलालेख[5] से पाया जाता है कि उस संवत् में कीर्तिपाल (कीतू) का पुत्र समरसिंह वहां का राजा था, अतएव कीर्तिपाल (कीतू) का उस समय से पूर्व मर जाना निश्चित है। ऐसी दशा में यह कहा जा सकता है कि कीतू ने मेवाड़ का राज्य वि० सं० १२३० और १२३६ (ई० स० ११७३ और ११७९) के बीच[6] किसी वर्ष में छीना होगा।

(१) मुहणोत नैणसी की ख्यात; पत्र ४२।

(२) वही; पत्र ४२।

(३) ए. इं; जि० ९, पृ० ६६।

(४) वही; जि० ९, पृ० ६८-७०।

(५) वही; जि० ११, पृ० ५३-५४।

(६) वि० सं० १२३० (ई० स० ११७३) में अजयपाल ने राज्य पाया और

सामंतसिंह का वागड़ में नया राज्य स्थापित करना

जब सामंतसिंह से मेवाड़ का राज्य चौहान कीतू (कीर्तिपाल) ने छीन लिया, तब उसने मेवाड़ के पड़ोस के वागड़[1] इलाक़े में जाकर वहां अपना नया राज्य स्थापित किया, और वह तथा उसके वंशज वहीं रहे।

इस विषय में मुहणोत नैणसी ने अपनी ख्यात में यह लिखा है—"रावल समतसी (सामंतसिंह) चित्तोड़ का राजा था; उसके छोटे भाई ने उसकी बड़ी सेवा की, जिससे प्रसन्न होकर उसने कहा कि मैंने चित्तोड़ का राज्य तुझको दिया। छोटे भाई ने निवेदन किया कि चित्तोड़ का राज्य मुझे कौन देता है, उसके स्वामी तो आप हैं। तब समतसी ने फिर कहा कि, यह मेरा वचन है कि चित्तोड़ का राज्य तुम्हें दिया। इसपर छोटा भाई बोला कि यदि आप चित्तोड़ का राज्य मुझे देते हैं, तो इन राजपूतों (सरदारों) से कहला दो। समतसी ने सरदारों से कहा कि तुम ऐसा कह दो; उन्होंने निवेदन किया कि आप इस बात का फिर अच्छी तरह विचार कर लें। उसने उत्तर दिया कि मैंने प्रसन्नतापूर्वक अपना राज्य अपने छोटे भाई को दे दिया है, इसमें कोई शंका करने की बात नहीं; तब सरदारों ने उसे स्वीकार कर लिया, और उसने राणा पदवी[2] के साथ राज्य अपने छोटे भाई के सुपुर्द कर दिया और आप आहाड़ में जा रहा। कुछ दिनों बाद उसने अपने राजपूतों से कहा कि राज्य मैंने अपने भाई को दे दिया है, इसलिये मेरा यहां रहना उचित नहीं, मुझे अपने लिये दूसरा राज्य प्राप्त करना चाहिये।"

वि० सं० १२२१ (ई० स० ११६४) का बोरेश्वर के मंदिरवाला लेख खास वागड़ का है, जिससे पाया जाता है कि उक्त संवत् से पूर्व ही सामंतसिंह ने वागड़ पर अपना अधिकार कर लिया था।

(१) डूंगरपुर और बांसवाड़ा राज्यों का सम्मिलित नाम वागड़ है। पहले सारे वागड़ देश पर डूंगरपुर का ही राज्य था, परन्तु वहां का रावल उदयसिंह मेवाड़ के महाराणा संग्रामसिंह (सांगा) की सहायतार्थ बादशाह बाबर के साथ खानवा (भरतपुर राज्य में बयाने के निकट) की लड़ाई में मारा गया था; उसके दो पुत्र—पृथ्वीराज और जगमाल—थे, जिन्होंने आपस में लड़कर वागड़ के दो विभाग किये। पश्चिमी भाग पृथ्वीराज के अधिकार में रहा, और पूर्वी जगमाल को मिला। पृथ्वीराज की राजधानी डूंगरपुर रही और जगमाल की बांसवाड़ा हुई।

(२) जब मुहणोत नैणसी ने अपनी ख्यात लिखी, उस समय राणा शाखा के सीसोदियों

"उस समय वागड़ में बड़ौदे[1] का राजा चौरसीमलक (चोरसीमल, डूंगरपुर की ख्यात में) था, जिसके अधीन ५०० भोमिये (छोटे ज़मींदार) थे; उसके यहां एक डोम रहता था, जिसकी स्त्री को उसने अपनी पासवान (उपपत्नी) बना रक्खा था। वह रात को उस डोम से गवाया करता और कहीं वह भाग न जाय, इसलिये उसपर पहरा नियत कर दिया था। एक दिन अवसर पाकर डोम बड़ौदे से भाग निकला और रावल समतसी के पास आहाड़ में पहुंचकर उसे बड़ौदा लेने के लिये उद्यत किया। समतसी किसी नये राज्य की तलाश में ही था, अतएव उसने तुरंत उसका कथन स्वीकार कर लिया और डोम से वहां का सब हाल जानकर ५०० सवारों सहित आहाड़ से चढ़कर अचानक बड़ौदे जा पहुंचा; वहां पर घोड़ों को छोड़कर उसने अपनी सेना के दो दल बनाये। एक दल को अपने साथ रक्खा और दूसरे को उसने डोम के साथ चौरसी के निवास-स्थान पर भेजा। उन लोगों ने वहां पहुंचकर पहले तो द्वारपालों का वध किया, फिर महल में घुसकर चौरसी को भी मार डाला। इस तरह समतसी ने बड़ौदे पर अधिकार जमाकर क्रमशः सारा वागड़ देश भी अपने हस्तगत कर लिया[2]।"

मुहणोत नैणसी ने यह विवरण उक्त घटना से अनुमान ५०० वर्ष पीछे लिखा, जिससे उसमें कुछ त्रुटि रह जाना स्वाभाविक है, परन्तु उसका मुख्य कथन ठीक है। शिलालेख भी उसके इस कथन की तो पुष्टि करते हैं कि राज्य छूट जाने पर मेवाड़ के राजा समतसी (सामंतसिंह) ने वागड़ की राजधानी

को मेवाड़ पर राज्य करते हुए १०० से अधिक वर्ष हो चुके थे; ऐसी दशा में वह सामंतसिंह का अपने भाई को 'राणा' पदवी देना लिखे, तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है। सामंतसिंह के छोटे भाई (कुमारसिंह) का खिताब राणा नहीं, किन्तु रावल था। राणा खिताब तो उस समय करणसिंह (रणसिंह) से फटी हुई मेवाड़ के राजाओं की सीसोदे की छोटी शाखा-वालों का था।

(१) वागड़ (डूंगरपुर) राज्य की पुरानी राजधानी बड़ौदा थी, पीछे से रावल डूंगरसिंह ने डूंगरपुर बसाकर वहां अपनी राजधानी स्थिर की। बड़ौदे में अब तक प्राचीन मंदिर बहुत हैं, परन्तु अब उनकी दशा वैसी नहीं रही जैसी पहले थी।

(२) मुहणोत नैणसी की ख्यात; पत्र १६। नैणसी ने समतसी (सामंतसिंह) के स्थान में समरसी (समरसिंह) लिखा है, जो अशुद्ध पाठ है। डूंगरपुर की ख्यात में समतसी लिखा है, जो शुद्ध प्रतीत होता है।

बड़ौदे पर अधिकार कर क्रमशः सारा वागड़ देश अपने अधीन कर लिया[1] था, परन्तु वे (शिलालेख) इस बात को स्वीकार नहीं करते कि सामंतसिंह ने मेवाड़ का राज्य खुशी से अपने छोटे भाई (कुमारसिंह) को दिया था; क्योंकि उनसे तो यही पाया जाता है कि, जब सामंतसिंह का राज्य चौहान कीतू (कीर्तिपाल) ने छीन लिया, तब उसके छोटे भाई कुमारसिंह ने यत्न कर कीतू को मेवाड़ से निकाला और वह वहां का राजा हो गया, जैसा कि आबू और कुंभलगढ़ के शिलालेखों से ऊपर बतलाया जा चुका है। सामंतसिंह या उसके वंशज फिर कभी मेवाड़ के स्वामी न हो सके और वे वागड़ के ही राजा रहे,[2]

(१) इस कथन की पुष्टि डूंगरपुर राज्य में मिले हुए शिलालेखों से होती है।

(२) रावल सामंतसिंह के मेवाड़ का राज्य खोने, और वागड़ (डूंगरपुर) के इलाक़े पर अपना नया राज्य स्थापित करने से सैकड़ों वर्षों पीछे मेवाड़ की ख्यातें तथा उनपर से इतिहास के ग्रन्थ लिखे गये। ख्यातों के लिखनेवालों को इतना तो ज्ञात था कि बड़े भाई के वंश में वागड़ (डूंगरपुर) के स्वामी हैं, और छोटे भाई के वंश में मेवाड़ (उदयपुर) के, परन्तु उनको यह मालूम न था कि वागड़ का राज्य किसने, कब और कैसी दशा में स्थापित किया; इसलिये उन्होंने इस समस्या को किसी न किसी तरह सुलझाने के लिये मनगढ़ंत कल्पनाएं कीं, जिनका सारांश नीचे दिया जाता है—

(क) 'राजप्रशस्ति महाकाव्य' में, जिसकी समाप्ति वि० सं० १७३२ (ई० स० १६७५) में हुई, लिखा है कि रावल समरसिंह का पुत्र रावल करण हुआ, जिसका पुत्र रावल माहप डूंगरपुर का राजा हुआ (ना० प्र० प; भा० १ पृ० १६)।

(ख) महामहोपाध्याय कविराजा श्यामलदास ने अपने 'वीरविनोद' नामक उदयपुर राज्य के वृहत् इतिहास में लिखा है—'हिजरी सन् ७०३ ता० ३ मुहर्रम (वि० सं० १३६० भाद्रपद शुक्ल ४–ई० स० १३०३ ता० १८ अगस्त) के दिन, ६ महीने ७ दिन तक युद्ध करने के अनन्तर, अलाउद्दीन ख़िलजी ने चित्तोड़ का क़िला फ़तह किया; रावल समरसिंह का पुत्र रावल रत्नसिंह बहादुरी के साथ लड़कर मारा गया। उक्त रावल का बड़ा पुत्र माहप आहड़ (आहाड़) में और छोटा राहप अपने आबाद किए हुए सीसोदा ग्राम में रहता था। माहप चित्तोड़ लेने से निराश होकर डूंगरपुर को चला गया' (भाग १, पृ० २८८)।

(ग) कर्नल टॉड ने लिखा है—'समरसी के कई पुत्र थे, परन्तु करण (करणसिंह, कर्ण) उसका वारिस था। करण सं० १२४६ (ई० स० ११९३) में गद्दी पर बैठा। करण के माहप और राहप नामक दो पुत्र माने जाते हैं, माहप डूंगरपुर बसाकर एक नई शाखा कायम करने को पश्चिम के जंगलों (वागड़) में चला गया (जि० १ पृ० ३०४)।

(घ) मेजर के. डी. अर्सकिन् ने अपने 'डूंगरपुर राज्य के गैज़ेटियर' में दो बातें लिखी हैं। पहली तो यह, कि ई० स० की बारहवीं शताब्दी के अंत में करणसिंह मेवाड़ का रावल था,

जैसा कि उनके कई शिलालेखों से ज्ञात पड़ता है। इस प्रकार बड़े भाई (सामंतसिंह) का वंश डूंगरपुर का, और छोटे भाई (कुमारसिंह) का मेवाड़ का स्वामी रहा, जिसको मेवाड़वाले भी स्वीकार करते हैं।

जिसके माहप और राहप नामक दो पुत्र थे। राहप की वीरता से प्रसन्न होकर करणसिंह ने उसे अपना उत्तराधिकारी नियत किया, जिससे अप्रसन्न होकर माहप अपने पिता को छोड़ कुछ समय तक अहाड़ (आहाड़) में जा रहा। वहां से दक्षिण में जाकर अपने ननिहालवालों के यहां वागड़ में रहा, फिर क्रमशः भील सरदारों को हटाकर वह तथा उसके वंशज उस देश के अधिकांश के स्वामी बन गये। दूसरा कथन यह है कि ई० स० १३०३ (वि० स० १३६०) में अलाउद्दीन ख़िलजी के चित्तौड़ के घेरे में मेवाड़ के रावल रत्नसिंह के मारे जाने पर उसके जो वंशज बच रहे, वे वागड़ को भाग गये और वहां उन्होंने पृथक् राज्य स्थापित किया (पृ० १३१-३२)

ये चारों कथन कल्पित हैं और वास्तविक इतिहास के अज्ञान में गढ़ंत किये हुए हैं। 'वीरविनोद' (भाग २, पृ० १००५) और 'डूंगरपुर राज्य के गैज़ेटियर' (टेबल संख्या २१) में डूंगरपुर (वागड़) के राजाओं का वंशक्रम इस तरह दिया है—(१) मेवाड़ का रावल करण, (२) माहप, (३) नर्बद, या नरवर्मन्, (४) भीला या भीलू, (५) केसरीसिंह, (६) सामंतसिंह, (७) सीहड़देव या सेहड़ी, (८) दूदा, देदा या देदू (देवपाल), (९) बरसिंह या वीरसिंह (वीरसिंह) आदि।

यह निर्विवाद है कि मेवाड़ का रावल रत्नसिंह वि० सं० १३६० (ई० स० १३०३) में अलाउद्दीन ख़िलजी के साथ लड़ाई में मारा गया, अतएव उसके पुत्र (ऊपर लिखे हुए राजक्रमानुसार) करण (करणसिंह) के राज्य का प्रारंभ भी उसी वर्ष से मानना होगा। यदि प्रत्येक राजा का राजत्वकाल औसत हिसाब से २० वर्ष माना जाय, तो सामंतसिंह का वि० सं० १४६० से १४८० (ई० स० १४०३ से १४२३) तक, सीहड़ (सीहड़देव) का वि० सं० १४८० से १५०० (ई० स० १४२३ से १४४३) तक, दूदा (देवपाल) का वि० सं० १५०० से १५२० (ई० स० १४४३ से १४६३) तक और वीरसिंह का वि० सं० १५२० से १५४० (ई० स० १४६३ से १४८३) तक मानना पड़ेगा, जो सर्वथा असम्भव है; क्योंकि सामंतसिंह के वि० सं० १२२८ और १२३६ (ई० स० ११७१ और ११७९) के दो शिलालेख मिले हैं, जैसा कि ऊपर बतलाया जा चुका है। सीहड़ (सीहड़देव) के दो शिलालेख वि० सं० १२७७ और १२९१ (ई० स० १२२० और १२३४) के (ना० प्र० प; भा० १, पृ० ३०-३१, टिप्पण संख्या ३०) मिल चुके हैं। वीरसिंहदेव का कोई शिलालेख अब तक नहीं मिला। उसके उत्तराधिकारी देवपाल (दूदा, देदा, देदू) का वि० सं० १३४३ (ई० स० १२८६) वैशाख सुदि १५ का दानपत्र (वही, पृ० ३१, टिप्पण ३१), जिसमें उसके पिता देवपालदेव के श्रेय के निमित्त भूमिदान करने का उल्लेख है, और एक शिलालेख वि० सं० १३४६ (ई० स० १२८९) का मिला है (वही; टिप्पण ३२)। ऐसी दशा में यह

मेवाड़ एवं समस्त राजपूताने में यह प्रसिद्धि है कि अजमेर और दिल्ली के अंतिम हिंदू सम्राट् चौहान पृथ्वीराज (तीसरे) की बहिन पृथाबाई का विवाह मेवाड़ के रावल समरसी (समरसिंह) से हुआ, जो पृथ्वीराज की सहायतार्थ शहाबुद्दीन गोरी के साथ की लड़ाई में मारा गया था। यह प्रसिद्धि 'पृथ्वीराज रासे' से हुई, जिसका उल्लेख 'राजप्रशस्ति महाकाव्य' में भी मिलता[1] है, परन्तु उक्त पृथ्वीराज की बहिन का विवाह रावल समरसी (समरसिंह) के साथ होना किसी प्रकार संभव नहीं हो सकता; क्योंकि पृथ्वीराज का देहांत वि० सं० १२४६ (ई० स ११६१-६२) में हो गया था, और रावल समरसी (समरसिंह) वि० सं० १३५८ (ई० स० १३०२) माघ सुदि १० तक जीवित था[2], जैसा कि आगे बतलाया जायगा। सांभर और अजमेर के चौहानों में पृथ्वीराज नामक तीन, और वीसलदेव (विग्रहराज) नामधारी चार राजा हुए[3] हैं, परंतु भाटों की ख्यातों तथा 'पृथ्वीराज रासे' में केवल एक पृथ्वीराज और एक ही वीसलदेव का नाम मिलता है, और एक ही नामवाले इन भिन्न भिन्न राजाओं की जो कुछ घटनाएं उनको ज्ञात हुईं,

पृथाबाई की कथा

कहना अनुचित न होगा कि डूंगरपुर के राजाओं के उल्लिखित वंशक्रम में केसरीसिंह तक के ५ नाम कल्पित ही हैं, जिनका कोई संबंध वागड़ (डूंगरपुर) के राज्य से न था। उसका संस्थापक वास्तव में सामंतसिंह ही हुआ, जहां से वंशावली शुद्ध है। यहां पर यह भी कह देना आवश्यक है कि उक्त वंशक्रम का करणसिंह (कर्ण) मेवाड़ के रावल समरसिंह या रत्नसिंह का पुत्र न था, जैसा कि माना गया है; परन्तु उनसे कई पुश्त पहलेवाला कर्ण या करणसिंह होना चाहिये, जिसको कुंभलगढ़ और राणपुर के शिलालेखों में रणसिंह कहा है, और जिससे रावल और राणा शाखाओं का निकलना ऊपर लिखा गया है। यह सारी गड़बड़ वास्तविक इतिहास के अज्ञान में ख्यातों के लिखनेवालों ने की है। यह विषय हमने यहां बहुत ही संक्षेप से लिखा है; जिनको विशेष जानने की आंकाक्षा हो, वे मेरे लिखे हुए 'डूंगरपुर राज्य की स्थापना' नामक लेख को देखें (ना. प्र. प; भा० १, पृ० १५-३६)।

(१) ततः समरसिंहाख्यः पृथ्वीराजस्य भूपतेः।
पृथाख्याया भगिन्यास्तु पतिरित्यतिहार्दतः॥ २४॥
भाषारासापुस्तकेस्य युद्धस्योक्तोस्ति विस्तरः॥ २७॥
(राजप्रशस्ति, सर्ग ३)।

(२) ना. प्र. प; भाग १, पृ० ४१३, और टिप्पण ४७; पृ० ४४६।

(३) हिं. टॉ. रा; पृ० ३६८-४०१।

उन सबको उन्होंने उसी एक के नाम पर अंकित कर दिया। पृथ्वीराज (दूसरे) के, जिसका नाम पृथ्वीभट भी मिलता है, शिलालेख वि० सं० १२२४, १२२५, और १२२६[1] (ई० स० ११६७, ११६८ और ११६९) के, और मेवाड़ के सामंतसिंह (समतसी) के वि० सं० १२२८ और १२३६ (ई० स० ११७१ और ११७९) के मिले हैं[2]; ऐसी दशा में उन दोनों का कुछ समय के लिये समकालीन होना सिद्ध है। मेवाड़ की ख्यातों में सामंतसिंह को समतसी और समरसिंह को समरसी लिखा है। समतसी और समरसी नाम परस्पर बहुत कुछ मिलते-जुलते हैं, और समरसी का नाम पृथ्वीराज रासा बनने के अनन्तर अधिक प्रसिद्धि में आ जाने के कारण--इतिहास के अंधकार की दशा में—एक के स्थान पर दूसरे का व्यवहार हो जाना कोई आश्चर्य की बात नहीं है। अतएव यदि पृथाबाई की ऊपर लिखी हुई कथा किसी वास्तविक घटना से संबंध रखती हो, तो यही माना जा सकता है कि अजमेर के चौहान राजा पृथ्वीराज दूसरे (पृथ्वीभट) की बहिन पृथाबाई का विवाह मेवाड़ के रावल समतसी (सामंतसिंह) से हुआ होगा। डूंगरपुर की ख्यात में पृथाबाई का संबंध समतसी से बतलाया भी गया है।

कुमारसिंह

मेवाड़ का राज्य खोने पर निराश होकर जब सामंतसिंह वागड़ को चला गया और वहाँ उसने नया राज्य स्थापित किया, तब उसके भाई कुमारसिंह ने गुजरात के राजा से फिर मेल कर उसकी सहायता से चौहान कीतू को मेवाड़ से निकाला, और वह अपने कुलपरंपरागत राज्य का स्वामी बन गया[3]।

मथनसिंह

कुमारसिंह के पीछे उसका पुत्र मथनसिंह राजा हुआ, जिसका नाम कुंभ-

---

(१) ना. प्र. प; भाग १, पृ० ३१८। पृथ्वीराज (दूसरे) का देहांत वि० सं० १२२६ (ई० स० ११६९) में हो चुका था (वही, पृ० ३१८), इसलिये पृथाबाई का विवाह उक्त संवत् से पूर्व होना चाहिये।

(२) देखो ऊपर पृ० ४४९।

(३) देखो ऊपर पृ० ४५१ और टिप्पण २।

लगढ़ के शिलालेख में महणसिंह लिखा है। रावल समरसिंह के समय के वि० सं० १३३० (ई० स० १२७३) के चीरवा गांव (उदयपुर से १० मील उत्तर में) के शिलालेख में लिखा है कि राजा मथनसिंह ने टांटरड (टांटेड़) जाति के उद्धरण को, जो दुष्टों को शिक्षा देने और शिष्टों का रक्षण करने में कुशल था, नागद्रह (नागदा) नगर का तलारक्ष[1] (कोतवाल, नगर-रक्षक) बनाया[2]।

पद्मसिंह

मथनसिंह का उत्तराधिकारी उसका पुत्र पद्मसिंह हुआ, जिसने उपर्युक्त उद्धरण के आठ पुत्रों में से सबसे बड़े योगराज को नागदे की तलारता (कोतवाली) दी;[3] उस (पद्मसिंह)के पीछे उसका पुत्र जैत्रसिंह मेवाड़ का राजा हुआ।

---

(१) प्राचीन शिलालेखों तथा पुस्तकों में तलारक्ष और तलार शब्द नगर-रक्षक अधिकारी (कोतवाल) के अर्थ में प्रयुक्त किये जाते थे। सोड्ढल-रचित 'उदयसुंदरीकथा' में एक राक्षस का वर्णन करते हुए लिखा है कि 'घृणा उत्पन्न करानेवाले उसके रूप के कारण वह नरक नगर के तलार के समान था' (*घृणारूपतया तलारमिव नरकनगरस्य*—पृ० ७५)। इससे ज्ञात होता है कि तलार या तलारक्ष का संबंध नगर की रक्षा से था। अंचलगच्छ के माणिक्यसुंदरसूरि ने वि० सं० १४७८ में 'पृथ्वीचंद्रचरित्र' लिखा, जिसमें एक स्थल पर राज्य के अधिकारियों की नामावली दी है। उसमें तलवर और तलवर्ग नाम भी दिये हैं ('प्राचीन-गुर्जर-काव्य-संग्रह', पृ० ६७—गायकवाड़ ओरिएण्टल् सीरीज़ में प्रकाशित)। ये नाम भी संभवतः तलार या तलारक्ष के सूचक हों; गुजराती भाषा में तलारत या तलार का अपभ्रंश 'तलाटी' मिलता है, जो अब पटवारी का सूचक हो गया है। तलार या तलारक्ष के अधिक परिचय के लिये देखो ना. प्र. प; भाग ३, पृ० २ का टिप्पण १।

(२) *जातष्टांटरडज्ञातौ पूर्वमुद्धरणाभिधः।*
पुमानुमाप्रियोपास्तिसंपन्नशुभवैभवः॥ ६ [॥]
यं दुष्टशिष्टशिक्षणरक्षणदक्षत्वतस्तलारक्षं।
श्रीमथनसिंहनृपतिश्चकार नागद्रहद्रंगे॥ १०॥

(चीरवे का शिलालेख); अब टांटरड (टांटेड़) जाति नष्ट हो गई है।

(३) *अष्टावस्य विशिष्टाः पुत्रा अभवन्विवेकसुपवित्राः।*
तेषु व(ब)भूव प्रथमः प्रथितयशा योगराज इति॥११[॥]
श्रीपद्मसिंहभूपालाद्योगराजस्तलारतां।
नागह्रदपुरे प्राप पौरप्रीतिप्रदायकः॥ १२॥ (वही)।

जैत्रसिंह

जैत्रसिंह के स्थान पर जयतल, जयसल, जयसिंह, जयंतसिंह और जितसिंह नाम भी मिलते हैं। वह राजा बड़ा ही रणरसिक था, और अपने पड़ोसी राजाओं तथा मुसलमान सुलतानों से कई लड़ाइयां लड़ा था। चीरवे के उक्त लेख में लिखा है—'जैत्रसिंह शत्रु राजाओं के लिये प्रलयमारुत के सदृश था, उसको देखते ही किसका चित्त न कांपता? मालवावाले, गुजरातवाले, मारव-निवासी (मारवाड़ का राजा) और जांगल देशवाले, तथा म्लेच्छों का अधिपति (सुलतान) भी उसका मानमर्दन न कर सका[1]।' उसी (जैत्रसिंह) के प्रतिपक्षी धोलका (गुजरात) के वघेलवंशी राणा वीरधवल के मंत्रियों (वस्तुपाल-तेजपाल) का कृपापात्र जयसिंहसूरि अपने 'हंमीरमदमर्दन' नाटक में वीरधवल से कहलाता है कि, शत्रु राजाओं के आयुष्यरूपी पवन का पान करने के लिये चलती हुई कृष्ण सर्प जैसी तलवार के अभिमान के कारण मेदपाट (मेवाड़) के राजा जयतल (जैत्रसिंह) ने हमारे साथ मेल न किया[2]।

---

(१) *श्रीजैत्रसिंहस्तनुजोस्य जातोभिजानिभूभृत्प्रलयानिलाभः।*
सर्व्वत्र येन स्फुरता न केषां चित्तानि कंपं गमितानि सद्यः ॥ ५ ॥
न मालवीयेन न गौर्जरेण न मारवेशेन न जांगलेन।
म्लेच्छाधिनाथेन कदापि मानो म्लानिं न निन्येवनिपस्य यस्य ॥ ६ ॥

चीरवे का शिलालेख—मूल लेख की छाप से।

घावसा गांव (चित्तोड़ के निकट) की टूटी हुई बावड़ी के—जैत्रसिंह के पुत्र तेजसिंह के समय के—वि० सं० १३२२ (ई० स० १२६५) कार्तिक सुदि १ के शिलालेख में इसी आशय के दो श्लोक हैं। *श्रीजैत्रसिंहस्तनुजोस्यजातः*—यह श्लोक वही है, जो चीरवे के लेख में है, ये दोनों लेख एक ही पुरुष के रचे हुए हैं ॥५[॥]

श्रीमद्गुर्ज्जरमालतुरुष्कशाकंभरीश्वरैर्यस्य।
चक्रे न मानभंगः स स्वःस्थो जयतु जैत्रसिंहनृपः ॥ ६ ॥

(घावसे का शिलालेख-अप्रकाशित)।

इस लेख के शाकंभरीश्वर से अभिप्राय नाडौल के चौहानों से है। चौहानमात्र अपनी मूल राजधानी शाकंभरी (सांभर) से 'शाकंभरीश्वर' या 'संभरी नरेश' कहलाते हैं।

(२) *प्रतिपार्थिवायुर्वायुकवलनप्रसर्पदसितसर्पायमाण—*

चीरवे के उक्त लेख से पाया जाता है कि नागदा के तलारक्ष योगराज के चार पुत्र—पमराज, महेंद्र, चंपक और क्षेम—हुए। महेंद्र का पुत्र बालाक कोट्टडक (कोटड़ा) लेने में राणक (राणा) त्रिभुवन के साथ के युद्ध में राजा जैत्रसिंह के आगे लड़कर मारा गया, और उसकी स्त्री भोली उसके साथ सती[1] हुई। त्रिभुवन (त्रिभुवनपाल) गुजरात के सोलंकी राजा भीमदेव (दूसरे, भोलाभीम) का उत्तराधिकारी था। भीमदेव (दूसरे) ने वि० सं० १२३५ से १२९८ (ई० स० ११७८ से १२४१-२) तक राज्य किया[2]। त्रिभुवनपाल का वि० सं० १२९९ (ई० स० १२४२-३) का एक दानपत्र मिला है, और उसने बहुत ही थोड़े समय राज्य किया था[3]। इसलिये त्रिभुवनपाल के साथ की जैत्रसिंह की लड़ाई वि० सं० १२९९ (ई० स० १२४२-३) के आसपास होनी चाहिये। चीरवे के लेख में गुजरातवालों से लड़ने का जो उल्लेख है, वह इसी लड़ाई से संबंध रखता है।

गुजरात के राजा त्रिभुवनपाल से लड़ाई

रावल समरसिंह के आबू के शिलालेख में लिखा है—'जैत्रसिंह ने नडूल (नाडौल, जोधपुर राज्य के गोड़वाड़ ज़िले में) को जड़ से उखाड़ डाला[4]'। नाडौल के चौहानों के वंशज कीतू (कीर्तिपाल) ने मेवाड़ को थोड़े समय के लिये ले लिया था, जिसका बदला लेने

नाडौल के चौहानों से युद्ध

कृपाणदर्पस्मितमस्मदमिलितं मेदपाटपृथिवीललाटमण्डलं जयतलं······

(हंमीरमदमर्दन, पृ० २७)।

(१) *योगराजस्य चत्वारश्चतुरा जज्ञिरेंगजाः।*

पमराजो महेंद्रोथ चंपकः क्षेम इत्यमी ॥१५[॥]······

बालाकः कोट्टडकग्रहणे श्रीजैत्रसिंहनृपपुरतः।

त्रिभुवनराणकयुद्धे जगाम युद्ध्वापरं लोकं ॥१९[॥]

तद्विरहमसहमाना भोल्यपि नाम्नादिमा विदग्धानां।

दग्ध्वा दहने देहं तद्भार्यार्या समन्वगमत् ॥ २० ॥

(चीरवे का शिलालेख)।

(२) हिं. टॉ. रा; पृ० ३३३।

(३) वहीं; पृ० ३३६-३७।

(४) *नडूलमूलंकष(ष)बाहुलक्ष्मी-*

स्तुरुष्कसैन्यार्णवकुंभयोनिः।

को जैत्रसिंह ने नाडौल पर चढ़ाई की हो। जैत्रसिंह के समय नाडौल और जालोर के राज्य मिलकर एक हो गये थे, और उक्त कीतू का पौत्र उदयसिंह सारे राज्य का स्वामी एवं जैत्रसिंह का समकालीन[1] था, इसलिये यह लड़ाई उदयसिंह के साथ हुई होगी। उदयसिंह की पौत्री और चाचिगदेव की पुत्री रूपादेवी का विवाह जैत्रसिंह के पुत्र तेजसिंह के साथ हुआ, जिससे सम्भव है कि उदयसिंह ने अपनी पौत्री का विवाह कर मेवाड़वालों के साथ अपना प्राचीन वैर मिटाया हो। चीरवे के लेख में मारव (मारवाड़) के राजा से लड़ने का जो उल्लेख है, वह इसी युद्ध का सूचक है।

मालवे के परमारों से युद्ध

चीरवे के लेख से पाया जाता है--'राजा जैत्रसिंह ने तलारक्ष योगराज के चौथे पुत्र क्षेम को चित्तोड़ की तलारता (कोतवाली) दी थी। उसकी स्त्री हीरू से रत्न का जन्म हुआ। रत्न के छोटे भाई मदन ने उत्थूणक (अर्थूणा, बांसवाड़ा राज्य में) के रणखेत में श्रीजेसल (जैत्रसिंह) के लिये पंचलगुडिक[2] जैत्रमल्ल से लड़कर अपना बल प्रकट किया[3]'। अर्थूणा पहले मालवे के परमारों की एक छोटी शाखा के अधिकार में था,

अस्मिन् सुराधीशसहासनस्थे
ररक्ष भूमीमथ जैत्रसिंहः ॥ ४२ ॥

(आबू का शिलालेख; इं. ऐं; जि० १६, पृ० ३४६)।

(१) जैत्रसिंह का समय शिलालेखों तथा उसके राजत्वकाल की लिखी हुई पुस्तकों से वि० सं० १२७० से १३०६ (ई० स० १२१३ से १२५२) तक तो निश्चित है (हिं. टॉ. रा; पृ० ३२३। ए. इं; जि० ११, पृ० ७४)। नाडौल के राजा उदयसिंह के शिलालेख वि० सं० १२६२ से १३०६ (ई० स० १२०५ से १२४६) तक के मिल चुके हैं (ए. इं; जि० ११, पृ० ७८ के पास का वंशवृक्ष)।

(२) 'पंचलगुडिक' संभवतः जैत्रमल्ल का खिताब होगा।

(३) *क्षेमस्तु निर्म्मितक्षेमश्चित्रकूटे तलारतां।*
राज्ञः श्रीजैत्रसिंहस्य प्रसादादापदुत्तमात् ॥२२[॥]
हीरूरिति प्रसिद्धा प्रतिपिन्नार्त्तार्त्तिदुर्मतिरभूच्च।
जाया तस्यामायाजायत तनुजस्तयो रत्नः ॥२३[॥]……॥
रत्नानुजोस्ति रुचिराचारप्रख्यातधीरसुविचारः।
मदनः प्रसन्नवदनः सततं कृतदुष्टजनकदनः ॥२८[॥]

रूप पाठकों को विदित हो सके। जिस समय यह लड़ाई होने वाली थी, तब गुजरात में सोलंकी राजा भीमदेव (दूसरा) राज्य करता था, जिसको 'भोला भीम' भी कहते थे। गद्दी पर बैठने के समय वह बालक था और पीछे भी निर्बल ही निकला, जिससे उसके मंत्री और मांडलिक (सामंत, सरदार) उसका बहुतसा राज्य दबाकर[1] स्वतंत्र-से बन बैठे, अतएव वह नाममात्र का राजा रह गया। उसके सरदारों में धोलका का बघेल (सोलंकियों की एक शाखा) राणा लवणप्रसाद था, जिसका युवराज वीरधवल था। गुजरात के राज्य की बागडोर इन्हीं पिता-पुत्र के हाथ में थी; युवराज वीरधवल का मंत्री वस्तुपाल एवं उसका भाई तेजपाल चाणक्य के समान नीतिनिपुण थे। वीरधवल और उसके इन मंत्रियों की प्रशंसा के लिये ही उक्त नाटक की रचना हुई है। उससे पाया जाता है कि, मंत्रियों को यह सूचना मिली कि सुलतान की सेना (मेवाड़ में होती हुई) गुजरात पर आने वाली है। उसी समय दक्षिण (देवगिरि) के यादव राजा सिंघण ने भी गुजरात पर चढ़ाई कर दी। वस्तुतः गुजरात के लिये यह समय बड़ा ही विकट था। वीरधवल के उक्त मंत्रियों ने सोमसिंह, उदयसिंह और धारावर्ष नामक मारवाड़ के राजाओं को—जो स्वतंत्र बन बैठे थे—फिर अपना सहायक बनाया[2]। इसी प्रकार गुजरात आदि के सामंतों को भी अपने पक्ष में लेकर मेवाड़ के राजा जयतल (जैत्रसिंह) से भी मैत्री जोड़नी चाही, परंतु उसने अपनी वीरता के गर्व में वीरधवल से मैत्री न की। बढ़ते हुए सिंघण को रोकने के लिये उसने कूटनीति का प्रयोग कर अपने गुप्त दूतों द्वारा उसकी सेना में फूट डलवाई, इतना ही नहीं, किन्तु उसको यह बात भी जँचा दी कि

(१) सोमेश्वर-रचित 'कीर्तिकौमुदी,' २। ६१।

(२) *श्रीसोमसिंहोदयसिंहधारा-*
वर्षैरमीभिर्मरुदेशनाथैः ॥

हंमीरमदमर्दन, पृ० ११।

सोमसिंह कहां का राजा था, यह निश्चय नहीं हो सका। उदयसिंह जालोर का चौहान (सोनगरा) राजा था, जिसके समय के वि० सं० १२६२ से १३०६ (ई० स० १२०५ से १२४९) तक के शिलालेख मिले हैं (ए. इं; जि० ११, पृ० ७८ के पास का वंशवृक्ष)। धारावर्ष आबू का परमार राजा था, जिसके समय के शिलालेखादि वि० सं० १२२० से १२७६ (ई० स० ११६३ से १२१९) तक के मिले हैं (मेरा 'सिरोही राज्य इतिहास;' पृ० १५२)।

वीरधवल सुलतान से लड़नेवाला ही है, इसलिये उस लड़ाई से कमज़ोर हो जाने पर उसको जीतना सहज हो जायगा। इस तरह उधर तो सिंघण को रोका और इधर सुलतान के सैन्य के साथ की मेवाड़ के राजा की लड़ाई का हाल अपने गुप्तचरों से मंगवाया जाता था'[1]। उसका वर्णन तीसरे अंक में दिया है, जिसका सारांश नीचे लिखा जाता है—

'कमलक नामक दूत ने आकर निवेदन किया कि सुलतान की फ़ौज ने मेवाड़ को जला दिया, उसकी राजधानी (नागदा) के निवासियों को तलवार के घाट उतारा, जयतल (जैत्रसिंह) कुछ न कर सका, लोगों में त्राहि-त्राहि मच गई और जब मुसलमान बच्चों को निर्दयता से मार रहे थे, तब उनकी चिल्लाहट सुनकर मुसलमान का भेष धारण किये हुए मैंने पुकारा कि भागो भागो! वीरधवल आ रहा है। यह सुनते ही तुरुष्कों (तुर्कों) की सेना भाग निकली और लोग वीरधवल को देखने के लिये आतुर होकर पूछने लगे कि वीरधवल कहां है। तब मैंने मुसलमान का भेष छोड़कर उनसे कहा कि वीरधवल आ रहा है, इससे उनको हिम्मत बँध गई और उन्होंने भागते हुए शत्रु का पीछा किया'[2]।

इस वर्णन में जयसिंहसूरि का पक्षपात झलक रहा है, क्योंकि वीरधवल और उसके मंत्रियों का उत्कर्ष एवं जैत्रसिंह की निर्बलता बतलाने की इसमें चेष्टा की गई है; अर्थात् दूत का यह कहना, कि जैत्रसिंह से तो कुछ न बन पड़ा परन्तु मेरे इतना कहते ही कि 'वीरधवल' आता है, भागो भागो! सारा वीर मुसलिम सैन्य एक दम भाग निकला। यह सारा कथन सर्वथा विश्वासयोग्य नहीं है; संभव तो यह है कि नागदा तोड़ने के पीछे सुलतान और जैत्रसिंह की मुठभेड़ हुई हो, जिसमें हारकर मुसलमान सेना भाग निकली हो। चीरवे तथा घाघसे के शिलालेखों में लिखा है कि म्लेच्छों का स्वामी भी जैत्रसिंह का मानमर्दन न कर सका[3], और रावल समरसिंह के आबू के शिलालेख में उसको तुरुष्करूपी समुद्र का पान करने के लिये अगस्त्य के समान बतलाया[4] है, जो अधिक विश्वास-योग्य है।

(१) हंमीरमदमर्दन, अंक १–२।

(२) वही; अंक ३, पृ० २९–३३।

(३) देखो ऊपर पृ० ४६० टिप्पण १।

(४) देखो ऊपर पृ० ४६१ और टिप्पण ४।

जयसिंहसूरि की उक्त पुस्तक का नाम 'हंमीरमदमर्दन' रखने का मुख्य आधार सुलतान की सेना का मेवाड़ से पराजित होकर भागना ही है। इससे वीरधवल का कुछ भी संबंध न था, तो भी उस विजय का यश उक्त सूरि ने जैत्रसिंह को न देकर वीरधवल के नाम पर अंकित किया और उसके लिये उसके मंत्रियों की खूब प्रशंसा की, जिसके दो कारण प्रतीत होते हैं। प्रथम तो जयसिंहसूरि भड़ौच के मुनिसुव्रत के जैन मंदिर का आचार्य था; और वस्तुपाल-तेजपाल ने जैन धर्म के उत्कर्ष के लिये मंदिरादि बनवाने में करोड़ों रुपये व्यय किये थे[1], जिसके लिये एक जैनाचार्य उनकी प्रशंसा करे, यह स्वभाविक बात है। दूसरा मुख्य कारण यह था, कि जब तेजपाल यात्रा के लिये भड़ौच गया, तब जयसिंहसूरि ने उसकी प्रशंसा के श्लोक उसे सुनाकर यह प्रार्थना की—'शकुनिका विहार की २५ देवकुलिकाओं पर बांस के दंड हैं, जिनके स्थान में सुवर्ण के दंड चढ़ा दीजिये'। तेजपाल ने अपने बड़े भाई वस्तुपाल की अनुमति से उसे स्वीकार कर २५ सुवर्ण दंड उनपर चढ़वा दिये[2]। इसपर उक्त सूरि ने उन दोनों भाइयों की प्रशंसा का 'वस्तुपालप्रशस्ति' नामक विस्तीर्ण शिलालेख बनाकर उक्त मंदिर में लगवाया। 'हंमीरमदमर्दन' की रचना भी उसी उपकार का बदला देने की इच्छा से की गई हो, यह संभव है। गुजरात के डूबते हुए राज्य का सरदार वीरधवल जैत्रसिंह जैसे प्रबल राजा के सामने तुच्छ था; वास्तव में जैत्रसिंह ने ही सुलतान की फ़ौज को भगाकर गुजरात को नष्ट होने से बचाया, परंतु जयसिंहसूरि को अपने राजा और उसके मंत्रियों का उत्कर्ष बतलाना था, इसलिये उसने वास्तविक घटना को दूसरा ही रूप दे दिया। ऐसे ही उक्त नाटक के चौथे अंक में हंमीर के विषय में जो कुछ लिखा है, वह भी सारा कपोलकल्पित ही है[3]।

---

(१) मेरा सिरोही राज्य का इतिहास; पृ० ६४।

(२) 'वस्तुपाल-प्रशस्ति,' श्लोक ६५–६६।

(३) उस वर्णन का सारांश यह है कि तेजपाल का भेजा हुआ गुप्त दूत 'शीघ्रक' अपने को खप्परखान (ख़लीफ़ा का मुख्य सरदार या सेनापति हो) का दूत प्रगट कर मुसलमानों के मालिक ख़लीफ़ा के पास बग़दाद पहुंचा, और उससे यह निवेदन किया कि मीलच्छीकार (हिन्दुस्तान का सुलतान) आपकी आज्ञा को भी नहीं मानता है; इसपर क्रुद्ध होकर ख़लीफ़ा ने लिखित हुक्म दिया कि उस (सुलतान) को क़ैद कर मेरे पास भेज दो। यह हुक्म लेकर ख़लीफ़ा का दूत बना हुआ वह खप्परखान के पास पहुंचा। उस हुक्म को देखते

जिस सुलतान ने मेवाड़ पर यह चढ़ाई की, उसका नाम शिलालेखों में नहीं दिया। 'हंमीरमदमर्दन' में उसका नाम 'मीलच्छीकार' लिखा है, परन्तु हिन्दुस्तान में इस नाम का कोई सुलतान नहीं हुआ; यह नाम 'अमीरशिकार' का संस्कृत शैली का रूप प्रतीत होता है। 'अमीरशिकार' का खिताब क़ुतबुद्दीन ऐबक ने अपने गुलाम अल्तमश को दिया था[1]। क़ुतबुद्दीन ऐबक के पीछे उसका बेटा आरामशाह दिल्ली के तख़्त पर बैठा, जिसको निकालकर अल्तमश वहां का सुलतान हुआ और शम्सुद्दीन ख़िताब धारण कर हिजरी सन् ६०७ से ६३३ (वि० सं० १२६७ से १२९३=ई० स० १२१० से १२३६) तक राज्य किया। शम्सुद्दीन अल्तमश की यह चढ़ाई वि० सं० १२७९ और १२८६ (ई० स० १२२२ और १२२९) के बीच[2] किसी वर्ष होनी चाहिये। उसने राजपूताने पर कई चढ़ाइयां[3] की थीं, जिनका वर्णन फ़ारसी तवारीख़ों में मिलता है, परन्तु

ही उसने सुलतान पर चढ़ाई कर दी। जब वह मथुरा तक पहुंच गया, तब सुलतान घबराया और उसने अपने कादी और रादी नामक दो गुरुओं को ख़लीफ़ा के पास उसका क्रोध शांत करने को भेजा। जब सुलतान ने अपने प्रधान (प्रधान मंत्री) गोरी ईसप की सम्मति ली, तो उसने बिना लड़े पीछे हटने की सलाह दी, जिसको उस(सुलतान)ने न माना। इतने में वीरधवल भी सुलतान पर चढ़ आया, जिससे वह तथा उसका प्रधान मंत्री दोनों भाग गये ('हंमीरमदमर्दन' अंक ४)। यह सारी कथा कृत्रिम ही है, ऐतिहासिक नहीं।

(१) कर्नल रावर्टी-कृत तबकाते नासिरी का अंग्रेज़ी अनुवाद, पृ० ६०३। इलियट; हिस्ट्री ऑफ़ इंडिया; जि० २, पृ० ३२२।

(२) शम्सुद्दीन अल्तमश के साथ जैत्रसिंह की लड़ाई का यह समय मानने का कारण यह है कि वि०सं० १२७६ (ई० स० १२१९) में वस्तुपाल धोलके के सरदार का मंत्री बना, और वि० सं० १२८६ (ई० स० १२२९) में 'हंमीरमदमर्दन' की जैसलमेर के भंडारवाली ताड़पत्र की पुस्तक लिखी गई या बनी (*संवत् १२८६ वर्षे आषाढवदि ६ शनौ हंमीरमदमर्दनं नाम नाटकं*—हंमीरमदमर्दन का अंत); और रावल जैत्रसिंह के नांदेसमा गांव के सूर्यमंदिर के वि० सं० १२७९ (ई० स० १२२२) के शिलालेख से पाया जाता है कि उस समय तक नागदा टूटा न था और जैत्रसिंह वहां पर राज्य करता था, इसलिये वह घटना उक्त दोनों संवतों के बीच होनी चाहिये।

(३) शम्सुद्दीन ने हिजरी सन् ६१२ (वि० सं० १२७२=ई० स० १२१५) के आसपास जालोर के चौहान राजा उदयसिंह पर (ब्रिग्ज़; फ़िरिश्ता; जि० १, पृ० २०७), हि० स० ६२३ (वि० सं० १२८३=ई० स० १२२६) में रणथंभोर पर (कर्नल रावर्टी; 'तबकाते नासिरी का अंग्रेज़ी अनुवाद, पृ० ६११। इलियट; हिस्ट्री ऑफ़ इंडिया; जि० २,

जैत्रसिंह के साथ की इस लड़ाई का वर्णन उनमें कहीं नहीं मिलता, जिसका कारण उसकी हार होना ही कहा जा सकता है।

कर्नल टॉड ने अपने 'राजस्थान' में लिखा है—"राहप ने सं० १२५७ (ई० स० १२०१) में चित्तोड़ का राज्य पाया और कुछ समय के अनन्तर उस पर शम्सुद्दीन का हमला हुआ, जिसको उस (राहप) ने नागोर के पास की लड़ाई में हराया"[1]। उक्त कर्नल ने राहप को रावल समरसिंह का पौत्र और करण का पुत्र मानकर उसका चित्तोड़ के राज्यसिंहासन पर बैठना लिखा है, परन्तु न तो वह रावल समरसिंह का, जिसके वि० सं० १३३० से १३५८ तक के कई शिलालेख मिले हैं, पौत्र था और न वह कभी चित्तोड़ का राजा हुआ। वह तो सीसोदे की जागीर का स्वामी था और समरसिंह से बहुत पहले हुआ था, अतएव शम्सुद्दीन को हरानेवाला राहप नहीं, किंतु जैत्रसिंह था। ऐसे ही शम्सुद्दीन के साथ का युद्ध नागोर के पास नहीं, किंतु नागदे के पास हुआ था, जैसा कि चीरवे के शिलालेख से बतलाया जा चुका है। इसी तरह टॉड का दिया हुआ उक्त लड़ाई का संवत् भी अशुद्ध ही है[2]।

सिंध की सेना से लड़ाई

रावल समरसिंह के आबू के लेख में जैत्रसिंह का तुरुष्क (सुलतान की) सेना नष्ट करने के अतिरिक्त सिंध की सेना से युद्ध होने का उल्लेख इस तरह है—'सिंधुकों (सिंधवालों) की सेना का रुधिर पी-कर मस्त बनी हुई पिशाचियों के आलिंगन के आनन्द से मग्न होकर पिशाच लोग रणखेत में अब तक श्रीजैत्रसिंह के भुजबल की

पृ० ३२४), हि० स० ६२४ (वि० सं० १२८४= ई० स० १२२७) में मंडोर पर (कर्नल रावर्टी; 'तबकाते नासिरी का अंग्रेज़ी अनुवाद'; पृ० ६११) और हि० स० ६२५ (वि० सं० १२८५=ई० स० १२२८) में सवालक (स्वालक, सपादलक्ष), अजमेर, लावा और सांभर पर चढ़ाई की (कर्नल रावर्टी; तबकाते नासिरी का अंग्रेज़ी अनुवाद; पृ० ७२८)।

(१) टॉ; रा; जि० १, पृ० ३०५।

(२) कर्नल टॉड ने राहप को रावल समरसिंह का पौत्र और करण का पुत्र माना है, परन्तु करण (कर्णसिंह, रणसिंह) समरसिंह के पीछे नहीं किन्तु पहले हुआ था (देखो ऊपर रणसिंह (कर्ण) का वृत्तान्त, पृ० ४४६–४७)। रावल समरसिंह वि० सं० १३५८ (ई० स० १३०२) माघ सुदि १० तक जीवित था।

प्रशंसा करते हैं[1]। इसका आशय यही है कि जैत्रसिंह ने सिंध की किसी सेना को नष्ट किया था। अब यह जानना आवश्यक है कि यह सेना किसकी थी, और मेवाड़ की तरफ़ कब आई। फ़ारसी तवारीख़ों से पता लगता है कि शहाबुद्दीन ग़ोरी का गुलाम नासिरुद्दीन क़ुबाच, जो कुतुबुद्दीन ऐबक का दामाद था, कुतुबुद्दीन के मरने पर सिंध को दबा बैठा। मुग़ल चंगेज़खां ने ख़्वार्ज़्म् के सुलतान मुहम्मद (कुतुबुद्दीन) पर चढ़ाई कर उसके मुल्क को बरबाद कर दिया। मुहम्मद के पीछे उसका पुत्र जलालुद्दीन (मंगबर्नी) ख़्वार्ज़्मी, चंगेज़खां से लड़ा और हारने पर सिंध की ओर चला गया। फिर नासिरुद्दीन क़ुबाच को उच्छ की लड़ाई में हराकर ठट्टा नगर (देवल) पर अपना अधिकार कर लिया। ठट्टे का राजा, जो सुमरा जाति का था और जिसका नाम जेयसी (जयसिंह) था, भागकर सिंधु के एक टापू में जा रहा। जलालुद्दीन ने वहां के मंदिरों को तोड़ा और उनके स्थान पर मसजिदें बनवाई; फिर हि० स० ६२० (वि० सं० १२८०=ई० स० १२२३) में ख़वासख़ां की मातहती में नहरवाले (अनहिलवाड़े) पर सेना भेजी, जो बड़ी लूट के साथ लौटी[2]। सम्भव है कि जैत्रसिंह ने सिंध की इसी सेना से अनहिलवाड़े (गुजरात की राजधानी) जाते या वहां से लौटते समय लड़ाई की हो।

सुलतान नासिरुद्दीन महमूद की मेवाड़ पर चढ़ाई

तारीख़ फ़िरिश्ता में लिखा है—'दिल्ली के सुलतान नासिरुद्दीन महमूद ने अपने भाई जलालुद्दीन को हि० स० ६४६ (वि० सं० १३०५=ई० स० १२४८) में कन्नौज से दिल्ली बुलाया; परन्तु उसे अपने प्राणों का भय होने से वह सब साथियों सहित चित्तोड़ की पहाड़ियों में भाग गया। सुलतान ने उसका पीछा किया,

(१) अद्यापि सिंधुकचमूरुधिरासवमत्त—
संघूर्णमानरमणीपरिरंभणेन ।
आनंदमंदमनसः समरे पिशाचाः
श्रीजैत्रसिंहभुजविक्रममुद्गृणंति ॥ ४३ ॥

इं. एँ; जि० १६, पृ० ३४६-५०। 'भावनगर प्राचीनशोधसंग्रह;' पृ० २५।

(२) ब्रिग्ज़; फ़िरिश्ता; जि० ४, पृ० ४१३-२०। मेजर डफ़; क्रॉनॉलॉजी ऑफ़ इंडिया; पृ० १७६-८०। कर्नल रावर्टी-कृत तबक़ाते नासिरी का अंग्रेज़ी अनुवाद; पृ० २९४ का टिप्पण।

परन्तु आठ महीनों के बाद जब उसे यह ज्ञात हुआ कि वह उसके हाथ नहीं आ सकता, तब वह दिल्ली को लौट गया[1]। उक्त सन् में मेवाड़ का राजा जैत्रसिंह था।

दिल्ली के गुलाम सुलतानों के समय मेवाड़ के राजाओं में सबसे प्रतापी और बलवान राजा जैत्रसिंह ही हुआ, जिसकी वीरता की प्रशंसा उसके विपक्षियों ने भी की है। जैत्रसिंह के समय सुलतान शम्सुद्दीन अल्तमश ने नागदा तोड़ा, तब से मेवाड़ की राजधानी स्थिर रूप से चित्तोड़ हुई। उसके पहले नागदा और आहाड़ दोनों राजधानियां थीं।

जैत्रसिंह के समय के शिलालेखादि

अब तक जैत्रसिंह के समय के दो शिलालेख और दो हस्तलिखित पुस्तकें मिली हैं। सबसे पहला शिलालेख वि० सं० १२७० (ई० स० १२१३) का एकलिंगजी के मंदिर के चौक में नंदी के निकट खड़ी हुई एक छोटीसी स्मारक-शिला पर खुदा है[2]। दूसरा शिलालेख वि० सं० १२७६ (ई० स० १२२२) वैशाख सुदि १३ का नादेसमा गांव में चारभुजा के मंदिर के पासवाले टूटे हुए सूर्य के मंदिर में एक स्तंभ पर खुदा हुआ है[3], जिसमें जैत्रसिंह की राजधानी (निवासस्थान) नागद्रह (नागदा) होना, तथा उसके श्रीकरण ('श्री' के चिह्नवाली मुख्य मुद्रा या मोहर करनेवाले मंत्री) का नाम डूंगरसिंह लिखा है। उसके राज्य-समय वि० सं० १२८४ (ई० स० १२२८) फाल्गुन वदि अमावास्या के दिन 'ओघनिर्युक्ति' नामक जैन पुस्तक ताड़पत्रों पर आघाटपुर (आहाड़) में लिखी गई थी, जो इस समय खंभात नगर (गुजरात में) के शांतिनाथ के मंदिर में विद्यमान है। उक्त पुस्तक में उसके महामात्य (मुख्य

(१) ब्रिग्ज़; फ़िरिश्ता; जि० १, पृ० २१८।

(२) *संवत् १२७० वर्षे महाराजाधिराजश्रीजैत्रसिंहदेवेषु*...... (भावनगर प्राचीनशोधसंग्रह; पृ० ४७, टिप्पण। भावनगर इन्स्क्रिप्शंस, पृ० ९३, टिप्पण)।

(३) *ओं संवत् १२७६ वर्षे वैशाख सुदि १३ सु(शु)क्रे अद्येह श्रीनागद्रहे महाराजाधिराजश्रीजयतसिंहदेवकल्याणविजयराज्ये तन्नि[युक्त]श्रीश्रीकरणे महं [डुं]गरसीहप्रतिपत्तौ*........(नादेसमा का शिलालेख, अप्रकाशित)। इस लेख से यह भी पाया जाता है कि उक्त संवत् तक तो मेवाड़ की राजधानी—नागदा नगर—टूटी न थी।

मंत्री) का नाम जगत्सिंह लिखा है[1]। रावल जयतसिंह (जैत्रसिंह) और उसके आश्रित जयसिंह के समय ठ० (ठक्कुर=ठाकुर) वयजल ने वि० सं० १३०९ (ई० स० १२५३) माघ वदि १४ को 'पाक्षिकवृत्ति' नामक पुस्तक आघाट (आहाड़) में लिखी, जिसमें जयसिंह (जैत्रसिंह) को दक्षिण और उत्तर के राजाओं का मान-मर्दन करनेवाला महाराजाधिराज कहा है, और उसके श्रीकरणाधिकारी का नाम महं० (महत्तर-महत्तम-मेहता) तल्हण दिया है[2]। यह पुस्तक भी खंभात के उक्त मंदिर में रक्खी हुई है।

इन शिलालेखों तथा पुस्तकों से निश्चित है कि वि० सं० १२७० से १३०९ (ई० स० १२१३ से १२५३) तक तो जैत्रसिंह मेवाड़ का राजा था और उसके पीछे भी कुछ समय तक उसने राज्य किया हो, यह संभव है। उसके पुत्र और उत्तराधिकारी तेजसिंह के समय की वि० सं० १३१७ (ई० स० १२६१) माघ सुदि ४ की आघाट-दुर्ग (आहाड़) में लिखी हुई 'श्रावकप्रतिक्रमणसूत्रचूर्णि' नामक पुस्तक[3] मिली है, जिससे जैत्रसिंह का देहान्त वि० सं० १३०९ और १३१७ (ई० स० १२५३ और १२६१) के बीच किसी वर्ष होना चाहिये।

तेजसिंह

जैत्रसिंह के पीछे उसका पुत्र तेजसिंह मेवाड़ का स्वामी हुआ, जिसके विरुद

(१) संवत् १२८४ वर्षे फाल्गुनामावास्यां सोमे अद्येह श्रीमदाघाटदुर्गे समस्तराजावलीसमलंकृतमहाराजाधिराजश्रीजैत्रसिंहदेवकल्याणविजयराज्ये तन्नियुक्तमहामात्यश्रीजगत्सिंहे समस्तमुद्राव्यापारान् परिपंथयतीत्येवं काले प्रवर्त्तमाने सा० उद्धरसूनुना ········सा० हेमचन्द्रेण दशवैकालिकपाक्षिकसूत्रऊंघनिर्युक्ति(ओघनिर्युक्ति)-सूत्रपुस्तिका लेखिता (पीटर्सन की तीसरी रिपोर्ट, पृ० ५२)।

(२) संवत् १३०९ वर्षे माघ वदि १४ सोमे स्वस्ति श्रीमदाघाटे महाराजाधिराजभगवन्नारायणदक्षिणउत्तराधीशमानमर्दनश्रीजयतसिंहदेवतत्पट्टविभूषणराजाश्रिते जयसिंघविजयराज्ये तत्पादपद्मोपजीविनिमहं०श्रीतल्हणप्रतिपत्तौ श्रीश्रीकरणादिसमस्तव्यापारान्परिपंथयतीत्येवं काले प्रवर्त्तमाने ठ० वयजलेन पाक्षिकवृत्तिर्लिखितेति ॥

(वही; पृ० १३०)।

(३) इस पुस्तक के अंत का अवतरण तेजसिंह के वृत्तान्त के साथ दिया जायगा।

'परम भट्टारक' 'महाराजाधिराज' और 'परमेश्वर' मिलते हैं। जैत्रसिंह की जीवित दशा में गुजरात के राजा भीमदेव (दूसरे, भोलाभीम) का देहान्त वि० सं० १२९८ (ई० स० १२४२) में हुआ था[1]। उसके पीछे त्रिभुवनपाल गुजरात[2] की गद्दी पर बैठा। वि० सं० १२९४ (ई० स० १२३८) में धोलका के बघेल राणा वीरधवल का देहान्त होने पर मन्त्री वस्तुपाल ने उसके छोटे पुत्र वीसलदेव का पक्ष लेकर उसको धोलका का राणा बनाया[3]; उसने वि० सं० १३०० (ई० स० १२४३-४४) के आसपास त्रिभुवनपाल से गुजरात का राज्य छीन लिया[4]। उसके वि० सं० १३१७ (ई० स० १२६०-६१) के दानपत्र में उसको 'मेदपाटक' (मेवाड़) देशरूपी कलुष (दुष्ट) राज्यलता की जड़ उखाड़ने के लिये कुद्दाल के समान बतलाया है[5]। इससे अनुमान होता है कि उसने मेवाड़ पर (संभवतः तेजसिंह के समय[6]) चढ़ाई की हो। चीरवे के शिलालेख में जैत्रसिंह के नियत किये हुए चित्तोड़ के तलारक्ष क्षेम के पुत्र रत्न के विषय में लिखा है कि वह शत्रुओं का संहार करता हुआ चित्रकूट (चित्तोड़) की तलहटी में श्रीभीमसिंह (प्रधान[7]) सहित काम आया। चित्तोड़ की तलहटी

(१) हिं. टॉ. रा; पर मेरा टिप्पण पृ० ४३६।

(२) वही; पृ० ४३८।

(३) वही; पृ० ४३१।

(४) वही; पृ० ४३९।

(५) मेदपाटकदेशकलुषराज्यवल्लीकंदोच्छेदनकुद्दालकल्प........।

(इं० ऐं; जि० ६, पृ० २१०)।

(६) तेजसिंह और वीसलदेव दोनों समकालीन थे। चीरवे के शिलालेख का रचयिता चैत्रगच्छ का आचार्य रत्नप्रभसूरि अपने को विश्वलदेव (वीसलदेव) और तेजसिंह से सम्मानित बतलाता है—

श्रीमद्विश्वलदेवश्रीतेजसिंहराजकृतपूजः।

स इमां प्रशस्तिमकरोदिह चित्रकूटस्थः ॥ ४८ ॥

(चीरवे का शिलालेख)।

(७) भीमसिंह को मेवाड़ का प्रधान मानने का कारण यह है, कि चीरवे के शिलालेख में चित्तोड़ के तलारक्ष क्षेम के दूसरे पुत्र (रत्न के छोटे भाई) मदन के लिये यह लिखा है कि 'श्रीभीमसिंह का पुत्र राजसिंह प्रधान का पद पाने पर पहले के कामों का स्मरण कर उसको बहुत मानता था—

(क़िले के नीचे का नगर) की यह लड़ाई तेजसिंह और वीसलदेव के बीच होना प्रतीत होता है, जिसका संकेत वीसलदेव के दानपत्र में मिलता है।

तेजसिंह की राणी जयतल्लदेवी ने, जो समरसिंह की माता[1] थी, चित्तोड़ पर श्यामपार्श्वनाथ का मंदिर बनवाया[2] था। बुड़तरे की बावड़ी के शिलालेख से अनुमान होता है कि तेजसिंह की दूसरी राणी रूपादेवी होगी, जो जालोर के चौहान राजा चाचिगदेव और उसकी राणी लक्ष्मीदेवी की पुत्री थी। उसने अपने भाई सामंतसिंह के राज्य-समय वि० सं० १३४० (ई० स० १२८३) में बुड़तरा गांव (जोधपुर राज्य) में बावड़ी बनवाई; उसी से कुंवर क्षेत्रसिंह का जन्म हुआ था[3]।

तेजसिंह के राज्य-समय वि० सं० १३१७ (ई० स० १२६१) माघ सुदि ४ को 'श्रावकप्रतिक्रमणसूत्रचूर्णि' नामक पुस्तक आघाटदुर्ग (आहाड़) में ताड़पत्र पर लिखी गई थी[4], जो इस समय पाटण (अनहिलवाड़े) में सुरक्षित

श्रीभीमसिंहपुत्रः प्राधान्यं प्राप्य राजसिंहोयं।

बहुपेने नेकथ्यं प्राकृप्रतिपन्नं दधदूदयं ॥ २८ ॥

भीमसिंह के लड़ाई में मारे जाने पर उसका पुत्र राजसिंह अपने पिता के पद पर नियत हुआ होगा।

त्रिक्रांतरत्नं समरेथ रत्नः सपत्नसंहारकृतप्रयत्नः।

श्रीचित्रकूटस्य तलाट्टिकायां श्रीभीमसिंहेन समं ममार ॥ २६ ॥

(चीरवे का शिलालेख)।

(१) जयतल्लदेवी समरसिंह की माता थी, यह चित्तोड़ की तलहटी के दरवाज़े के बाहर बहनेवाली गंभीरी नदी के पुल के १०वें महराब में लगे हुए रावल समरसिंह के समय के एक टूटे शिलालेख से जान पड़ता है।

(२) *श्रीचित्रकूटमेदपाटाधिपतिश्रीतेजःसिंहराज्ञ्या श्रीजयतल्लदेव्या श्रीश्यामपार्श्वनाथवसही स्वश्रेयसे कारिता* (रावल समरसिंह के समय का वि० सं० १३३५ वैशाख सुदि ५ का चित्तोड़ का शिलालेख—बंगा० ए० सो० ज; जि० ५५, भाग १, पृ० ४८)। यह शिलालेख मैंने चित्तोड़ से उठवाकर उदयपुर के विक्टोरिया हॉल में सुरक्षित किया है।

(३) बुड़तरे की बावड़ी का शिलालेख (ए० इं; जि० ४, पृ० ३१३-१४)।

(४) *संवत् १३१७ वर्षे माह(घ) सुदि ४ आदित्यदिने श्रीमदाघाटदुर्गे महाराजाधिराजपरमेश्वरपरमभट्टारकउमापतिवरलब्धप्रौढप्रतापसमलंकृतश्रीतेजसिंहदेव-*

है। उसमें तेजसिंह के महामात्य (बड़े मंत्री) का नाम समुद्धर दिया है।

तेजसिंह के राजत्वकाल के दो शिलालेख अब तक मिले हैं, जिनमें से पहला—घाघसा गांव (चित्तोड़ के निकट) की बावड़ी का—वि० सं० १३२२ (ई० स० १२६५) कार्तिक [सु]दि १ रविवार का है[१]। उसमें पद्मसिंह से लगाकर तेजसिंह तक मेवाड़ के राजाओं की नामावली देकर उस बावड़ी के बनवानेवाले डींडू जाति (गोत्र) के महाजन रत्न के पूर्वपुरुषों का वर्णन किया गया है। उस प्रशस्ति की रचना चैत्रगच्छ के आचार्य भुवनचंद्र के शिष्य रत्नप्रभसूरि ने की थी।

तेजसिंह के समय का वि० सं० १३२४ (ई० स० १२६७) का दूसरा शिलालेख गंभीरी नदी के पुल के नवें 'कोठे' (महराब) में लगा है, जिसमें चैत्रगच्छ के आचार्य रत्नप्रभसूरि के उपदेश से महाराज श्रीतेजसिंह के समय उसके प्रधान—राजपुत्र कांगा के पुत्र—द्वारा कुछ बनवाए जाने का उल्लेख है[२]।

तेजसिंह के पुत्र समरसिंह का सबसे पहला शिलालेख वि० सं० १३३० (ई० स० १२७३) का मिला है. अतः तेजसिंह का देहान्त वि० सं० १३२४ और १३३० (ई० स० १२६७ और १२७३) के बीच[३] किसी वर्ष हुआ होगा।

कल्याणविजयराज्ये तत्पादपद्मोपजीविनि महामात्यश्रीसमुद्धरे मुद्राव्यापारान् परिपंथयति श्रीमदाघाटवास्तव्यपं०रामचन्द्रशिष्येण कमलचन्द्रेण पुस्तिका व्यालेखि।

(पीटर्सन की पांचवीं रिपोर्ट, पृ० २३)।

महामात्य और प्रधान—यह दोनों भिन्न भिन्न अधिकारियों के सूचक हों, ऐसा प्रतीत होता है।

(१) यह लेख कुछ बिगड़ गया है। मैंने इसको वहां से हटाकर उदयपुर के विक्टोरिया हॉल में रखवाया है।

(२) बंगा० ए० सो० ज; जिल्द ५५, भाग १, पृ० ४६-४७।

(३) कर्नल टॉड ने लिखा है—'हम यह कहकर संतोष करेंगे कि अजमेर के चौहान और चित्तोड़ के गुहिलोत बारी बारी से शत्रु और मित्र रहे। दुर्लभ चौहान को कैंवारिया की लड़ाई में वैरसी रावल ने मारा। इसी से चौहानों के इतिहास में लिखा है कि उस समय चौहान राजा इतने प्रबल हो गये थे, कि वे चित्तोड़ के स्वामी का सामना करने लग गये। फिर एक पीढ़ी के बाद मुसलमानों की चढ़ाई रोकने के लिये दुर्लभ के प्रसिद्ध पुत्र बीसलदेव का रावल तेजसिंह से मिल जाने का उल्लेख शिलालेखों तथा इतिहास-ग्रन्थों में मिलता है' (टॉ. रा; जि० १, पृ० २१७)। टॉड का यह कथन ऐतिहासिक नहीं, किन्तु भाटों की ख्यातों के आधार पर लिखा हुआ प्रतीत होता है; और यदि इसमें सत्य का कुछ अंश है भी, तो बहुत

समरसिंह

रावल तेजसिंह के पीछे उसका पुत्र समरसिंह राजा हुआ। उसके समय के आबू के शिलालेख में लिखा है कि 'समरसिंह ने तुरुष्क(मुसलमान)रूपी समुद्र में गहरे डूबे हुए गुजरात देश का उद्धार किया'', अर्थात् मुसलमानों से गुजरात की रक्षा की। वह लेख वि० सं० १३४२ (ई० स० १२८५) का है, अतएव उस घटना का उक्त संवत् से पहले होना निश्चित है। हि० स० ६६४ से ६८६

क्रम। चौहानों में तीन दुर्लभ और चार वीसलदेव (विग्रहराज) हुए, परन्तु भाटों की ख्यातों, पृथ्वीराज रासे तथा टॉड राजस्थान में एक ही दुर्लभ और एक ही वीसलदेव का होना लिखा है। दुर्लभ (तीसरे) के पौत्र और वीसलदेव (तीसरे) के पुत्र पृथ्वीराज (पहले) के समय का वि० सं० ११६२ (ई० स० ११०५) का शिलालेख जीणमाता के मंदिर (जयपुर राज्य के शेखावाटी ज़िले में) के एक स्तंभ पर खुदा हुआ है (प्रोग्रेस रिपोर्ट ऑफ़ दी आर्कियॉलॉजिकल् सर्वे ऑफ़ इंडिया, वेस्टर्न सर्कल; ई० स० १६०६-१०, पृ० ५२), जिससे चौहान दुर्लभ (तीसरे) और वीसलदेव (तीसरे) की मृत्यु उक्त संवत् से पहले होना निश्चित है। वीसलदेव (चौथे) का देहान्त वि० सं० १२२० और १२२४ (ई० स० ११६३ और ११६७) के बीच किसी वर्ष हुआ (ना० प्र० प; भाग १, पृ० ३६७)। तदुपरांत अजमेर के चौहानों में वीसलदेव नामक कोई राजा ही नहीं हुआ। रावल तेजसिंह का स्वर्गवास वि० सं० १३२४ और १३३० (ई० स० १२६७ और १२७३) के बीच होना ऊपर बतलाया जा चुका है, जिससे अनुमानतः ८० वर्ष पूर्व अजमेर के चौहानों का राज्य मुसलमानों के हाथ में जा चुका था। ऐसी दशा में किसी वीसलदेव चौहान का तेजसिंह का समकालीन होना असंभव है। दुर्लभ (तीसरे) को वैरसी (वैरिसिंह) ने मारा हो, यह अलबत्ता संभव हो सकता है, क्योंकि दुर्लभ चौहान का पौत्र पृथ्वीराज (पहला) वि० सं० ११६२ (ई० स० ११०५) में जीवित था और वैरसी (वैरिसिंह) का पुत्र विजयसिंह वि० सं० ११७३ (ई० स० १११६) में विद्यमान था (देखो ऊपर वैरिसिंह का वृत्तांत)। यदि वैरिसिंह ने दुर्लभ को मारा हो, तो संभव है कि दुर्लभ के पूर्वज वाक्पतिराज (दूसरे) ने वैरिसिंह के पूर्वज अंबाप्रसाद को मारा था, जिसका बदला वैरिसिंह ने लिया हो, परन्तु हमको इसका उल्लेख मेवाड़ के राजाओं और अजमेर के चौहानों के शिलालेखादि में नहीं मिला।

(१) आद्यक्रोडवपुःकृपाणविलसद्दंष्ट्रांकुरो यः क्षणा-
न्मग्नामुद्धरति स्म गूर्जरमहीमुच्चैस्तुरुष्कार्णवात्।
तेजःसिंहसुतः स एष समरःक्षोणीश्वरग्रामणी-
राचन्द्रवलिकर्णयोर्धुरमिलागोले वदान्योऽधुना ॥ ४६ ॥

(आबू का शिलालेख-इं. ऐं; जि० १६, पृ० ३५०)।

(वि० सं० १३२३ से १३४४=ई० स० १२६६ से १२८७) तक गयासुद्दीन बलबन दिल्ली का सुलतान था, इसलिये गुजरात की यह चढ़ाई उसके किसी सेनापति द्वारा होनी चाहिये। फ़ारसी तवारीख़ों में इसका कहीं उल्लेख नहीं मिलता, परन्तु आबू के शिलालेख के रचयिता की जीवित दशा में होने से इस घटना की सत्यता में कोई संदेह नहीं है। दिल्ली के गुलाम सुलतानों की तवारीख़ें मुग़ल बादशाहों जैसी विस्तार से लिखी हुई नहीं मिलतीं, इसलिये उनमें कई बातों की त्रुटि रह जाना संभव है।

चीरवे के लेख में समरसिंह को 'शत्रुओं का संहार करने में सिंह के सदृश, अत्यन्त शूर, चंद्रिका-सी [उज्ज्वल] कीर्तिवाला, अपने हितोचित कर्म करनेवाला और सद्धर्म का मर्मज्ञ'' कहा है। उस लेख से यह भी ज्ञात पड़ता है कि उपर्युक्त तलारक्ष क्षेम के पुत्र मदन को समरसिंह ने चित्तोड़ का तलारक्ष बनाया था[२]।

जिनप्रभसूरि ने अपने 'तीर्थकल्प' में उलगख़ां की गुजरात-विजय का वर्णन करते हुए लिखा है—विक्रम संवत् १३५६ (ई० स० १२९९) में सुलतान अल्लावदीण (अलाउद्दीन ख़िलजी) का सबसे छोटा भाई उलूखान (उलगख़ां), [कर्णदेव के] मंत्री माधव की प्रेरणा से, ढिल्ली (दिल्ली) नगर से गुजरात को चला। चित्तकूड (चित्रकूट-चित्तोड़) के स्वामी समरसिंह ने उसे दंड देकर मेवाड़ देश की रक्षा कर ली। फिर हंमीर (अमीर=सुलतान) का युवराज वग्गड़ देश (वागड़) और मोड़ासा आदि नगरों को नष्ट करता हुआ

(१) तदनु च तनुजन्मा तस्य कल्याणजन्मा
जयति समरसिंहः शत्रुसंहारसिंहः ।
क्षितिपतिरतिशूरश्चंद्रस्वकीर्तिपूरः
स्वहितविहितकर्म्मा बु(बु)द्धसद्धर्म्ममर्म्मा ॥ ८ ॥
(चीरवे का शिलालेख)।

(२) मदनः प्रसन्नवदनः सततं कृतदुष्टजनकदनः ॥२७[॥]······॥
श्रीचित्रकूटदुर्गे तलारतां यः पितृक्रमायातां ।
श्रीसमरसिंहराजप्रसादतः प्राप निःपापः ॥३०॥
(चीरवे का शिलालेख)।

आसावल्ली[1] में पहुंचा। राजा कर्णदेव (गुजरात का राजा करणघेला) भाग गया[2]"। उलगखां को समरसिंह के दंड देने का हाल भी फ़ारसी तवारीखों में नहीं है, और गुजरात की इस विजय के जो सन् उनमें दिये हैं, वे भी परस्पर नहीं मिलते[3]; अतएव जिनप्रभसूरि का, जो समरसिंह और उलगखां दोनों का समकालीन था, कथन फ़ारसी तवारीखों से अधिक विश्वास के योग्य है।

अंचलगच्छ की पट्टावली से पाया जाता है कि 'उक्त गच्छ के आचार्य अमितसिंहसूरि के उपदेश से रावल समरसिंह ने अपने राज्य में जीवहिंसा रोक दी थी[4]।' समरसिंह की माता जयतल्लदेवी को जैन धर्म पर श्रद्धा थी अतः उसके आग्रह से या उक्त सूरि के उपदेश से उसने ऐसा किया हो, यह संभव है। हिन्दू राजा अपनी प्रजा के सब धर्मों के सहायक होते ही थे।

रावल समरसिंह के राजत्वकाल के शिलालेख नीचे लिखे अनुसार मिले हैं—

(१) चीरवे का शिलालेख—यह वि० सं० १३३० (ई० स० १२७३) कार्तिक सुदि १ का है, जो उस गांव (उदयपुर से ८ मील उत्तर में) के नये मंदिर की

(१) आसावल्ली या आसावल गांव अहमदाबाद के पास था। गुजरात के सोलंकी राजा कर्ण (सिद्धराज जयसिंह के पिता) ने आसावल के भील राजा आसा को जीतकर अपने नाम से वहां पर कर्णावती नगरी बसाई थी, ऐसा प्रसिद्ध है।

(२) *अह तेरसयछप्पन्नविक्कमवरिसे अल्लावदीणसुरताणस्स कणिट्ठो भाया उलूखाननामधिज्जो ढिल्लीपुराओ मंतिमाहवपेरिओ गुज्जरधरं पट्ठिओ। चित्तकूडाहिवई समरसीहेणं दंडं दाउं मेवाडदेसो तया रक्खिओ। तओ हम्मीरजुवराओ बग्गडदेसं मुहडासयाइं नयराणि य भंजिय आसावल्लीए पत्तो। कण्णदेवराओ पनट्ठो॥*

('तीर्थकल्प' में सत्यपुरकल्प, पृ० ६५)।

(३) 'मिराते अहमदी' में हि० स० ६९६ (वि० सं० १३५३-५४=ई० स० १२९६-९७) में (बेले; गुजरात, पृ० ३७), 'तज़ियतुल अम्सार' में ज़िलहिज्ज हि० स० ६९८ (वि० सं० १३५६ भाद्रपद-आसोज=ई० स० १२९९ सितम्बर) में (इलियट्; हिस्ट्री ऑफ़ इंडिया; जि० ३, पृ० ४२-४३), 'तारीख़े अलाई' और 'तारीख़े फ़ीरोज़शाही' में हि० स० ६९८ (वि० सं० १३५६=ई० स० १२९९-महीना नहीं दिया) में (वही; पृ० ७४, १६३), और 'तारीख़ फ़िरिश्ता' में हि० स० ६९७ (वि० सं० १३५४-५५=ई० स० १२९७-९८) में (ब्रिग्ज़ फ़िरिश्ता; जि० १, पृ० ३२७) गुजरात पर चढ़ाई होना लिखा है।

(४) पीटर्सन की पांचवीं रिपोर्ट; ग्रंथकर्ताओं का अंग्रेज़ी में विवरण, पृ० २। उसी की तीसरी रिपोर्ट, विवरण, पृ० १; और 'विधिपक्षगच्छीयप्रतिक्रमणसूत्र,' पृ० ५०४-१६।

दीवार में बाहर की तरफ़ लगा है। इसमें गुहिलवंशी बप्पक (बापा) के वंशधर पद्मसिंह, जैत्रसिंह, तेजसिंह और समरसिंह का वर्णन कर उन चारों राजाओं के समय के नागदा या चित्तोड़ के, टांटरड (टांटेड़) जाति के तलारक्षों के वंश का विस्तृत वर्णन किया है, जिसके आधार पर उनका वंशवृक्ष नीचे टिप्पण में दिया है[1]। उनमें से जिस-जिसने जिस-जिस राजा की सेवा की, उसका हाल तो उन राजाओं के वर्णन में लिखा जा चुका है; शेष इस तरह मिलता है, कि विप्र का वेष धारण करनेवाले योगराज ने गुहिलवंशी राजा पद्मसिंह की सेवा में रहकर उसकी कृपा से नागह्रद (नागदा) के निकट बड़ी आयवाला चीरकूप (चीरवा) गांव पहले पहल पाया। समृद्धिशाली योगराज ने योगेश्वर (शिव) और योगेश्वरी (देवी) के मंदिर वहां बनवाए। वहीं उद्धरण ने 'उद्धरणस्वामी' नामक विष्णु-मंदिर का निर्माण किया। तलारता के बड़े पाप का विचार कर मदन ने अपना चित्त शिवपूजनादि में लगाया। उसने अपने पूर्वज योगराज के बनवाए हुए शिव और देवी के मंदिरों का उद्धार (जीर्णोद्धार) किया, और कालेलाय (कालेला) सरोवर के पीछे गोचर में से दो दो खेत शिव और देवी के नैवेद्य के लिये भेट किये। जब वह चित्तोड़ में रहता था, उस समय उक्त मंदिरों का अधिष्ठाता एकलिंग जी की आराधना करनेवाला, पाशुपत योगियों का अग्रणी और धर्मनिष्ठ शिवराशि था। अंत में प्रशस्तिकार आदि का हाल इस प्रकार दिया है—

(१) टांटरड जाति के तलारक्षों का वंशवृक्ष—
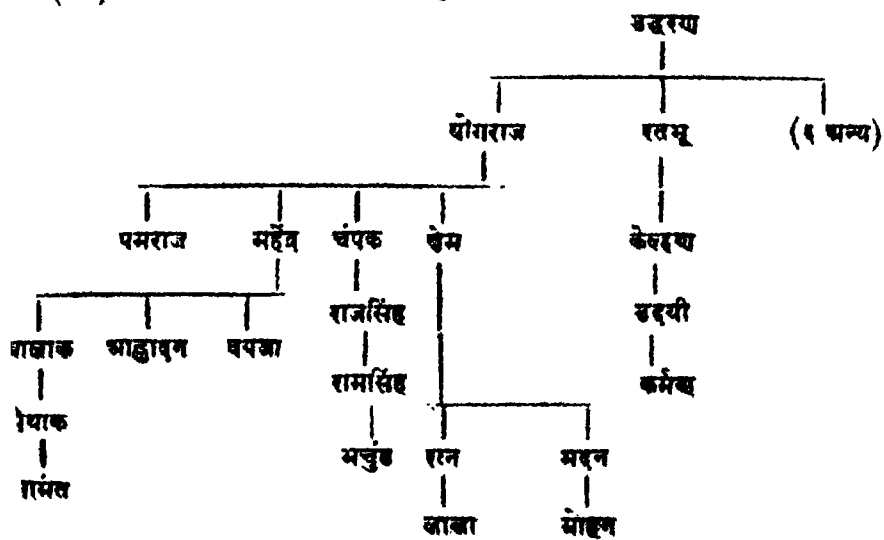
'चैत्रगच्छ में भद्रेश्वरसूरि के पीछे क्रमशः देवभद्रसूरि, सिद्धसेनसूरि, जिनेश्वरसूरि, विजयसिंहसूरि और भुवनसिंहसूरि हुए। भुवनसिंहसूरि के शिष्य रत्नप्रभसूरि ने चित्तोड़ में रहते समय उस प्रशस्ति (शिलालेख) की रचना की और उनके मुख्य शिष्य विद्वान् पार्श्वचंद्र ने उसको सुंदर लिपि में लिखा। पद्मसिंह के पुत्र केलिसिंह ने उसे खोदा और शिल्पी देल्हण ने तत्संबंधी अन्य कार्य (दीवार में लगाना आदि) किया''। इस लेख में ५१ श्लोक हैं और अंतिम पंक्ति में संवत् गद्य में दिया है।

(२) चित्तोड़ का शिलालेख—यह लेख चित्तोड़ पर महाराणा कुंभकर्ण (कुंभा) के बनवाये हुए कीर्तिस्तंभ के निकट महासतियों (श्मशानभूमि) के अहाते के[2] भीतर आमने-सामने लगी हुई दो बड़ी शिलाओं पर खुदा था: अब वहां केवल पहली शिला ही बची है और दूसरी किसी ने वहां से निकाल ली या तोड़ डाली, जिसका कोई पता नहीं चला[3]। पहली शिला की अंतिम पंक्ति में उसके खोदे जाने का संवत्, तथा पहले उसके रचयिता का नाम होने से ही पता चल सका कि यह शिलालेख रावल समरसिंह के राजत्वकाल का है। पहली शिला में बप्प से नरवर्मा तक की वंशावली तथा किसी किसी का कुछ हाल भी दिया है। यह लेख वि० सं० १३३१ (ई० स० १२७४) आषाढ सुदि ३ शुक्रवार का है[4]।

(३) चित्तोड़ का शिलालेख—यह शिलालेख किसी मंदिर के द्वार के एक

---

(१) यह शिलालेख मेरी तैयार की हुई छाप के आधार पर छप चुका है ('विएना ओरिएंटल् जर्नल, जि० २१, पृ० १५५-१६२)।

(२) इस बड़े द्वार के ऊपर के हिस्से में एक छत्री बनी है, जिसको लोग रसिया की छत्री कहते हैं।

(३) दूसरी शिला का स्थान (ताक) विद्यमान है, जिसमें अब शिला नहीं है; उसके ६१वें श्लोक में वेदशर्म्मा कवि के द्वारा उसकी रचना किये जाने का वर्णन है। उससे पहले लिखा है कि 'आगे का वंश-वर्णन दूसरी प्रशस्ति (शिला) से जानना'।

अनंतरवंशवर्णनं द्वितीयप्रशस्तौ वेदितव्यं ॥

भावनगर इन्स्क्रिप्शंस, पृ० ७७।

(४) भावनगर इन्स्क्रिप्शंस, पृ० ७४-७७। क; आ० स. रि; जि० २३, प्लेट २५। इस लेख में तथा आबू के वि० सं० १३४२ (ई० स० १२८५) के शिलालेख में, जो दोनों एक ही कवि के बनाये हुए हैं, प्रथम गुहिल के वंश की प्रशंसा की है, फिर बापा का वर्णन कर उसका पुत्र गुहिल होना बतलाया है, जो उक्त कवि का प्राचीन इतिहास-संबंधी अज्ञान प्रगट करता है।

छबने पर खुदा था, और चित्तोड़ के पुराने महलों के चौक में गड़ा हुआ मिला, जहां से उठवाकर उदयपुर के विक्टोरिया हॉल में रखवाया गया है। यह वि० सं० १३३५ (ई० स० १२७८) वैशाख सुदि ५ गुरुवार का है। इसमें भर्तृपुरीय (भटेवर) गच्छ के जैनाचार्य के उपदेश से मेवाड़ के राजा तेजसिंह की राणी जयतल्लदेवी के द्वारा श्यामपार्श्वनाथ का मंदिर बनवाने, तथा उस वसही (मंदिर) के पिछले हिस्से में उसी गच्छ के आचार्य प्रद्युम्नसूरि को महाराजकुल (महारावल) समरसिंह की ओर से मठ के लिये भूमि दिये जाने, एवं चित्तोड़ की तलहटी, आघाट (आहाड़), खोहर और सज्जनपुर की मंडपिकाओं (मांडवियों, सायर के महकमों) से उस(वसही)के लिये कई एक द्रम्म, घी, तेल आदि के मिलने की व्यवस्था का उल्लेख है। जिस छबने पर यह लेख खुदा है उसके मध्य में बैठी हुई जिनमूर्ति (पार्श्वनाथ की) बनी है, जिससे अनुमान होता है कि वह छबना जयतल्लदेवी के बनवाए हुए श्यामपार्श्वनाथ के मंदिर के द्वार का हो।

(४) आबू का शिलालेख—यह शिलालेख आबू पर अचलेश्वर के मंदिर के पास के मठ में लगा है और वि० सं० १३४२ (ई० स० १२८५) मार्गशीर्ष सुदि १ का है। इसमें बप्प या बप्पक (बापा) से लगाकर समरसिंह तक के मेवाड़ के राजाओं की वंशावली और उनमें से किसी किसी का कुछ वर्णन भी दिया है। फिर आबू का वर्णन करने के उपरान्त लिखा है, कि समरसिंह ने वहां (अचलेश्वर के मंदिर) के मठाधिपति भावशंकर की आज्ञा से उक्त मठ का जीर्णोद्धार करवाया, अचलेश्वर के मंदिर पर सुवर्ण का दंड (ध्वजादंड) चढ़ाया और वहां रहनेवाले तपस्वियों (साधुओं) के भोजन की व्यवस्था की। अंत में उसके रचयिता के विषय में लिखा है कि चित्रकूट (चित्तोड़) निवासी नागर जाति के ब्राह्मण प्रियपटु के पुत्र उसी वेदशर्मा ने, इस (अचलेश्वर के मठ की) प्रशस्ति की रचना की, जिसने एकलिंग, त्रिभुवन आदि नाम से प्रसिद्ध समाधीश्वर (शिव)

राजा शक्तिकुमार के समय के आटपुर (आहाड़) के वि० सं० १०२८ के शिलालेख में (ना. प्र. प; भाग १, पृ० २४८, टि. १०) तथा रावल समरसिंह के समय के वि० सं० १३३० के चीरवे के शिलालेख में (वही; पृ० २४८, टि. १०) बापा को गुहिल का वंशज कहा है, वही विश्वास के योग्य है। इसी तरह यहीं कवि मेवाड़ के राजाओं की वंशावली में भी कई नाम छोड़ गया है।

और चक्रस्वामी (विष्णु) के मंदिर-समूह की प्रशस्ति[1] बनाई थी। शुभचंद्र ने उसे लिखा और सूत्रधार (शिल्पी) कर्मसिंह ने उसे खोदा[2]। इसमें ६२ श्लोक हैं और अंत में संवत् गद्य में दिया है।

(५) चित्तोड़ का शिलालेख—यह चित्तोड़ से मिले हुए एक स्तंभ पर खुदा है, और इस समय उदयपुर के विक्टोरिया हॉल में रक्खा हुआ है। इसमें महारावल समरसिंह के समय वि० सं० १३४४ (ई० स० १२८७) वैशाख सुदि ३ के दिन चित्रांग तड़ाग (चित्रांग मोरी के तालाब) पर के वैद्यनाथ के मंदिर को कुछ द्रम्म देने का तथा कायस्थ सांग के पुत्र बीजड़ द्वारा कुछ बनवाये जाने का उल्लेख है[3]। इस स्तंभ में लेख के ऊपरी भाग में शिवलिंग बना है, जो वैद्यनाथ के मंदिर का शिवालय होना प्रकट करता है।

(६) 'कांकरोली रोड़' स्टेशन से अनुमान ८ मील दूर दरीबा गांव की खान के पासवाले माता (मातृकाओं) के मंदिर के एक स्तंभ पर का लेख[4]—इसका आशय यह है कि वि० सं० १३५६ ज्येष्ठ वदि १० के दिन—जब कि समस्त राजावली से अलंकृत महाराजकुल (महारावल) श्रीसमरसिंहदेव मेवाड़ पर राज्य कर रहा था और उसका महामात्य (मुख्य मंत्री) श्री [निम्बा] था—करणा और सांढ़ा ने उक्त देवी के मंदिर को १६ द्र० (द्रम्म) भेट किये[5]।

---

(१) यह प्रशस्ति चित्तोड़ की महासती के द्वार में लगी है। महासती के अहाते के भीतर कई मंदिर हैं, जिनमें मुख्य समाधीश्वर (समिद्धेश्वर) का प्राचीन और सबसे बड़ा शिवालय है, जो परमार राजा भोज का बनवाया हुआ 'त्रिभुवननारायण' नामक शिवालय ही है। समाधीश्वर (समिद्धेश्वर) नाम पीछे से प्रसिद्ध हुआ। अब लोग उसे मोकलजी का मंदिर कहते हैं, क्योंकि उसका जीर्णोद्धार महाराणा मोकल ने कराया था।

(२) इं० ऐं; जि० १६, पृ० ३४७-५१।

(३) यह लेख अब तक अप्रकाशित है।

(४) इस लेख की छाप ता० १६-८-२६ को राणावत महेंद्रसिंह द्वारा मुझे उदयपुर में प्राप्त हुई।

(५) *संवत् १३५६ वर्षे जे(ज्ये)ष्ठ वदि १० शनावद्येह श्रीमेदपाटभूमंडले समस्तराजावलीसमलंकृतमहाराजकुलश्रीसमरसिंहदेवकल्याणविजयराज्ये.........*

(मूल लेख की छाप से)।

(७) चित्तोड़ का शिलालेख—यह चित्तोड़ के किले के रामपोल दरवाज़े के बाहर नीम के वृक्षवाले चबूतरे पर पड़ा हुआ वि० सं० १६७८ में मुझे मिला। इसकी दाहिनी ओर का कुछ अंश टूट जाने से प्रत्येक पंक्ति के अंत में कहीं एक और कहीं दो अक्षर जाते रहे हैं। इसका आशय यह है--'वि० सं० १३५८ (ई० स० १३०२) माघ सुदि १० के दिन महाराजाधिराज श्रीसमरसिंहदेव के राज्य-समय प्रतिहार (पड़िहार) वंशी महारावत राज० श्री ········· राज० पाता के बेटे राज० (राजपुत्र) धारसिंह ने श्रीभोजस्वामीदेवजगती (राजा भोज के बनवाये हुए मंदिर) में प्रशस्ति-पट्टिका सहित·········बनवाया[1]'। यह लेख बिगड़ी हुई दशा में है और कुछ अक्षर भी जाते रहे हैं।

(८) चित्तोड़ का शिलालेख—यह गंभीरी नदी के पुल के १०वें कोठे (महराब) में लगा है और टूटी-फूटी दशा में है। इसमें संवत्वाला अंश जाता रहा है। इसका आशय यह है--'रावल समरसिंह ने अपनी माता जयतल्लदेवी के श्रेय के निमित्त श्रीभर्तृपुरीय गच्छ के आचार्यों की पोषधशाला के लिये कुछ भूमि दी। अपनी माता के [बनवाये हुए] मंदिर के लिये उसने कुछ हाट (दुकानें) और बाग़ की भूमि दान की तथा चित्तोड़ की तलहटी एवं सज्जनपुर आदि की मंडपिकाओं (सायर के महकमों) से कुछ द्रम्म दिये जाने की आज्ञा दी। वहीं के सिंहनाद क्षेत्रपाल तथा पद्मावती के लिये भी ऐसे ही दान की व्यवस्था की[2]'।

इन शिलालेखों से इतना तो स्पष्ट है कि वि० सं० १३३० (ई० स० १२७३) से १३५८ (ई० स० १३०२) माघ सुदि १० तक तो रावल समरसिंह जीवित था और इसके पीछे कुछ समय और भी जीवित रहा हो। उसके पीछे उसका

---

(१) ओं ॥ संवत् १३५८ वर्षे माघ शुदि १० दशम्यां··············· महाराजाधिराजश्रीसमरसिंहदे[वक]ल्याणविजयराज्ये तत्पादोपि(प)जीविनि दे········ ·······र्म्मा······समस्तराज्यधुरां धारय·········प्रतीहारवंशे महारावतराजश्री ··········राशाखीय राज० पातासुतराज० धारसिंहेन श्रीभोजस्वामिदेवजगत्यां···· केलिनिर्म्मितप्रशस्तिपट्टिकासहिता ······श्रेयसे कारापिता।

(चित्तोड़ का शिलालेख—अप्रकाशित)।

इस समय यह शिलालेख उदयपुर के विक्टोरिया हॉल में सुरक्षित है।

(२) बंगा० ए० सो० ज; जिल्द ५५, भाग १, पृ० ४७। छपा हुआ बहुत अशुद्ध होने से मैंने इसका सारांश लिखने में मूल पाषाण से सहायता ली है।

पुत्र रत्नसिंह राजा हुआ, जो अलाउद्दीन खिलजी के साथ की चित्तोड़ की लड़ाई में वि० सं० १३६० (ई० स० १३०३) में मारा गया, इसलिये समरसिंह का देहान्त वि० सं० १३५९ में होना चाहिये[1]।

समरसिंह के दूसरे पुत्र कुंभकर्ण के वंश में नेपाल के राजाओं का होना माना जाता है (देखो ऊपर पृ० ३९१-९२)।

रत्नसिंह

रावल समरसिंह के पीछे उसका पुत्र रत्नसिंह चित्तोड़ की गद्दी पर बैठा। उसको शासन करते थोड़े ही महीने हुए थे, इतने में दिल्ली के सुलतान अलाउद्दीन खिलजी ने चित्तोड़ पर आक्रमण कर दिया और ६ महीने से अधिक लड़ने के अनन्तर उसने क़िला ले लिया। मेवाड़ की कुछ ख्यातों, राजप्रशस्ति महाकाव्य और कर्नल टॉड के राजस्थान में तो रत्नसिंह का नाम तक नहीं दिया। समरसिंह के बाद करणसिंह का राजा होना लिखा है[2], परन्तु करणसिंह (कर्ण, रणसिंह) समरसिंह के पीछे नहीं, किन्तु उससे ८ पीढ़ी पहले हुआ था, जैसा कि ऊपर बतलाया जा चुका है। मुहणोत नैणसी अपनी ख्यात में लिखता है कि

(१) कर्नल टॉड ने वि० सं० १२०६ (ई० स० ११४९) में समरसी (समरसिंह) का जन्म, प्रसिद्ध चौहान पृथ्वीराज की बहिन (पृथा) से उसका विवाह, तथा अपने साले पृथ्वीराज की सहायतार्थ वि० सं० १२४९ (ई० स० ११९२) में शहाबुद्दीन ग़ोरी के साथ की लड़ाई में मारा जाना लिखा है (टॉ; रा; जि० १, पृ० २९७-३०४); जो सर्वथा असंभव है; क्योंकि पृथ्वीराज वि० सं० १२४९ (ई० स० ११९२) में मारा गया, और समरसिंह का देहान्त वि० सं० १३५९ (ई० स० १३०२) में हुआ—ये दोनों बातें निश्चित हैं। कर्नल टॉड ने पृथ्वीराज रासे के आधार पर समरसिंह का हाल लिखा और पृथ्वीराज की मृत्यु के ठीक संवत् को समरसिंह की मृत्यु का संवत् मान लिया, परन्तु पृथ्वीराज रासा वि० सं० १६०० के आसपास का बना हुआ होने एवं इतिहास के लिये सर्वथा निरुपयोगी होने के कारण, उसके आधार पर लिखा हुआ कर्नल टॉड का समरसिंह की मृत्यु का समय किसी प्रकार मान्य नहीं हो सकता। पृथाबाई के साथ मेवाड़ के किसी राजा के विवाह होने की कथा की यदि कोई जड़ हो, तो यही माना जा सकता है कि अजमेर के चौहान राजा पृथ्वीराज दूसरे (पृथ्वीभट, न कि प्रसिद्ध पृथ्वीराज तीसरे) की बहिन पृथा के साथ मेवाड़ के राजा समतसी (सामंतसिंह, न कि समरसी=समरसिंह) का विवाह हुआ हो, जैसा ऊपर लिखा गया है (देखो, ऊपर पृ० ४५७-५८)।

(२) ना. प्र. प; भाग १, पृ० १६। टॉ; रा; जि० १, पृ ३०४।

'रतनसी' (रत्नसिंह) पद्मणी (पद्मिनी) के मामले में अलाउद्दीन से लड़कर काम आया[1]; परन्तु वह रत्नसिंह को एक जगह तो समरसी (समरसिंह) का पुत्र और दूसरी जगह अजैसी (अजयसिंह) का पुत्र और भड़लखमसी (लक्ष्मसिंह) का भाई बतलाता है, जिनमें से पिछला कथन विश्वास-योग्य नहीं है, क्योंकि लखमसी अजैसी का पुत्र नहीं, किन्तु पिता और सीसोदे का सरदार था। इस प्रकार रत्नसिंह लखमसी का भाई नहीं, किन्तु मेवाड़ का स्वामी और समरसिंह का पुत्र था, जैसा कि राणा कुंभकर्ण के समय के वि० सं० १५१७ (ई० स० १४६०) के कुंभलगढ़ के शिलालेख और एकलिंगमाहात्म्य से पाया जाता है। इन दोनों में यह भी लिखा है कि समरसिंह के पीछे उसका पुत्र रत्नसिंह राजा हुआ। उसके मारे जाने पर लक्ष्मसिंह चित्तोड़ की रक्षार्थ म्लेच्छों (मुसलमानों) का संहार करता हुआ अपने सात पुत्रों सहित मारा गया[2]।

---

(१) मुहणोत नैणसी की ख्यात; पत्र ३, पृ० २।

(२) मुहणोत नैणसी लखमसी का अपने ११ पुत्रों सहित अलाउद्दीन के साथ की लड़ाई में मारा जाना लिखता है (वही; पत्र ३, पृ० २), परंतु कुंभलगढ़ की प्रशस्ति और एकलिंगमाहात्म्य दोनों नैणसी से अनुमान २०० वर्ष पूर्व के होने से अधिक विश्वास के योग्य हैं।

स (=समरसिंहः) रत्नसिंहं तनयं नियुज्य
स्वचित्रकूटाचलरक्षणाय।
महेशपूजाहतकल्मषौघः
इलापतिस्स्वर्गपतिर्बभूव ॥१७६॥
पुं(खुं)माणवंशः(श्यः) खलु लक्ष्मसिंह—
स्तस्मिन् गते दुर्गवरं ररक्ष।
कुलस्थितिं कापुरुषैर्विमुक्तां
न जातु धीराः पुरुषास्त्यजंति ॥ १७७ ॥······॥१७८॥
इत्थं म्लेच्छक्षयं कृत्वा संख्ये······नृपः।
चित्रकूटाचलं रक्षन् शस्त्रपूतो दिवं ययौ ॥१७९॥
अर्चिभिः किमु सप्तभिः परिवृतः सप्तार्चिरत्रागतः
किं वा सप्तभिरेव सप्तिभिरि[हायात्स]सप्तिर्दिवं।

उदयपुर राज्य से प्राप्त प्राचीन सामग्री से तो, कुंभलगढ़ के लेख से जो अवतरण दिया है उससे अधिक इस लड़ाई का कुछ भी वृत्तान्त नहीं मिलता, इसलिये फ़ारसी तवारीखों से इसका विवरण नीचे उद्धृत किया जाता है—

अमीर खुसरो, जो इस लड़ाई में सुलतान के साथ था, अपनी 'तारीख-इ-अलाई' में लिखता है—'सोमवार ता० ८ जमादि-उस्सानी हि० स० ७०२ (वि० सं० १३५६ माघ सुदि ६=ता० २८ जनवरी ई० स० १३०३) को सुलतान अलाउद्दीन चित्तोड़ लेने के लिये दिल्ली से रवाना हुआ। ग्रन्थकर्ता (अमीर खुसरो) भी इस चढ़ाई में साथ था। सोमवार ता० ११ मुहर्रम हि० स० ७०३ (वि० सं० १३६० भाद्रपद सुदि १४=ता० २६ अगस्त ई० स० १३०३) को क़िला फ़तह हुआ। राय (राजा) भाग गया, परन्तु पीछे से स्वयं शरण में आया, और तलवार की बिजली से बच गया। हिन्दू कहते हैं कि जहां पीतल का बरतन होता है वहीं बिजली गिरती है, और राय (राजा) का चेहरा डर के मारे पीतल-सा पीला पड़ गया था'।

'तीस हज़ार हिन्दुओं को क़त्ल करने की आज्ञा देने के पश्चात् उस (सुलतान) ने चित्तोड़ का राज्य अपने पुत्र खिज़रखां को दिया और उस (चित्तोड़) का नाम खिज़राबाद रक्खा। सुलतान ने उस (खिज़रखां) को लाल छत्र, ज़रदोज़ी खिलअत और दो झंडे—एक हरा और दूसरा काला—दिये और उसपर लाल तथा पन्ने न्यौछावर किये; फिर वह दिल्ली को लौटा। ईश्वर का धन्यवाद है कि सुलतान ने हिन्द के जो राजा (या सरदार) इसलाम को नहीं मानते थे, उन सबको अपनी काफ़िरों (विधर्मियों) को क़त्ल करनेवाली तलवार से मार डालने का हुक्म दिया। यदि कोई अन्य मतावलंबी अपने लिये जीने का दावा करता, तो भी सच्चे सुन्नी ईश्वर के इस खलीफ़ा के नाम की शपथ खाकर यही

इत्थं सप्तभिरन्वितः सुतवरैस्तै(स्तैः) शस्त्रपूतै(तैः) सह
प्रापे क्षुद्रिरभूत्सुपर्वनृपतेः श्रीलक्ष्मसिंहे नृपे ॥१८०॥

(कुंभलगढ़ का शिलालेख—अप्रकाशित)।

ये श्लोक 'एकलिंगमाहात्म्य' में भी उद्धृत किये हुए हैं-(राजवर्णन अध्याय, श्लोक ६१ और ७७-८०)। कुंभलगढ़ के शिलालेख का कुछ अंश नष्ट हो गया है, जिससे नष्ट हुए अक्षरों की पूर्ति 'एकलिंगमाहात्म्य' से की गई है।

कहते कि विधर्मी को ज़िन्दा रहने का हक्क नहीं है[1]"।

ज़िया बर्नी अपनी 'तारीखे फ़ीरोज़शाही' में लिखता है—'सुलतान अलाउद्दीन ने चित्तोड़ को घेरा और थोड़े ही अर्से में उसे अधीन कर लिया। घेरे के समय चातुर्मास में सुलतान की फ़ौज को बड़ी हानि पहुँची[2]"।

'तारीख फ़िरिश्ता' में लिखा है—'सुलतान अलाउद्दीन चित्तोड़ को रवाना हुआ, इस क़िले पर पहले मुसलमानों की फ़ौज का हमला कभी नहीं हुआ था। छः महीने तक घेरा रहने के बाद हि० स० ७०३ (वि० सं० १३६०=ई० स० १३०३) में क़िला फ़तह हुआ। सुलतान ने वहां का राज्य अपने सबसे बड़े बेटे खिज़रखां को दिया, जिसके नाम से वह (क़िला) खिज़राबाद कहलाया। साथ ही सुलतान ने राज्य-चिह्न देकर उसको अपना युवराज (उत्तराधिकारी) नियत किया[3]"। फ़िरिश्ता का यह कथन 'तारीखे अलाई' से उद्धृत किया हुआ प्रतीत होता है।

पद्मिनी की कथा

रत्नसिंह की मुख्य राणी पद्मिनी थी, जिसके सुविशाल प्राचीन महल चित्तोड़गढ़ में एक तालाब के तट पर बड़े ही रमणीय स्थान में बने हुए हैं। एक छोटासा दुमंज़िला महल उक्त तालाब के भीतर भी बना है। ये महल बहुत ही जीर्ण हो गये थे, जिससे महाराणा सज्जनसिंह ने इनका जीर्णोद्धार करवाया। ये महल अब तक लोगों में 'पद्मणी' के नाम से प्रसिद्ध हैं, और वह तालाब अब तक 'पद्मणी (पद्मिनी) का तालाब' कहलाता है। मलिक मुहम्मद जायसी ने—दिल्ली के सुलतान शेरशाह सूर के समय—हि० स० ९४७[4] (वि० सं० १५९७=ई० स० १५४०) में 'पद्मावत' नामक हिन्दी

(१) इलियट्; हिस्ट्री ऑफ़ इंडिया; जि० ३, पृ० ७६-७७।

(२) वही; जि० ३, पृ० १८९।

(३) ब्रिग्ज़; फ़िरिश्ता; जि० १, पृ० ३५३-५४।

(४) लखनऊ के नवलकिशोर प्रेस की छपी हुई 'पद्मावत' में उसके बनने का समय हि० स० ९२७ (वि० सं०१५७८=ई० स० १५२१) छपा है (*सन नवसै सत्ताईस अहै*, पृ० ११), जो अशुद्ध है; क्योंकि उसमें उस समय दिल्ली का सुलतान शेरशाह होना लिखा है (*शेरशाह देहली सुलतानू चारहु खंड तपौ जस भानू*—पृ० ६), और शेरशाह ता० १० मुहर्रम हि०स० ९४७ (वि० सं० १५९७ ज्येष्ठ सुदि १२=ता० १७ मई ई० स० १५४०) के दिन कन्नौज की लड़ाई में हुमायूं बादशाह को हराकर दिल्ली की सल्तनत का मालिक हुआ

काव्य की रचना की, जिसका आशय यह है—'सिंहल द्वीप (लंका) में गंध्रवसेन (गंधर्वसेन) नामक राजा था। उसकी पटरानी चंपावती से पद्मिनी या पद्मावती नामक अत्यंत रूपवती एवं गुणवती कन्या उत्पन्न हुई; उसके पास हीरामन नाम का एक सुशिक्षित और चतुर तोता था। एक दिन वह पिंजरे से उड़ गया और एक व्याध ने उसे पकड़ कर किसी ब्राह्मण के हाथ बेचा। उस समय चित्तोड़ में राजा चित्रसेन का पुत्र रतनसेन (रत्नसिंह) राज्य करता था, जिसको वह तोता ब्राह्मण ने एक लाख रुपये में बेच दिया। रतनसेन की पटरानी नागमती ने एक बार शृंगार किया और अपने रूप के घमंड में आकर तोते से पूछा, क्या मेरे जैसी सुंदरी जगत् में कोई है? इसपर तोते ने हँसकर कहा कि जिस सरोवर में हंस नहीं आया. वहां बगुला भी हंस कहलाता है। फिर तोते के मुख से पद्मिनी के रूप-गुण आदि का वर्णन सुनने पर राजा रतनसेन उसपर इतना आसक्त हो गया, कि उसके लिये योगी बनकर सिंहल को चला। अनेक राजकुमार भी चेले बनकर उसके साथ हो लिये और उसने तोते को भी अपने साथ रख लिया। विविध संकट सहता हुआ प्रेममुग्ध राजा सिंहल में पहुंचा। तोते ने पद्मावती के पास जाकर अपने पकड़े जाने तथा राजा रतनसेन के यहां बिकने का सारा वृत्तान्त कहते हुए चित्तोड़ के राजवंश के बड़े महत्त्व एवं राजा रतनसेन के रूप, कुल, ऐश्वर्य, तेज आदि की बहुत कुछ प्रशंसा करके कहा कि तुम्हारे लिये सब प्रकार से योग्य वर वही है और तुम्हारे प्रेम में योगी होकर वह यहां आ पहुंचा है। रूप आदि का वर्णन सुनने से पद्मिनी उसपर मोहित हो गई। वसंतपंचमी के दिन बन-ठनकर विश्वेश्वर की पूजा के लिये वह अपनी सखियों सहित शिवमंदिर में गई, जहां उसने योगी का भेप धारण किये हुए रतनसेन को देखा। इस प्रकार दोनों में चार आँखें होते ही रतनसेन मूर्छित होकर गिर पड़ा और पद्मिनी ने उसी को अपना पति ठान लिया। दोनों एक दूसरे से मिलने को आतुर थे, परंतु उसके लिये कोई साधन न था। एक दिन रतनसेन सेंध लगाकर किले में पहुंच गया और

था। महामहोपाध्याय पंडित सुधाकर द्विवेदी के पद्मावत के कलकत्ता-वाले संस्करण में हि० सन् ६४७ छपा है (*सन नउ सईंतालिस अहे, कथा अरंभ बयन कवि कहे*–पृ० ३२), वही ठीक है। उक्त पुस्तक में पाठांतरों के विवेचन में यह भी लिखा है कि अधिक प्रतियों में सन् ६४७ ही मिलता है।

वहां पकड़ा जाने पर उसे सूली पर चढ़ाने की आज्ञा हुई; परंतु जब राजा गंधर्व-सेन को सारा हाल मालूम हुआ, तब उसने अपनी कुमारी का विवाह बड़ी धूमधाम से रतनसेन के साथ कर दिया। रतनसेन पद्मिनी के प्रेम से वशीभूत होकर कुछ काल तक वहीं भोगविलास में लिप्त रहा।

चित्तोड़ में पटरानी नागमती उसके वियोग से दुखी हो रही थी; जब उसने अपनी विरह-व्यथा का सन्देश एक पक्षी के द्वारा रतनसेन के पास पहुंचाया, तब उसको चित्तोड़ का स्मरण हुआ। फिर वह वहां से बिदा होकर अपनी रानी सहित चला और समुद्र के भयंकर तूफ़ान आदि आपत्तियां उठाता हुआ अपनी राजधानी को लौटा। राघवचेतन नामक एक विद्वान् ब्राह्मण, जो जादू-टोने में कुशल था, राजा के पास आ रहा। एक दिन उसकी जादूगरी का भेद खुल जाने पर राजा ने उसे अपने देश से निकालने की आज्ञा दी। एक विद्वान् के लिये ऐसी आज्ञा का होना पद्मिनी को अच्छा न लगा अतः उसने राघव को कुछ दक्षिणा देने की इच्छा से अपने महल के नीचे बुलाया और झरोखे से अपने हाथ का एक कंगन निकालकर नीचे डाल दिया। पद्मिनी का रूप देखते ही राघव वहीं मूर्छित हो गया और चेतना आने पर सीधा देहली (दिल्ली) पहुंचा। उसने सुलतान अलाउद्दीन के पास जाकर पद्मिनी के अलौकिक सौंदर्य की प्रशंसा की, जिससे प्रसन्न होकर उस लंपट सुलतान ने उसको बहुत कुछ इनाम दिया। उसी क्षण से सुलतान का चित्त पद्मिनी के लिये व्याकुल होने लगा, और उसने सुरजा नामक दूत के द्वारा रतनसेन के नाम पत्र भेजकर लिखा कि पद्मिनी हमें दे दो। उसे देखते ही राजा को प्रचंड क्रोध हुआ और दूत को वहां से निकाल दिया। इसपर सुलतान ने विशाल सैन्य सहित चित्तोड़ पर चढ़ाई कर दी। उधर रतनसेन ने भी अपने अनेक राजवंशी सामंतों को बुलाकर लड़ने की तैयारी की। सुलतान ने चित्तोड़ को घेरा और आठ वरस तक लड़ने पर भी क़िला हाथ न आया। इतने में दिल्ली से लिखित सूचना आई कि शत्रु ने पश्चिम से हमला कर थाने उठा दिये हैं और राज्य जाने वाला है[1]। यह खबर पाकर सुलतान की चिंता और भी बढ़ी, जिससे उसने कपटपूर्वक राजा से कहलाया कि हम आपसे मेल

(१) यह चढ़ाई मुग़लों की थी। तारीख़ फ़ीरोज़शाही से पाया जाता है कि 'तर्घी' नामक मुग़ल तीस-चालीस हज़ार सवारों के साथ लूटमार करता हुआ आया और जमना के किनारे उसने डेरा डाला। ऐसे समय में सुलतान चित्तोड़ से लौटा और चित्तोड़ के घेरे में फ़ौज की जो बड़ी बरबादी

कर लौटना चाहते हैं, पद्मिनी नहीं मांगते। इसपर विश्वास कर राजा ने उसका चित्तोड़ में आतिथ्य किया। सुलतान चित्तोड़ की अनुपम शोभा, समृद्धि तथा जलाशय के मध्य बने हुए पद्मिनी के महल आदि को देखकर स्तब्ध-सा हो गया। गोरा और बादल नामक दो वीर सामंतों ने राजा को सचेत किया कि सुलतान ने छल पर कमर कसी है, परंतु उसको उनके कथन पर विश्वास न आया। राजमंदिर की असंख्य रूपवती दासियों को देखकर सुलतान ने राघव से पूछा कि इनमें पद्मिनी कौनसी है। राघव ने उत्तर दिया कि ये तो पद्मिनी की सेवा करनेवाली दासियां हैं। भोजन से निवृत्त होकर सुलतान और राजा दोनों शतरंज खेलने लगे। सुलतान के सामने एक दर्पण रक्खा हुआ था, जिसमें एक झरोखे में आई हुई पद्मिनी का प्रतिबिंब देखते ही सुलतान खेलना तो भूल गया और उसकी दशा कुछ और ही हो गई; रात भर वह वहीं रहा। दूसरे दिन राजा के प्रति अत्यन्त स्नेह बतलाकर वह वहां से विदा हुआ, तो राजा भी उसे पहुंचाने को चला। प्रत्येक पोल (द्वार) पर सुलतान राजा को भेंट देता गया, इस प्रकार सातवीं पोल के बाहर निकलते ही उसने अचानक राजा को पकड़ लिया। फिर उसके पैरों में बेड़ी, हाथों में हथकड़ी और गले में जंजीर डालकर वह उसको देहली ले गया और कहा कि कैद से छूटना चाहते हो, तो पद्मिनी को दे दो; राजा ने इसका कुछ भी उत्तर न दिया। उस समय कुंभलनेर (कुंभलगढ़) के राजा देवपाल ने, जो रतनसेन का शत्रु था,—रतनसेन के क़ैद होने के समाचार सुनने पर उससे अपने वैर का बदला लेने की इच्छा से,—एक वृद्ध ब्राह्मणी दूती को पद्मिनी के पास भेजकर, उसके सतीत्व को नष्ट करने के लिये उसे अपने यहां बुलवाने का उद्योग किया। उसने पद्मिनी के पास जाकर उसकी दीन दशा पर खेद प्रकट किया। फिर वह उससे स्नेह बढ़ाती गई, परंतु अपना स्वार्थ सिद्ध करने की कुछ चेष्टा करते ही पद्मिनी ने उसका आंतरिक अभिप्राय जान लिया, जिससे नाक-कान कटवाकर उसका काला मुंह कराया और गधे पर बिठलाकर उसे वहां से निकलवा दिया। उधर सुलतान ने भी जब पद्मिनी को प्राप्त करने का कोई उपाय न देखा, तब एक अत्यन्त रूपवती एवं

हुई थी उसको ठीक करने का समय भी नहीं रहा था' (इलियट्; हिस्ट्री ऑफ़ इंडिया; जि० ३, पृ० १८६)।

प्राप्तयौवना वेश्या के द्वारा अपना स्वार्थ सिद्ध करने का उपाय सोचा। वह (वेश्या) बदन पर कंथा और विभूति, सिर पर जटा, कंधे पर मृगछाला, गले में माला, कानों में मुद्रा, हाथ में त्रिशूल और पैरों में खड़ाऊँ धारण कर खासी योगिन बन गई और सिंगी-नाद करती हुई चित्तोड़ पहुंची। पद्मिनी ने उसका वर्णन सुनकर उसे अपने पास बुलवाया और पूछा कि इस तरुण अवस्था में यह भेष क्यों धारण करना पड़ा? उसने उत्तर दिया कि मेरा पति मुझे छोड़कर विदेश को चला गया है, जिसके वियोग में योग धारण कर उसी की तलाश में जगह जगह भटक रही हूं। मैंने ६४ तीर्थों में भी उसको हेरा, उसी के लिये देहली भी गई, जहां राजा रतनसेन को क़ैदख़ाने में धूप से दुःख पाता हुआ भी देखा, परंतु मेरा पति कहीं न मिला। राजा के दुःख की बात सुनते ही पद्मिनी ने उस योगिन का अनुकरण करना विचारा, और गोरा तथा बादल नाम के अपने दो वीर सामंतों को बुलाकर अपना अभिप्राय उनसे प्रकट किया, जिसपर उन्होंने यह सम्मति दी कि जैसे सुलतान ने छल से राजा को पकड़ा है, वैसे ही छल से उसे छुड़ाना चाहिये। फिर उन्होंने १६०० डोलियों में पद्मिनी की सहेलियों के भेष में वीर राजकुमारों को बिठलाया और पद्मिनी सहित वे दलबल के साथ देहली को चले। वहां पहुंचते ही सुलतान के पास खबर पहुंचाई कि पद्मिनी यहां आ गई है, और आपसे अर्ज़ कराती है कि एक घड़ी के लिये आज्ञा हो जाय, तो चित्तोड़ के ख़ज़ाने आदि की कुंजियां राजा को सम्हलाकर हाज़िर होती हूं। सुलतान ने खुशी से इसे स्वीकार किया। रानी के साथ के लोहार ने राजा की बेड़ियां काट दीं। राजा तुरंत घोड़े पर सवार हुआ और रानी अपने दलबल सहित बलपूर्वक नगर के बाहर निकल गई। सुलतान ने इस तरह दग़ा होने के समाचार पाते ही उनको पकड़ने के लिये अपनी सेना भेजी। बादल ने राजा और रानी के साथ चित्तोड़ की राह ली और गोरा पीछा करनेवाली सुलतान की सेना को रोकने के लिये कई वीरों सहित मार्ग में ठहर गया। सुलतान की सेना के वहां पहुंचते ही दोनों के बीच घोर युद्ध हुआ, जिसमें कई योद्धे हताहत हुए और गोरा भी वीरगति को प्राप्त हुआ। बादल ने राजा और रानी के साथ चित्तोड़ में प्रवेश किया, जहां इस हर्ष का बड़ा उत्सव मनाया गया। फिर रानी के मुख से देवपाल की दुष्टता का हाल सुनने पर राजा ने कुंभलनेर (कुंभलगढ़) पर चढ़ाई कर दी। वहां देवपाल से युद्ध हुआ, जिसमें

देवपाल मारा गया और रतनसेन उसके हाथ की सांग से घायल होकर चित्तोड़ को लौटा, जहां बादल पर क़िले की रक्षा का भार छोड़ स्वर्ग को सिधारा। पद्मिनी और नागमती दोनों राजा के साथ सती हुईं। इतने में सुलतान भी चित्तोड़ आ पहुंचा; बादल उससे लड़ा, परंतु अंत में क़िला बादशाह के हाथ आया और वहां पर इस्लाम का भंडा खड़ा हुआ'।

कथा की समाप्ति में जायसी ने इस सारी कथा को एक रूपक बतलाकर लिखा है—'इस कथा में चित्तोड़ शरीर का, राजा (रतनसेन) मन का, सिंहल द्वीप हृदय का, पद्मिनी बुद्धि की, तोता मार्गदर्शक गुरु का, नागमती संसार के कामों की, राघव शैतान का और सुलतान अलाउद्दीन माया का सूचक है; जो इस प्रेम-कथा को समझ सकें, वे इसे इसी दृष्टि से देखें''।

इतिहास के अभाव में लोगों ने 'पद्मावत' को ऐतिहासिक पुस्तक मान लिया, परन्तु वास्तव में वह आजकल के ऐतिहासिक उपन्यासों की-सी कवितावद्ध कथा है, जिसका कलेवर इन ऐतिहासिक बातों पर रचा गया है कि रतनसेन (रत्नसिंह) चित्तोड़ का राजा, पद्मिनी या पद्मावती उसकी राणी और अलाउद्दीन दिल्ली का सुलतान था, जिसने रतनसेन (रत्नसिंह) से लड़कर चित्तोड़ का क़िला छीना था। बहुधा अन्य सब बातें कथा को रोचक बनाने के लिये कल्पित खड़ी की गई हैं; क्योंकि रत्नसिंह एक बरस भी राज्य करने नहीं पाया, ऐसी दशा में योगी बनकर उसका सिंहल द्वीप (लंका) तक जाना और वहां की राजकुमारी को ब्याह लाना कैसे संभव हो सकता है? उसके समय सिंहल द्वीप का राजा गंधर्वसेन नहीं, किन्तु राजा कीर्तिनिश्शंकदेव पराक्रमबाहु (चौथा) या भुवनेकबाहु (तीसरा) होना चाहिये[2]। सिंहल द्वीप में गंधर्वसेन नाम का कोई राजा ही नहीं हुआ[3]। उस समय तक कुंभलनेर (कुंभलगढ़) आबाद भी नहीं हुआ था, तो देवपाल वहां का राजा कैसे माना जाय? अलाउद्दीन ८ बरस तक चित्तोड़ के लिये लड़ने के बाद निराश होकर दिल्ली को नहीं लौटा, किन्तु अनुमान

(१) पद्मावत की कथा बहुत ही रोचक और विस्तृत है, और प्रत्येक बात का वर्णन कवि ने बड़ी खूबी के साथ विस्तारपूर्वक किया है। ऊपर उसका सारांशमात्र लखनऊ के नवलकिशोर प्रेस की छपी हुई पुस्तक से उद्धृत किया गया है।

(२) डफ़; क्रॉनॉलॉजी ऑफ़ इंडिया; पृ० ३२१।

(३) वही; पृ० ३१८-२२।

छः महीने लड़कर उसने चित्तोड़ ले लिया था; वह एक ही बार चित्तोड़ पर चढ़ा था, इसलिये दूसरी बार आने की कथा कल्पित ही है।

'पद्मावत' बनने के ७० वर्ष पीछे मुहम्मद क़ासिम फ़िरिश्ता ने अपनी पुस्तक 'तारीख़ फ़िरिश्ता' लिखी। उस समय पद्मावत की कथा लोगों में प्रसिद्धि पा चुकी थी। फ़िरिश्ता ने उससे भी कुछ हाल लिया हो, ऐसा अनुमान होता है; क्योंकि चित्तोड़ की चढ़ाई का जो हाल ऊपर फ़िरिश्ता से उद्धृत किया गया है, उसमें तो रतनसेन (रत्नसिंह) का नाम तक नहीं है। फिर और कई घटनाओं का वर्णन करने के बाद हि० स० ७०४ (वि० सं० १३६१=ई० स० १३०४) के प्रसंग में वह लिखता है—'इस समय चित्तोड़ का राजा राय रतनसेन—जो, सुलतान ने उसका किला छीना तब से क़ैद था—अद्भुत रीति से भाग गया। अलाउद्दीन ने उसकी एक लड़की के अलौकिक सौंदर्य और गुणों का हाल सुनकर उससे कहा कि यदि तू अपनी लड़की मुझे सौंप दे, तो तू बंधन से मुक्त हो सकता है। राजा ने, जिसके साथ क़ैदख़ाने में सख़्ती की जाती थी, इस कथन को स्वीकार कर अपनी राजकुमारी को सुलतान को सौंपने के लिये बुलाया। राजा के कुटुंबियों ने इस अपमानसूचक प्रस्ताव को सुनते ही अपने वंश के गौरव की रक्षा के लिये राजकुमारी को विष देने का विचार किया, परन्तु उस राजकुमारी ने ऐसी युक्ति निकाली, जिससे वह अपने पिता को छुड़ाने तथा अपने सतीत्व की रक्षा करने को समर्थ हो सकती थी। तदनंतर उसने अपने पिता को लिखा, कि आप ऐसा प्रसिद्ध कर दें कि मेरी राजकुमारी अपने सेवकों सहित आ रही है और अमुक दिन दिल्ली पहुंच जायगी। इसके साथ उसने राजा को अपनी युक्ति से भी परिचित कर दिया। उसकी युक्ति यह थी, कि अपने वंश के राजपूतों में से कई एक को चुनकर डोलियों में सुसज्जित बिठला दिया, और राजवंश की स्त्रियों की रक्षा के योग्य सवारों तथा पैदलों के दलबल के साथ वह चली। उसने अपने पिता के द्वारा सुलतान की आज्ञा भी प्राप्त कर ली थी, जिससे उसकी सवारी बिना रोक-टोक के मंज़िल-दरमंज़िल दिल्ली पहुंची। उस समय रात पड़ गई थी, सुलतान की ख़ास परवानगी से उसके साथ की डोलियां क़ैदख़ाने में पहुंचीं और वहां के रक्षक बाहर निकल आये। भीतर पहुंचते ही राजपूतों ने डोलियों से निकल अपनी तलवारें सम्हालीं और सुलतान के सेवकों को मारने के पश्चात् राजा सहित वे तैयार रक्खे हुए

घोड़ों पर सवार होकर भाग निकले। सुलतान की सेना आने न पाई, उसके पहले ही राजा अपने साथियों सहित शहर से बाहर निकल गया और भागता हुआ अपने पहाड़ी प्रदेश में पहुंच गया, जहां उसके कुटुंबी छिपे हुए थे। इस प्रकार अपनी चतुर राजकुमारी की युक्ति से राजा ने क़ैद से छुटकारा पाया, और उसी दिन से वह मुसलमानों के हाथ में रहे हुए [अपने] मुल्क को उजाड़ने लगा। अंत में सुलतान ने चित्तोड़ को अपने अधिकार में रखना निरर्थक समझ खिज़रखां को हुक्म दिया कि क़िले को खाली कर उसे राजा के भानजे (मालदेव सोनगरा) के सुपुर्द कर दे"[1]।

ऊपर लिखी हुई पद्मावत की कथा से फ़िरिश्ता के इस कथन की तुलना करने पर स्पष्ट हो जायगा कि इसका मुख्य आधार वही कथा है। फ़िरिश्ता ने उसमें कुछ कुछ घटा बढ़ी कर ऐतिहासिक रूप में उसे रख दिया है और पद्मिनी को राणी न कहकर बेटी बतलाया है। फ़िरिश्ता का यह लेख हमें तो प्रामाणिक मालूम नहीं होता। प्रथम तो पद्मिनी के दिल्ली जाने की बात ही निर्मूल है; दूसरी बात यह भी है कि अलाउद्दीन जैसे प्रबल सुलतान की राजधानी की क़ैद से भागा हुआ रत्नसिंह बच जाय तथा मुल्क को उजाड़ता रहे, और सुलतान उसको सहन कर अपने पुत्र को चित्तोड़ खाली करने की आज्ञा दे दे, यह असंभव प्रतीत होता है। हि० स० ७०४ (वि० सं० १३६१=ई० स० १३०४) में खिज़रखां के क़िला छोड़ने और मालदेव को देने की बात भी निर्मूल है, जैसा कि हम आगे बतलावेंगे।

कर्नल टॉड ने पद्मिनी के संबंध में जो लिखा है उसका सारांश यह है—'वि० सं० १३३१ (ई० स० १२७४) में लखमसी (लक्ष्मणसिंह) चित्तोड़ की गद्दी पर बैठा। उसके बालक होने के कारण उसका चाचा भीमसी (भीमसिंह) उसका रक्षक बना। भीमसी ने सिंहल द्वीप (सीलोन, लंका) के राजा हमीरसिंह चौहान की पुत्री पद्मिनी से विवाह किया जो बड़ी ही रूपवती और गुणवती थी। अलाउद्दीन ने उसके लिये चित्तोड़ पर चढ़ाई कर दी, परंतु उसमें सफल न होने से उसने केवल पद्मिनी का मुख देखकर लौटना चाहा और अंत में दर्पण में पड़ा हुआ उसका प्रतिबिंब देखकर लौट जाना तक स्वीकार कर लिया।

(१) ब्रिग्ज़; फ़िरिश्ता; जि० १, पृ० ३६२-६३।

राजपूतों के कथन पर सुलतान को विश्वास होने से वह थोड़े-से सिपाहियों के साथ क़िले में चला आया और पद्मिनी के मुख का प्रतिबिंब देखकर लौट गया। राजपूत उसको पहुंचाने के लिये क़िले के नीचे तक गये, जहां मुसलमानों ने छल करके भीमसी को पकड़ लिया और पद्मिनी को सौंपने पर उसको छोड़ना चाहा। यह समाचार सुनकर पद्मिनी ने अपने चाचा गोरा और उसके पुत्र बादल की सम्मति से एक ऐसी युक्ति निकाली कि जिससे उसका पति बंधन से मुक्त हो जाय और अपने सतीत्व की रक्षा भी हो सके। फिर सुलतान को यह खबर दी कि तुम्हारे यहां से लौटते समय पद्मिनी अपनी सखियों तथा दासियों आदि सहित दिल्ली चलने के लिये तुम्हारे साथ हो जायगी। फिर पर-देवाली ७०० डोलियां तैयार की गईं, जिनमें से प्रत्येक में एक एक वीर राजपूत सशस्त्र बैठ गया और कहारों का भेष धारण किये शस्त्रयुक्त छः छः राजपूतों ने प्रत्येक डोली को उठाया। इस प्रकार राजपूतों का एक दल सुलतान के डेरों में पहुंच गया। पद्मिनी को अपने पति से अंतिम मुलाक़ात करने के लिये आधा घंटा दिया गया। कहारों के भेष में रहे हुए कई एक राजपूत भीमसिंह को डोली में बिठलाकर वहां से चल धरे। जब सुलतान अधीर होकर पद्मिनी के पास गया, तो पद्मिनी के बदले डोलियों में से वीर राजपूत निकल आये और उन्होंने लड़ाई आरंभ कर दी। अलाउद्दीन ने फिर चित्तोड़ को घेरा, परंतु अंत में अपनी सेना की दुर्दशा होने से उसे लौटना पड़ा। कुछ समय के अनन्तर वह नई सेना के साथ चित्तोड़ के लिये दूसरी बार चढ़ आया और राजपूतों ने भी वीरता से उसका सामना किया। अंत में जब उन्होंने यह देखा कि क़िला छोड़ना ही पड़ेगा, तब जौहर करके राणियों तथा अन्य राजपूत स्त्रियों को अग्नि के मुख में अर्पण कर दिया। फिर क़िले के द्वार खोलकर वे मुसलमानों पर टूट पड़े और लड़ते हुए वीरगति को प्राप्त हुए। अलाउद्दीन ने चित्तोड़ को अधीन कर लिया, परंतु जिस पद्मिनी के लिये उसने इतना कष्ट उठाया था, उसकी तो चिता की अग्नि ही उसके नज़र आई"[1]।

कर्नल टॉड ने यह कथा विशेषकर मेवाड़ के भाटों के आधार पर लिखी है और भाटों ने उसको 'पद्मावत' से लिया है। भाटों की पुस्तकों में समरसिंह

---

(१) टॉ; रा; जि० १, पृ० ३०७-११।

के पीछे रत्नसिंह का नाम न होने से टॉड ने पद्मिनी का संबंध भीमसिंह से मिलाया और उसे लखमसी (लक्ष्मणसिंह) के समय की घटना मान ली। ऐसे ही भाटों के कथनानुसार टॉड ने लखमसी का बालक और मेवाड़ का राजा होना भी लिख दिया, परन्तु लखमसी न तो मेवाड़ का कभी राजा हुआ और न बालक था; किन्तु सीसोदे का सामन्त (सरदार) था और उस समय वृद्धावस्था को पहुंच चुका था, क्योंकि वह अपने सात पुत्रों सहित अपना नमक अदा करने के लिये रत्नसिंह की सेना का मुखिया बनकर अलाउद्दीन के साथ की लड़ाई में लड़ते हुए मारा गया था, जैसा कि वि० सं० १५१७ (ई० स० १४६०) के कुंभलगढ़ के शिलालेख से ऊपर बतलाया गया है[1]। इसी तरह भीमसी (भीमसिंह) लखमसी (लक्ष्मणसिंह) का चाचा नहीं, किन्तु दादा था, जैसा कि राणा कुंभकर्ण के समय के 'एकलिंगमाहात्म्य' से पाया जाता है[2]। ऐसी दशा में टॉड का कथन भी विश्वास के योग्य नहीं हो सकता। 'पद्मावत', 'तारीख़ फ़िरिश्ता' और टॉड के राजस्थान के लेखों की यदि कोई जड़ है, तो केवल यही कि अलाउद्दीन ने चित्तोड़ पर चढ़ाई कर छः मास के घेरे के अनन्तर उसे विजय किया; वहां का राजा रत्नसिंह इस लड़ाई में लक्ष्मणसिंह आदि कई सामंतों सहित मारा गया, उसकी राणी पद्मिनी ने कई स्त्रियों सहित जौहर की अग्नि में प्राणाहुति दी; इस प्रकार चित्तोड़ पर थोड़े-से समय के लिये मुसलमानों का अधिकार हो गया। बाकी की बहुधा सब बातें कल्पना से खड़ी की गई हैं।

महारावल रत्नसिंह के समय का अब तक एक ही शिलालेख मिला है, जो वि० सं० १३५६ माघ सुदि ५ बुधवार का है। यह लेख दरीबे की खान के पासवाले माता (मातृकाओं) के मन्दिर के एक स्तम्भ पर खुदा हुआ है[3]।

---

(१) देखो ऊपर पृ० ४८४ और टि. २।

(२) *तज्जोथ भुवनसिंहस्तदात्मजो भीमसिंहनृपः ॥ ७५ ॥*
तत्तनुजो जयसिंहस्तदंगजो लक्ष्मसिंहनामासीत् ।
सप्तभिरप्यात्मजैः सह भित्त्वा रविमंडलं दिवं यातः ॥ ७६ ॥
(एकलिंगमाहात्म्य, राजवर्णन अध्याय)।

(३) *संवत् १३५६ वर्षे मा[घ]सुदि ५ बुधदिने अद्येह श्रीमेदपाटमंडले*

फ़िरिश्ता लिखता है कि हि० स० ७०४ (वि० सं० १३६१=ई० स० १३०४) में सुलतान अलाउद्दीन ने खिज़रखां को हुक्म भेजा कि चित्तोड़ का किला खाली कर राजा (रत्नसिंह) के भानजे (मालदेव सोनगरा) के सुपुर्द कर देवे[1]; परन्तु फ़िरिश्ता का दिया हुआ यह संवत् विश्वास-योग्य प्रतीत नहीं होता, क्योंकि यदि ऐसा हुआ होता तो खिज़रखां चित्तोड़ का शासन एक वर्ष से अधिक करने न पाता, पर नीचे लिखे हुए प्रमाणों से जान पड़ता है कि वह हि० स० ७१३ (वि० सं० १३७०=ई० स० १३१३) के आसपास तक चित्तोड़ की हुकूमत कर रहा था।

चित्तोड़ पर खिज़रखां का अधिकार

(१) खिज़रखां ने चित्तोड़ में रहते समय वहां की गंभीरी नदी पर एक सुंदर और सुदृढ़ पुल बनवाया,[2] जिसके बनने में कम से कम दो वर्ष लगे होंगे।

(२) चित्तोड़ की तलहटी के बाहर एक मक़बरे में हि० स० ७०९ ता० १० ज़िलहिज्ज (वि० सं० १३६७ ज्येष्ठ सुदि १२=ता० ११ मई ई० स० १३१०) का फ़ारसी लिपि का एक शिलालेख लगा हुआ है, जिसमें बुल मुज़फ़्फ़र मुहम्मदशाह सिकंदरसानी (दूसरा सिकंदर) अर्थात् अलाउद्दीन खिलजी को

समस्तराजावलिसमलंकृतमहाराजकुलश्रीरतन(त्न)सिंहदेवकल्याणविजयराज्ये तन्नियुक्तमहं०श्रीमहणसीहसमस्तमुद्राव्यापारान्परिपंथयति·· ···।

(दरीबे का लेख-अप्रकाशित)।

इस लेख की छाप मुझे ता० १९-८-२६ को राणावत महेन्द्रसिंह द्वारा उदयपुर में प्राप्त हुई।

(१) देखो ऊपर पृ० ४१३।

(२) इस १० कोठोंवाले बड़े पुल के बनाये जाने में दो मत हैं। कोई तो कहते हैं कि खिज़रखां ने उसे बनवाया और कोई उसे राणा लक्ष्मसी के पुत्र अरिसिंह का बनवाया हुआ मानते हैं ('चित्तोर एंड दी मेवार फ़ैमिली', पृ० ६७); परंतु यह पुल खिज़रखां का बनवाया हुआ ही प्रतीत होता है, क्योंकि यह मुसलमानी तर्ज़ का बना हुआ है और कई मंदिरों को तोड़कर उनके पत्थर आदि इसमें लगाये गये हैं। अरिसिंह सीसोदे के सामंत का पुत्र था और चित्तोड़ का राजा कभी नहीं हुआ। यह विशाल पुल ऐसा दृढ़ बना है कि अब तक उसका कुछ नहीं बिगड़ा, केवल दोनों किनारों का थोड़ा थोड़ा हिस्सा ५० वर्ष से अधिक समय हुआ बह गया, जो अब तक भी पीछा पक्का नहीं बन सका।

दुनिया का बादशाह, उस समय का सूर्य, ईश्वर की छाया और संसार के रक्षक कहकर आशीर्वाद दिया है कि जब तक काबा (मक्के का पवित्र स्थान) दुनिया के लिये किबला (गौरवयुक्त) रहे, तब तक उसका राज्य मनुष्यमात्र पर रहे'[1]। इससे अनुमान होता है कि उस संवत् तक तो चित्तोड़ मालदेव को नहीं मिला था।

(३) हि० स० ७११ (वि० सं० १३६८-६६=ई० स० १३११-१२) के प्रसंग में फ़िरिश्ता लिखता है—'अब सुलतान के राजरूपी सूर्य का तेज मंद होने लगा था, क्योंकि उसने राज्य की लगाम मलिक काफ़ूर के हाथ में रख छोड़ी थी, जिससे दूसरे उमराव उससे अप्रसन्न हो रहे थे। खिज़रखां को छोटी उम्र में ही चित्तोड़ का शासक बना दिया था, परंतु उसको सलाह देने या उसकी चालचलन को दुरुस्त रखने के लिये कोई बुद्धिमान् पुरुष उसके पास नहीं रक्खा गया। इसी समय तिलिंगाने के राजा ने कुछ भेट और २० हाथी भेजे और लिखा कि मलिक काफ़ूर के द्वारा जो ख़िराज मुक़र्रर हुआ है, वह तैयार है। इसपर मलिक काफ़ूर ने देवगढ़ (देवगिरि, दौलताबाद) आदि के दक्षिण के राजाओं को सुलतान के अधीन करने तथा तिलिंगाने का ख़िराज वसूल करने की बात कहकर उधर जाने की आज्ञा चाही। खिज़रखां के अधीनस्थ इलाक़े (चित्तोड़) से दक्षिण की इस चढ़ाई के लिये सुबीता होने पर भी मलिक काफ़ूर ने वहां स्वयं जाना चाहा, जिसका कारण वलीअहद (युवराज) खिज़रखां से उसका द्वेष रखना ही था। सुलतान से आज्ञा पाने पर हि० स० ७१२ (वि० सं० १३६६-७०= ई० स० १३१२-१३) में मलिक काफ़ूर ने दक्षिण पर चढ़ाई करके देवगढ़ के राजा को पकड़ कर निर्दयता से मार डाला, और महाराष्ट्र तथा कानड़ा (कन्नड़) देशों को उजाड़ दिया'[2]। इससे निश्चित है कि उस समय तक तो खिज़रखां चित्तोड़ का शासन कर रहा था।

---

(१) شہر یار جہان محمد شاہ آفتاب زمان و ظل اِله
بو المظفر سکندر ثاني شد مسلم برو جهانباني
عشر ذوالحجه موسم قربان سال بد هفصد و نه از هجران
تا بود کعبه قبله عالم باد ملک شه بني آدم
(चित्तोड़ के मक़बरे का शिलालेख)।

(२) ब्रिग्ज़; फ़िरिश्ता; जि० १, पृ० ३७८-७६।

(४) मुहणोत नैणसी के कथनानुसार वि० सं० १३६८ वैशाख सुदि ५ (ई० स० १३११) को[1], और फ़िरिश्ता के लेखानुसार हि० स० ७०६ (वि० सं० १३६६=ई० स० १३०६) में[2] सुलतान अलाउद्दीन के सेनापति कमालुद्दीन ने जालोर का क़िला छीनकर वहां के चौहान-राज्य की समाप्ति की। इस लड़ाई में वहां का राजा रावल कान्हड़देव और उसका कुंवर वीरमदेव दोनों मारे गये। कान्हड़देव का भाई मालदेव बचा, जो बादशाही मुल्क में उपद्रव करता था और शाही सेना उसका पीछा किया करती थी। अंत में सुलतान ने उसको चित्तोड़ का इलाक़ा देकर अपने अधीन किया। इसलिये मालदेव को चित्तोड़ वि० सं० १३६८ (ई० स० १३११) से भी कुछ वर्ष बाद मिला होगा।

(५) मलिक काफ़ूर के दक्षिण में जाने के बाद सुलतान अलाउद्दीन बीमार हुआ। उस समय से लगाकर उसकी मृत्यु तक की घटनाओं का जो वर्णन फ़िरिश्ता ने किया है, उसका सारांश यह है—'अधिक शराब पीने से सुलतान की तंदुरुस्ती बिगड़ गई और वह सख़्त बीमार हो गया। उसकी बेगम मलिकजहां और पुत्र ख़िज़रख़ां ने उसकी कुछ भी सुध न ली, जिससे उसने मलिक काफ़ूर को दक्षिण से और अलफ़ख़ां को गुजरात से बुला लिया और खानगी में अपनी बेगम तथा बेटे की उनसे शिकायत की। इसपर मलिक काफ़ूर ने, जो बहुत दिनों से सुलतान बनने का उद्योग कर रहा था, सुलतान के कुटुम्ब को नष्ट करने का प्रपंच रचा। उसने सुलतान को यह समझाया कि ख़िज़रख़ां, बेगम और अलफ़ख़ां आपको मार डालने के उद्योग में हैं। इसपर सुलतान को संदेह हुआ, जिससे उसने ख़िज़रख़ां को अल्मोड़े बुला लिया और अपने नीरोग होने तक वहीं रहने की आज्ञा दी। सुलतान का स्वास्थ्य ठीक होने पर वह उससे मिलने को चला, उस समय काफ़ूर ने सुलतान के चित्त पर यह जँचाना चाहा कि वह उमरावों से मिलकर विद्रोह करना चाहता है; परंतु सुलतान को उसके कथन पर विश्वास न हुआ और जब ख़िज़रख़ां अपने पिता से मिलकर रोने लगा, तब सुलतान का संदेह दूर हो गया। अब काफ़ूर ने सुलतान के खानगी नौकरों

---

(१) मुहणोत नैणसी की ख्यात; पत्र ४६, पृ० २।

(२) ब्रिग्ज़; फ़िरिश्ता; जि० १, पृ० ३७१। मुहणोत नैणसी वि० सं० १३६८ (ई० स० १३११) में और फ़िरिश्ता हि० स० ७०६ (वि० सं० १३६६=ई० स० १३०६) में जालोर फ़तह होना बतलाता है। इन दोनों में से नैणसी का कथन ठीक प्रतीत होता है।

को अपने पक्ष में मिलाकर खिज़रखां की बुराइयां कराना शुरू किया, और कई प्रपंच रचकर उसके दोनों पुत्रों (खिज़रखां और शादीखां) को कैद करने की आज्ञा लिखवाकर उनको ग्वालियर के क़िले में भेज दिया। इन्हीं दिनों राज्य भर में विद्रोह की आग भड़कने की खबरें आने लगीं। चित्तोड़ के राजपूतों ने मुसलमान अफ़सरों को किले की दीवारों पर से नीचे पटक दिया और वे स्वतंत्र बन गये। रामदेव के दामाद हरपालदेव[1] ने दक्षिण में विद्रोह कर बहुतसी मुसलमान सेना को वहां से निकाल दिया। ये समाचार सुनकर सुलतान क्रोध के मारे अपना ही मांस काटने लगा। शोक और क्रोध के कारण उसकी बीमारी बढ़ गई और ता० ६ शव्वाल हि० स० ७१६ (वि० सं० १३७३ पौष सुदि ७=ई० स० १३१६ ता० २२ दिसंबर) को उसका देहांत हुआ, जिसके विषय में मलिक काफ़ूर पर विष देने का संदेह किया गया[2]।

ऊपर लिखी हुई बातों पर विचार करते हुए यही पाया जाता है कि हि० स० ७१३ और ७१६ (वि० सं० १३७० और १३७३=ई० स० १३१३ और १३१६) के बीच किसी समय खिज़रखां चित्तोड़ से चला होगा, अर्थात् उसने अनुमान १० वर्ष चित्तोड़ का शासन किया हो। संभव है, खिज़रखां के चले जाने पर मेवाड़ के राजपूतों ने अपनी राजधानी पर पीछा अधिकार जमाने का उद्योग किया हो, जिससे सुलतान या उसके सलाहकारों ने मालदेव को—जो जालोर का पैतृक राज्य मुसलमानों के अधिकार में चले जाने के कारण मुल्क में बिगाड़ किया करता था—चित्तोड़ का राज्य देकर अपना मातहत बनाया हो।

चित्तोड़ पर चौहान मालदेव का अधिकार

(१) फ़िरिश्ता चित्तोड़ के प्रसंग में मालदेव का नाम न देकर लिखता है—'अंत में सुलतान अलाउद्दीन ने चित्तोड़ को अपने अधिकार में रखना निरर्थक समझ खिज़रखां को हुक्म दिया कि क़िला खाली कर राजा (रत्नसिंह) के भानजे के सुपुर्द कर देवे। सुलतान

(१) हरपालदेव देवगिरि (दौलताबाद) के यादव राजा रामचन्द्र (रामदेव) का जमाई था। रामचंद्र के देहांत के बाद उसका पुत्र शंकर देवगिरि का राजा हुआ। उसके समय हरपालदेव ने बग़ावत कर कई इलाके मुसलमानों से छीन लिये, जिसपर दिल्ली के सुलतान मुबारकशाह खिलजी ने वि० सं० १३७५ (ई० स० १३१८) में दक्षिण पर चढ़ाई की और हरपालदेव को क़ैद कर उसकी खाल खिंचवाई (हिं. टॉ; रा; पृ० ३३३)।

(२) ब्रिग्ज़; फ़िरिश्ता; जि० १, पृ० ३७६-८१।

की अधीनता में इस हिंदू राजा ने थोड़े ही दिनों में चित्तोड़ के राज्य को पहले की दशा पर पहुंचा दिया। वह सालाना कीमती भेट के अतिरिक्त बहुत से रुपये भी भेजता था और लड़ाई के समय ५००० सवार तथा १०००० पैदलों के साथ सुलतान के लिये हाज़िर रहता था"[1]।

(२) अलाउद्दीन के चित्तोड़ लेने के बाद के विवरण में कर्नल टॉड ने लिखा है कि उसने चित्तोड़ का क़िला जालोर के मालदेव को, जिसको सुलतान ने हराकर अपने अधीन किया था, दिया[2]। फ़िरिश्ता के उपर्युक्त कथन को इससे मिलाने पर स्पष्ट हो जाता है कि जिसको वह चित्तोड़ के राजा (रत्नसिंह) का भानजा बतलाता है, उसी को टॉड जालोर का मालदेव कहता है।

(३) मुहणोत नैणसी की ख्यात से पाया जाता है—'वि० सं० १३६८ (ई० स० १३११) में सुलतान अलाउद्दीन ने जालोर का किला सोनगरे कानड़दे (कान्हड़देव) से छीना, इस लड़ाई में कानड़दे मारा गया। तीन दिन पीछे उसका कुंवर वीरमदेव भी लड़ता हुआ मारा गया। रावल कानड़दे ने वंश की रक्षा के लिये अपने भाई मालदेव को पहले ही गढ़ से निकाल दिया था। वह (मालदेव) बहुत कुछ नुकसान करता रहा और उसके पीछे सुलतान की फ़ौज लगी रही। फिर वह दिल्ली जाकर बादशाह से मिला, बादशाह ने चित्तोड़ का

(१) ब्रिग्ज़; फ़िरिश्ता; जि० १, पृ० ३६३।

(२) टॉ; रा; जि० १, पृ० ३१२। कर्नल टॉड ने मेवाड़ के रावल समरसिंह के पुत्र कर्ण (?) की मृत्यु के प्रसंग में लिखा है—'जालोर के सोनगरे राजा ने कर्ण की पुत्री से शादी की, जिससे रणधवल उत्पन्न हुआ था। उस सोनगरे ने मुख्य मुख्य गुहिलोतों को छल से मारकर अपने पुत्र रणधवल को चित्तोड़ की गद्दी पर बिठा दिया था' (वही; जि० १, पृ० ३०४-५)। समरसिंह का पुत्र और उत्तराधिकारी कर्ण नहीं किन्तु रत्नसिंह था, जैसा कि ऊपर बतलाया जा चुका है। रणधवल नाम का कोई पुरुष मालदेव के वंश में नहीं हुआ, अलबत्ता मालदेव के तीसरे पुत्र रणवीर का बेटा रणधीर था, परंतु उसके चित्तोड़ की गद्दी पर बैठने का प्रमाण नहीं मिलता। 'तारीख़े फ़ीरोज़शाही' से पाया जाता है कि हि० स० ७२० (वि० सं० १३७७=ई० स० १३२०) में जब दिल्ली के सुलतान कुतुबुद्दीन मुबारकशाह को उसके गुलाम मलिक खुसरो ने—जो हिंदू से मुसलमान हो गया था—मारा, उस समय उस (खुसरो) का मामा रणधवल जाहरिया उसका सहायक था। उसको खुसरो ने दिल्ली की गद्दी पर बैठते ही 'रायरायां' का ख़िताब दिया था (इलियट्; हिस्ट्री ऑफ़ इंडिया; जि० ३, पृ० २२२-२४), परंतु उसका मालदेव के वंश से कोई संबंध न था।

किला उसको दिया; सात बरस तक चित्तोड़ का राज्य करने के पश्चात् उसका देहान्त चित्तोड़ ही में हुआ। उसके तीन पुत्र जेसा, कीतपाल (कीर्तिपाल) और बणवीर थे[1]"।

इन प्रमाणों से निश्चय होता है कि मालदेव सोनगरे को चित्तोड़ का राज्य वि० सं० १३७० और १३७२ (ई० स० १३१३ और १३१५) के बीच किसी वर्ष मिला होगा। मुहणोत नैणसी का यह कथन कि 'वह सात वर्ष राज्य कर चित्तोड़ में मरा', ठीक हो, तो उसकी मृत्यु वि० सं० १३७८ (ई० स० १३२१) के आसपास दिल्ली के सुलतान ग्यासुद्दीन तुग़लकशाह के समय होना मानना पड़ेगा। उक्त सुलतान के समय का एक फ़ारसी शिलालेख चित्तोड़ से मिला, जिसमें तीन पंक्तियों में तीन शेर खुदे थे, परंतु उसके प्रारंभ का (दाहिनी ओर का) चौथा हिस्सा टूट जाने के कारण प्रत्येक शेर का प्रथम चरण जाता रहा है। बचे हुए अंश का आशय यह है—'.........तुग़लक शाह बादशाह सुलैमान के समान मुल्क का स्वामी, ताज और तख़्त का मालिक, दुनिया को प्रकाशित करनेवाले सूर्य और ईश्वर की छाया के समान, बादशाहों में सबसे बड़ा और अपने वक़्त का एक ही है...........बादशाह का फ़रमान उसकी राय से सुशोभित रहे। असदुद्दीन अर्सलां दाताओं का दाता तथा देश की रक्षा करनेवाला है और उससे न्याय तथा इन्साफ़ की नींव दृढ़ है..............ता० ३ जमादिउल्‌अव्वल। परमेश्वर इस शुभ कार्य को स्वीकार करे और इस एक नेक काम के बदले में उसे हज़ार गुना देवे[2]"।

इस शिलालेख में सन् का अंक नष्ट हो गया है, परंतु सुलतान तुग़लक-

---

(१) मुहणोत नैणसी की ख्यात; पत्र ४४, पृ० २ से पत्र ४५, पृ० १।

(२) .... خداے ملک سلیمان و تاج وتخت و نگین

چو آفتاب جهانتاب بلکه ظل اله یگانه ختم سلاطین عصر تغلق شاه

.... سواد مملکت از راے او مزین باد

ملاذ ملک اسدا لدین ارسلان جواد که گشت محکم از وعدل و داد رابنیاد

.... سه از جمادي الاولے گذشته بالا یام

خدا بفضل مرین خیر راقبول کناد جزاے حسن عمل را یکے هزار دهاد

यह शिलालेख मैंने चित्तोड़ से लाकर उदयपुर के विक्टोरिया हॉल में सुरक्षित किया है।

शाह (ग़यासुद्दीन तुग़लक) ने ई० स० १३२० से १३२५ (वि०सं० १३७७ से १३८२) तक[1] राज्य किया था; इसलिये उन संवतों के बीच के किसी वर्ष का यह शिलालेख होना चाहिये। 'तारीख़े फ़ीरोज़शाही' से जान पड़ता है कि 'सुलतान तुग़लकशाह (ग़यासुद्दीन) ने गद्दी पर बैठते ही अपने भतीजे असदुद्दीन को नायब बार्बक (वज़ीर) बनाया था[2]'। चित्तोड़ का वह शिलालेख सुलतान और उसी असदुद्दीन की प्रशंसा करता है; जिस स्थान (संभवतः मसजिद) में वह शिलालेख लगा था; वह असदुद्दीन का बनवाया हुआ या उसकी आज्ञा से बना हो, यह संभव है। उक्त लेख से यह भी निश्चित है कि उस समय तक चित्तोड़ का क़िला मुसलमानों की अधीनता (जालोर के चौहानों के अधिकार) में था। मालदेव की मृत्यु का हमारा अनुमान किया हुआ संवत् उक्त शिलालेख के समय से मिलता हुआ है, अतएव वि० सं० १३८२ (ई० स० १३२५) के आसपास तक चित्तोड़ के राज्य पर जालोर के सोनगरे चौहानों का अधिकार रहना निश्चित है।

चित्तोड़ के राज्य पर फिर गुहिलवंशियों का अधिकार

सुलतान अलाउद्दीन ने चित्तोड़ का राज्य मालदेव सोनगरे को दिया, उससे अनुमान ७५० वर्ष पूर्व से मेवाड़ के गुहिलवंशियों का राज्य उस देश पर चला आता था। वे अपने पड़ोसी गुजरात के सोलंकियों, मालवे के परमारों, सांभर और नाडौल के चौहानों आदि से लड़ते रहने पर भी निर्बल नहीं हुए थे। अलाउद्दीन ख़िलजी चित्तोड़ के क़िले को छः मास से कुछ अधिक समय तक घेरे रहा, जिसमें उसकी फ़ौज की बड़ी बरबादी हुई (देखो ऊपर पृ० ४८८, टिप्पण १)। भोजन-सामग्री ख़तम हो जाने से ही क़िला राजपूतों ने छोड़ा था। अलाउद्दीन के अधीन मेवाड़ का बहुतसा अंश था, तो भी उसका पुत्र ख़िज़रख़ां सुख से वहां राज्य करने न पाता था। ख़िज़रख़ां के चले जाते ही मेवाड़वालों ने अपना पैतृक दुर्ग पीछा लेने का उद्योग किया और मुसलमान अफ़सरों को बांधकर क़िले की दीवारों पर से नीचे पटक दिया[3]। जब सुलतान को इतनी दूर का क़िला अपने अधिकार में

(१) बर्न; क्रॉनॉलॉजी ऑफ़ इंडिया; पृ० २१५ और २१७, थॉमस्; क्रॉनिकल्स ऑफ़ दी पठान किंग्ज़ ऑफ़ देहली, पृ० ७।

(२) इलियट्; हिस्ट्री ऑफ़ इंडिया; जि० ३, पृ० २३०।

(३) देखो ऊपर पृ० ४९१ में फ़िरिश्ता का कथन।

रखने में आपत्ति रही, तभी उसने मालदेव को सौंपा था। मालदेव को चित्तोड़ का राज्य मिलते ही सीसोदे के राणा हंमीर ने उस (मालदेव) के अधीनस्थ प्रदेश को उजाड़ना शुरू किया। इधर सुलतान अलाउद्दीन के जीतेजी दिल्ली की सल्तनत ऐसी कमज़ोर हो गई कि उसके अलग अलग इलाकों में बग़ावतें होने लगीं। मलिक काफ़ूर जो चाहता वही कर बैठता, जिससे मुसलमान उमराव भी उसके विरोधी हो गये; सुलतान के मरते ही सल्तनत की दशा और बिगड़ गई[1]। ऐसी दशा में मालदेव को दिल्ली से कोई सहायता मिलने की आशा ही न रही। मालदेव ने सीसोदे के राणा हंमीर से हिलमिल-कर रहने की इच्छा से अपनी पुत्री का विवाह उसके साथ करने, और मेवाड़ की ख्यातों आदि के कथनानुसार मेवाड़ के ८ ज़िले—मगरा, सेरानला, गिरवा, गोड़वाड़, बाराठ, श्यालपट्टी, मेरवाड़ा और घाटे का चोखला—[2] दहेज में देने की बात हंमीर से कहलाई, जिसको उसने स्वीकार किया और हंमीर का विवाह उसकी पुत्री के साथ हो गया।

कर्नल टॉड ने लिखा है—'मालदेव की विधवा पुत्री से हंमीर की शादी हुई

(१) अलाउद्दीन खिलजी के मरने पर मलिक काफ़ूर ने उसके छोटे बेटे शहाबुद्दीन उमर को, जो छः वर्ष का था, दिल्ली के सिंहासन पर नाममात्र को बिठलाया, परंतु राज्य का सारा कार्य वही अपनी इच्छानुसार करता रहा। इस प्रकार ३५ दिन बीते, इतने में मलिक काफ़ूर मारा गया। फिर सुलतान अलाउद्दीन का एक शाहज़ादा मुबारकख़ां, जिसको मलिक काफ़ूर ने क़ैद कर रक्खा था, प्रथम तो अपने बालक भाई का वज़ीर बना, परंतु दो महीने बाद अपने भाई को पदभ्रष्ट कर स्वयं सुलतान बन बैठा। वह भी चार बरस राज्य करने पाया, इतने में उसके गुलाम वज़ीर खुसरो ने, जो हिन्दू से मुसलमान बना था, उसको मार डाला और वह 'नासिरुद्दीन खुसरोशाह' ख़िताब धारण कर दिल्ली के राज्य-सिंहासन पर आरूढ हुआ। इस घटना को हुए चार महीने बीते, इतने में पंजाब के हाकिम ग़ाज़ी मलिक तुग़लक ने दिल्ली पर चढ़ाई कर दी और नासिरुद्दीन खुसरो को परास्त कर मार डाला। फिर 'ग़यासुद्दीन तुग़लकशाह' के नाम से ई० स० १३२० से १३२५ (वि० सं० १३७७ से १३८२) तक उसने राज्य किया।

(२) वीरविनोद; भाग १, पृ० २६५। इन आठ परगनों के हंमीर को दिये जाने के ख्यातों आदि के कथन पर हमें विश्वास नहीं होता, क्योंकि सेरानला और श्यालपट्टी के ज़िले तो उस समय सीसोदे की जागीर के अंतर्गत होने से हंमीर के ही थे, और गोड़वाड़ पर उस समय तक मेवाड़वालों का अधिकार होना पाया नहीं जाता। वि० सं० १३६८ (ई० स० १३११) के आसपास तक वह ज़िला जालोर के चौहानों के अधिकार में था, ऐसा उनके शिलालेखों से ज्ञात होता है।

थी। उस लड़की का पहला विवाह एक भट्टि (भाटी) सरदार के साथ इतनी छोटी अवस्था में हुआ था, कि उसको अपने पति का स्मरण तक न था"[1]। टॉड का यह कथन सर्वथा निर्मूल है, क्योंकि उस समय राजपूतों में ऐसी छोटी अवस्थावाली लड़कियों का विवाह होता ही नहीं था और विधवा का विवाह तो सर्वथा नहीं। राजपूताने की किसी भी ख्यात में टॉड के उक्त कथन का उल्लेख नहीं पाया जाता। राजपूताने में प्राचीन राजवंशों के कई घराने ऐसे रह गये हैं कि जिनके पास कुछ भी जागीर नहीं रही, अतएव वे केवल खेती द्वारा अपना निर्वाह करते हैं और किसानों जैसे हो गये हैं। उनमें नाता (नात्रा=विधवाविवाह) होता है, जिससे वे नात्रात (नात्रायत) राजपूत कहलाते हैं। मेवाड़ में कुंभलगढ़ की तरफ़ के इलाक़ों में ऐसे राजपूत अधिक हैं और वे भिन्न भिन्न वंशों के हैं। अनुमान होता है कि अपने यहां नाते की रीति को पुरानी बतलाने के लिये उन्होंने हंमीर का मालदेव की विधवा पुत्री से नाता होने की यह कथा गढ़ ली हो। संभव है, टॉड ने उनसे यह कथा सुनी हो और उसपर विश्वास कर अपने 'राजस्थान' में उसे स्थान दिया हो। उक्त पुस्तक में ऐसी प्रमाण-शून्य कई बातें मिलती हैं, जो विश्वास के योग्य नहीं हैं। प्राचीन काल में उच्च कुल के राजपूतों में नाता होने का एक भी उदाहरण नहीं मिलता, तो भी कभी कभी ऐसे उदाहरण मिल आते हैं कि शत्रुता आदि कारणों से वे अपने शत्रु की स्त्री को उससे छीनकर अपने घर में डाल लेते थे[2]।

---

(१) टॉ; रा; जि० १, पृ० ३१८।

(२) जिस समय राठोड़ सत्ता मंडोवर का स्वामी था, उस समय रूण के सांखले सीहड़ ने अपनी पुत्री सुपियारदे का सम्बन्ध (सगाई) राव सत्ता के पुत्र नरवद के साथ किया था; परन्तु जब महाराणा मोकल ने सत्ता से मंडोवर का राज्य छीनकर रणमल को दिलाया, तब सांखले सीहड़ ने अपनी पुत्री का विवाह जैतारण के सिंधल नरसिंह के साथ कर दिया। एक दिन नरवद ने महाराणा के सामने लम्बी आह भरी, जिसपर महाराणा ने पूछा, क्या मंडोवर के लिये यह आह भरी है? इसके उत्तर में उसने निवेदन किया कि मंडोवर तो मेरे घर में ही है, परन्तु मेरी 'मांग' (*सम्बन्ध की हुई लड़की*) जैतारण के नरसिंह को ब्याह दी, जिसका मुझे बड़ा दुःख है। यह सुनकर महाराणा ने सांखले सीहड़ से कहलाया कि नरवद को इसका बदला देना चाहिये; तब सांखले ने अर्ज़ कराई कि सुपियारदे का विवाह तो हो चुका, अब मैं अपनी छोटी पुत्री का विवाह नरवद के साथ कर दूंगा। महाराणा ने यह हाल नरवद से कहा, जिसपर उसने निवेदन किया कि यदि सुपियारदे विवाह के

मालदेव के देहान्त के अनन्तर उसके पुत्र जेसा (जयसिंह) के समय

समय मेरी आरती करे, तो मुझे यह स्वीकार है। महाराणा की आज्ञा से यह शर्त सींहड़ ने स्वीकार कर ली। जिस समय यह बात महाराणा के दरबार में हुई, उस समय नरसिंह भी वहां विद्यमान था। फिर वह वहां से सवार होकर जैतारण (जोधपुर राज्य में) को गया। उधर से सांखले भी सुपियारदे को लेने के लिये आये, नरसिंह ने उसको इस शर्त पर पीहर जाने की आज्ञा दी कि वह नरवद की आरती न करे। विवाह के समय जब नरवद की आरती करने के लिये सुपियारदे से कहा गया, तो वह नट गई। सांखलों के विशेष अनुरोध से यह कहने पर कि 'यहां कौन देखता है', उसने नरवद की आरती कर दी। उस समय नरसिंह का एक नाई वहां मौजूद था, जिसने जाकर यह सारा हाल नरसिंह से कह दिया। इसपर उसको बड़ा क्रोध आया। जब सुपियारदे पीछी अपने सुसराल आई तब नरसिंह ने उसके साथ बुरा बरताव किया और उसकी छाती पर अपने पलंग का पाया रखकर उसपर वह सो गया। सुपियारदे ने बहुत कुछ अनुनय की, परंतु उसने उसकी एक न सुनी; जब यह ख़बर सुपियारदे की सास को मिली तब वह आकर उसे छुड़ा ले गई। सुपियारदे ने यह सारा हाल नरवद को लिख भेजा, जिसपर वह मज़बूत बैलों का एक रथ लेकर जैतारण को चला। जिस समय वह वहां पहुंचा, उस समय सिंधल लोग एक तमाशा देखने गये हुए थे; यह सुअवसर पाकर उसने एक मर्दानी पोशाक सुपियारदे के पास भेजी, जिसको पहनकर वह नरवद के पास चली आई। वह उसे रथ में बिठलाकर ले गया; यह ख़बर पाते ही सिंधलों ने सवार होकर उसका पीछा किया। मार्ग में पूरे वेग से बहती हुई एक नदी आई, जिसे देखते ही सुपियारदे ने नरवद से कहा कि सिंधलों के हाथ में पड़ने से तो नदी में डूबकर मरना ही अच्छा है। यह सुनकर नरवद ने बैलों को नदी में डाल दिया; बैल बड़े तेज़ और ज़ोरदार थे, जिससे तुरन्त ही रथ को लेकर पार निकल गये। सिंधलों ने भी अपने घोड़े उसके पीछे नदी में डाले, परन्तु नरवद कायलाणे के निकट पहुंच गया और उसका भतीजा आसकरण, जो ख़बर लेने के लिये आया था, मार्ग में नरवद से मिला। नरवद ने उससे कहा कि तू सुपियारदे को लेकर चला जा, मैं सिंधलों से लड़कर यहीं मरूंगा; इसपर आसकरण ने कहा कि नहीं, आप सुपियारदे को लेकर घर जाइये, मैं सिंधलों से लड़ूंगा। वह वीर सिंधलों से अकेला लड़ता हुआ वहीं काम आया (मुहणोत नैणसी की ख्यात; पत्र १७६-८०। वीरविनोद; भाग १, पृ० ३१३-१४)। जब यह बात महाराणा को मालूम हुई, तब उन्होंने नरवद को कायलाणे से चित्तोड़ बुला लिया और सिंधलों को धमकाया, कि यह तुम्हारी औरत को ले गया और तुमने इसके भतीजे को मार डाला, अब फ़साद नहीं करना चाहिये (वीरविनोद; भा० १, पृ० ३१४)। मंडोवर की गद्दी से ख़ारिज होने के कारण नरवद की मांग (सगाई की हुई लड़की) सांखलों ने दूसरों को ब्याह दी, जिसपर तो इतना बखेड़ा हुआ; ऐसी दशा में मालदेव का अपनी विधवा लड़की का विवाह हंमीर से करना कैसे संभव हो सकता है? प्रथम तो मालदेव अपने कुल के महत्व के विचार से ऐसा कभी न करता और महाराणी

हंमीर ने छल से[1] या बल से चित्तोड़ पर अपना अधिकार जमा लिया। फिर उसने सारा देश अपने अधीन कर मेवाड़ पर गुहिलवंशियों का राज्य फिर से स्थिर किया, जो अब तक चला आता है।

इस अध्याय को समाप्त करने से पूर्व, रावल वंश के साथ राणा शाखा की शृंखला मिलाने के लिये हंमीर के पूर्वजों का, जो मेवाड़ के राजाओं के सामंत और सीसोदे के राणा थे, संक्षिप्त परिचय दिया जाता है।

सीसोदे के इन सरदारों की जो नामावलियां भिन्न भिन्न शिलालेखों एवं पुस्तकों आदि में मिलती हैं वे परस्पर ठीक नहीं मिलतीं, जैसा कि इसके साथ दिये हुए नक्शे से जान पड़ता है।

जैसा सर्वोच्च घराने का राजा उसे स्वीकार न करता। दूसरी बात यह है कि यदि ऐसा हुआ होता, तो अनेक राजपूत अपने प्राणों का बलिदान कर देते, और सीसोदिये तथा सोनगरों के साथ भाटियों का वंशपरंपरा का वैर हो जाता।

(१) 'वीरविनोद' में दिये हुए हंमीर के चित्तोड़ लेने के वृत्तान्त का आशय यह है—'मालदेव जालोर में रहा करता था और उसके राजपूत चित्तोड़ में रहते थे, जिनकी भोजन-सामग्री भी जालोर से आया करती थी। राणा हंमीर की शादी मालदेव की पुत्री से जालोर में हुई, उस समय हंमीर ने अपनी राणी के कथनानुसार मालदेव के कामदार मौजीराम मेहता (टॉड ने उसका नाम जाल मेहता लिखा है जो शुद्ध है, उसके वंशज अब तक मेवाड़ में प्रतिष्ठित पदों पर नियुक्त रहते आ रहे हैं) को अपने लिये मांग लिया। वह चित्तोड़ के क़िले में रहनेवाली उसकी सेना का वेतन चुकाने को जाया करता था। हंमीर ने छल से चित्तोड़ छीनने का विचार कर मौजीराम को अपना सहायक बना लिया। संकेत के अनुसार वह रात को क़िले के दरवाज़े पर पहुंचा और वहां के राजपूतों ने उसको मालदेव का विश्वासपात्र समझकर दरवाज़े खोल दिये, जिससे हंमीर अपनी सेना सहित क़िले में पहुंच गया; फिर वहां के राजपूतों को मारकर उसने क़िला ले लिया' (वीरविनोद; भाग १, पृ० २९४-९६)। उपर्युक्त विवरण में मालदेव का उस समय जालोर में रहना और राणा हंमीर की शादी जालोर में होना—ये दोनों कथन अविश्वसनीय हैं, क्योंकि जालोर तो वि० सं० १३६८ (ई० स० १३११) में सुलतान अलाउद्दीन ख़िलजी ने कान्हड़देव सोनगरे से छीन लिया था (देखो ऊपर पृ० ५००) और वहां सुलतान का हाकिम रहता था। फ़िरिश्ता से पता लगता है कि पहले वहां का हाकिम निज़ामख़ां (अलफ़ख़ां का भाई) था। मलिक काफ़ूर ने अलफ़ख़ां के द्वेष के कारण कमालख़ां से उसको मरवा डाला। फिर कमालख़ां वहां का हाकिम बना था (ब्रिग्ज़; फ़िरिश्ता जि० १, पृ० ३८१)। मालदेव के पास कोई जागीर न रहने से वह मुल्क में बिगाड़ किया करता था, जिससे सुलतान ने ख़िज़रख़ां को वहां से बुलाकर चित्तोड़ का इलाक़ा उसको दिया; तब से वह वहीं रहता था, और सात बरस बाद वहीं उसका देहांत होना मुहणोत नैणसी लिखता है। यदि नैणसी का कथन ठीक हो, तो मालदेव की मृत्यु के बाद उसके पुत्र जेसा से हंमीर ने चाहे छल से चाहे बल से चित्तोड़ लिया होगा।

संख्या	राणपुर का लेख वि० सं० १४९६	राणा कुंभा के समय का एकलिंगमाहात्म्य	कुंभलगढ़ का लेख वि० सं० १५१७	जगदीश के मंदिर का लेख वि० सं० १७०८	एकलिंगजी का लेख वि० सं० १७०९	राजप्रशस्ति महाकाव्य वि० सं० १७३२	मुहणोत नैणसी की ख्यात	वीरविनोद[1]
१	...	माहप	...	...	...	माहप	माहप	...
२	...	राहप	...	राहप	राहप	राहप	राहप	राहप
३	...	...	...	...	...	...	देदू	...
४	...	हरसू	...	नरपति	नरपति	नरपति	नरू	नरपति
५	...	घबरू	...	दिनकर्ण	दिनकर	...	हरसू	दिनकरण
६	...	यशःकरण	...	जसकर्ण	जसकर्ण	जसकर्ण	जसकरण	जशकरण
७	...	नागपाल	...	नागपाल	नागपाल	नागपाल	नागपाल	नागपाल
८	...	पूर्णपाल	...	पूर्णपाल	कर्णपाल	पुण्यपाल	पुणपाल	पूर्णपाल
९	...	फेंखर	...	पृथ्वीमल्ल	...	पृथ्वीमल्ल	पेथड़	पृथ्वीपाल
१०	भुवनसिंह	भुवनसिंह	...	भुवनसिंह	भुवनसिंह	भुवनसिंह	भवणसी	भुवनसिंह
११	...	भीमसिंह	...	भीमसिंह	भीमसिंह	भीमसिंह	भीमसी	भीमसिंह
१२	जयसिंह	जयसिंह	...	जयसिंह	जयसिंह	जयसिंह	अजयसी	जयसिंह
१३	लक्ष्मसिंह	लक्ष्मसिंह	लक्ष्मसिंह	लक्ष्मसिंह	लक्ष्मसिंह	लक्ष्मसिंह	भड़ लखमसी	लक्ष्मणसिंह
१४	अजयसिंह	...	...	...	...	अजेसी	...	अजयसिंह
१५	अरिसिंह	अरसी	अरिसिंह	अरिसिंह	अरसी	अरसी	अड़सी	अरिसिंह
१६	हम्मीर	हम्मीर	हम्मीर	हम्मीर	हम्मीर	हम्मीर	हम्मीर	हमीरसिंह

(१) भाटों की ख्यातों में मिलनेवाली राणा राहप से हम्मीर तक की वंशावली पहले दे दी गई है (देखो ऊपर पृ० ११६, टिप्पण १)।

ऊपर दिये हुए नक्शे में जिन जिन सरदारों के नाम हैं वे सब सीसोदे की जागीर के स्वामी थे। उनमें से हम्मीर को—जो पहले सीसोदे का ही सरदार था और पीछे से मेवाड़ का स्वामी हुआ—छोड़कर एक भी मेवाड़ का राजा नहीं होने पाया। लक्ष्मसिंह और अरिसिंह भी अलाउद्दीन के साथ की रत्नसिंह की लड़ाई के समय वीरता से लड़कर मारे गये थे; वे भी मेवाड़ के स्वामी नहीं हुए। हम ऊपर बतला चुके हैं कि रणसिंह (कररणसिंह) से दो शाखाएं फटीं, जिनमें से बड़ी शाखावाले मेवाड़ के स्वामी और छोटी शाखावाले सीसोदे के सरदार रहे, जो राणा कहलाये। बड़ी अर्थात् रावल शाखा की समाप्ति रत्नसिंह के साथ हुई, तब से चित्तोड़ खिलजियों के अधिकार में रहा; इसके पीछे चौहान मालदेव को मिला, जिसकी मृत्यु के अनंतर संभवतः उसके पुत्र जेसा से चित्तोड़ का राज्य हम्मीर ने लिया।

बापा रावल का राज्याभिषेक वि० सं० ७९१ में हुआ, परन्तु भाटों ने अपनी पुस्तकों में १९१ लिख दिया। इस ६०० वर्ष के अंतर को निकालने के लिये बापा से रत्नसिंह तक के सब राजाओं के मनमाने झूठे संवत् उन्होंने धरे; इसपर भी जब संवतों का क्रम ठीक न हुआ, तब उन्होंने रत्नसिंह के पीछे कररणसिंह से—जहां से दो शाखाएं फटी थीं—लगाकर हम्मीर तक के सीसोदे के सब सरदारों के नाम मेवाड़ के राजाओं की नामवली में दर्ज कर उस अंतर को मिटाने का यत्न किया, परन्तु यह प्रयत्न भी पूर्ण रूप से सफल न हुआ। यदि ये सब सरदार मेवाड़ के स्वामी हुए होते, तो कुंभलगढ़ की प्रशस्ति में, जो विशेष अनुसन्धान से तैयार की गई थी, उन सब के नाम दर्ज होने चाहिये थे; परन्तु वैसा नहीं हुआ, जिसका कारण यही है कि वे मेवाड़ के स्वामी नहीं थे। उक्त प्रशस्ति में हम्मीर से पूर्व लक्ष्मसिंह और अरिसिंह के जो नाम दिये हैं, वे केवल यही बतलाने के लिये कि हम्मीर किसका पौत्र और किसका पुत्र था।

पिछले शिलालेखों तथा वीरविनोद में रत्नसिंह के पीछे कर्णसिंह से लेकर हम्मीर तक के नाम मेवाड़ के राजाओं में दर्ज किये गये हैं, जो भाटों की ख्यातों की नकल ही है।

माहप और राहप[1] दोनों भाई थे, और कर्णसिंह से निकली हुई सीसोदे की

(१) कर्नल टॉड ने राहप को कर्णसिंह का पुत्र नहीं, किंतु रावल समरसी (समरसिंह)

राणा शाखा का पहला सरदार माहप हुआ,[1] परंतु भाटों ने जब अपनी ख्यातें लिखीं उस समय सामंतसिंह के द्वारा वागड़ (डूंगरपुर) का राज्य स्थापित हुए (देखो ऊपर पृ० ४५३-५६) सैकड़ों वर्ष बीत चुके थे, जिससे वागड़ का राज्य किसने, कब और किस स्थिति में स्थापित किया, इसका उनको ज्ञान न होने के कारण उन्होंने नीचे लिखी हुई कथा गढ़ ली—

माहप और राहप

'कर्णसिंह के दो पुत्र—माहप और राहप—हुए। उस समय मंडोवर (मंडोर-जोधपुर राज्य में) का राणा मोकल पड़िहार (प्रतिहार) कर्णसिंह के कुटुम्बियों पर आक्रमण किया करता था, जिससे कर्णसिंह ने अपने बड़े पुत्र माहप को उसे पकड़ लाने को भेजा, परंतु जब वह उसे पकड़ न सका, तब उस (कर्णसिंह) ने राहप को भेजा, जो उसको पकड़कर अपने पिता के पास ले आया। इसपर कर्णसिंह ने मोकल से राणा का ख़िताब छीनकर राहप को दिया और उसी को अपना उत्तराधिकारी बनाया। इससे अप्रसन्न होकर उसका ज्येष्ठ पुत्र माहप वागड़ की तरफ़ अपने ननिहालवाले चौहानों के यहां चला गया। फिर उसने वागड़ का इलाक़ा छीनकर वहां अपना नया राज्य स्थापित किया[2] और कर्णसिंह के बाद राहप मेवाड़ का स्वामी हुआ'।

यह सारा कथन अधिकांश में कल्पित है, क्योंकि न तो माहप वागड़ (डूंगरपुर) के राज्य का संस्थापक था और न कभी राहप मेवाड़ का राजा हुआ। ये दोनों भाई एक दूसरे के बाद सीसोदे के सामंत रहे। कर्णसिंह के पीछे उसका ज्येष्ठ पुत्र क्षेमसिंह मेवाड़ का राजा हुआ, जिसके वंश में रत्नसिंह तक मेवाड़ का राज्य रहा (देखो ऊपर पृ० ४४८-९५)। मोकल से राणा का ख़िताब

के भाई सूरजमल के पुत्र भरत का बेटा माना है (टॉ; रा; जि० १, पृ० ३०४), जो एकलिंगमाहात्म्य आदि के विरुद्ध है और उसको स्वीकार करने के लिये कोई प्रमाण भी नहीं है।

(१) मुहणोत नैणसी ने लिखा है कि 'रावल करण का पुत्र मैहपा (माहप) राणा हुआ और सीसोदे गांव में रहने से सिसोदिया कहलाया। करण से दो शाखाएं—राणा और रावल—हुईं और राणा शाखावाले सीसोदे के स्वामी हुए' (नैणसी की ख्यात; पत्र १६६, पृ० २)।

(२) भाटों ने और उनके आधार पर पिछले इतिहास-लेखकों ने माहप का डूंगरपुर जाना मानकर उसका नाम सीसोदे के सरदारों में से निकाल दिया है, जो भूल ही है। माहप डूंगरपुर का राजा कभी नहीं हुआ, वह तो सीसोदे का पहला सरदार था, जैसा कि 'एकलिंगमाहात्म्य' और 'नैणसी की ख्यात' से पाया जाता है।

छीनकर राहप को देने की बात भी निर्मूल ही है, क्योंकि जैसे इस समय मेवाड़ के महाराणाओं के सबसे निकट के कुटुंबी—बागोर, करजाली और शिवरतीवाले—'महाराज' या 'बाबा' कहलाते हैं, वैसे ही उस समय केवल मेवाड़ के ही नहीं, किंतु कई एक अन्य पड़ोसी राज्यों में राजा के निकट के कुटुम्बी (छोटी शाखावाले) भी 'राणा' कहलाते थे। आबू के परमार राजा 'रावल,' और उनके निकट के कुटुम्बी, जिनके वंश में दांतावाले हैं, 'राणा' कहलाये। ऐसे ही गुजरात के सोलंकी शासक 'राजा,' और उनकी छोटी शाखावाले बघेले 'राणा' कहलाते रहे।

राहप के विषय में यह जनश्रुति प्रसिद्ध है कि वह कभी सीसोदे में और कभी केलवाड़े में रहा करता था। एक दिन आखेट करते समय उसने एक सूअर पर तीर चलाया, जो दैवयोग से कपिलदेव नामक तपस्वी ब्राह्मण के जा लगा, जिससे वह वहीं मर गया। इसका राहप को बहुत कुछ पश्चात्ताप हुआ और उस प्रायश्चित्त की निवृत्ति के लिये उसने केलवाड़े के निकट कपिलकुंड बनवाया[1]।

ऐसा कहते हैं कि राहप को कुष्ठ रोग हो गया था, जिसका इलाज सांडेराव (जोधपुर राज्य के गोड़वाड़ इलाक़े में) के जती (यति) ने किया, तब से उसका तथा उसकी शिष्य-परंपरा का सम्मान सीसोदे के राणाओं तथा मेवाड़ के महाराणाओं में होता रहा। उक्त जती के आग्रह से उसके एक शिष्य सरसल को, जो पल्लीवाल जाति के ब्राह्मण का पुत्र था, राहप ने अपना पुरोहित बनाया; तब से मेवाड़ के राणाओं के पुरोहित पल्लीवाल ब्राह्मण चले आते हैं, जिसके पूर्व चौबीसे ब्राह्मण थे, जो अब तक डूंगरपुर और बांसवाड़े के राजाओं के पुरोहित हैं।

राहप के वंशज

राहप के पीछे क्रमशः नरपति (हरसू, नरू), दिनकर (दिनकर्ण, बबरू, हरसू), जसकर्ण, (यशःकरण, जसकरण), नागपाल, पूर्णपाल (पुण्यपाल, पुणपाल और कर्णपाल), और पृथ्वीमल्ल (पेथड़, फेसर, पृथ्वीपाल) सीसोदे के स्वामी हुए, जिनका कुछ भी लिखित वृत्तान्त नहीं मिलता। पृथ्वीमल्ल के पीछे उसके पुत्र

(१) वीरविनोद; भाग १, पृ० २८८-८९।

भुवनसिंह[1] ने सीसोदे की जागीर पाई। राणपुर के मन्दिर के वि० सं० १४९६ के लेख में उसको चाहमान (चौहान) राजा कीतुक (कीतू, कीर्तिपाल) तथा सुरत्राण अल्लावदीन (सुलतान अलाउद्दीन खिलजी) को जीतनेवाला कहा है;[2] परन्तु ये दोनों बातें विश्वास के योग्य नहीं हैं, क्योंकि चौहान कीतू तो मेवाड़ के राजा सामंतसिंह और कुमारसिंह का समकालीन था[3], और अलाउद्दीन रावल रत्नसिंह और राणा लखमसी का। अनुमान होता है कि शिलालेख तैयार करनेवाले को प्राचीन इतिहास का यथेष्ट ज्ञान न होने से उसने सुनी हुई बातों पर ही विश्वास कर एक के समय की घटना को अन्य के साथ लगा दी हो, तो भी अलाउद्दीन को जीतने की बात तो निर्मूल है। भुवनसिंह का उत्तराधिकारी उसका पुत्र भीमसिंह हुआ, जिसकी स्त्री पद्मिनी होना कर्नल टॉड ने लिखा है, जो भ्रम ही है (देखो ऊपर पृ० ४९३-९४)। भीमसिंह के पीछे क्रमशः जयसिंह और लक्ष्मणसिंह या लक्ष्मसिंह (लखमसी) सीसोदे के राणा हुए। उपर्युक्त राणपुर के शिलालेख में लक्ष्मसिंह (लखमसी) को मालवे के राजा गोगादेव[4]

---

(१) भुवनसिंह के एक पुत्र चन्द्रा के वंशज चन्द्रावत कहलाये, जिनके अधीन रामपुरे का इलाक़ा था। चन्द्रावतों का वृत्तान्त उदयपुर राज्य के इतिहास के अंत में दिया जायगा।

(२) *चाहुमानश्रीकीतुकनृपश्रीअल्लावदीनसुरत्राण—जैत्रबप्पवंश्यश्रीभुवन—सिंह* ....

(भावनगर इन्स्क्रिप्शन्स, पृ० ११४)।

(३) सामन्तसिंह के भाई कुमारसिंह ने चौहान कीतू को मेवाड़ से निकाला, उस समय सीसोदे का सरदार—राहप का उत्तराधिकारी—नरपति होना चाहिये, क्योंकि माहप क्षेमसिंह का समकालीन था।

(नागरी प्रचारिणी पत्रिका; भा० १, पृ० ३६ में दिया हुआ वंशवृक्ष)।

(४) गोगादेव (गोगा) के नाम का मालवे से अब तक कोई शिलालेख नहीं मिला, परन्तु फ़िरिश्ता लिखता है—'अलाउद्दीन ख़िलजी ने हि० स० ७०४ (वि० सं० १३६१ = ई० स० १३०४) में ऐनुल्मुल्क मुल्तानी को सेना सहित मालवा विजय करने को भेजा। मालवे के राजा कोका (गोगा) ने ४०००० राजपूत सवार तथा १०००० पैदलों सहित उसका सामना किया। ऐनुल्मुल्क ने उसपर विजय प्राप्त कर उज्जैन, मांडू, धार और चंदेरी पर अधिकार कर लिया' (ब्रिग्ज़; फ़िरिश्ता; जि० १, पृ० ३६१)।

तारीख़े अलाई से पाया जाता है—'मालवे के राजा महलकदेव और उसके प्रधान कोका (गोगा) की अधीनता में ३०-४० हज़ार सवार एवं असंख्य पैदल सेना होने से वे बड़े

को जीतनेवाला कहा है[1]। यदि यह कथन ठीक है, तो यही मानना होगा कि रावल समरसिंह के समय मेवाड़ और मालवावालों में कोई लड़ाई हुई होगी, जिसमें लक्ष्मसिंह (लखमसी) मेवाड़ की सेना में रहकर लड़ा होगा। लक्ष्मसिंह अलाउद्दीन खिलजी के साथ की चित्तोड़ की चढ़ाई के समय वि० सं० १३६० (ई० स० १३०३) में अपने सात पुत्रों[2] सहित लड़कर मारा गया (देखो ऊपर पृ० ४८४)। इसी युद्ध में उसका ज्येष्ठ पुत्र अरिसिंह (अरसी) भी वीरोचित गति को प्राप्त[2] हुआ[3]। अरसी का पुत्र हंमीर था; केवल कनिष्ठ पुत्र अजयसिंह घायल होकर जीता घर गया और अपने पिता की जगह सीसोद का राणा हुआ।

घमंडी हो गये थे। ऐनुल्मुल्क मालवे पर भेजा गया, जिसकी चुनी हुई सेना ने एकदम उनपर हमला कर दिया। कोका मारा गया और उसका सिर सुलतान के पास भेजा गया। ऐनुल्मुल्क मालवे का हाकिम नियत हुआ और मांडू की लड़ाई में महलकदेव भी मारा गया' (इलियट्; हिस्ट्री ऑफ़ इंडिया; जि० ३, पृ० ७६)। तज़्ज़ियतुल् अम्सार का कर्ता अब्दुल्ला वस्साफ़ लिखता है कि 'मेरे ग्रंथ के प्रारंभ—हि० स० ६९९ (वि० स० १३५७=ई० स० १३००)—से ३० वर्ष पूर्व मालवे के राजा के मरने पर उसके बेटे और प्रधान में अनबन होने से अंत में उन्होंने मुल्क आपस में बांट लिया' (वही; पृ० ३१)। संभव है, यह कथन महलकदेव और उसके प्रधान गोगा से संबंध रखता हो। उस समय तक मालवा परमारों के अधीन था, अतएव महलकदेव का परमार होना संभव है।

(१) मालवेशगोगादेवजैत्रलक्ष्मसिंहः……………………

(राणपुर का शिलालेख—भावनगर इन्स्क्रिप्शन्स, पृ० ११४)।

(२) मेवाड़ की ख्यातों में लक्ष्मसिंह का नाम 'गढ़ लखमसी' और नैणसी की ख्यात में 'भड़ लखमसी' लिखा मिलता है। गढ़ लखमसी का कोई स्पष्ट अर्थ नहीं है, परंतु भड़ (भट) लखमसी का अर्थ 'वीर लखमसी' होता है, जो शुद्ध पाठ होना चाहिये। लखमसी के ६ पुत्रों के नाम मालूम हुए हैं जो ये हैं—अरिसिंह, अभयसिंह (जिससे कुंभावत हुए), नरसिंह, कुक्कड़, माकड़, ओभड़, पेथड़ (जिसके भाखरोत हुए), अजयसी और अनतसी। उनमें से ७ तो अलाउद्दीन के साथ की लड़ाई में मारे गये, अजयसी घायल होकर बचा और अनतसी—जिसका विवाह जालोर में हुआ था—जालोर की लड़ाई के समय कान्हड़देव के साथ रहकर, अलाउद्दीन की सेना से लड़ता हुआ वीरगति को प्राप्त हुआ। जहां उसका शरीर गिरा, वह स्थान अब तक 'अमत डूंगरी' नाम से प्रसिद्ध है। नैणसी ने लखमसी का १२ पुत्रों के साथ मारा जाना लिखा है, जो ठीक नहीं है (ख्यात; पत्र ४, पृ० १)।

(३) तदंगजोरसीराणा रसिको रणभूमिषु।

राणा लक्ष्मसिंह का ज्येष्ठ कुंवर अरिसिंह अपनी मृत्यु से कुछ वर्ष पूर्व एक दिन शिकार को गया हुआ था, जहां उसके हाथ से घायल होकर एक सूअर जवार के खेत में जा घुसा। अरिसिंह भी अपने घोड़े को उसके पीछे उसी खेत में ले जाना चाहता था, इतने में उस खेतवाले की लड़की ने आकर निवेदन किया कि आप खेत में घोड़ा डालकर जवार को न बिगाड़ें, मैं सूअर को खेत में से निकाल देती हूं। तदनन्तर उसने लाठी से सूअर को तुरंत खेत से बाहर कर दिया। उसकी इस हिम्मत को देखकर कुंवर को आश्चर्य हुआ। थोड़ी देर के बाद—जब वे शिकारी उस खेत से कुछ दूर एक वृक्ष की छाया में विश्राम कर रहे थे—उसी लड़की ने अपने खेत पर से पक्षियों को उड़ाने के लिये गोफन चलाया, जिसका पत्थर उन शिकारियों के घोड़ों में से एक के जा लगा और उसका पैर टूट गया। फिर वह लड़की सिर पर दूध की मटकी रक्खे और भैंस के दो बच्चों को अपने साथ लिये घर जाती हुई दिखाई दी। उसके बल तथा साहस को देखकर कुंवर बड़ा ही चकित हुआ। फिर उसने वह किस जाति की है, यह दर्याफ्त कराया, तो मालूम हुआ कि वह एक चंदाणे[1] राजपूत की लड़की थी। इसपर उसके मन में यह तरंग उठी कि यदि ऐसी बलवती कन्या से कोई पुत्र उत्पन्न हो, तो वह अवश्य बड़ा ही पराक्रमी होगा। इसी विचार से उसने उसके साथ व्याह करना चाहा, जिसको उस लड़की के पिता ने प्रसन्न होकर स्वीकार किया। कुंवर ने अपने पिता की सम्मति लिये बिना ही उसके साथ विवाह तो कर लिया, परन्तु पिता की अप्रसन्नता का भय

चित्रकूटे——श्रेयसां त्रिदिवं प्राप्तवान् प्रभुः॥ ८३ ॥

(राणा कुंभकर्ण के समय का एकलिंगमाहात्म्य; राजवर्णन अध्याय)।

अभून्नृसिंहप्रतिमोरिसिंहस्तदन्वये भव्यपरंपराढ्ये ।

बिभेद यो वैरिगजेन्द्रकुंभस्थलीमनूनां नखखड्गघातैः ॥ १८२ ॥

(कुंभलगढ़ की प्रशस्ति)।

(१) चंदाणा चौहानों की एक शाखा है। मुहणोत नैणसी ने हंमीर की माता का नाम 'देवी' लिखा है और उसको सोनगरे राजपूत की पुत्री कहा है (मुहणोत नैणसी की ख्यात; पत्र ४, पृ० १)।

रहने से वह अपनी स्त्री को अपने घर ले जाने का साहस न कर सका, जिससे वह उसके पिता के यहां ऊनवा गांव में ही रही, जहां वह शिकार के बहाने से जाकर रहा करता था। उस स्त्री से हंमीर का जन्म हुआ, जो अपने ननिहाल में ही रहता था। अरिसिंह के मारे जाने के पश्चात् जब अजयसिंह को हंमीर के ननिहाल में रहने का हाल मालूम हुआ, तब उसने उसको अपने पास बुला लिया। उन दिनों गोड़वाड़ ज़िले (जोधपुर राज्य में) का रहनेवाला मूंजा नामक बालेचा राजपूत अपने पड़ोस के मेवाड़ के इलाक़े में लूटमार करने लगा, जिससे अजयसिंह ने अपने दोनों पुत्रों—सज्जनसिंह और क्षेमसिंह—को आज्ञा दी कि वे उसको सज़ा देवें, परंतु उनसे वह काम न हो सका। इसपर अप्रसन्न होकर उसने अपने भतीजे हंमीर को, जिसकी अवस्था तो उस समय कम थी परंतु जो साहसी और वीर प्रकृति का था, वह काम सौंपा। हंमीर को यह सूचना मिली कि मूंजा गोड़वाड़ के सामेरी गांव में किसी जलसे में गया हुआ है। इसपर उसने वहां जाकर मूंजा को मार डाला[1] और उसका सिर काटकर अपने चाचा के सामने ला रक्खा। हंमीर की इस वीरता को देखकर अजयसिंह बहुत प्रसन्न हुआ, और 'बड़े भाई का पुत्र होने के कारण अपने ठिकाने का वास्तविक अधिकारी भी वही है,' यह सोचकर उसने मूंजा के रुधिर से तिलक कर उसी को अपना उत्तराधिकारी स्थिर किया। इसपर उस(अजयसिंह)के दोनों पुत्र—सज्जनसिंह और क्षेमसिंह—अप्रसन्न होकर दक्षिण को चले गये। मेवाड़ की ख्यातों के कथनानुसार इसी सज्जनसिंह के वंश में मरहटों का राज्य स्थापित करनेवाले प्रसिद्ध शिवाजी उत्पन्न हुए।

अजयसिंह का देहांत होने पर हंमीर सीसोदे की जागीर का स्वामी हुआ। फिर अपने पूर्वजों की राजधानी चित्तोड़ तथा मेवाड़ का सारा राज्य हस्तगत करने का उद्योग कर उसने चौहानों के मेवाड़ के इलाक़ों को उजाड़ना शुरू किया। उससे मेल करने के विचार से मालदेव ने अपनी पुत्री का विवाह उसके साथ करके मेवाड़ के कुछ इलाक़े उसको दहेज में दे दिये (देखो ऊपर पृ० ५०३), परन्तु इससे उसको

(१) *बलीयांसं बली मुंजनामानं मेदिनीपतिः ।*
हंमीरदेवो हतवान् अर्ज्जयन् कीर्त्तिमुत्तमां ॥ ६० ॥
(कुंभकर्ण के समय का एकलिंगमाहात्म्य; राजवर्णन अध्याय)।

संतोष न हुआ। अंत में वह चौहानों के हाथ में गया हुआ अपने पूर्वजों का सारा राज्य लेकर चित्तोड़ की गद्दी पर बैठा। तब से अब तक उसके वंश में मेवाड़ का राज्य चला आता है।

राजपूताने के अन्य राज्यों के समान उदयपुर राज्य का प्राचीन इतिहास भी अब तक अंधकार में ही है। कर्नल टॉड आदि विद्वानों ने गुहिल से लगाकर समरसिंह या रत्नसिंह तक का जो कुछ वृत्तान्त लिखा है, वह नहीं-सा है और विशेषकर भाटों की ख्यातों के आधार पर लिखा हुआ होने के कारण अधिक प्रामाणिक नहीं है। उदयपुर राज्य में प्राचीन शोध का कार्य अब तक कम ही हुआ है और मुझे भी राज्य-भर में घूमकर अनुसन्धान करने का अवसर थोड़ा ही मिला; अतएव इस प्रकरण में जो कुछ लिखा गया है उसे भी अधूरा ही समझना चाहिये, तो भी भविष्य में विशेष अनुसन्धान से उदयपुर राज्य का प्राचीन इतिहास लिखनेवालों के लिये वह कुछ सहायक तो अवश्य होगा।

परिशिष्ट—संख्या १

मेवाड़ के राजाओं की वंशावली में अशुद्धि

राजपूताने के भिन्न भिन्न पुरातन राजवंशों का कोई प्रामाणिक इतिहास पहले उपलब्ध न होने से भाटों की लिखी हुई पुस्तकें ही इतिहास का भंडार समझी जाती थीं; परंतु ज्यों-ज्यों प्राचीन शोध के कार्य में उन्नति हुई, त्यों-त्यों अनेक शिलालेख, दानपत्र, सिक्के एवं प्राचीन ऐतिहासिक संस्कृत ग्रंथ प्रसिद्धि में आने लगे। गवेषणा के फलस्वरूप अनेक प्राचीन इतिवृत्त प्रकट होने के कारण भाटों की ख्यातों पर से विद्वानों का विश्वास शनैः शनैः उठता गया। आधुनिक अनुसन्धान से अनुमान होता है कि भाटों की उपलब्ध ख्यातें वि० सं० की १६वीं शताब्दी से पीछे लिखी जाने लगीं, और जो कुछ प्राचीन नाम जनश्रुति से सुने जाते थे, वे तथा कई अन्य कृत्रिम नाम उनमें लिख दिये गये। पुराने राजाओं के निश्चित संवतों का तो उनको ज्ञान था ही नहीं, जिससे उन्होंने कल्पना के आधार पर उनके मनमाने संवत् स्थिर किये, जिनके सत्यासत्य के निर्णय का कोई उपयुक्त साधन उस समय उपस्थित न होने के कारण जो कुछ उन्होंने लिखा, वही पीछे से प्रमाणभूत माना जाने लगा। वि० सं० १६०० के आसपास पृथ्वीराज रासा बना, जिसको—प्राचीन इतिहास के लिये सर्वथा निरुपयोगी होने पर भी—उन्होंने आधारभूत मानकर उसी के अनुसार कुछ राजाओं के संवत् और वृत्तान्त भी लिखे।

पृथ्वीराज रासे में मेवाड़ के रावल समरसिंह का विवाह प्रसिद्ध चौहान पृथ्वीराज (तीसरे) की बहिन पृथाबाई के साथ होना (देखो ऊपर पृ० ४५७-५८) तथा समरसिंह का पृथ्वीराज की सहायतार्थ शहाबुद्दीन गोरी से लड़कर मारा जाना लिखा है, जिसको सत्य मानकर भाटों ने अपनी ख्यातों में पृथ्वीराज की मृत्यु के कल्पित संवत् ११५८[1] (ई० स० ११०१) में समरसिंह की मृत्यु होना भी मान

(१) पंडित मोहनलाल विष्णुलाल पंड्या (स्वर्गवासी) ने पृथ्वीराज रासे में दिये हुए झूठे संवतों को 'अनंद विक्रम संवत्' कहकर उनमें ९१ मिलाने से शुद्ध संवत् हो जाने की कल्पना की, परंतु प्राचीन शोध की कसौटी पर जांच करने से वह निर्मूल सिद्ध हुई (देखो नागरीप्रचारिणी पत्रिका, भाग १, पृ० ३७७-४५४ में प्रकाशित 'अनंद विक्रम संवत् की कल्पना' शीर्षक मेरा लेख)।

लिया। उनको महाराणा हंमीर की मृत्यु का संवत् १४२१ (ई० स० १३६४) भी ज्ञात था। इन दोनों संवतों के बीच २६३ वर्ष का अंतर था, जिसको किसी तरह पूरा करने के लिये उन्होंने समरसिंह के पीछे एक वर्ष रत्नसिंह का राज्य करना तथा उसके पीछे उसके पुत्र कर्णसिंह (रणसिंह) का चित्तोड़ का राजा होना लिख दिया। फिर कर्णसिंह के पुत्र माहप को, जो वास्तव में सीसोदे का पहला सामंत हुआ, डूंगरपुर के राज्य का संस्थापक मानकर उसके छोटे भाई राहप तथा उसके १२ वंशजों (अर्थात् नरपति से लगाकर अजयसिंह तक) का भी चित्तोड़ के राजा होना लिखकर संवतों की संगति मिलाने का यत्न किया, परन्तु इसमें भी वे सफल न हो सके। इसी तरह बापा (रावल) का राज्याभिषेक वि० सं० १९१ में और समरसी की मृत्यु ११५८ में होना मानकर बापा से समरसिंह तक के राजाओं के संवत् भी मनमाने लिख दिये (देखो ऊपर पृ० ३९६, टि० १), परंतु उनके माने हुए संवतों में से एक भी शुद्ध नहीं है। कर्णसिंह रत्नसिंह का पुत्र नहीं, किंतु उसका दसवां पूर्वपुरुष था। कर्णसिंह का १३वां वंशधर सीसोदे का लक्ष्मसिंह (लखमसी) चित्तोड़ के रावल रत्नसिंह का समकालीन था, और वि० सं० १३६० (ई० स० १३०३) में अलाउद्दीन के साथ की चित्तोड़ की लड़ाई में रत्नसिंह के साथ मारा गया था। ऐसी दशा में कर्णसिंह रत्नसिंह का पुत्र किसी प्रकार नहीं हो सकता। माहप और राहप से अजयसिंह तक के सब वंशज सीसोदे के सामंत रहे, न कि चित्तोड़ के राजा। चित्तोड़ का गया हुआ राज्य तो अजयसिंह के भतीजे (अरिसिंह के पुत्र) हंमीर ने पीछा लिया था।

जब भाटों ने सीसोदे के सामंतों की पूरी नामावली को मेवाड़ के राजाओं की वंशावली में स्थान देकर संवतों की संगति मिला दी, तो पिछले लेखकों ने भी बहुधा उसी का अनुकरण किया। 'राजप्रशस्ति महाकाव्य' के कर्त्ता ने भी समरसिंह के पीछे उसके पुत्र कर्ण का मेवाड़ का राजा होना, उसके ज्येष्ठ पुत्र माहप का डूंगरपुर जाना और छोटे पुत्र राहप तथा हंमीर तक के उसके सब वंशजों का मेवाड़ के स्वामी होना लिख दिया[1]। उसने किसी के राज्याभिषेक का संवत् तो दिया ही नहीं, इसलिये उसको भाटों का अनुकरण करने में कोई आपत्ति न रही।

---

(१) राजप्रशस्ति महाकाव्य; सर्ग ३, श्लोक २४ से सर्ग ४, श्लोक ७ तक।

कर्नल टॉड को पृथ्वीराज चौहान के मारे जाने का ठीक संवत् मालूम हो गया था, जिससे उक्त कर्नल ने 'पृथ्वीराज रासे' में दिये हुए उस घटना के संवत् ११५८ (ई० स० ११०१) को शुद्ध न मानकर वि० सं० १२४६ (ई० स० ११९२) में समरसिंह का देहांत होना माना, और भाटों के दिये हुए चौहान राजाओं के संवतों में लगभग १०० वर्ष का अन्तर बतलाया;[1] परंतु उसके बाद के वृत्तान्त के लिये तो भाटों की पुस्तकों की शरण लेनी ही पड़ी, जिससे समरसिंह के पीछे कर्ण (कर्णसिंह) का चित्तोड़ की गद्दी पर बैठना, उसके पुत्र माहप का डूंगरपुर जाना तथा राहप और उसके वंशजों का चित्तोड़ का राजा होना लिख दिया[2]।

वीरविनोद लिखते समय महामहोपाध्याय कविराजा श्यामलदास ने ऐतिहासिक शोध में और भी उन्नति की; और जब रावल समरसिंह के वि० सं० १३३५, १३४२ और १३४४ (ई० स० १२७८, १२८५ और १२८७) के शिलालेख मिल गये, तब उनका प्रमाण देकर पृथ्वीराज चौहान के साथ समरसिंह के मारे जाने की बात को निर्मूल बतलाते हुए उसका वि० सं० १३४४ (ई० स० १२८७) तक जीवित रहना प्रकट किया। फिर फ़ारसी तवारीख़ों के आधार पर समरसिंह के पुत्र रत्नसिंह का वि० सं० १३६० (ई० स० १३०३) में मारा जाना भी लिखा[3], परंतु खोज का कार्य इससे आगे न बढ़ने के कारण राणा शाखा कब और कहां से पृथक् हुई, यह उस समय तक ज्ञात न हो सका। तब भाटों की पुस्तकों, राजप्रशस्ति महाकाव्य तथा कर्नल टॉड के 'राजस्थान' पर ही निर्भर रहकर रत्नसिंह के पीछे उसके पुत्र करणसिंह (कर्ण) का राजा होना, उसके ज्येष्ठ पुत्र माहप का डूंगरपुर लेना तथा छोटे राहप का मेवाड़ का राज्य पाना मानकर राहप के वंशजों की पूरी नामावली मेवाड़ के राजाओं में मिला दी गई। कविराजा को यह भी ज्ञात था कि रत्नसिंह का देहांत वि० सं० १३६० (ई० स० १३०३) में तथा हंमीर का वि० सं० १४२१ (ई० स० १३६४) में हुआ; इन दोनों घटनाओं के बीच केवल ६१ वर्ष का अंतर है, जो करणसिंह से लेकर

(१) टॉ; रा; जि० ३, पृ० १४६१, टिप्पण ३।

(२) वही; जि० १, पृ० २६७-३१६।

(३) वीरविनोद; भाग १, पृ० २६६-८८।

हंमीर तक की १३ पीढ़ियों (पुश्तों) के लिये बहुत ही कम है। अतएव यही मानना पड़ा कि ये सब राजा चित्तोड़ लेने के उद्योग में थोड़े ही समय में लड़कर मारे गये,[1] जो माना नहीं जा सकता।

परिशिष्ट-संख्या २

महाराणा कुंभा के शिलालेख और सीसोदे की पीढ़ियां।

वि० सं० १७०८ के जगदीश के मन्दिर और वि० सं० १७०६ के एकलिंगजी के मन्दिर से मिले हुए शिलालेखों में तथा वि० सं० १७३२ के बने हुए 'राजप्रशस्ति महाकाव्य' में भाटों की ख्यातों के अनुसार सीसोदे के राणाओं की सब पीढ़ियां मेवाड़ के राजाओं की नामावली में मिला दी गई हैं, परंतु वि० सं० १४६६ के महाराणा कुंभकर्ण के समय के राणपुर के शिलालेख में राहप से पृथ्वीमल्ल तक के सात नाम छोड़कर पिछले छः नाम—भुवनसिंह, जयसिंह, लक्ष्मसिंह, अजयसिंह, उसका भाई अरिसिंह और हम्मीर—ही दर्ज किये गये हैं[2]। इसी तरह उक्त महाराणा के समय के वि० सं० १५१७ के कुंभलगढ़ के शिलालेख में (जो विशेष अनुसंधान से तैयार किया गया था), रत्नसिंह के पीछे क्रमशः लक्ष्मसिंह, अरिसिंह और हम्मीर—ये तीन नाम ही दिये हैं,[3] शेष सब छोड़ दिये गये हैं। महाराणा कुंभा के समय के उक्त दोनों शिलालेख तैयार करनेवालों को मेवाड़ के राजाओं और सीसोदे के सरदारों की वंशावलियों का ज्ञान अवश्य था, जिससे उन्होंने न तो समरसिंह या रत्नसिंह के पीछे कर्णसिंह का नाम दिया, और न माहप-राहप आदि सीसोदे के सरदारों के प्रारंभ के नाम मेवाड़ के राजाओं की नामावली में जोड़े[4]। राणपुर के शिलालेख में भुवनसिंह से अजयसिंह तक

---

(१) वीरविनोद; भाग १, पृ० २८४-८५।

(२) भावनगर-प्राचीन-शोध-संग्रह; भाग १, पृ० ५६।

(३) कुंभलगढ़ का शिलालेख, श्लोक १७७-१८६।

(४) इन शिलालेखों से जान पड़ता है कि वि० सं० १३१७ तक तो सीसोदे के सरदारों के नाम मेवाड़ के राजाओं की नामावली में नहीं मिलाये गये थे, जिसके बाद और जग-

के नाम मेवाड़ के राजाओं तथा सीसोदे के सामंतों का संबंध बतलाने के लिये ही लिखे गये हैं, उनमें से एक भी मेवाड़ का राजा नहीं हुआ। लक्ष्मसिंह (लखमसी) के पीछे अजयसिंह का नाम लिखने का कारण यही है कि लक्ष्मसिंह के पीछे सीसोदे की जागीर का स्वामी वही हुआ था। हंमीर अरिसिंह का पुत्र था, यह स्पष्ट करने के लिये ही अजयसिंह के पीछे अरिसिंह का नाम लिखा गया। अरिसिंह कुंवरपदे में ही चित्तोड़ की लड़ाई में मारा गया था और सीसोदे का स्वामी भी न होने पाया था, परंतु उसका नाम छोड़कर अजयसिंह के पीछे हंमीर का नाम देने में उक्त शिलालेख से यह भ्रम होने की संभावना हो सकती थी कि हंमीर अजयसिंह का पुत्र हो। इसी तरह कुंभलगढ़ के शिलालेख में रत्नसिंह के पीछे क्रमशः लक्ष्मसिंह (लखमसी), अरिसिंह और हंमीर के नाम भी यह स्पष्ट करने के लिये दिये गये हैं कि हंमीर रत्नसिंह का वंशज नहीं, किंतु सीसोदे के लक्ष्मसिंह (लखमसी) का पौत्र और अरिसिंह का पुत्र था।

उक्त दोनों शिलालेखों में सीसोदे के सरदारों के उन नामों को देखकर कोई कोई यह अनुमान करते हैं कि ये रत्नसिंह के पीछे कुछ दिनों के लिये चित्तोड़ के राजा बनकर लड़ते हुए मारे गये हों, जिससे उनके नाम उक्त शिलालेखों की राजावली में दिये गये हों; परंतु ऐसा मानना भ्रम ही है, क्योंकि राणपुर के शिलालेख में दी हुई उनकी नामावली में से भुवनसिंह और अजयसिंह तो रत्नसिंह की गद्दीनशीनी से पहले ही मर चुके थे, जिससे उनका एक दिन के लिये भी चित्तोड़ का राजा होना संभव नहीं हो सकता। इसी प्रकार लक्ष्मसिंह (लखमसी) अपने सात पुत्रों (अरिसिंह आदि) सहित रत्नसिंह के समय अलाउद्दीन के साथ की लड़ाई में मारा गया और अजयसिंह, जो घायल होकर बचा, सीसोदे की जागीर का स्वामी हुआ। यही कुंभलगढ़ के शिलालेख के नामों के लिये भी समझना चाहिये।

दीश के मन्दिर के वि० सं० १७०८ के शिलालेख की रचना के बीच के समय में भाटों ने अपनी ख्यातें लिखी हों, ऐसा अनुमान होता है।

परिशिष्ट-संख्या ३

गुहिल से राणा हंमीर तक की मेवाड़ के राजाओं की वंशावली[1]

१ गुहिल (गुहदत्त)
२ भोज
३ महेन्द्र
४ नाग (नागादित्य)
५ शीलादित्य (शील) वि० सं० ७०३
६ अपराजित वि० सं० ७१८
७ महेन्द्र (दूसरा)
८ कालभोज (बापा) वि० सं० ७९१-८१०
९ खुम्माण वि० सं० ८१०
१० मत्तट
११ भर्तृभट (भर्तृपट्ट)
१२ सिंह
१३ खुंमाण (दूसरा)
१४ महायक
१५ खुंमाण (तीसरा)
१६ भर्तृभट (दूसरा) वि० सं० ९९९, १०००
१७ अल्लट वि० सं० १००८, १०१०
१८ नरवाहन वि० सं० १०२८
१९ शालिवाहन
२० शक्तिकुमार वि० सं० १०३४
२१ अंबाप्रसाद
२२ शुचिवर्मा
२३ नरवर्मा
२४ कीर्तिवर्मा
२५ योगराज
२६ वैरट

(१) इस वंशावली में जिन जिन राजाओं के नामों के साथ जो जो संवत् दिये हैं, वे शिलालेखादि से प्राप्त उनके निश्चित संवत् हैं।

२७ हंसपाल
२८ वैरिसिंह
२९ विजयसिंह वि सं० ११६४, ११७३
३० अरिसिंह
३१ चोड़सिंह
३२ विक्रमसिंह
३३ रणसिंह (कर्णसिंह)
मेवाड़ की रावल शाखा
सीसोदे की राणा शाखा
३४ क्षेमसिंह
१ माहप
२ राहप
३ नरपति
३६ कुमारसिंह
३५ सामंतसिंह
वि० सं० १२२८-३६
४ दिनकर
५ जसकरण
सीहड़देव
वागड़ की शाखा
३७ मथनसिंह
६ नागपाल
३८ पद्मसिंह
७ पूर्णपाल
३९ जैत्रसिंह
वि० सं० १२७०-१३०९
८ पृथ्वीमल्ल
९ भुवनसिंह
४० तेजसिंह
वि० सं० १३१७-२४
१० भीमसिंह
४१ समरसिंह
वि० सं० १३३०-५८
११ जयसिंह
४२ रत्नसिंह
वि० सं० १३५९-६०
१२ लक्ष्मसिंह
वि० सं० १३६०
अरिसिंह
१३ अजयसिंह
४३ हंमीर
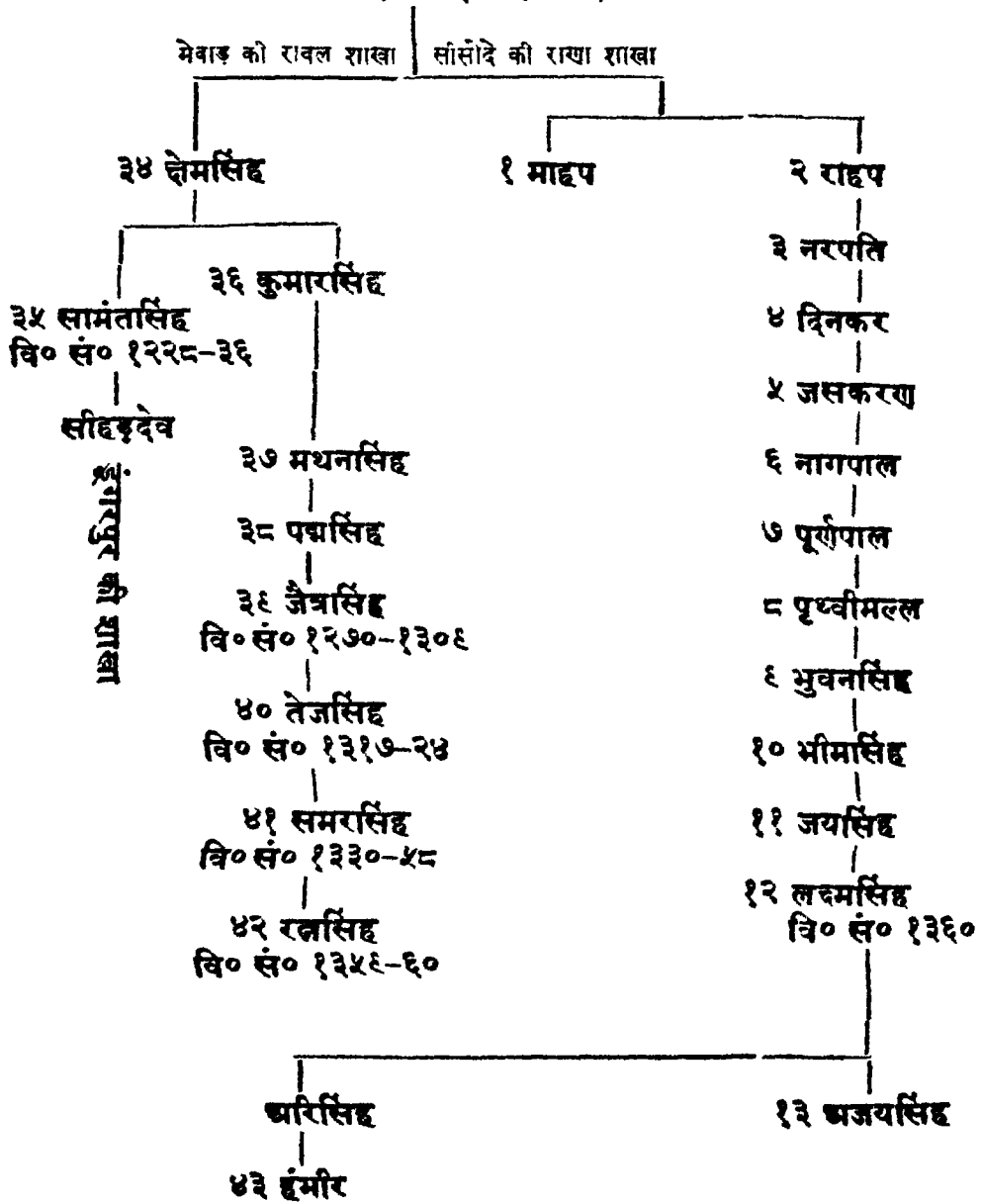
परिशिष्ट-संख्या ४

क्षत्रियों के गोत्र

ब्राह्मणों के गौतम, भारद्वाज, वत्स आदि अनेक गोत्र (ऋषिगोत्र) मिलते हैं जो उन(ब्राह्मणों)का उक्त ऋषियों के वंशज होना प्रकट करते हैं। ब्राह्मणों के समान क्षत्रियों के भी अनेक गोत्र उनके शिलालेखादि में मिलते हैं, जैसे कि चालुक्यों (सोलंकियों) का मानव्य, चौहानों का वत्स, परमारों का वसिष्ठ, वाकाटकों का विष्णुवर्द्धन आदि। क्षत्रियों के गोत्र किस बात के सूचक हैं, इस विषय में मैंने हिन्दी टॉड-राजस्थान के सातवें प्रकरण पर टिप्पण करते समय प्रसंगवशात् वाकाटक वंश का परिचय देते हुए लिखा था—"वाकाटक वंशियों के दानपत्रों में उनका विष्णुवर्द्धन गोत्र में होना लिखा है। बौधायन-प्रणीत 'गोत्र-प्रवर-निर्णय' के अनुसार विष्णुवर्द्धन गोत्रवालों का महर्षि भरद्वाज के वंश में होना पाया जाता है, परंतु प्राचीन काल में राजाओं का गोत्र वही माना जाता था, जो उनके पुरोहित का होता था। अतएव विष्णुवर्द्धन गोत्र से अभिप्राय इतना ही होना चाहिये कि उस वंश के राजाओं के पुरोहित विष्णुवर्द्धन गोत्र के ब्राह्मण थे"[1]। कई वर्षों तक मेरे उक्त कथन के विरुद्ध किसी ने कुछ भी नहीं लिखा, परंतु अब उस विषय की चर्चा खड़ी हुई है. जिससे उसका स्पष्टीकरण करना आवश्यक प्रतीत होता है।

श्रीयुत चिंतामणि विनायक वैद्य एम्० ए०, एल्-एल्० बी० के नाम और उनकी 'महाभारत-मीमांसा' पुस्तक से हिंदी प्रेमी परिचित ही हैं। वैद्य महाशय इतिहास के भी प्रेमी हैं। उन्होंने ई० सन् १९२३ में *'मध्ययुगीन भारत, भाग दूसरा'* नाम की मराठी पुस्तक प्रकाशित की, जिसमें हिन्दू राज्यों का उत्कर्ष अर्थात् राजपूतों का प्रारंभिक (अनुमानतः ई० सन् ७५० से १००० तक का) इतिहास लिखने का यत्न किया है। वैद्य महाशय ने उक्त पुस्तक में 'राजपूतों के गोत्र' तथा 'गोत्र और प्रवर,' इन दो लेखों में यह बतलाने का यत्न किया है कि क्षत्रियों के गोत्र वास्तव में उनके मूलपुरुषों के सूचक हैं, पुरोहितों के नहीं, और पहले

(१) खड्गविलास प्रेस (बाँकीपुर) का छपा 'हिन्दी टॉड-राजस्थान,' खंड १, पृ० ४१०-११।

क्षत्रिय लोग ऐसा ही मानते थे (पृ० ६१); अर्थात् भिन्न भिन्न क्षत्रिय वास्तव में उन ब्राह्मणों की संतति हैं, जिनके गोत्र वे धारण करते हैं।

अब इस विषय की जाँच करना आवश्यक है कि क्षत्रियों के गोत्र वास्तव में उनके मूलपुरुषों के सूचक हैं अथवा उनके पुरोहितों के, जो उनके संस्कार करते और उनको वेदादि शास्त्रों का अध्ययन कराते थे।

याज्ञवल्क्य-स्मृति के आचाराध्याय के विवाह-प्रकरण में, कैसी कन्या के साथ विवाह करना चाहिये, यह बतलाने के लिये नीचे लिखा हुआ श्लोक है—

अरोगिणीं भ्रातृमतीमसमानार्षगोत्रजां ।

पंचमात्सप्तमादूर्ध्वं मातृतः पितृतस्तथा ॥ ५३ ॥

आशय— जो कन्या अरोगिणी, भाईवाली, भिन्न ऋषि-गोत्र की हो और (वर का) माता की तरफ़ से पांच पीढ़ी तक तथा पिता की तरफ़ से सात पीढ़ी तक का जिससे संबंध न हो, उससे विवाह करना चाहिये।

वि० सं० ११३३ (ई० स० १०७६) और ११८३ (ई० स० ११२६) के बीच दक्षिण (कल्याण) के चालुक्य (सोलंकी) राजा विक्रमादित्य (छठे) के दरबार के पंडित विज्ञानेश्वर ने 'याज्ञवल्क्यस्मृति' पर 'मिताक्षरा' नाम की विस्तृत टीका लिखी, जिसका अब तक विद्वानों में बड़ा सम्मान है और जो सरकारी न्यायालयों में भी प्रमाणरूप मानी जाती है। उक्त टीका में, ऊपर उद्धृत किये हुए श्लोक के 'असमानार्षगोत्रजां' चरण का अर्थ बतलाते हुए, विज्ञानेश्वर ने लिखा है कि 'राजन्य (क्षत्रिय) और वैश्यों में अपने गोत्र (ऋषिगोत्र) और प्रवरों का अभाव होने के कारण उनके गोत्र और प्रवर पुरोहितों के गोत्र और प्रवर'

(१) प्रत्येक ऋषिगोत्र के साथ बहुधा तीन या पांच प्रवर होते हैं, जो उक्त गोत्र (वंश) में होनेवाले प्रवर (परम प्रसिद्ध) पुरुषों के सूचक होते हैं। कश्मीरी पण्डित जयानक अपने 'पृथ्वीराजविजय महाकाव्य' में लिखता है—

काकुत्स्थमिक्ष्वाकुरघूंश्च यद्दधत्पुराभवत्त्रिप्रवरं रघोः कुलम् ।

कलावपि प्राप्य स चाहमानतां प्ररूढतुर्यप्रवरं बभूव तत् ॥ २।७१ ॥

आशय—रघु का वंश (सूर्यवंश) जो पहले (कृतयुग में) काकुत्स्थ, इक्ष्वाकु और रघु—इन तीन प्रवरोंवाला था, वह कलियुग में चाहमान (चौहान) को पाकर चार प्रवरवाला हो गया।

समझने चाहियें"। साथ ही उक्त कथन की पुष्टि में आश्वलायन का मत उद्धृत करके बतलाया है कि राजाओं और वैश्यों के गोत्र वही मानने चाहियें, जो उनके पुरोहितों के हों[२]। मिताक्षरा के उक्त अर्थ के विषय में श्रीयुत वैद्य का कथन है कि 'मिताक्षराकार ने यहां गलती की है, इसमें हमें लेशमात्र भी संदेह नहीं है (पृ० ६०)। मिताक्षरा के बनने से पूर्व क्षत्रियों के स्वतः के गोत्र थे' (पृ० ६१)। इस कथन का आशय यही है कि मिताक्षरा के बनने के पीछे क्षत्रियों के गोत्र उनके पुरोहितों के गोत्रों के सूचक हुए हैं, ऐसा माना जाने लगा; पहले ऐसा नहीं था।

अब हमें यह निश्चय करने की आवश्यकता है कि मिताक्षरा के बनने से पूर्व क्षत्रियों के गोत्रों के विषय में क्या माना जाता था। वि० सं० की दूसरी शताब्दी के प्रारंभ में अश्वघोष नामक प्रसिद्ध विद्वान् और कवि हुआ, जो पहले ब्राह्मण था, परंतु पीछे से बौद्ध हो गया था। वह कुशनवंशी राजा कनिष्क का धर्मसंबंधी सलाहकार था, ऐसा माना जाता है। उसके 'बुद्धचरित' और 'सौंदरनंद' काव्य कविता की दृष्टि से बड़े ही उत्कृष्ट समझे जाते हैं। उसकी प्रभावोत्पादिनी कविता सरलता और सरसता में कवि-शिरोमणि कालिदास की कविता के जैसी ही है। यदि कालिदास की समता का पद किसी कवि को दिया जाय, तो उसके लिये अश्वघोष ही उपयुक्त पात्र हो सकता है। उसका ब्राह्मणों के

---

(१) *राजन्यविशां प्रातिस्विकगोत्राभावात् प्रवराभावस्तथापि पुरोहितगोत्रप्रवरौ वेदितव्यौ।* (मिताक्षरा; पृ० १४)।

(२) *तथा च यजमानस्यार्षेयान् प्रवृणीत इत्युक्त्वा पौरोहित्यान् राजविशां प्रवृणीते इत्याश्वलायनः।* (वही; पृ० १४)।

यही मत बौधायन, आपस्तंब और लौगाक्षी का है (पुरोहितप्रवरो राज्ञाम्)—देखो 'गोत्रप्रवरनिबंधकदंबम्'; पृ० ४०।

बुंदेले राजा वीरसिंहदेव (बरसिंहदेव) के समय मित्रमिश्र ने 'वीरमित्रोदय' नामक ग्रंथ लिखा, जिसमें भी क्षत्रियों के गोत्र उनके पुरोहितों के गोत्रों के सूचक माने हैं—

तत्र द्विविधाः क्षत्रियाः केचिद्विद्यमानमंत्रदृशः। केचिदविद्यमानमंत्रदृशः। तत्र विद्यमानमंत्रदृशः स्वीयानेव प्रवरान्प्रवृणीरन्। येत्वविद्यमानमंत्रदृशस्ते पुरोहितप्रवरान् प्रवृणीरन्। स्वीयप्रवरत्वेपि स्वस्य पुरोहितगोत्रप्रवरपक्ष एव मिताक्षराकारमेधातिथिप्रभृतिभिराश्रितः। 'वीरमित्रोदय;' संस्कारप्रकाश, पृ० ६२१।

शास्त्रों तथा पुराणों का ज्ञान भी अनुपम था, जैसा कि उसके उक्त काव्यों से पाया जाता है। सौंदरनंद काव्य के प्रथम सर्ग में उसने क्षत्रियों के गोत्रों के संबंध में जो विस्तृत विवेचन किया है, उसका सारांश नीचे लिखा जाता है—

"गौतम गोत्री कपिल नामक तपस्वी मुनि अपने माहात्म्य के कारण दीर्घतपस् के समान और अपनी बुद्धि के कारण काव्य (शुक्र) तथा अंगिरस के समान था। उसका आश्रम हिमालय के पार्श्व में था। कई इक्ष्वाकु-वंशी राजपुत्र मातृद्वेष के कारण और अपने पिता के सत्य की रक्षा के निमित्त राजलक्ष्मी का परित्याग कर उस आश्रम में जा रहे। कपिल उनका उपाध्याय (गुरु) हुआ, जिससे वे राजकुमार, जो पहले कौत्स-गोत्री थे, अब अपने गुरु के गोत्र के अनुसार गौतम-गोत्री कहलाये। एक ही पिता के पुत्र भिन्न भिन्न गुरुओं के कारण भिन्न भिन्न गोत्र के हो जाते हैं, जैसे कि राम (बलराम) का गोत्र 'गार्ग्य' और वासुभद्र (कृष्ण) का 'गौतम' हुआ। जिस आश्रम में उन राजपुत्रों ने निवास किया, वह 'शाक' नामक वृक्षों से आच्छादित होने के कारण वे इक्ष्वाकुवंशी 'शाक्य' नाम से प्रसिद्ध हुए। गौतमगोत्री कपिल ने अपने वंश की प्रथा के अनुसार उन राजपुत्रों के संस्कार किये और उक्त मुनि तथा उन क्षत्रिय-पुंगव राजपुत्रों के कारण उस आश्रम ने एक साथ 'ब्रह्मक्षत्र' की शोभा धारण की[1]"।

गोतमः कपिलो नाम मुनिर्धर्म्मभृतां वरः ।
बभूव तपसि श्रान्तः कक्षीवानिव गौतमः ॥ १ ॥
माहात्म्यात् दीर्घतपसो यो द्वितीय इवाभवत् ।
तृतीय इव यश्चाभूत् काव्याङ्गिरसयोर्धिया ॥ ४ ॥
तस्य विस्तीर्णतपसः पार्श्वे हिमवतः शुभे ।
क्षेत्रं चायतनञ्चैव तपसामाश्रयोऽभवत् ॥ ५ ॥
अथ तेजस्विसदनं तपःक्षेत्रं तमाश्रमम् ।
केचिदिक्ष्वाकवो जग्मू राजपुत्रा विवत्सवः ॥ १८ ॥
मातृशुल्कादुपगतां ते श्रियं न विषेहिरे ।
ररक्षुश्च पितुः सत्यं यस्माच्छिश्रियिरे वनम् ॥ २१ ॥
तेषां मुनिरुपाध्यायो गोतमः कपिलोऽभवत् ।
गुरोर्गोत्रादतः कौत्सास्ते भवन्ति स्म गौतमाः ॥ २२ ॥

अश्वघोष का यह कथन मिताक्षरा के बनने से १००० वर्ष से भी अधिक पूर्व का है; अतएव श्रीयुत वैद्य के ये कथन कि 'मिताक्षराकार ने गलती की है,' और 'मिताक्षरा के पूर्व क्षत्रियों के स्वत: के गोत्र थे', सर्वथा मानने योग्य नहीं हैं, और क्षत्रियों के गोत्रों को देखकर यह मानना कि ये क्षत्रिय उन ऋषियों (ब्राह्मणों) के वंशधर हैं, जिनके गोत्र वे धारण करते हैं, सरासर भ्रम ही है। पुराणों से यह तो पाया जाता है कि अनेक क्षत्रिय ब्राह्मणत्व को प्राप्त हुए और उनसे कुछ ब्राह्मणों के गोत्र चले', परन्तु उनमें यह कहीं लिखा नहीं मिलता कि क्षत्रिय ब्राह्मणों के वंशधर हैं।

एकपित्रोर्यथा भ्रात्रोः पृथग्गुरुपरिग्रहात् ।
राम एवाभवत् गार्ग्यो वासुभद्रोऽपि गोतमः ॥ २३ ॥
शाकवृक्षप्रतिच्छन्नं वासं यस्माच्च चक्रिरे ।
तस्मादिक्ष्वाकुवंश्यास्ते भुवि शाक्या इति स्मृताः ॥ २४ ॥
स तेषां गोतमश्चक्रे स्ववंशसदृशीः क्रियाः ।... ॥ २५ ॥
तद्वनं मुनिना तेन तैश्च क्षत्रियपुङ्गवैः ।
शान्तां गुप्तां च युगपद् ब्रह्मक्षत्रश्रियं दधे ॥ २७ ॥

(सौंदरनंद काव्य; सर्ग १)।

(१) सूर्यवंशी राजा मांधाता के तीन पुत्र—पुरुकुत्स, अंबरीष और मुचकुंद—थे। अंबरीष का पुत्र युवनाश्व और उसका हरित हुआ, जिसके वंशज आंगिरस हारित कहलाए और हारित-गोत्री ब्राह्मण हुए।

तस्यामुत्पादयामास मांधाता त्रीन्सुतान्प्रभुः ॥ ७१ ॥
पुरुकुत्समम्बरीषं मुचुकुंदं च विश्रुतम् ।
अम्बरीषस्य दायादो युवनाश्वोऽपरः स्मृतः ॥ ७२ ॥
हरिती युवनाश्वस्य हारिताः शूरयः स्मृताः ।
एते ह्यङ्गिरसः पुत्राः क्षात्रोपेता द्विजातयः ॥ ७३ ॥

(वायुपुराण; अध्याय ८८)।

अंबरीषस्य मांधातुस्तनयस्य युवनाश्वः पुत्रोऽभूत् । तस्माद्धरितो यतोऽङ्गिरसो हारिताः ॥ ५ ॥ (विष्णुपुराण; अंश ४, अध्याय ३)।

यदि क्षत्रियों के गोत्र उनके पुरोहितों (गुरुओं) के सूचक न होकर उनके मूलपुरुषों के सूचक होते, जैसा कि श्रीयुत वैद्य का मानना है, तो ब्राह्मणों के समान उनके गोत्र सदा वे के वे ही बने रहते और कभी न बदलते, परन्तु प्राचीन शिलालेखादि से ऐसे प्रमाण मिल आते हैं, जिनसे एक ही कुल या वंश के क्षत्रियों के समय समय पर भिन्न भिन्न गोत्रों का होना पाया जाता है। ऐसे थोड़ेसे उदाहरण नीचे उद्धृत किये जाते हैं—

मेवाड़ (उदयपुर) के गुहिलवंशियों (गुहिलोतों, गोभिलों, सीसोदियों) का गोत्र वैजवाप है। पुष्कर के अष्टोत्तरशत-लिंगवाले मंदिर में एक सती का स्तंभ खड़ा है, जिसपर के लेख से पाया जाता है कि वि० सं० १२४३ (ई० स० ११८७) माघ सुदि ११ को ठ० (ठकुरानी) हीरवदेवी, ठा० (ठाकुर) कोल्हण की स्त्री, सती हुई। उक्त लेख में ठा० कोल्हण को गुहिलवंशी और गौतमगोत्री[1] लिखा है। काठियावाड़ के गोहिल भी, जो मारवाड़ के खेड़ इलाक़े से वहां गये हैं और जो मेवाड़ के राजा शालिवाहन के वंशज हैं, अपने को गौतम-गोत्री मानते हैं। मध्यप्रदेश के दमोह ज़िले के मुख्य स्थान दमोह से गुहिल-वंशी विजयसिंह का एक शिलालेख मिला है, जो इस समय नागपुर म्यूज़ियम् में सुरक्षित है। वह लेख छंदोबद्ध डिंगल भाषा में खुदा है और उसके अंत का थोड़ासा अंश संस्कृत में भी है। पत्थर का कुछ अंश टूट जाने के कारण संवत् जाता रहा है। उसमें गुहिल वंश के चार राजवंशियों के नाम क्रमशः विजयपाल, भुवनपाल, हर्षराज और विजयसिंह दिये हैं, जिनको विश्वामित्र-गोत्री[2] और गुहिलोत[3] (गुहिलवंशी) बतलाया है। ये मेवाड़ से ही उधर

अंबरीषस्य युवनाश्वः प्रपितामहसनामा यतो हरिताद्धारिता अंगिरसा द्विजा हरितगोत्रप्रवराः । विष्णुपुराण की टीका (पत्र १)।

चंद्रवंशी राजा गाधि के पुत्र विश्वामित्र ने ब्रह्मत्व प्राप्त किया और उसके वंशज ब्राह्मण हुए, जो कौशिकगोत्री कहलाते हैं। पुराणों में ऐसे बहुतसे उदारण मिलते हैं।

(१) राजपूताना म्यूज़ियम् की ई० सन् १९२०–२१ की रिपोर्ट; पृ० ३, लेख-संख्या ५।

(२) *विसामित्त गोत्त उत्तिम चरित विमल पवित्तो०* (पंक्ति ६, डिंगल भाग में) *विस्वा(श्वा)मित्रे सु(शु)भे गोत्रे* (पंक्ति २१, संस्कृत अंश में)।

(३) *विजयसीहु धुर चरणो चाई सूरोऽसुभधो सेल खनकअ कुशलो गुहिलौतो सव्व गुणे*······(पं० १३–१५, डिंगल भाग में)।

गये हुए प्रतीत होते हैं; क्योंकि विजयसिंह के विषय में लिखा है कि वह चित्तोड़ की लड़ाई में लड़ा और उसने दिल्ली की सेना को परास्त किया[1]। इस प्रकार मेवाड़ के गुहिलवंशियों के तीन भिन्न भिन्न गोत्रों का पता चलता है।

इसी तरह चालुक्यों (सोलंकियों) का मूल-गोत्र मानव्य था, और मद्रास अहाते के विज़ागापट्टम् (विशाखपट्टन) ज़िले के जयपुर राज्य (ज़मींदारी) के अंतर्गत गुणुपुर और मोड़गुला के ठिकाने अब तक सोलंकियों के ही हैं और उनका गोत्र मानव्य[2] ही है, परन्तु लूंणावाड़ा, पीथापुर और रीवाँ आदि के सोलंकियों (बघेलों) का गोत्र भारद्वाज होना वैद्य महाशय ने बतलाया है (पृ० ६४)।

इस प्रकार एक ही वंश के राजाओं के भिन्न भिन्न गोत्र होने का कारण यही जान पड़ता है कि राजपूतों के गोत्र उनके पुरोहितों के गोत्रों के ही सूचक हैं; और जब वे अलग अलग जगह जा बसे, तब वहां जिसको पुरोहित माना, उसी का गोत्र वे धारण करते रहे।

राजपूतों के गोत्र उनके वंशकर्ता के सूचक न होने तथा उनके पुरोहितों के गोत्रों के सूचक होने के कारण पीछे से उनमें गोत्र का महत्त्व कुछ भी रहा हो, ऐसा पाया नहीं जाता। प्राचीन रीति के अनुसार संकल्प, श्राद्ध आदि में उसका उच्चारण होता रहा है। सोलंकियों का प्राचीन गोत्र मानव्य था और अब तक भी कहीं कहीं वही माना जाता है। गुजरात के मूलराज आदि सोलंकी राजाओं का गोत्र क्या माना जाता था, इसका कोई प्राचीन लिखित प्रमाण नहीं मिलता, तो भी संभव है कि या तो मानव्य या भारद्वाज हो। उनके पुरोहितों का गोत्र वसिष्ठ[3] था, ऐसा गुर्जरेश्वर-पुरोहित सोमेश्वरदेव के 'सुरथोत्सव' काव्य से निश्चित है। आज भी राजपूताना आदि में राजपूत राजाओं के गोत्र उनके पुरोहितों के गोत्रों से बहुधा भिन्न ही हैं।

ऐसी दशा में यही कहा जा सकता है कि राजपूतों के गोत्र सर्वथा उनके

(१) *जो चित्तोडहँ जुज्झिअउ जिण ढिलीदल जित्तु।* (पं० २१)।

(२) सोलंकियों का प्राचीन इतिहास; भाग १, पृ० २७४।

(३) नागरीप्रचारिणी पत्रिका (नवीन संस्करण); भाग ४, पृ० २।

वंशकर्ताओं के सूचक नहीं, किंतु पुरोहितों के गोत्रों के सूचक होते थे, और कभी कभी पुरोहितों के बदलने पर गोत्र बदल जाया करते थे, कभी नहीं भी। यह रीति उनमें उसी समय तक बनी रही, जब तक कि पुरोहितों के द्वारा उनके वैदिक संस्कार होकर प्राचीन शैली के अनुसार वेदादि-पठन-पाठन का क्रम उनमें प्रचलित रहा। पीछे तो वे गोत्र नाममात्र के रह गये; केवल प्राचीन प्रणाली को लिये हुए संकल्प, श्राद्ध आदि में गोत्रोच्चार करने के अतिरिक्त उनका महत्त्व कुछ भी न रहा और न वह प्रथा रही, कि पुरोहित का जो गोत्र हो वही राजा का भी हो[1]।

(१) नागरीप्रचारिणी पत्रिका (नवीन संस्करण), भाग १, पृष्ठ ४३१-४४३ में मैंने 'क्षत्रियों के गोत्र'-शीर्षक यही लेख प्रकाशित किया, जिसके पीछे श्री० वैद्य ने 'हिस्ट्री ऑफ़ मेडिएवल हिन्दू इंडिया' नामक अपने अंग्रेज़ी इतिहास की तीसरी जिल्द प्रकाशित की, जिसमें क्षत्रियों के गोत्रों के आधार पर उनके भिन्न भिन्न ऋषियों (ब्राह्मणों) की सन्तान होने की बात फिर दुहराई है और मेरे उद्धृत किये हुए अश्वघोष के कथन को बौद्धों का कथन कहकर निर्मूल बतलाया है, जो हठधर्मी ही है। पुराणों का वर्त्तमान स्थिति में नया संस्कार होने से बहुत पूर्व होनेवाले अश्वघोष जैसे बड़े विद्वान् ने बुद्धदेव के पूर्व के इक्ष्वाकुवंशी (सूर्यवंशी) क्षत्रियों की गोत्र-परिपाटी का विशद परिचय दिया है; और बुद्धदेव, गौतम क्यों कहलाये तथा इक्ष्वाकुवंशी राजपुत्र, जिनका गोत्र पहले कौत्स था, परन्तु पीछे से उनके उपाध्याय (गुरु) के गोत्र के अनुसार उनका गोत्र गौतम कैसे हुआ, इसका यथेष्ट विवेचन किया है, जो श्री० वैद्य के कथन से अधिक प्रामाणिक है। श्री० वैद्य का यह कथन, कि "मिताक्षराकार ने भूल की है और उसके पीछे क्षत्रियों के गोत्र पुरोहितों के गोत्र माने जाने लगे हैं", किसी प्रकार स्वीकार करने योग्य नहीं है, क्योंकि विज्ञानेश्वर ने अपना मत प्रकट नहीं किया, किन्तु अपने से पूर्व होनेवाले आश्वलायन का भी वही मत होना बतलाया है। केवल आश्वलायन का ही नहीं, किन्तु बौधायन, आपस्तंब और लौगाक्षि आदि आचार्यों का मत भी ठीक वैसा ही है, जैसा कि मिताक्षराकार का। हमने उनके मत भी उद्धृत किये थे, परंतु श्री० वैद्य उनके विषय में तो मौन धारण कर गये, और अपना वही पुराना गीत गाते रहे कि तमाम क्षत्रिय ब्राह्मणों की सन्तान हैं। पुरोहित के पलटने के साथ कभी कभी क्षत्रियों के गोत्र भी बदलते रहे, जिससे शिलालेखादि से एक ही वंश में दो या अधिक गोत्रों का होना जो हमने बतलाया, उस विषय में भी उन्होंने अपना मत प्रकाशित नहीं किया, परंतु अपने कथन की पुष्टि के लिये जयपुर के दो पंडितों की लिखित सम्मतियां छापी हैं। उनमें से पहली द्रविड़ वीरेश्वर शास्त्री की संस्कृत में है (पृ० ४७८), जिसमें श्री० वैद्य के कथन को स्वीकार किया है, परंतु उसकी पुष्टि में एक भी प्रमाण नहीं दिया। ऐसे प्रमाणशून्य बाबावाक्य को इस समय कोई नहीं मानता, अब तो लोग पग पग पर प्रमाण मांगते हैं। दूसरी सम्मति—पंडित मधुसूदन शास्त्री की—श्री० वैद्य और द्रविड़ शास्त्री के कथन के विरुद्ध इस प्रकार है—

परिशिष्ट-संख्या ५

क्षत्रियों के नामान्त में 'सिंह' पद का प्रचार

यह जानना भी आवश्यक है कि क्षत्रियों (राजपूतों) के नामों के अंत में 'सिंह' पद कब से लगने लगा, क्योंकि पिछली कुछ शताब्दियों से राजपूतों में इसका प्रचार विशेष रूप से होने लगा है। पुराणों और महाभारत में जहां सूर्य-चंद्र-वंशी आदि क्षत्रिय राजाओं की वंशावलियां दी हैं, उनमें तो किसी राजा के नाम के अन्त में 'सिंह' पद न होने से निश्चित है कि प्राचीन काल में सिंहान्त नाम नहीं होते थे। प्रसिद्ध शाक्यवंशी राजा शुद्धोदन के पुत्र सिद्धार्थ (बुद्धदेव) के नाम के अनेक पर्यायों में से एक 'शाक्यसिंह'[1] भी अमरकोषादि में मिलता है, परन्तु वह वास्तविक नाम नहीं है। उसका अर्थ यही है कि शाक्य जाति के क्षत्रियों (शाक्यों) में श्रेष्ठ (सिंह के समान)। प्राचीन काल में 'सिंह,' 'शार्दूल' 'पुंगव' आदि शब्द श्रेष्ठत्व प्रदर्शित करने के लिये शब्दों के अंत में जोड़े जाते थे, जैसे—'क्षत्रियपुंगव' (क्षत्रियों में श्रेष्ठ), 'राजशार्दूल' (राजाओं में श्रेष्ठ), 'नरसिंह' (पुरुषों में सिंह के सदृश) आदि। ऐसा ही शाक्यसिंह शब्द भी है, न कि मूल नाम। यह पद नाम के अन्त में पहले पहल गुजरात, काठियावाड़, राजपूताना, मालवा, दक्षिण आदि देशों पर राज्य करनेवाले शक जाति के क्षत्रप-

---

"क्षत्रियोंका उत्पत्तिदृष्ट्या गोत्र मनु है और वैश्योंका भलन्दन हैं. क्षत्रियोंके जो भारद्वाज-वत्सादि गोत्र प्रसिद्ध हैं वे पूर्वकालमें उनके प्राचीन पुरोहितोंसे प्राप्त हुवे हैं. वे अब बदल नही सकते. क्योंके नया पुरोहित करना मना हैं. हालमें पुरोहितोंका गोत्र इसी सबबसे भिन्न हैं. यह पुराणे पीढियोंसे चला हुवा गोत्र एकतन्हेसे [?] प्रातिस्विक गोत्र होगया हैं क्योंके वुह [?] बदल नही सकता." (पृ० ४७८)—नकल हूबहू।

श्री० वैद्य महाशय एक भी प्रमाण देकर यह नहीं बतला सके कि क्षत्रिय ब्राह्मणों के वंशज हैं। शिलालेखों में क्षत्रियों के गोत्रों के जो नाम मिलते हैं वे प्राचीन प्रणाली के अनुसार उनके संस्कार करनेवाले पुरोहितों के ही गोत्रों के सूचक हैं, न कि उनके मूलपुरुषों के।

(१) स शाक्यसिंहः सर्वार्थसिद्धः शौद्धोदनिश्च सः।
गौतमश्चार्कबंधुश्च मायादेवीसुतश्च सः॥
(अमरकोष; स्वर्गवर्ग)।

वंशी महाप्रतापी राजा रुद्रदामा के दूसरे पुत्र रुद्रसिंह के नाम में मिलता है[१]। रुद्रदामा के पीछे उसका ज्येष्ठ पुत्र दामघ्सद (दामजदश्री) और उसके बाद उसका छोटा भाई वही रुद्रसिंह क्षत्रप-राज्य का स्वामी हुआ। यही सिंहान्त नाम का पहला उदाहरण है। रुद्रसिंह के सिक्के शक संवत् १०३-११८ (वि० सं० २३८-२५३=ई० स० १८१-१९६) तक के मिले हैं[२]। उसी वंश में रुद्रसेन (दूसरा) भी राजा हुआ, जिसके शक संवत् १७८-१९६ (वि० सं० ३१३-३३१=ई० स० २५६-२७४) तक के सिक्के मिले हैं[३]; उसके दो पुत्रों में से ज्येष्ठ का नाम विश्वसिंह था। यह उक्त शैली के नाम का दूसरा उदाहरण है। फिर उसी वंश में रुद्रसिंह, सत्यसिंह (स्वामिसत्यसिंह) और रुद्रसिंह (स्वामिरुद्रसिंह) के नाम मिलते हैं[४] जिनमें से अंतिम रुद्रसिंह शक संवत् ३१० (वि० सं० ४४५=ई० स० ३८८) में जीवित था, जैसा कि उसके सिक्कों से पाया जाता है[५]। इस प्रकार उक्त वंश में सिंहान्त पदवाले ५ नाम हैं। तत्पश्चात् इस प्रकार के नाम रखने की शैली अन्य राजघरानों में भी प्रचलित हुई। दक्षिण के सोलंकियों में जयसिंह नामधारी राजा वि० सं० ५६४ के आसपास हुआ[६], फिर उसी वंश में वि० सं० ११०० के आसपास जयसिंह दूसरा हुआ[७]। उसी वंश की वेंगी की शाखा में जयसिंह नाम के दो राजा हुए, जिनमें से पहले ने वि० सं० ६९० से ७१९ (ई० स० ६३३-६६३) तक और जयसिंह दूसरे ने वि० सं० ७५४-७६७ (ई० स० ६९७-७१०) तक वेंगी देश पर शासन किया[८]। मेवाड़ के गुहिलवंशियों में ऐसे नामों का प्रचार वि० सं० की बारहवीं शताब्दी से हुआ। तब से वैरिसिंह, विजयसिंह, अरिसिंह[९] आदि नाम

(१) देखो ऊपर पृ० १०५, १०९, ११०।

(२) ऊपर पृ० ११०।

(३) ऊपर पृ० १०९, ११०।

(४) ऊपर पृ० १०९-१०।

(५) ऊपर पृ० ११०।

(६) मेरा 'सोलंकियों का प्राचीन इतिहास;' प्रथम भाग, पृष्ठ १२-१९ और ९८।

(७) वही; पृ० ८१-९१।

(८) वही; पृ० १४१-४२ और १४६-४७ तथा १५९।

(९) देखो ऊपर पृ० ४४०-४१।

रक्खे जाने लगे और अब तक बहुधा इसी शैली से नाम रक्खे जाते हैं। मारवाड़ के राठोड़ों में, विशेषकर वि० सं० की १७वीं शताब्दी में, रायसिंह से इस शैली के नामों का प्रचार हुआ[1]। तब से अब तक वही शैली प्रचलित है। कछवाहों में पहले पहल वि० सं० की बारहवीं शताब्दी में नरवरवालों ने इस शैली को अपनाया और वि० सं० ११७७ के शिलालेख में गगनसिंह, शरदसिंह और वीरसिंह के नाम मिलते हैं[2]। चौहानों में सबसे पहले जालोर के राजा समरसिंह[3] का नाम वि० सं० की तेरहवीं शताब्दी में मिलता है, जिसके पीछे उदयसिंह, सामंतसिंह आदि हुए। मालवे के परमारों में वि० सं० की दसवीं शताब्दी के आसपास वैरिसिंह[4] नाम का प्रयोग हुआ। इस प्रकार शिलालेखादि से पता लगता है कि इस तरह के नाम सबसे पहले क्षत्रपवंशी राजाओं, दक्षिण के सोलंकियों, मालवे के परमारों, मेवाड़ के गुहिलवंशियों, नरवर के कछवाहों, जालोर के चौहानों आदि में रक्खे जाने लगे, फिर तो इस शैली के नामों का राजपूतों में विशेष रूप से प्रचार हुआ।

---

(१) रायसिंह से पूर्व जालणसी नाम ख्यातों में मिलता है, परंतु अब तक किसी शिलालेख में उसका शुद्ध नाम नहीं मिला, जिससे यह निश्चय नहीं होता कि उसका नाम जालण (जाल्हण, जल्हण) था या जालणसिंह। रायसिंह से पीछे अब तक मारवाड़ के सब राजाओं के नामों के अंत में 'सिंह' पद लगता रहा है।

(२) हिं. टॉ. रा; (प्रथम खंड) पृ० ३७१।

(३) वही; पृ० ४०१।

(४) ऊपर पृ० १८४ और २०१।

परिशिष्ट-संख्या ६

इस इतिहास में प्रसंग प्रसंग पर दिल्ली, गुजरात और मालवे के सुलतानों तथा दिल्ली के बादशाहों के संबंध की घटनाएं आती रहेंगी, अतएव पाठकों के सुबीते के लिये गद्दीनशीनी के संवत् सहित उनकी नामावली नीचे दी जाती है—

दिल्ली के सुलतान

तुर्क वंश

		ई० स०	वि० सं०
१	शहाबुद्दीन ग़ोरी	११६२	१२४६

गुलाम वंश

		ई० स०	वि० सं०
१	कुतुबुद्दीन ऐबक	१२०६	१२६३
२	आरामशाह	१२१०	१२६७
३	शम्सुद्दीन अल्तमश	१२१०	१२६७
४	रुक्नुद्दीन फ़ीरोज़शाह	१२३६	१२६३
५	रज़िया (बेगम)	१२३६	१२६३
६	मुइज़ुद्दीन बहरामशाह	१२४०	१२६७
७	अलाउद्दीन मसूदशाह	१२४२	१२६६
८	नासिरुद्दीन महमूदशाह	१२४६	१३०३
९	ग़यासुद्दीन बलबन	१२६६	१३२२
१०	मुइज़ुद्दीन कैकुबाद	१२८७	१३४४

ख़िलजी वंश

		ई० स०	वि० सं०
१	जलालुद्दीन फ़ीरोज़शाह	१२६०	१३४६
२	रुक्नुद्दीन इब्राहीमशाह ...	१२६६	१३५३
३	अलाउद्दीन मुहम्मदशाह ...	१२६६	१३५३
४	शहाबुद्दीन उमरशाह	१३१६	१३७२
५	कुतुबुद्दीन मुबारकशाह	१३१६	१३७२
६	नासिरुद्दीन खुसरोशाह	१३२०	१३७७

तुग़लक वंश

		ई० स०	वि० सं०
१	ग़यासुद्दीन तुग़लकशाह ...	१३२०	१३७७
२	मुहम्मद तुग़लक	१३२५	१३८१
३	फ़ीरोज़शाह	१३५१	१४०८
४	तुग़लकशाह (दूसरा)	१३८८	१४४५
५	अबूबकशाह	१३८६	१४४५

		ई० स०	वि० सं०
६	मुहम्मदशाह	१३८६	१४४६
७	सिकंदरशाह	१३९४	१४५०
८	महमूदशाह	१३९४	१४५१
९	नसरतशाह	१३९५	१४५१
	महमूदशाह (दूसरी बार) ...	१३९९	१४५६
१०	दौलतख़ां लोदी	१४१२	१४६९
	सैयद वंश		
१	खिज़रख़ां	१४१४	१४७१
२	मुइज़ुद्दीन मुबारकशाह	१४२१	१४७८
३	मुहम्मदशाह	१४३४	१४९०
४	आलिमशाह	१४४३	१५००
	अफ़ग़ान वंश (लोदी वंश)		
१	बहलोल लोदी	१४५१	१५०८
२	सिकंदर लोदी	१४८९	१५४६
३	इब्राहीम लोदी	१५१७	१५७४
	मुग़ल वंश के बादशाह		
१	बाबर बादशाह	१५२६	१५८३
२	हुमायूं "	१५३०	१५८७
	सूर वंश		
१	शेरशाह	१५३९	१५९६
२	इस्लामशाह	१५४५	१६०२
३	मुहम्मद आदिलशाह	१५५२	१६०९
४	इब्राहीम सूर	१५५३	१६१०
५	सिकंदरशाह	१५५५	१६१२
	मुग़ल वंश (दूसरी बार)		
१	हुमायूं (दूसरी बार)	१५५५	१६१२
२	अकबर बादशाह	१५५६	१६१२
३	जहांगीर "	१६०५	१६६२
४	शाहजहां "	१६२८	१६८४
५	औरंगज़ेब (आलमगीर) ...	१६५८	१७१५
६	बहादुरशाह (शाह आलम) ...	१७०७	१७६४
७	जहांदारशाह	१७१२	१७६९
८	फ़र्रुख़सियर	१७१३	१७६९

				ई० स०	वि० सं०
६	रफ़िउद्दरजात	...	...	१७१६	१७७५
१०	रफ़िउद्दौला	...	...	१७१६	१७७६
११	मुहम्मदशाह	...	...	१७१६	१७७६
१२	अहमदशाह	...	...	१७४८	१८०५
१३	आलमगीर (दूसरा)	...	...	१७५४	१८११
१४	शाहजहां (दूसरा)	...	...	१७५६	१८१६
१५	शाह आलम (दूसरा)	...	...	१७५६	१८१६
१६	अकबर (दूसरा)	...	...	१८०६	१८६३
१७	बहादुरशाह (दूसरा)	...	...	१८३७	१८६४

गुजरात (अहमदाबाद) के सुलतान

१	मुज़फ़्फ़रशाह	...	...	१३६६	१४५३
२	अहमदशाह	...	...	१४११	१४६८
३	मुहम्मद करीमशाह	...	...	१४४२	१४६६
४	कुतुबुद्दीन	...	...	१४५१	१५०७
५	दाऊदशाह	...	...	१४५६	१५१६
६	महमूदशाह (बेगड़ा)	...	...	१४५६	१५१६
७	मुज़फ़्फ़रशाह (दूसरा)		...	१५११	१५६८
८	सिकंदरशाह	...	...	१५२६	१५८२
६	नासिरख़ां महमूद (दूसरा)		...	१५२६	१५८३
१०	बहादुरशाह	...	...	१५२६	१५८३
११	मीरां मुहम्मदशाह (फ़ारुक़ी)		...	१५३७	१५६३
१२	महमूदशाह (तीसरा)	...	...	१५३७	१५६४
१३	अहमदशाह (दूसरा)	...	...	१५५४	१६१०
१४	मुज़फ़्फ़रशाह (तीसरा)		...	१५६१	१६१८

मालवे (मांडू) के सुलतान

ग़ोरी वंश

१	दिलावरख़ां (अमीशाह)		...	१३७३(?)	१४३०(?)
२	हुशंग (अल्पख़ां)	...	...	१४०५	१४६२
३	मुहम्मद (ग़ज़नीख़ां)	...	...	१४३४	१४६१

ख़िलजी वंश

१	महमूदशाह ख़िलजी	...	...	१४३६	१४६३
२	ग़यासशाह ख़िलजी	...	...	१४७५	१५३२
३	नासिरशाह ख़िलजी	...	...	१५००	१५५७
४	महमूदशाह (दूसरा)	...	...	१५११–३०	१५६८-८७

परिशिष्ट-संख्या ७

राजपूताने के इतिहास की पहली जिल्द के प्रणयन में जिन जिन पुस्तकों से सहायता ली गई है, उनकी सूची।

संस्कृत, प्राकृत और पाली पुस्तकें

अथर्ववेद।
अभिज्ञानशाकुन्तल (कालिदास)।
अमरकोष (अमरसिंह)।
अर्थशास्त्र (कौटिल्य)।
उदयसुंदरीकथा (सोड्ढल)।
उपदेशतरङ्गिणी।
ऋग्वेद।
एकलिङ्गपुराण।
एकलिंगमाहात्म्य।
ऐतरेयब्राह्मण।
ओघनिर्युक्ति (पाक्षिकसूत्रवृत्ति)।
औशनसस्मृति।
कथासरित्सागर (सोमदेव)।
कर्णसुन्दरी (बिल्हण)।
कर्पूरमञ्जरी। (राजशेखर)।
कल्पसूत्र—प्राकृत।
काठकसंहिता।
कादम्बरी (बाणभट्ट और पुलिन्दभट्ट)।
काव्यप्रकाश (मम्मट)।
कीर्त्तिकौमुदी (सोमेश्वर)।
कुमारपालचरित (जयसिंहसूरि)।
कुमारपालचरित्र (चारित्रसुंदरगणि)।
कुमारपालप्रबंध (जिनमंडनोपाध्याय)।
गणरत्नमहोदधि (वर्द्धमान)।
गोत्रप्रवरनिबन्धकदम्ब।
गोत्रप्रवरनिर्णय (बौधायन)।
जैमिनीय-उपनिषद्-ब्राह्मण।
तत्त्वबोधिनी (सिद्धान्तकौमुदी की टीका—ज्ञानेन्द्र सरस्वती)।

ताण्ड्यब्राह्मण।
तिलकमञ्जरी (धनपाल)।
तीर्थकल्प (जिनप्रभसूरि)
तैत्तिरीयब्राह्मण।
तैत्तिरीयसंहिता।
दशकुमारचरित (दंडी)।
दीघनिकाय—पाली।
देवलस्मृति।
द्व्याश्रयमहाकाव्य (हेमचन्द्राचार्य)।
धर्मामृतशास्त्र (आशाधर)।
धाराध्वंस (गणपति व्यास)।
नवसाहसाङ्कचरित (पद्मगुप्त, परिमल)।
पंचविंशब्राह्मण।
पद्मपुराण।
पाइयलच्छीनाममाला (धनपाल)—प्राकृत।
पारिजातमञ्जरी (मदन, बालसरस्वती)।
पार्थपराक्रमव्यायोग (प्रह्लादनदेव
पिङ्गलसूत्रवृत्ति (हलायुध)।
पृथ्वीचन्द्रचरित्र (माणिक्यसुन्दरसूरि)।
पृथ्वीराजविजय महाकाव्य (जयानक)।
प्रतिमानाटक (भास)।
प्रबंधकोश अथवा चतुर्विंशतिप्रबंध (राजशेखर)।
प्रबंधचिन्तामणि (मेरुतुङ्ग)।
प्रभावकचरित (चंद्रप्रभसूरि)।
बालभारत (राजशेखर)।
बृहज्जातक (वराहमिहिर)।
ब्रह्माण्डपुराण।
ब्राह्मस्फुटसिद्धान्त (ब्रह्मगुप्त)।
भागवतपुराण।
भोजप्रबन्ध (बल्लाल पंडित)।
मंडलीकमहाकाव्य (गङ्गाधर)।
मत्स्यपुराण।
मनुस्मृति।
महाभारत (निर्णयसागर-संस्करण)।

महाभाष्य (पतञ्जलि) ।
मालविकाग्निमित्र (कालिदास) ।
मिताक्षरा (याज्ञवल्क्यस्मृति की टीका—विज्ञानेश्वर) ।
मुण्डकोपनिषद् ।
मुद्राराक्षस की टीका (ढुंढिराज) ।
मैत्रायणीसंहिता ।
याज्ञवल्क्यस्मृति ।
रघुवंश (कालिदास) ।
रसिकसञ्जीवनी (अमरुशतक की टीका—अर्जुनवर्मा) ।
रागमञ्जरी (पुण्डरीक विट्ठल) ।
राजकल्पद्रुम (राजेन्द्रविक्रमशाह) ।
राजतरङ्गिणी (कल्हण) ।
राजप्रशस्ति महाकाव्य (रणछोड़ भट्ट) ।
राजमृगांक (भोजदेव) ।
रामायण (वाल्मीकि) ।
ललितविग्रहराज-नाटक (सोमदेव) ।
लाट्यायनश्रौतसूत्र ।
लिङ्गपुराण ।
वसन्तविलास (बालचंद्रसूरि) ।
वस्तुपालचरित (जिनहर्ष) ।
वस्तुपालप्रशस्ति (जयसिंहसूरि) ।
वाजसनेयिसंहिता ।
वायुपुराण ।
वास्तुशास्त्र (विश्वकर्मा) ।
विद्धशालभञ्जिका (राजशेखर) ।
विधिपक्षगच्छीयप्रतिक्रमणसूत्र ।
विष्णुपुराण ।
वीरमित्रोदय (मित्र मिश्र) ।
शतपथब्राह्मण ।
शत्रुंजयमाहात्म्य (धनेश्वरसूरि) ।
शब्दकल्पद्रुम (राजा राधाकान्तदेव) ।
शिशुपालवध (माघ) ।
श्रावकप्रतिक्रमणसूत्रचूर्णि ।
सङ्गीतरत्नाकर (शार्ङ्गदेव) ।

सारसमुच्चय।
सुकृतकल्लोलिनी (पुण्डरीक उदयप्रभ)।
सुकृतसङ्कीर्तन (अरिसिंह)।
सुभाषितरत्नसन्दोह (अमितगति)।
सुभाषितावलि (वल्लभदेव)।
सुरथोत्सव काव्य (सोमेश्वर)।
सूक्तिमुक्तावलि (राजशेखर)।
सोमसौभाग्य काव्य।
सौन्दरनन्द काव्य (अश्वघोष)।
हम्मीरमदमर्दन (जयसिंहसूरि)।
हम्मीरमहाकाव्य (नयचंद्रसूरि)।
हरिवंशपुराण (जिनसेन)।
हर्षचरित (बाणभट्ट)।

इनके सिवा अनेक अप्रकाशित शिलालेखों एवं ताम्रपत्रों से भी सहायता ली गई है।

हिन्दी, गुजराती आदि देशी भाषाओं के ग्रंथ

अञ्चलगच्छ की पट्टावली।
इतिहासतिमिरनाशक (राजा शिवप्रसाद)।
ऐतिहासिक कहानियां (चतुर्वेदी द्वारकाप्रसाद शर्मा)।
खुम्माण रासा [दौलत (दलपत) विजय]—हस्तलिखित।
गोहिल वंश नो इतिहास (हस्तलिखित)—गुजराती।
चित्तोड़ की गज़ल (कवि खेतल)—हस्तलिखित।
जोधपुर की मर्दुमशुमारी की रिपोर्ट।
टॉड-राजस्थान (खड्गविलास प्रेस, बांकीपुर, का संस्करण)।
नागरीप्रचारिणी पत्रिका (नवीन संस्करण)—त्रैमासिक।
पम्पभारत (पम्पकवि)—कनड़ी।
पुरातत्त्व (त्रैमासिक)—गुजराती।
पृथ्वीराज रासा (चन्दबरदाई)—नागरीप्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित संस्करण।
बड़वों (भाटों) की भिन्न भिन्न ख्यातें।
भारतीय प्राचीनलिपिमाला (गौरीशंकर हीराचंद ओझा)—द्वितीय संस्करण।
भावनगर नो बालबोध इतिहास (देवशंकर वैकुंठजी)—गुजराती।

भावनगर-प्राचीन-शोधसंग्रह (विजयशंकर गौरीशंकर ओझा)
—संस्कृत गुजराती।
मध्ययुगीन भारत, भाग दूसरा (चिन्तामणि विनायक वैद्य)—मराठी।
महाभारत-मीमांसा (चिन्तामणि विनायक वैद्य)।
माधुरी—मासिक पत्रिका।
मुहणोत नैणसी की ख्यात (हस्तलिखित)—मारवाड़ी।
रत्नमाल (कृष्णकवि)।
राजविलास (मानकवि)।
रासोसार (नागरीप्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित)।
वंशप्रकाश (पंडित गंगासहाय)।
वंशभास्कर (मिश्रण सूर्यमल्ल)।
वीरविनोद (महामहोपाध्याय कविराजा श्यामलदास)।
वीसलदेव रासा (नरपति नाल्ह)।
शाहजहांनामा (मुंशी देवीप्रसाद)।
सिरोही राज्य का इतिहास (गौरीशंकर हीराचंद ओझा)।
सोलंकियों का प्राचीन इतिहास, प्रथम भाग (गौरीशंकर हीराचंद ओझा)।
हिन्दराजस्थान (अमृतलाल गोवर्धनदास शाह और काशीराम
उत्तमराम पंड्या)—गुजराती।

अरबी तथा फ़ारसी पुस्तकें

आइने अकबरी (अबुल्फ़ज़ल)।
कामिलुत्तवारीख़ (इब्न असीर)।
चचनामा (मुहम्मद अली)।
तज़ियतुल् अम्सार (अब्दुल्ला वस्साफ़)।
तबकाते नासिरी (मिन्हाजुस्सिराज)।
तहक़ीके हिन्द (अबुरिहां अल्बेरूनी)—अरबी।
ताजुल् मआसिर (हसन निज़ामी)।
तारीख़ फ़िरिश्ता (मुहम्मद कासिम फ़िरिश्ता)।
तारीख़ यमीनी (अल उत्बी)।
तारीखे अल्फ़ी (मौलाना अहमद आदि)।
तारीखे अलाई (अमीर खुसरो)।
तारीखे फ़ीरोज़शाही (ज़ियाउद्दीन बर्नी)।
तुज़ुके जहांगीरी (बादशाह जहांगीर)।
तुज़ुके बाबरी (बाबर बादशाह)।

नासिखुत्तवारीख।
बादशाहनामा (अब्दुल मजीद)।
बिलाइतुल ग़नाइम (लक्ष्मीनारायण औरंगाबादी)।
फ़तूहुल् बलदान (बिलादुरी)।
मासिरुल्उमरा (शाहनवाज़खां)।
मिराते अहमदी (हसन मुहम्मदखां)।
मिराते सिकन्दरी (सिकंदर)।
मुन्तखबुल्लुबाब (खाफ़ीखां)।
रोज़ेतुस्सफ़ा (मीरखांद)।
हबिबुस्सियर (खोंदमीर)।

अरबी तथा फ़ारसी पुस्तकों में अधिकतर उनके अंग्रेज़ी अनुवाद से सहायता ली गई है।

अंग्रेज़ी ग्रंथ

Allan, John— Catalogue of the Coins of the Gupta Dynasties.
Annual Reports of the Rajputana Museum, Ajmer.
Archæological Survey of India, Annual Reports (From 1902).
Aufrecht, Theodor— Catalogus Catalogorum.
Beal, Samuel— Buddhist Records of the Western World. ('Si-yu-ki' or The Travels of Hiuen-Tsang).
Beale, Thomas William— An Oriental Biographical Dictionary.
Bendal, Cecil— Journey of Literary and Archæological Research in Nepal and Northern India.
Bhagwanlal Indraji— The Hathigumpha and three other Inscriptions.
Bhavanagar Inscriptions.
Bombay Gazetteer.
Briggs, John— History of the Rise of the Mahomedan Power in India (Translation of Tarikh-i-Ferishta of Mahomed Kasim Ferishta).
Bühler, G.— Detailed Report of a tour in Search of Sanskrit MSS, *made in Kashmir, Rajputana* and Central India.
Cunningham, A.— Archæological Survey of India, Reports.
,, ,, — Coins of the Later Indo-Scythians.
Dey— Music of Southern India.

Dow, Alexander— History of India.
Duff, C. Mabel— The Chronology of India.
Duff, J. G.— History of the Marhattas.
Elliot, Sir H. M.— The History of India: as told by its own Historians.
Elphinstone, M.— The History of India.
Encyclopædia Britannica (9th and 1 th Editions.)
Epigraphia Indica.
Erskine, K. D.— Gazetteer of the Dungarpur State.
Fergusson, J.— Picturous illustrations of Ancient Architecture in Hindustan.
Fleet, J. F.— Corpus Inscriptionum Indicarum, Vol. III.. (Gupta Inscriptions).
Gibbon, E.— History of the decline and fall of the Roman Empire.
Gardner, Percy— The Coins of the Greek and Scythic Kings of Bactria and India.
Haugson— Essays.
Havell, E. B.— Indian Sculptures and Paintings.
Hiralal, Rai Bahadur— Descriptive Lists of Inscriptions in the Central Provinces and Berar.
Hunter, William— Indian Gazetteer.
Imperial Gazetteer of India.
Indian Antiquary.
Indian States.
Journal of the American Oriental Society.
Journal of the Asiatic Society of Bengal.
Journal of the Bombay branch of the Royal Asiatic Society.
Journal of the Royal Asiatic Society of Great Britain and Ireland.
Kern, H.— Manual of Indian Buddhism.
Lane-Poole, Stanley— Mediæval India under Mohammedan Rule.
Legge, James— *Travels* of Fa-hian in India and Ceylon.
McCrindle, J. W.— The Invasion of India by Alexander the Great.
Macdonell and Keith— Vedic Index.
Malcolm, John— History of Persia.
Mill, J.— History of India.
Numismatic Chronicle.
Pargiter, F. E.— The Purana Text of the Dynasties of the Kali Age.
Peterson, P.— Reports in Search of Sanskrit MSS.
Price— Retrospect of Mahomedan History.

Progress Reports of the Archæological Survey of India, Western Circle.
Rapson, E. J.— Ancient India.
„ „ — Coins of Audhras and Western Kshatraps.
Rapson, E. J. } Kharoshthi Inscriptions discovered by Sir Aurel
Boyer, A. M. }
Senart. E. } Stein in Chinese Turkestan, Part I.
Rockhill, W. W.—The Life of Buddha.
Sachau, Edward— Alberuni's India.
Sacred Books of the East.
Smith, V. A.—Catalogue of the Coins in the Indian Museum, Vol. I.
„ „ — The Early History of India.
„ „ — The Oxford History of India.
Stratton, J. P.— Chitor and the Mewar family.
Tessitori, L. P.—Descriptive Catalogue of Bardic and Historical MS (Bikaner State).
Thomas, Edward— The Chronicles of the Pathan Kings of Delhi.
Tod, James— Annals and Antiquities of Rajasthan (Oxford Edition)
„ „ — Travels in Western India.
Vaidya, C. V.— History of Mediæval Hindu India, Vol. III.
Vienna Oriental Journal.
Vogel, J. Ph.— The Yupa inscriptions of King Mulavarman from Koetei (East Borneo).
Watters, Thomas— On Yuan Chwang's travels in India.
Weber, Albrecht— The History of Indian Literature.
Wilson, Annie— Short account of the Hindu System of Music.
Write, H. N.— Catalogue of the Coins in the Indian Museum, Vol. II.

जर्मन ग्रंथ

Otto Boehtlingk and Rudolph Roth—
Sanskrit-Woerterbuch (Sanskrit-German Dictionary).